

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

प्रधान संपादक
गिरीश्वर मिश्र

संपादक
अशोक मिश्र



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 54-55 (संयुक्तांक : जुलाई-दिसंबर 2017) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 7888048765, 09422386554, ईमेल- bahuvaachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक एवं विश्वविद्यालय की स्वीकृति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

अंक : रु. 100/-, वार्षिक शुल्क रु. 300/-, द्विवार्षिक शुल्क रु. 600/- व्यक्तिगत

संस्थाओं के लिए वार्षिक शुल्क रु. 400/-, द्विवार्षिक रु. 800/- (डाक खर्च सहित)

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : देवप्रकाश चौधरी

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : क्विक् ऑफसेट ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22824606,

मो. 9811388579)

अनुक्रम

आरंभिक

मुड़ मुड़कर देखते हुए 5

साहित्य

गुरुदेव को स्मरण करते हुए/ विश्वनाथ त्रिपाठी 8

घुलावटी रसायन की खोज में/ रमेशचंद्र शाह 15

एक सत्याग्रही की चुप्पी.../ कृष्ण बिहारी मिश्र 24

स्वायत्त समाजविज्ञान के अन्वेषी/ गिरीश्वर मिश्र 29

बिंबों के कारखाने का मालिक/ कांति कुमार जैन 33

साहित्य साधक शिवप्रसाद सिंह/ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी 45

सर्वेश्वर होने का अर्थ/ विष्णु नागर 50

बाबा नागार्जुन के साथ-साथ/ वाचस्पति 55

अजब आजाद मर्द/ ओम भारती 64

एक चुप्पे की विनोद-प्रियता/ नंदकिशोर आचार्य 70

वह निगाहे करम का घना-घना साया/ राजेन्द्र राव 74

एक भटका हुआ बुद्धिजीवी नीलाभ/ ममता कालिया 84

अंधेरों के रू-ब-रू शब्द/ महेश कटारे 90

कवि-मित्र वेणुगोपाल/ गोपेश्वर सिंह 95

छोटे शहर का बड़ा लेखक/ रूप सिंह चंदेल 102

रामविलास शर्मा : वे यादें, वे बातें/ प्रकाश मनु 108

चेला खरा निरंध/ प्रेम जनमेजय 122

संस्कृति के व्याख्याता : विद्यानिवास मिश्र/ अरुणेश नीरन 129

जंगल पुत्रों की मां/ कृपाशंकर चौबे 135

साहित्यिक कर्मठता का दीप्त प्रतीक/ आरसु 143

सबके आपन जन/ महेश दर्पण 149

सहज, सरल परमानंदजी/ रघुवंश मणि 158

जिंदगी की कहानी / रेवती रमण 164

अपने सपनों को औरों से जोड़ते कामतानाथ/ बलराम 175

तस्लीमा नसरिन : जैसा मैंने देखा/ कल्लोल चक्रवर्ती 182

बागी तेवर वाली मामोनि बाईदेऊ/ दिनकर कुमार 186

कथा एकांकी सम्राट की/ नीरजा पांडेय 191

‘हम फिदाए लखनऊ, लखनऊ हम पे फिदा!’/ दयानंद पांडेय 194

देहाती मन के रचनाकार विवेकी राय/ सत्यकाम 201

धरोहर

हिंदी के गर्व और गौरव श्री प्रेमचंदजी/ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (प्रस्तुतकर्ता कमल किशोर गोयनका)	206
पं. बालकृष्ण भट्ट/ ब्रजमोहन व्यास	210
चीनी फेरीवाला/ महादेवी वर्मा	215
जेल के दिन/ अज्ञेय	221
जेल में बरसात/ विद्यानिवास मिश्र	224

रंगमंच

भानु भारती : किंग साइज/ रवीन्द्र त्रिपाठी	228
कितने आत्मीय, कितने अपने/ ज्योतिष जोशी	236

कला

चित्रभाषा का अपना जीवन/ प्रयाग शुक्ल	240
एक बीहड़ कला-यात्रा/ हरिपाल त्यागी	245
चित्रकार रजा को याद करते हुए/ वाजदा खान	252

संगीत-अभिनय

शैलेंद्र : आजाद हिंदुस्तान के दिल की धड़कन/ अरविंद कुमार	255
सुरेखा सीकरी : नायाब शख्सियत की मल्लिका/ असीमा भट्ट	261

राजनीति

मधु लिमये : संसदीय लोकतंत्र की शान के पुरोधे/ शेष नारायण सिंह	269
राजनीतिक नैतिकता के स्तंभ/ अरुण कुमार त्रिपाठी	276
कवि, कलाकार और राजनेता/ अरविंद कुमार सिंह	285
हम सबके प्रेरणा पुंज रज्जू भैया/ प्रमोद कुमार दुबे	291
प्रेम की सांकरी गली में वाजपेयी का विराट व्यक्तित्व/ उमेश चतुर्वेदी	298

पत्रकारिता

एक असंभव व्यक्तित्व : प्रभाष जोशी/ राम बहादुर राय	303
धर्मवीर भारती : कुछ यादें, कुछ बातें/ प्रकाश दुबे	309
असमय विदा हुए एक महानायक की याद/ राजेश बादल	316
तुझे हम वली समझते, जो न वादाख्यार होता/ प्रियदर्शन	324

यात्रा संस्मरण

स्वर्ग में पांच दिन/ असगर वजाहत	330
---------------------------------	-----

प्रसंगवश

ऐसा कहां से लाऊं कि.../ लीलाधर मंडलोई	339
श्वेत-क्रांति के जनक/ सुधीर सक्सेना	343
मेरे जीवन में महात्मा गांधी / प्रहलाद रामशरण	347
शांतिनिकेतन के मोहनलाल वाजपेयी/ अमृतलाल वेगड़	351
गाकर पढ़ानेवाले मास्साब/ ज्ञानप्रकाश विवेक	359
खूब मीठा खूब खारा, 'बीकानेर हमारा'/ उमा	365
लेखकों की जिंदगी से रू-ब-रू/ सूरज प्रकाश	372

चिंतन

'देवानाम्प्रिय = मूर्ख' के समीकरण पर सोचते हुए/ वागीश शुक्ल	381
---	-----

मुड़ मुड़कर देखते हुए

एक अंतराल के पश्चात पाठकों के समक्ष *बहुवचन* का स्मरण में जीवन विशेषांक प्रस्तुत है। हिंदी साहित्य की कई विधाओं में से एक संस्मरण का मनुष्य के जीवन के साथ बहुत ही गहरा रिश्ता है। संस्मरण में जीवन गुंथा रहता है। जीवन में जो खास घटित होता है वह स्मृति में बचा रहता है, शेष मिटता जाता है। संस्मरण वर्तमान में रहकर अतीत को मुड़-मुड़कर फिर से जीते हुए लिखे जाते हैं। किसी व्यक्ति की आदतों या उसके व्यवहार के शब्दशः चित्रण, व्यक्तित्व की विशेषताओं को भी संस्मरण कह सकते हैं। मन-मस्तिष्क के भीतर बैठी असंख्य घटनाएं, मुलाकातें उमड़-धुमड़कर शब्दों के जरिए निकलकर बाहर आती ही है। इन्हीं लम्हों की अनुभूतियों के बल पर कई बार संस्मरण लिखे जाते हैं जो कि उस व्यक्ति की छवि का निर्माण करते हैं। जिस व्यक्तित्व पर लेखक संस्मरण लिखता है उसका आचरण कहीं न कहीं उसके मन को गहरे प्रभावित करता है। वह इनसान साहित्यकार, चित्रकार, कलाकार, संपादक, अभिनेता, गीतकार, शिक्षक, मित्र, परिजन, राजनेता या फिर साधारण आदमी भी हो सकता है।

संस्मरण विधा के बारे में लिखते हुए कांति कुमार जैन कहते हैं- *‘संस्मरण एक प्रकार से अंतर्क्रियात्मक साहित्यिक विधा है जिसमें लेखक संस्मृत के साथ बराबर छायातप रचता चलता है। संस्मरण लेखक अपनी स्मृति का एपरचर कितना खोले और कितना एक्सपोजर दे यह उसके अपने व्यक्तित्व की संरचना और कलात्मक विवेक पर निर्भर करता है। अच्छे संस्मरण लेखक वही माने जाते हैं जो भरसक स्वयं को सामने नहीं आने देते।’* आज का संस्मरण लेखन लीक तोड़कर कई विधाओं को खुद में समेट रहा है। महत्वपूर्ण यह है कि संस्मरण लिखने की शैली बोझिल न होकर निश्चित ही रोचक होनी चाहिए, ताकि पाठक को पढ़ने के दौरान नीरसता का अहसास न हो और वह लेखक की रचना के साथ जुड़ा चलता रहे तभी लेखक की सफलता है।

संस्मरण विधा की विधिवत् शुरुआत 1907 में बालमुकुन्द गुप्त से होती है जब उन्होंने प्रतापनारायण मिश्र पर संस्मरण लिखा जिसे हिंदी का पहला संस्मरण भी कहा जाता है। उनकी एकमात्र पुस्तक ‘हरिऔध के संस्मरण’ के नाम से प्रकाशित हुई। इसमें सभी संस्मरण ‘हरिऔध’ पर लिखे गए थे जो कि संख्या में कुल पंद्रह थे। इसके बाद द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी व श्यामसुंदर दास सहित कई अन्य लेखकों ने संस्मरण विधा को अपनी लेखनी से गति प्रदान की। यह सिलसिला छायावादोत्तर युग, स्वातंत्रयोत्तर युग से लेकर आज तक चलता ही रहा है। इस विधा में भले ही कम लिखा गया हो लेकिन लगातार लिखा जा रहा है। यह हाशिए की विधा जरूर कही जा सकती है लेकिन संस्मरण का महत्व कमतर करके नहीं आंका जा सकता।

हिंदी में मुख्य रूप से दो प्रकार के संस्मरण देखने को मिलते हैं जिसमें पहली श्रेणी आत्म घटित संस्मरणों की है। ये कम ही देखने को मिलते हैं। अब दूसरी श्रेणी की बात करें तो इस कड़ी में पर घटित संस्मरण रखे जाते हैं। हिंदी में पर घटित संस्मरणों की ही बहुतायत है।

संस्मरण लेखन पर यह भी कहा जा सकता है कि यदि अपने बारे में लिखा जाए तो आत्मकथा हो जाता है जबकि किसी शहर या वहां की यात्रा के बारे में लिखा जाए तो वह यात्रा वृतांत हो जाता है। संस्मरण लेखन में जरा सी चूक उसे रेखाचित्र या कि निबंध बना सकती है। आज गद्य लेखन में विधाओं का ढांचागत अनुशासन टूट रहा है ऐसे में कहानी, कविता व्यंग्य के प्रयोग एक साथ ही संस्मरणों में देखने को मिलते हैं। संस्मरण लेखन में आमतौर पर कथात्मक शैली का प्रयोग दिखता है जो कि उसे पठनीय बनाता है।

आज भी राजेंद्र यादव का ठहाका या फोन पर उनका संबोधन कि- मर गए क्या, निर्मल वर्मा की मुलायमित भरी प्रश्नवाचक आवाज 'किससे मिलना है', अमृतलाल नागर का पनडब्बा और मुंह में भरी पान की गिलौरियां, विश्वनाथ त्रिपाठी की बतकही का अंदाज, केदारनाथ सिंह और कुंवरनारायण की अद्भुत सरलता, भीष्म साहनी का सादगी भरा व्यक्तित्व, श्रीलाल शुक्ल की साफगोई, रवीन्द्र कालिया का खिलंदड़ापन, नीलाभ का एकाकीपन, नामवर सिंह की मुस्कुराहट, अशोक वाजपेयी का बहुलतावादी संबोधन, कमल किशोर गोयनका की विनम्रता, चित्रा मुद्गल का अभिभावक सा स्नेह भरा व्यवहार, संजीव का कहानी न लिखने पर टोकना, लीलाधर मंडलोई का दोस्ताना अंदाज, विभांशु दिव्याल का पत्रकारिता संबंधी दिशा-निर्देश, असगर वजाहत का 'बरखुरदार' का संबोधन रह-रहकर याद आते हैं। इन सभी साहित्यकारों को हमारी पीढ़ी को देखने-सुनने, गुनने का मौका मिला है। ये मुलाकातें किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि से कम नहीं हैं। बहुत सारे व्यक्तित्व आज हमारे बीच नहीं हैं लेकिन उनके साथ हुई बातचीत या बिताए गए पल-छिन जिंदगी का हासिल भी कहे जा सकते हैं। उनके द्वारा लिखा गया साहित्य और उनका कर्म समाज को प्रेरणा, मार्गदर्शन देने के लिए जरूर हमारे बीच पुस्तकों की थाती के रूप में उपलब्ध है।

अग्रजों और शीर्षस्थ लेखकों की बात करें तो अमृतलाल नागर, अज्ञेय, महादेवी वर्मा, रायकृष्ण दास, बच्चन, उपेन्द्रनाथ अशक, विद्यानिवास मिश्र, विष्णु प्रभाकर, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, जगदीशचंद्र माथुर, हरिशंकर परसाई, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, अजित कुमार सहित कई पीढ़ियों ने संस्मरण विधा को अपने रचनात्मक अवदान से न सिर्फ समृद्ध बनाया है बल्कि महत्वपूर्ण संस्मरण प्रस्तुत किए हैं। कुछ बरस पहले जब वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने नामवर सिंह पर 'हक अदा न हुआ' शीर्षक से संस्मरण लिखा तो न सिर्फ उस अंदाज की खासी चर्चा रही बल्कि उनसे प्रभावित होकर कई नए और पुराने लेखक इस ओर आए और उन्होंने विधा में अपनी रचनात्मक हिस्सेदारी दर्ज कराई। विश्वनाथ त्रिपाठी की पुस्तक 'नंगातलाई का गांव' (2004) को यद्यपि उन्होंने स्मृति आख्यान कहा है इसके बावजूद उसकी ध्वनि संस्मरणात्मक ही कही जा सकती है, जहां पैतृक गांव 'बिस्कोहर' की स्मृतियां दर्ज हैं। 'पंडितजी गंगा स्नान करने चलोगे' शीर्षक की उनकी नयी संस्मरण पुस्तक में फिराक गोरखपुरी से लेकर कई समकालीन दिग्गजों पर यादगार संस्मरण पढ़ने को मिलते हैं। वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य में कई पीढ़ियों के बहुत सारे लेखक आज भी स्मरणीय

संस्मरण लिख रहे हैं। लीक से हटकर खिलदंडेपन के साथ लिखने वालों में रवीन्द्र कालिया का नाम सर्वोपरि है क्योंकि वे किसी भी लेखक पर संस्मरण लिखते समय उसकी स्वभावगत विशेषताओं को ऐसे उकेरते हैं कि वह व्यक्तित्व को देखने की एक नई नजर भी दे जाता है। वे महिमामंडन नहीं करते, बल्कि कई बार 'गालिब छुटी शराब', 'सृजन के सहयात्री', 'कामरेड मोनालिजा तथा अन्य संस्मरण' कृतियों में बार-बार चिकोटी काटने वाली व्यंग्यात्मक शैली और शरारती अंदाज से चौंकाते हैं। संस्मरणों की चर्चा में कांति कुमार जैन का नाम न लिया जाए तो यह सबसे बड़ी चूक कही जाएगी। उन्होंने 'लौटकर आना न होगा' तथा 'बैकुंठपुर में बचपन' शीर्षक संस्मरण कृतियों के माध्यम से नए पाठकों को विधा के साथ जोड़ने और एक नयी ऊंचाई पर पहुंचाने में विशेष भूमिका का निर्वाह किया है। पिछले कुछ बरसों के दौरान जिन पुस्तकों को पढ़ने का मौका मिला उनमें- लौट आ ओ धार (दूधनाथ सिंह), चिड़िया रैनबसेरा (विद्यानिवास मिश्र), नेह के नाते अनेक (कृष्ण बिहारी मिश्र), एक नाव के यात्री (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी), वे देवता नहीं हैं (राजेंद्र यादव), मेरे हिस्से की रोशनाई, (नूर जहीर), यादों की रहगुजर (शौकत कैफी) याद हो कि ना हो, आछे दिन पाछे गए, (काशीनाथ सिंह), कालातीत (मुद्राराक्षस), ज्ञानरंजन के बहाने (नीलाभ) स्मृतियों का साक्ष्य (हृदयेश), हमसफरनामा (स्वयंप्रकाश), माफ करना यार (बलराम), यादों का सफर (प्रकाश मनु), स्मृतियों के गलियारे से (नरेन्द्र कोहली) शामिल है। इनके अलावा भी अन्य बहुत सी संस्मरण पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इन सभी पुस्तकों में प्रकाशित संस्मरणों से व्यक्तित्वों की झलक मिल ही जाती है। यहां तीन पुस्तकों का जिक्र समीचीन होगा जिसमें- लखनऊ मेरा लखनऊ (मनोहर श्याम जोशी), कितने शहरों में कितनी बार (ममता कालिया) व दिल्ली शहर दर शहर (निर्मला जैन) शामिल है। इन पुस्तकों की शैली संस्मरणात्मक है जबकि ये विभिन्न शहरों की स्मृतियों का खूबसूरत लेखा प्रस्तुत करती हैं। स्मृतियों का यही लेखा जोखा मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन का ताना बाना बुनता है। उसका आधा जीवन इसे उकेसने में और आधा उसे बुनने में बीत जाता है।

बहुवचन के स्मरण में जीवन विशेषांक में साहित्य और उसकी पड़ोसी कलाओं-रंगमंच, संगीत-सिनेमा, राजनीति, पत्रकारिता के सुप्रसिद्ध व्यक्तित्वों पर संस्मरण शामिल किए गए हैं। इसके साथ ही प्रसंगवश, यात्रा वृत्तांत, चिंतन के अंतर्गत अन्य महत्वपूर्ण संस्मरण दिए गए हैं। हमारे आग्रह को जिस तरह कई पीढ़ी के लेखकों ने स्वीकार किया वह विरल है।

अंक में शामिल सभी लेखकों के प्रति हृदय से आभार भविष्य में भी उनका स्नेह मिलता रहे यही कामना है। अंक आप सभी को कैसा लगा इस पर प्रतिक्रियाओं और सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी?

शरण मिश्र

गुरुदेव को स्मरण करते हुए

विश्वनाथ त्रिपाठी

आज 2017 ई. में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बारे में सोचते हुए लगता है कि अपने विरोधी की बात सुनना उनका सबसे बड़ा गुण था। वे विरोधी को शत्रु और समर्थक को मित्र नहीं मानते थे। विद्वत्ता के प्रति आदर का परम भाव रखते हुए भी वे उसे मनुष्यता का पर्याय नहीं मानते थे। वे कहते बहुत सारी किताबें पढ़कर कोई भी विद्वान हो सकता है। बड़ी बात है मनुष्य होना। मेरे कहने का अर्थ यह न समझा जाए कि विद्वानों के प्रति उनके मन में आदर भाव की कोई कमी थी। अपनी बात के समर्थन में मैं एक घटना का उल्लेख करना चाहता हूँ। सन् 56 ईसवी की बात होगी, जाड़े की शाम थी करीब सात बजे। उन्होंने मुझसे पूछा 'गंगा स्नान करने चलोगे' मैंने सोचा कि इस जाड़े में और शाम के समय पंडितजी गंगा स्नान करने क्यों जा रहे हैं। मैं चुपचाप उनके साथ हो लिया। वे मुझे लिए लिए विश्वविद्यालय परिसर के ही एक मकान के सामने पहुंचे वहां एक प्रज्ञाचक्षु विद्वान रहते थे। वयोवृद्ध थे। पंडितजी ने उनका चरण स्पर्श किया और उनके चरणों के पास शिष्यवत बैठ गए। कुछ जिज्ञासा प्रकट की। जैन विद्वान ने उनका उत्तर दिया। जैन विद्वान ने मुझसे कहा, 'विद्वान बनना चाहते हो तो संस्कृत पढ़ो, पढ़ना चाहते हो तो रात को सोने के दो घंटे पूर्व भोजन कर लिया करो' थोड़ी देर बाद उनका चरण स्पर्श करके पंडितजी लौटे। रास्ते में मुझसे कहा गंगा स्नान हो गया। किसी विद्वान की बात करते तो कहते उसके दर्शन से पुण्य लाभ होता है।

फिर भी वे मनुष्यता को विद्वत्ता से ऊपर की चीज समझते थे। काशी में विद्वानों की कमी नहीं थी। पंडितजी ने उन्हीं से शिक्षा प्राप्त की थी। वे अपने गुरुओं का परम आदर करते थे। पंडित कालीप्रसाद शास्त्री, पंडित व्योमदेव, पंडित महादेव शास्त्री आदि की बातें करते। पं. रामयत्न ओझा उनके ज्योतिष गुरु थे। लेकिन उसी काशी में ऐसे कई विद्वान थे जिनमें पांडित्य के साथ-साथ चांडित्य भी था। यह चांडित्य शब्द द्विवेदीजी का ही है। वे उनका विरोध कम करते, उनकी निंदा कभी नहीं करते। उन्हें सहन करते या उनकी उपेक्षा करते।

शांतिनिकेतन जाने के बाद अपने गुरु ज्योतिषाचार्य पंडित रामयत्न ओझा से ज्योतिषाचार्य पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक मनोरंजक, आत्मीय किंतु नैतिक प्रसंग घटित हुआ। वह चित्रकूट में भरत-मिलाप के समान शील का शील से, संकोच का संकोच से और मर्यादा का मर्यादा से मिलन जैसा था। हालांकि अंत में इस क्षेत्र में भी गुरु ही गुरु रहा। इस प्रसंग का विवरण द्विवेदीजी ने पंडित

बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखित एक पत्र में दिया है।

द्विवेदीजी ज्योतिष के विद्यार्थी थे। ज्योतिष के गुरु पंडित रामयल्ल ओझा थे। द्विवेदीजी ने लिखा है, 'बड़े उदार और बड़े मस्तमौला। मुझे बहुत प्यार करते थे। हालांकि मैं कई बातों में उनसे मतभेद रखता था। शांतिनिकेतन आने के बाद मैंने व्योमकेश शास्त्री इस नाम से एक लेख 'सनातन धर्म' (पत्रिका) में लिखा था। सनातन धर्म मालवीयजी का पत्र था।' कालांतर में द्विवेदीजी से पंडित बनारसदास चतुर्वेदी ने प्रच्छन्न नाम से लिखने को मना कर दिया था। लेकिन पंडितजी का प्रच्छन्न नाम शैलीगत जरूर था। सो बीच-बीच में वे प्रच्छन्न नाम से लिखते थे। इस प्रच्छन्न नाम से लिखे लेख में द्विवेदीजी ने अपने ज्योतिष गुरु के मत का खंडन किया था। अब आगे एक विचित्र, मनोरंजक और गुरु नैतिकता का कांड घटित हुआ। 'उन्हीं दिनों इंदौर में ज्योतिष-सम्मेलन होने जा रहा था। मालवीयजी महाराज सभापति थे। प्रयोक्ताओं को मेरा लेख पसंद आया और व्योमकेश शास्त्री (प्रच्छन्न नाम) उस सम्मेलन की निर्णायक समिति में बंगाल के प्रतिनिधि के रूप में चुने गए।'

अब व्योमकेश शास्त्री सोचें कि क्या करें। व्योमकेश शास्त्री तेजस्वी कुशाग्र-बुद्धि लेखक थे। हजारों प्रसाद द्विवेदी संकोची गुरुभक्त शिष्य। जाएं तो उस निर्णायक समिति के समक्ष गुरुजी अपने पक्ष की स्थापना करते। लेखक व्योमकेश उनका विरोध करते। क्या करें? आखिर में वही हुआ। व्योमकेश शास्त्री सम्मेलन में जाने की हिम्मत नहीं जुटा पाए। गुरु पंडित रामयल्ल ओझा भी नहीं गए। 'यह सारी कहानी गुरुजी को बाद में मालूम हुई। वे बहुत प्रसन्न हुए और मुझे डांटते हुए कहा कि मैं तो उस दिन अपनी विद्या सफल मान लेता जिस दिन तू मेरे मत की परीक्षा के लिए निर्णायक की गद्दी पर बैठता।

सर्वत्र जयमिच्छेत पुत्रात् शिष्यात् पराजयं'

द्विवेदीजी निम्नवर्गीय ग्रामीण ब्राह्मण परिवार से थे। उनका बचपन और शिक्षा के दिन अभावग्रस्तता में बीते थे। सच बात तो ये है कि वे आजीवन अपनी आर्थिक दुरवस्था के दिन नहीं भूले। वे रसवादी चिंतक और लेखक थे। जीवन में उत्सवधर्मी व्यक्ति थे। कला-विलास को मानव जीवन का सार्थक अंग मानने वाले थे। लेकिन 'निरन्न और निर्वस्त्र जनता' को नहीं भूलते। बाद में उनकी निबंध शैली में ललित निबंध लिखने वाले अनेक विद्वान रचनाकार हुए, किंतु अभावग्रस्त, दलित, दमित मूक जनता से वैसा सहानुभूति रखने वाले निबंधकार नहीं हुए। अभावग्रस्त जनों से उनकी आत्मीयता उनकी सर्जना में आघात विद्यमान है। द्विवेदीजी का सर्वाधिक लोकप्रिय निबंध 'अशोक के फूल' की रचना में द्विवेदीजी ने भारतीय सौंदर्य को मानो साक्षात् कर दिया है। पाठक उनके साथ ही अपने मन की आँखों से कालिदास की सौंदर्यानुभूति का आस्वाद लेने लगते हैं। द्विवेदीजी ने अशोक के फूल के विषय में लिखा, 'भारतवर्ष का स्वर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।' इतना सब कछ लिखने के बाद द्विवेदीजी का मन मानो झटका खाकर फिर 'निरन्न निर्वस्त्र जनता' की ओर लौटता है। कहां अशोक के फूल का कालजयी सौंदर्यानुभव और कहां ये पंक्तियां-

'अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परंतु है वह उस विशाल सामंत-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा से समृद्ध हुई थी। वे सामंत उखड़ गए, समाज ढह गए, और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई।

संतान-कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा- पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया।' (अशोक के फूल)

द्विवेदीजी का मानना था कि सौंदर्य सहज होता है जो सहज नहीं वह सुंदर नहीं हो सकता। यह सहजता उनकी भाषा-शैली के साथ-साथ उनके जीवन व्यवहार में भी सर्वत्र दिखलाई पड़ती थी। उनके व्यक्तित्व में अगाध पांडित्य, अपार करुणा और सहजता का अद्भुत संयोग था। सिद्ध फिल्म अभिनेता बलराज साहनी कुछ वर्षों के लिए शांतिनिकेतन में द्विवेदीजी के साथ थे। उन्होंने मार्च, 1939 के 'हंस' में द्विवेदी पर एक लेख लिखा। वह शायद द्विवेदीजी के व्यक्तित्व को प्रकट करने वाला पहला लेख है। अपने लेख का प्रारंभ जिस तरह से उन्होंने किया है वह विशेष पठनीय है- 'द्विवेदीजी में एक दोष है, ढीलम-ढालम रहते हैं। हजामत हफ्ते में एक बार से अधिक नहीं करते। तिस पर जो व्यक्ति पहले नजर में उन्हें जंच जाए उसकी खैर, जो न जंचे उसे सामने बिठाकर उसके मुंह की ओर देखते रहते हैं। इसलिए कई महानुभाव शांतिनिकेतन से यह धारणा बनाकर लौटते हैं कि द्विवेदीजी बैरागी आदमी हैं।'

बलराज साहनी ने द्विवेदीजी के दिगंतव्यापी अट्टहास की चर्चा की है। शायद यह द्विवेदीजी के अट्टहास का हिंदी साहित्य में प्रथम उल्लेख है। बलराज साहनी ने लिखा है- पंडितजी विरक्त नहीं हैं। इसका प्रमाण है कि जिस मंडली के साथ शाम को सैर के लिए निकलते हैं उसका अट्टहास मील के घेरे में कान चीरता है। उनके शुभचिंतक शांतिनिकेतन से आने वाले बटोहियों से प्रायः यही सवाल-जवाब करके संतुष्ट हो जाते हैं-

'पंडितजी हंस रहे हैं ना?'

'हां, हंस रहे हैं।'

ये आश्वासनकारी हंसी विचारणीय है। ये सहजता भी। सहजता कुल मिलाकर ऐसा रूप है जिसकी अंतर्वस्तु जटिल होती है। सहजता सपाटपन नहीं है, न वो सरलीकरण है।

जिन लोगों ने द्विवेदीजी को नजदीक से देखा है वे जानते हैं कि पंडितजी का जीवन व्यवहार किसी प्रकार की कृत्रिमता और बनावट से दूर था। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। लंबी काया, दोहरा बदन, जादू जैसा असर करने वाली घनी मूँछें और दिगंत में व्याप्त अट्टहास या होठों पर थमी हुई मुस्कान। उनके कपड़ों पर इस्तरी की गई हो, ऐसा नहीं लगता। वो ज्यादातर उलटे-पुलटे या सिकुड़े लगते। कंधी पंडितजी अपनी अंगुलियों से ही कर लेते थे। दाढ़ी बिना शेविंग सोप के ही कर लेते। पंडितजी का क्लास प्रायः दो बजे या उसके बाद होता। दोपहर को खाना खाने के बाद थोड़ा विश्राम जरूर करते। छुट्टियों के दिन दोपहर का खाना खाने के बाद देर तक सोते। दिन में भोजन के उपरांत शयन उनका विलास था। बीच में शोर से या किसी और वजह से पूरी नींद न ले पाएं तो खीझ उठते। ऐसे अवसरों पर जिम्मेदार व्यक्ति को डांट पड़ती। दिन में उनके शयन के समय माताजी परिवार के लोगों को शोर मचाने से रोकतीं। मिलने के लिए आने वाले लोगों को सावधान करतीं। जगने के पहले पंडितजी का दाहिने पैर का पंजा हिलता। चाय पीते, पान खाते तब प्रकृतिस्थ होते। कभी-कभी घर से विश्वविद्यालय जाते समय कुछ मनोरंजक भी घटता। रिक्शे से पंडितजी क्लास लेने जा रहे हैं, बीच में पान की दुकान पड़ी। पान की दुकान पर खड़ा कोई मित्र

मिला। उसने पंडितजी को पान खिलाया। मुंह में पान रखकर बोलते जाना बनारस के लोगों का प्रिय विलास है। इसी में पान की पीक से कुरता रंग गया, अब क्या करें? विद्यार्थियों ने कई बार देखा है कि गुरुवर आचार्य द्विवेदी पान की दुकान पर खड़े पानी से कुरते पर पड़ी पान की पीक को धो रहे हैं।

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व ठेठ पुरबिया-बलियाटिकी था। धोती-कुर्ता, बाहर निकलते समय गले में दुपट्टा या शाल। किसी दूसरी पोशाक में शायद ही किसी ने देखा होगा। जाड़े में कुर्ते के ऊपर दूसरा कुरता पहन लेने और जाड़ा पड़ने पर लंबा ऊनी कोट पहनते। पंडितजी को चलने में थोड़ी तकलीफ होती थी। बायां पैर बढ़ाने पर दाहिने पैर को थोड़ा घसीटकर चलते थे। भोजन में वात रोगों से बचने वाली सब्जियों का प्रयोग बचाते लेकिन चावल और आलू का चोखा नहीं छोड़ पाते। डॉक्टर ने राय दी कि पंडितजी बहुत दिन जीवित रहना है तो आलू और चावल छोड़ दीजिए। पंडितजी ने कहा जब आलू और चावल ही नहीं खाएंगे तो जीवित रहकर क्या करेंगे? पंडितजी पकौड़ियों और आचार के प्रेमी थे। मैंने उन्हें सत्तू और चावल को सानकर खाते हुए कई बार देखा है। पकौड़ी खाकर हाथ बालों से पोछ लेते यानी बालों में तेल लगा लेते। उम्र बढ़ जाने पर दांत बनवा लिए थे, चश्मा लग गया था एक बार बिना चश्मा के घर से बाहर निकले याद आया कि चश्मा छूट गया है तो सेवक बहादुर को पुकारा 'बहादुर आंखिया के जवानी तो घर ही में रह गइल। ले आवा।' अपनी कमियों और कमजोरियों को विनोद या आत्मव्यंग्य के रूप में प्रकट करना, वस्तुतः उनके स्वभाव और वैयक्तिक संस्कृति का लक्षण था। पेट का ऑपरेशन हुआ, उसमें से ट्यूमर निकला तो बोले छह चक्रों (षट्चक्र) में से एक निकल गया। काशी विश्वविद्यालय से सेवाएं समाप्त हुईं। दिल्ली में जामाता के घर बैठ मूंछों पर कंघी कर रहे थे। मुझे देखा मुस्कुराकर बोले अभी क्या देखा है नौकरी मिल जाए तो देखना कितना टंडन-मंडन करता हूं।

आप कल्पना कर सकते हैं कि जो व्यक्ति अपने शिष्यों की इतनी चिंता करता था, वह अपने परिवारजनों से कितना प्रेम करता होगा। द्विवेदीजी का परिवार जन संकुल था, चार पुत्र और तीन पुत्रियां थीं। अंतिम संतान आनंद को छोड़कर सभी शांतिनिकेतन में पैदा हुए थे। वे सब हिंदी से ज्यादा बांग्ला बोलने के अभ्यस्त थे। माताजी ऐसी भाषा बोलतीं जिसमें खड़ी बोली, भोजपुरी, बांग्ला और बाद में पंजाबी का भी मिश्रण होता। कभी-कभी उसमें द्विवेदीजी की शब्दावली भी मिल जाती। यही हाल भोजन का भी था। वे अतीव सुस्वाद भोजन बनातीं। नाना प्रकार के व्यंजनों की गंध से किचन और आस-पास का आकाश सुगंधित रहता। उनके यहां चच्चरी, सुत्तो, पोस्ता, पोहा, बटाटा भी बनता और छोले, चने का साग और सरसों का साग भी। द्विवेदीजी को मैंने घर के बाहर किसी रेस्तरां या ढाबे में चाय पीते या खाना खाते बहुत कम देखा है। यात्रा में पंडितजी प्रायः मीठे पुए ले जाते थे।

अरुई (घुइयां) के पत्ते की रिकवच उन्हें बहुत प्रिय थी। माताजी एक सब्जी और भी बड़े उत्साह से बनाती, बहुत छोटी (बतिया) कटहल की रसदार सब्जी जो बंगाली ढंग से बनातीं। पंडितजी बनारस से माताजी द्वारा बनाई विशेष सब्जी तरकारी दिल्ली अकसर लाते बच्चों के लिए। भोजन रुचिकर न हो तो घर में भुनभुनाते। पंडितजी और उनके परिवार के विषय में राहुलजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है- 'द्विवेदीजी स्वयं सरयूपारी कुल कलंक हैं, बांह उठा-उठाकर जिनके लिए

ऋषियों ने कहा था 'तुम्हें मछली मांस खाना चाहिए' और वह आज ऋषि-वाक्य के विरुद्ध जाएं, यह कोई अच्छी बात है? पर अगली पीढ़ी ऋषियों के रास्ते पर चली आई है, यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। बिना मांस के पूज्य अतिथि की सेवा नहीं की जा सकती।

बंगाल में मांस से ज्यादा बंगाली ढंग से बनाई मछली अच्छी लगती है। मैं उसी को तरजीह दे रहा था। ऐसे समानधर्मी बंधुओं के साथ इतना कम रहने का मौका मिलता है, मुझे तो यही शिकायत थी।'

द्विवेदीजी क्लास में, क्लास के बाहर एक ही जैसा बोलते। वे शास्त्रज्ञ तो थे लेकिन उनको शास्त्रज्ञता लोकोन्मुख थी। किताब की बातें ज्यादातर वे जीवन से जोड़ते। साहित्य की व्याख्या वे जीवन-सदर्भों में करते। साथ ही यह भी बताते कि साहित्य में रूढ़ियों, काव्यों-रूढ़ियों पर हिंदी में किसी और ने उतना ध्यान नहीं दिया है। वे किवदंतियों, लोकवार्ताओं, मिथकों, लोक-विश्वास आदि का उपयोग करते हुए साहित्य समझाते। उनके क्लास में हम साहित्य के मायालोक में पहुंच जाते और वहां से अपना जीवन-अनुभव पहचानते। पढ़ते समय, सभाओं, गोष्ठियों में भाषण देते हुए जैसा ही उनका स्वर या शरीर छंदमय हो जाता। उनकी बाहें उल्लास तरंगें बनातीं। दो श्लोक वे प्रायः उद्धृत करते थे।

*ऊर्ध्वबाहुविशैम्येष न च कश्चिच्चृणोति मे
धर्मादर्यश्च कामश्च सधर्मः किं न सेव्यते॥*

और

*तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपभद्रमुतं हरेः
विस्मयो में महान् राजन् हृष्यामिव पुनः पुनः*

इन श्लोकों का उच्चारण जब वे अपने मन्द्र स्वर में करते तो प्राचीन साहित्य की गरिमा साक्षात् हो उठती।

पंडितजी की आवाज में अनेक स्वर शाखाएं सुनाई पड़तीं। सब परस्पर सघन-संबद्ध जैसे कई धाराओं का जल मिलकर कोई गंभीर प्रवाह सुनाई पड़ रहा है। उनकी आवाज में आकाश जैसा अवकाश होता। बादल जैसी गंभीरता और सागर जैसी गहराई होती। भोजपुरी की लय, शब्दों के उच्चारण और वाक्य के अनुतान में साफ सुनाई पड़ती। भोजपुरी की लय, उनके कथन और भाषण को और आत्मीय बनाती। लेकिन यह सब सहज, अकृत्रिम था, आयासपूर्ण नहीं। आयास की गंध भी मिले तो सहज सौंदर्य नष्ट ही नहीं हो जाता, उल्टे वितृष्णा पैदा करता है।

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के भाषण अविस्मरणीय होते थे। भाषण सुनने वाले उनके कारणों को आजीवन याद रखते। स्वाधीनता आंदोलन ने भारतीय भाषाओं में विशेषतः हिंदी या हिंदुस्तानी को अखिल भारतीय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। जिसे 'रेटरिक' कहा जाता है, वो स्वाधीनता आंदोलन की ऊर्जा की देन है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के प्रारंभिक दौर के हिंदी भाषणकर्ताओं में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', महादेवी वर्मा, आचार्य नरेंद्रदेव और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी विशेष रूप से प्रसिद्ध और लोकप्रिय थे। द्विवेदीजी रचनाओं में जिस छंद की बात अकसर कहते हैं, वह उनके भाषणों में जीवित हो उठता था। उनके भाषणों का प्रभाव कितना चामात्कारिक होता था, इसका उदाहरण अलीगढ़ विश्वविद्यालय में उनके द्वारा कालिदास पर दिया

गया एक प्रकरण है। इस भाषण के विषय में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष कुंवरपाल सिंह का वर्णन पठनीय है। सभाकक्ष में इस्लामिक स्टडीज और अरबी विभाग के निदेशक, प्रगतिशील लेखक संघ के लेखक नेता प्रो. अब्दुल अलीम, विख्यात इतिहासविद् प्रो. मोहम्मद हबीब (प्रो. इरफान हबीब के पिता) विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर कर्नल बी.एच. जैदी, उनकी कलाप्रेमी पत्नी कुदुसिया बेगम मौजूद थीं। सभा में संस्कृत भाषा और कालिदास के मर्मज्ञ विद्वान प्रो. हादी हसन भी थे। प्रो. मुजीब रिजवी ने उन्हीं से द्विवेदीजी को निमंत्रण भिजवाया था। मंच पर प्रो. हबीब, प्रो. हादी हसन, प्रो. हरवंशलाल शर्मा (हिंदी विभागाध्यक्ष) बैठे। कुलपति जैदी ने कहा- हम सुनने आए हैं, श्रोताओं के बीच बैठेंगे। प्रो. कुंवरपाल सिंह ने लिखा है कि यह व्याख्यान स्ट्रेची हाल के सबसे बड़े कक्ष आसमान मंजिल में था। द्विवेदीजी धोती, कुर्ता और सदरी पहने थे। यह मुख्यतः विश्वविद्यालय के लोगों के लिए आश्चर्यजनक लग रहा था। लोग सोच रहे थे ये क्या बोलेंगे- पंडित हैं, ऊपर से हिंदी वाले। चलो आ ही गए हैं तो सुन लेते हैं।

द्विवेदीजी ने कालिदास पर अपना व्याख्यान शुरू किया... दस मिनट में पूरा हाल मंत्रमुग्ध हो गया। द्विवेदीजी एक घंटा बोले। व्याख्यान के बीच एक बार भी कोई न तो उठकर गया, न ही कोई आहट हुई। ऐसा लग रहा था कि वहां कोई है ही नहीं। बोलते समय द्विवेदी का चेहरा ओजस्वी हो जाता था। आवाज प्रभावशाली हो जाती थी। उनकी सहजता से भी लोग आकर्षित हुए। व्याख्यान समाप्त हुआ तो लोगों ने जिस तरह तालियां बजाई वह विस्मयकारी था। सब खड़े हो गए और उनके सम्मान में तालियां बजाने लगे।

प्रो. हबीब ने कहा- 'मेरा यह भ्रम दूर हो गया कि हिंदी में बड़े विद्वान नहीं हैं- आज मेरी दुनिया बड़ी हुई और हिंदी के बारे में मेरी राय बदल गई है। वाइस चांसलर कर्नल जैदी ने कहा- 'हम चाहेंगे कि द्विवेदी साहब अलीगढ़ बार-बार आएंगे, बल्कि जब उनकी इच्छा हो वे हमें बता दें। वे आएंगे तो हमें रोशनी मिलेगी।'

प्रो. कुंवरपाल सिंह ने आगे टिप्पणी की है- 'उसके बाद द्विवेदीजी का सिक्का वामपंथियों के बीच जम गया। हम लोग भी उनके मुरीद हो गए।'

द्विवेदीजी मूलतः निबंधकार थे। उपन्यास, आलोचना आदि विधाओं में भी उनका निबंधकार रूप उजागर होता रहता है। कहा जाता है कि शैली से व्यक्तित्व का पता चलता है। यह उक्ति उनके बारे में सर्वाधिक घटित होती है निबंध लेखन में। द्विवेदीजी के निबंधों को पढ़ते ही पाठक को लगता है कि हमसे ऊपर किसी उच्च मंच पर बैठकर बात नहीं कर रहा है, बल्कि वह हमारे साथ चौपाल में बैठा हुआ, बातकही कर रहा है और मानो हमारा हाथ पकड़कर हमें कुछ समझा रहा है। द्विवेदीजी अपने अगाध पांडित्य को इन्हीं व्यक्तिपरक ललित निबंधों की बातकही शैली में पाठकों तक पहुंचा देते थे। इसीलिए उनकी भाषा मुहावरों, दृष्टान्तों और विविध भंगिमाओं से भरी हुई है। ये सहजता उनके व्यक्तित्व का प्रधान गुण है। द्विवेदीजी अपने निबंधों के माध्यम से भारतीय संस्कृति का पुनर्निर्माण, मिथकों, पौराणिक आख्यानों की पुनर्व्याख्या करते हैं। वनस्पतियों, त्योहारों, पर्वों यहां तक कि बच्चों के खेलकूद से भी अपने अतीत की ऐसी व्याख्या करते हैं कि हमें अपनी परंपरा का बोध हो जाता है। द्विवेदीजी के अनुसार परंपरा का विकास उत्तरोत्तर समावेशी और अधिकाधिक लोगों को संरक्षण देने की प्रक्रिया से होता है। हाशिए पर पड़े हुए लोगों को अपनाने में होता है। यह काम

सिर्फ उदार बनने, दया करने से संभव नहीं होता। इसके लिए समझ का विकास करना जरूरी है। परंपरा समझ के साथ संवेदना को और फिर शास्त्र को पुनरालोकित करने से विकसित होती है। आधुनिकता समझ के सहारे आती है। आधुनिक भाव-बोध भी उसी को कहते हैं। द्विवेदीजी की दृष्टि में परंपरा और आधुनिकता परस्पर पूरक हैं।

द्विवेदीजी, जैसा कि पहले कह आए हैं, विरोधी विचारों को सुनने और उस पर बार-बार विचार करने वाले लेखक हैं। उनके लेखन से लगता है कि वे अपने विचारों से भी जूझते रहते हैं। द्विवेदीजी ने अपनी कविता में लिखा है, 'मैं हूँ स्वयं निज प्रतिवाद।' यह निज प्रतिवादकत्व उनके लेखन में सर्वत्र विद्यमान है। बड़ी से बड़ी बात कहकर फिर वे उसका विरोध करते हैं। या फिर उसी बात को अन्य दृष्टि से देखने का प्रस्ताव करते हैं। कालिदास उनके सर्वाधिक प्रिय कवि हैं। 'कालिदास की लालित्य योजना' उनका संभवतः सर्वश्रेष्ठ आलोचना ग्रंथ है। द्विवेदीजी कालिदास पर बात कर रहे हों और हममें से कोई भी, यहां तक कि नामवरजी भी, किसी दूसरे कवि का उल्लेख कर दें तो पंडितजी खीझ उठते थे। ऐसे कवि कालिदास की इतनी अधिक प्रशंसा करते हुए भी लिखा- 'हाय महाकवि तुमने हँसी खुशी में ही जिंदगी काट दी, तुमने ऐसा करुण-मोहक स्मित देखा होता तो दुनिया को बता सकते कि वो कैसा था।'

'करुण-मोहक-स्मित' अंतर्बाह्य का चित्र है। मनोविकारों का नया संश्लेष है। द्विवेदीजी के बाणभट्ट की कालिदास से शिकायत है 'हाय! महाकवि! तुमने हँसी-खुशी में ही जिंदगी काट दी।' राजाओं के विलास और उनकी प्रियाओं के सुखद पक्ष पर अधिक ध्यान दिया। अंतःपुर की नारियों के जीवन का एक अन्य पक्ष भी है। इस पर ध्यान नहीं दिया।

यह कथन 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के नायक बाणभट्ट का है। यह रचना-छल है। हिंदी का पाठक जानता है कि अपने सर्वाधिक प्रिय कवि कालिदास के विषय में दिया गया यह वक्तव्य संस्कृत के बाणभट्ट का नहीं हिंदी के बाणभट्ट का है।



घुलावटी रसायन की खोज में

रमेशचंद्र शाह

साहीजी का स्मरण आते ही उनकी आवाज भीतरी गूँजने लगती है : ऐसा चाहे मेरे साथ उनके एक अनोखे किस्म के गुरु-शिष्य संबंध के कारण हो, चाहे इस कारण कि उनके कवित्व और चिंतन दोनों की जो छाप मेरे मन पर पड़ी है, वह लिखित से पहले एक मौखिक स्वर की छाप है। वह छाप मुझ पर कुछ इस तरह पड़ी हुई है कि आज जब बहुत कुछ उनका पुस्तक रूप में सामने है- जो उनके जीवन-काल में नहीं था- क्योंकि वे अपना कुछ भी छपाने के प्रति एकदम उदासीन थे- इस छपे हुए के भीतर भी मैं उसी स्वर-लिपि को सुनता हूँ जो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की उभयनिष्ठ विभूति है और जो उनके तिरोभाव के उपरांत मुझे और भी अधिक हॉण्ट करती है। मुझे यह भी अकारण नहीं लगता कि एक शब्द-प्रत्यय के रूप में भी यह 'आवाज' उनके यहां क्या कविता, क्या चिंतन-दोनों जगह अकसर झलक जाती है। मसलन, सन् 1970 में 'परिमल' की रजत-जयंती के अवसर पर... 'साहित्य क्यों' का विषय-प्रवर्तन करते हुए उनका वह भाषण, जिसे मैंने वहां इलाहाबाद में उनकी अपनी आवाज में ही सुना था : उसी का एक अंश...

'... संशय की धुंधली आवाजें जरूर आती हैं। जिस रूप में, मानव-सभ्यता के जिस स्वप्न के रूप में यह बीसवीं शताब्दी हमारे लिए संदर्भ प्रस्तुत कर रही है, क्या सचमुच हमारा वास्तविक संदर्भ है या सिर्फ एक मायालोक, जो हमें थोड़ा आविष्ट और थोड़ा हताश छोड़ जाता है। इस विडंबना के भीतर से हमारी पर्याप्त प्रतिक्रिया की आवाज क्या है?...

यह आवाज अपनी पूरी भाव-ऊर्जा और बौद्धिक सघनता में 'साखी' की कविताओं में भी सुनी जा सकती है। यहां केवल दो कविताओं का जिक्र काफी होगा : एक तो 'इसी शताब्दी के सामने' और दूसरी 'सत की परीक्षा'। साहीजी का उस आवाज को यहां सुना जा सकता है, जो अत्यंत वैयक्तिक-विशिष्ट होते हुए भी निस्संग-निर्वैयक्तिक लगने लगती है। आसक्ति और अनासक्ति, ओज और करुणा का एक विलक्षण यौगिक है यह आवाज, जिसमें मानवीय स्थिति की करुणा है, किंतु आत्मावसाद नहीं; एक फक्कड़ विरागी तेवर है, लेकिन गहरी संसक्ति भी। जहां हम इस आवाज में अपनी खंडित और प्रवंचित चेतना का हाहाकार सुनते हैं, वहीं कहीं एक अखंड अपनाने का आश्वासन भी।

लेकिन साधो, ये सारे साहस/ आज ओछे पड़ गए हैं/ मेरा मन इनमें से किसी की गवाही नहीं देता/ क्योंकि आज मेरे साथ ही साथ/ मेरे मायके, ससुराल और सारी बिरादरी के/ पुरखों की लहर

लेती रोशनी के/ सत की परीक्षा है। (सत की परीक्षा)

X X X X X

तुमने इन सारे घरों में/ मुहरे बिठा दिए हैं/ जिधर से होकर मेरे आने की गुंजाइश है/ यह व्यूह-रचना तुम्हें युग ने सिखाई है।

X X X X X

लेकिन मैं तुम्हारे सारे नियमों के विरुद्ध/ बिसात से नीचे उतरकर/ तुम्हारे मर्म में प्रवेश करता हूँ/ देखूँ मुझे कौन रोकता है। (इसी शताब्दी के सामने)

साहीजी मेरे गुरु थे। इस गुरुत्व की भी एक कथा है। मैं कभी-कभी सोचता हूँ- हमारे यहां गुरु को जो प्रामाणिक ज्ञान का स्रोत माना जाता है- किताब या शास्त्र से कहीं ऊपर-उसका क्या अर्थ है? गुरु तो यों और भी होंगे, क्योंकि आज न तो एकलव्य सी एकनिष्ठता संभव दीखती है, न दत्तात्रेय सी सर्वनिष्ठता; पर 'गुरुदेव' संबोधन अगर सहज भाव से मेरे भीतर किसी के प्रति उमड़ता था जो वह साहीजी ही थे। बरसों मेरे इस संबोधन को चुपचाप झेलते रहने के बाद एक दिन उन्होंने मुझसे पूछ ही लिया- 'तुम मुझे गुरुदेव क्यों कहते हो?' तब, यानी तभी, बीस साल तक बड़े जतन से बांधकर रक्खी हुई गठरी आखिरकार उनके सामने खुल ही गई।

इलाहाबाद। सन् 1954। विजयनगरम हॉल, जहां प्रो. विजयदेवनारायण साही अपनी साइकिल पर ताबड़तोड़ पैडल मारते हुए बी.एससी. प्रथम वर्ष की सामान्य अंग्रेजी की क्लास लेने आते थे। ऐच्छिक विषय था, इसलिए मुश्किल से सात-आठ लड़के उन्हें अपना इंतजार करते मिलते थे। कोर्स के नाम पर एक निबंध संकलन भर, जिसे निपटाने की, गुरु को कोई जल्दी नहीं। कोई महीने भर से वे हमें एक ही निबंध की परिक्रमा करवा रहे थे। उस निबंध-चर्या ने हमारे दिमाग में एक बात अच्छी तरह बिछा दी थी- कि साहित्य में सबसे मजेदार और पंखयुक्त विधा अगर कोई है तो वह है 'निबंध'। तब हममें से किसी को यह खबर नहीं लगी थी कि साहीजी हिंदी के लेखक-कवि भी हैं। हम लोग उनकी विद्वत्ता से ही नहीं, उनकी अनुशासनप्रियता से भी खासे आतंकित रहते थे। विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी की कक्षा तफरीह की जगह होनी चाहिए, हमारी इस खुशफहमी को उन्होंने आते ही मिटा डाला था। किताब लेकर न आने वाले छात्र को वे फौरन दरवाजा दिखा देते थे। यह सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हो चुका था और तब से मैं सावधान रहने लगा था।

पाठ जिस दिन पूरा हुआ, गुरु का आदेश हुआ कि हम लोग इसी तरह का एक-एक निबंध लिखके प्रस्तुत करें एक सप्ताह के भीतर। एकदम फ्री-स्टाइल। विषय की कोई बंदिश नहीं : 'चाहे जो लिखो। मगर, हो सौ टंच 'पर्सनल एस्से'।'

मैं इस प्रस्ताव पर फूला न समाया। नया-नया साइकिल चलाना सीखा था। और, हाल ही में फाफामऊ पुल के पास एक ट्रक की चपेट में आने से बाल-बाल बचा था। बस, फिर क्या था। मैंने ताड़बतोड़ एक बेहद आत्मलीन और अपनी समझ से बहुत ही पुरलुत्फ निबंध तान मारा। जिस दिन परीक्षा की घड़ी आई, देखा मैदान में मैं अकेला ही हूँ। बाकी प्रतिद्वंद्वी बहुत सस्ते में निबटाए जा चुके थे। गुरुवर मेरी करतूत बहुत गौर से पढ़ रहे थे। आखिर तनाव टूटा और कापी मेरी ओर बढ़ाते हुए गुरु ने मुस्कराते हुए कहा- 'बहुत बढ़िया। यह तो बताओ, कहां से नकल मार लाए?'

मुझे ठीक-ठीक याद नहीं- इस पर मेरी क्या प्रतिक्रिया हुई। हो सकता है मुझसे उस 'शॉक'

की हालत में कुछ कहते ही न बना हो। यह भी संभव है कि मैंने कुछ उल्टा-सीधा बक दिया हो। पर... हुआ यह, कि उस घटना के बाद मैं फिर साहीजी की क्लास में गया ही नहीं। संयोग की बात, कि कुछ समय बाद साहीजी की जगह एक दूसरे अध्यापक प्रो. अमर सिंह वह क्लास लेने लगे और मैं फिर से जाने लगा तो मैं उनका भी कृपा पात्र बना और जब एक दिन उन्होंने भी वैसे ही एक निमित्त से पूरी क्लास के सामने मेरे लेख की सराहना की, तो मैं कक्षा के बाद अकेले में उनसे मिला और उस घटना का जिक्र कर बैठा। कुछ इस अंदाज में... कि 'देखिए, एक आप हैं और एक वो साही।'

मगर... पांसा उल्टा पड़ गया। प्रो. अमर सिंह पर मेरी शिकायत का एकदम उल्टा असर पड़ा। उनके हिसाब से मेरी प्रतिक्रिया सर्वथा अनुचित थी। उसमें मैं न केवल मूर्ख साबित होता था, बल्कि खामखाह 'टची' भी। बजाय उस तरह 'रिएक्ट' करने के, मुझे मुस्कराते हुए उनसे कहना चाहिए था- 'सर, अगर आपको ऐसा लग रहा है तो यह मेरे लिए गौरव की बात है।' इससे साहीजी सचमुच संतुष्ट होते क्योंकि उनका अभिप्राय भी वही था। हर आदमी का अपना तरीका होता है। साही साही हैं और अमर सिंह अमर सिंह।'

प्रो. अमर सिंह ने ही मुझे बताया कि साहीजी हिंदी के कवि और विचारक हैं। बाद में- काफी बाद में- मुझे अपने गुरु की साहित्यिक कद-काठी का इल्म हुआ। वह टूटा हुआ सूत्र फिर से जोड़ने में मुझे एक दशक से भी ज्यादा इंतजार करना पड़ा और वह भी एक नए सूत्र के सूत्रपात की तरह। तब तक मैं साहीजी के कवित्व और चिंतन से काफी घनिष्ठ हो चला था। हां, आत्मनिबंध कहीं नहीं दिखाई पड़ता था, और मेरे मन ने जिद से पकड़ रखी थी कि मेरे उस गुरु की करनी में आत्मनिबंध भी कहीं होना ही चाहिए। तो एक दिन वह भी दिखाई दे गया- आकाशवाणी, इलाहाबाद के एक वार्षिक संकलन में। उसका शीर्षक था- 'कटी उम्र होटलों में।' निबंध की ठीक यही कल्पना तो मेरे मन में भी थी और वही तो दस वर्ष पूर्व के उन व्याख्यानों ने मुझमें जगाई थी। इससे क्या फर्क पड़ता था कि यह निबंध नाम की विधा न केवल आधुनिक साहित्य के, बल्कि स्वयं विजयदेवनारायण साही के भी कुल कृतित्व के हाशिए पर ही अवस्थित है। आखिर वह एक जीवंत कड़ी थी गुरु-शिष्य के बीच की।

साहीजी की चिंता-सबसे बड़ी चिंता, जो उनके उस सुप्रसिद्ध 'लघुमानव की खोज' वाले लेख से ही नहीं, उनके समूचे कृतित्व के भीतर से उभरती मुझे जान पड़ती है, वह है 'त्रासजनित विवेक' को 'पावनताजनित विवेक' में बदलने की। हिंदुस्तानी जीवन की जिस आंतरिक लय को अपनी सारी मूल्यचिंता के संदर्भ ग्रंथ की तरह साहीजी बार-बार उलटते-पुलटते दीखते हैं, वह क्या है? वे उसे वेद-पुराण अथवा उपनिषदों में नहीं, कालिदास में देखते हैं। हां, कालिदास साहीजी के लिए महज ऐंद्रिक अनुभूतियों के कवि नहीं, बल्कि दर्शन और अनुभूति के विशिष्टाद्वैत को चरितार्थ करने वाले कवि हैं। वे नहीं चाहते कि हमारा देश पश्चिम के संकट और पश्चिम के ही समाधान के सामने उसकी अपनी शर्तों पर चले। क्यों न भारत का साहित्य और भारत का समाजवाद एक ऐसे विशिष्ट अद्वैत की ओर अग्रसर हो जो गांधीजी के तत्कथित सरल चिंतन और नेहरू के तत्कथित द्वंदात्मक सोच, दोनों को आत्मविश्वासपूर्वक अपने जीवन-बोध की उसी आंतरिक कालिदासीय लय से भेदता हुआ एक नया संतुलन निकाले? ऐसा नया संतुलन, जो सत्याग्रह युग से भी अलग होगा और परवर्ती

नाटकीयता से भी। साहीजी जहां एक ओर उसे 'रेहटरिक' और पोलेमिक्स को भी बखूबी साध सकते थे जो दुनिया से झगड़ने के लिए जरूरी है, वहीं, दूसरी ओर वे उस 'आंतरिक एकालाप' को पकड़ने की अनिवार्यता को भी बराबर महसूस करते रहे जो उन्हीं के शब्दों में उन्हें 'आज के इस अनैतिक और विश्रुंखल युग में एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी की तरह महसूस होती थी।' (देखें उनके काव्य संग्रह 'मछलीघर की भूमिका')

यह भी गौरतलब है कि आगे धर्मनिरपेक्षता की खोज में साहीजी भक्तिकाल, रीतिकाल और फिर जायसी में गहरे डूबते ओर उबरते दिखाई देते हैं। लखनऊ में आयोजित वत्सलनिधि के लेखक-शिविर में मुझे साहीजी की एक बात ने बहुत गहरे उद्वेलित किया था : वह यह, कि 'टैनीसन और आर्नोल्ड से तो बहस की जा सकती है, पर टी.एस. एलियट से नहीं, क्योंकि वह कहता है कि हम यूरोप को आत्मसात् करके बोल रहे हैं क्योंकि वही हमारी हड्डी में है, और उतनी ही हड्डी हमारी संस्कृति है। तो ठीक है, आप यूरोप को आत्मसात् करके बोलिए। मैं भारतवर्ष को आत्मसात् करके बोल रहा हूं, इस अर्थ में आपके जैसा आधुनिक हूं। लेकिन मुझे सिर्फ भारतवर्ष को आत्मसात् करके बोलने में संतोष नहीं होता। मुझे लगता है, मैं जो कुछ बोल रहा हूं, उसका स्वाभाविक संदर्भ विचारों का वही संदर्भ है, जो साम्राज्यवाद के जमाने में संपूर्ण विश्व को एक मानकर खड़ा किया गया था। उन्होंने साम्राज्यवादी नतीजे निकाले, वह अलग बात है लेकिन जो सांस्कृतिक अलगाववाद एलियट में दिखाई पड़ता है, वह मेरी मनःस्थिति का संपूर्ण संदर्भ नहीं हो सकता।'

जहां तक टी.एस. एलियट का सवाल है, साहीजी की बात सही थी। परंतु मेरा कहना था कि इस सांस्कृतिक आइसोलेशनिज्म और यूरोपीय साम्राज्यवाद के बीच मैं कोई असंगति नहीं देख पाता। स्वयं एलियट का भाव-बोध बाद में सिकुड़ा। पहले वह उस तरह न तो 'आइसोलेशनिस्ट' था, न साम्राज्यवादी। वह तो बाद में ज्यों-ज्यों वह अपनी धार्मिक मतवादी आस्था में 'होली रोमन एंपायर' के प्रति समर्पित होता गया, त्यों-त्यों उसकी संवेदना का वृत्त भी उसी हिसाब से सिकुड़ता गया। आखिर क्या उसने एक जगह खुद ही कबूल नहीं किया है कि भारतीय तत्वचिंतन के भीतर पैठते हुए एक बिंदु ऐसा आया जब उसे फौरन पीछे हट जाना पड़ा-इसलिए, कि उसे लगा अगर वह आगे ज्यादा गहरे गया तो उसकी यूरोपियन अस्मिता ही खतरे में पड़ जाएगी। इसका क्या मतलब निकला? यह सत्य की कैसी खोज हुई जो अपनी स्नायविक सुरक्षा को सत्य पर तरजीह देते हुए उसे जहां का तहां ठप्प कर देती है? अरअसल यह मामला मूलतः धार्मिक साम्राज्यवाद का है- मिशनरी अभियान का। गड़बड़ी जो है, वहीं है। आखिर ईसाई जगत के सबसे बड़े मित्र महात्मा गांधी को भी यह क्यों कहना पड़ा कि 'दूसरों का धर्म-परिवर्तन करने का यह उन्माद मनुष्य-जाति के इतिहास का वह सबसे सांघातिक जहर है जो सत्य को उसकी जड़ पर ही खत्म कर देता है।' ('प्रोजेक्लिटाइजेशन इज दि डेडलिफ्ट प्वाइजन दैट एवर सैफ्ट दि फाउंडेशंस ऑव ट्रूथ')।

साहीजी का एक लेख है- 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट'। उसे पढ़कर मैंने उनसे कहा- 'आपने आलोचना को साहित्य का दर्शनशास्त्र बताया है और बिलकुल ठीक ही बताया है। मैं आपसे सहमत हूं। परंतु आपका यह निबंध जितना आपकी इस परिभाषा के निकट पड़ता है उससे कहीं ज्यादा 'पर्सनल एस्से' के निकट पड़ता है। कुछ अजब न होगा यदि भविष्य में कोई शोधार्थी स्वयं आपकी काव्यानुभूति की बनावट समझने और समझाने के लिए आपके इस निबंध का शोषण करने

लगे। साहीजी इस पर मुस्करा दिए, बोले कुछ नहीं। फिर अचानक उन्होंने मुझसे कहा- 'तुम पीएचडी कब कर रहे हो? कर डालो। अनर्थ के लिए न सही, अर्थ के लिए ही सही।' मैंने कहा- 'अभी तो मेरा ऐसा कोई इरादा नहीं है।' इस पर साहीजी बोले- 'देखो, मैं तुमसे कह रहा हूँ। बाद में तुमको सालेगा। लिख डालो एक थीसिस।' मैंने हिम्मत जुटाकर उनसे कहा- 'गुरुदेव, यूँ तो आप खुद भी पीएचडी के पचड़े में कभी नहीं पड़े।'... 'मेरी बात और थी'- साहीजी बोले- 'मैं फर्स्ट क्लास एम.ए. था। अपने विभागाध्यक्ष का प्रिय शिष्य भी। तुम एक तो बी.एससी, तिस पर एम.ए. प्राइवेट। और, वह भी सेकंड क्लास। तुम्हें तो करनी ही पड़ेगी पीएचडी वर्ना, जहाँ के तहाँ पड़े रहोगे। प्रोफेसर भी नहीं बन पाओगे।' मैंने महज टालने की गरज से कहा- 'ठीक है, तो फिर आप ही कोई विषय सुझाइये।' साहीजी एक क्षण चिंतामग्न रहे, फिर एकाएक जैसे कुछ कौंध गया हो दिमाग में, बोले- 'तुम्हें चार्ल्स लैम्ब कैसा लगता है? मेरी जानकारी में अभी तक चार्ल्स लैम्ब पर कोई डंग का काम नहीं हुआ है।'।

मैं विस्मय से अवाकू हो रहा। बरसों पहले के वे क्लास-रूम लेक्चर और वह घटना भी मेरे भीतर कौंध गए। हाँ, तब तक मैंने अपने गुरु के सामने उस अर्द्धविस्मृत शिष्यत्व का भेद प्रकट नहीं किया था। मेरे लिए यह एक नई शुरुआत थी, जिसमें वह अतीत अप्रासंगिक था। साहीजी इस बीच बहुत गहरे डुबकी लगा चुके थे और एक पकी-पकाई थीसिस दोनों हाथों से मुझ पर लुटा रहे थे। उनका कहा था कि रोमानी अतिरेकों के समुद्र में यह चार्ल्स लैम्ब अ-रोमानी विवेक का एक नायाब द्वीप है और उस पर इस कोण से सोचना-लिखना बहुत दिलचस्प होगा। मैंने उत्साह में तुरंत हामी भर दी, पर साथ में यह भी जोड़ा कि थीसिस तो जब लिखूंगा, तब लिखूंगा, पर पहले इस पर एक आधार-निबंध तैयार करके आपको दिखाऊंगा। साहीजी ने इस पर सहर्ष अपनी स्वीकृति जाहिर की।

बहरहाल इसकी नौबत ही नहीं आई। आती, तो वह सचमुच नकल होती; क्योंकि काफी हाउस में उद्घाटित साहीजी की वह तर्क-संरचना कुछ इस कदर मेरे दिलोदिमाग पर छा गई थी- कि अगर मैं तुरंत वह लेख लिख डालता, तो वह मेरी नहीं, विजयदेवनारायण साही की ही थीसिस होती पर थीसिस लिखने के विचार से ही उन दिनों मैं बिदकता था। जयशंकर प्रसाद पर मेरा एक लेख पढ़कर साहीजी ने बड़े प्रफुल्लित स्वर में मुझसे कहा था- 'अब तुम ऐसा करो, पूरा ग्रंथ ही लिख डालो।' इस पर मैंने कहा था- 'गुरुदेव! आप तो स्वयं निर्ग्रथ हैं; फिर मुझे क्यों ग्रंथी बनाने पर तुले हैं?' साहीजी इस पर मजे-मजे में हँसते हुए बोले थे- 'ठीक है। मत लिखो। हम तो तुम्हारे भले के लिए ही कह रहे थे। अरे, इतने लंबे-लंबे लेख तो लिखते ही हो। ग्रंथ ही लिख डालो तो एकबारगी माया कटे और मुक्ति मिले। हाँ, यदि तुम्हें मुक्ति नहीं चाहिए, साहित्य ही साहित्य- यानी माया ही माया- चाहिए, तो फिर तुम जानो।'।

'कल्पना' में मेरा एक लेख छपा था : 'दस कविताएं : दस कवि।' साहीजी की जो कविता मैंने चुनी थी, वह थी 'घाटी का आखिरी आदमी'। उन दिनों इलाहाबाद अकसर जाना होता था। साहीजी से मिलने का मौका भी हर बार पा ही लेता था : कभी काफी हाउस में, तो कभी उनके घर पर ही। उस दिन हम दोनों काफी हाउस से साथ ही बाहर निकले और जब मैं उनसे विदा लेने को हुआ तो उन्होंने कहा- 'चलो, तीन चौथाई रास्ता हमारे साथ काट लो। नया-नया स्कूटर खरीदा है।

अभी तब डब्लिंग नहीं की है। तुम्हीं पर प्रयोग हो जाए। मैंने घबराने का नाट्य किया- 'कहीं, ऐसा न हो गुरुदेव, कि आपकी डब्लिंग के चक्कर में मैं खुद भूलुंठित न हो जाऊं...।' बहरहाल, बैंक रोड के चौराहे पर मैं उतरा तो साहीजी ने एकाएक कहा- 'क्यों? धन्यवाद देने की है कि नहीं?' मैं समझा 'डब्लिंग' के लिए धन्यवाद देने को कह रहे हैं। पर वे मुस्कराए और बोले- 'अरे, वही जो तुमने हम पर लिखा है, उसके लिए कह रहा हूँ।' सच तो यह था कि मैंने काफी हिचकिचाहट के साथ लिखा था- डरते-डरते। पर उनके स्वर से मैं आश्वस्त हुआ। जैसा कि मेरे मित्र और गुरु भाई मलयज कहा करते थे- 'साहीजी से टकराने को उन्हीं जैसा तीन सिरों वाला त्रिसिरा आलोचक चाहिए।' तो... मैंने चैन की सांस ली। साहीजी के बारे में मुझे आज भी यही लगता है कि उनका स्थाई भाव वही था जिसे डॉ. राममनोहर लोहिया ने 'समता का राग' कहा है। पर, जैसा कि डॉ. रघुवंश ने उनके बारे में लिखते हुए कहा है- 'वे शास्त्रीय संगीत की शर्तों पर ही यह राग निकाल सके थे।' समता का राग बेशक; मगर पक्का राग। कोई ऐसी-वैसी पनीली चीजें नहीं, जैसी हमारी हिंदी के सबसे पुण्यात्मा लोग अपने परोपकारी-परोपजीवी अहंकार के चलते सबको बांटते दिखाई देते हैं।

मुझे याद है कि एक बार मैंने उनसे साहित्य में 'म्यूजिकल स्ट्रक्चर' की बात चलाई। मेरा उपन्यास 'गोबर गणेश' साहीजी ने ताजा-ताजा पढ़ा था- उसी की चर्चा हो रही थी- शायद उसी सिलसिले में यह बात छिड़ी थी। मेरा कहना था कि फॉर्स्टर का 'अ पैसेज टु इंडिया' और टी.एस. एलियट का 'फोर क्वार्टेट्स'- एक उपन्यास, और दूसरा काव्य दोनों ही संगीत के ढांचे का इस्तेमाल करते हैं। क्या कुछ ऐसा है आधुनिक संवेदन में, जिसे व्यक्त करने के लिए सांगीतिक संरचना का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है? क्या आपको लगता है कि अपने यहां जब नए सिरे से वह जरूरत महसूस हो गई है और हमारे अपने शास्त्रीय संगीत का हमारे आधुनिक साहित्य के साथ, उस तरह की अंतःक्रिया या सहयोग संभव और वांछनीय है?... यह तब की बात है जब इमरजेंसी के बाद जनता पार्टी की सरकार बनी ही थी और साहीजी उसी सिलसिले में भोपाल पधारे थे। अशोक वाजपेयी की बैठक में ही यह बातचीत हो रही थी। निर्मल वर्मा और कला-समीक्षक गीता कपूर भी उस वक्त वहीं मौजूद थे। मेरे मन में शायद कहीं रेणु के 'मैला आंचल' और स्वयं निर्मल वर्मा की कहानियों की बात भी रही होगी। मगर साहीजी उस वक्त ज्यादा बहस के मूड में नहीं थे। उन्होंने सिर्फ इतना ही कहकर उस प्रसंग पर पटाक्षेप कर दिया कि- 'तुम करो। करके देखो।' कदाचित् उनका आशय यही रहा हो कि इस तरह की हवाई बहस से क्या फायदा। क्या हो सकता है और क्या नहीं, यह तो करके ही जाना जा सकता है।

एक बार मैंने उनसे पूछा- 'गुरुदेव, क्या कारण है कि डॉ. लोहिया की अंग्रेजी पं. नेहरू की अंग्रेजी की तुलना में बड़ी फीकी और बेस्वाद लगती है; जबकि हिंदी लोहियाजी की, भाषणों में भी इतनी जानदार होती है कि खुद हिंदी के लेखक भी उनसे ईर्ष्या करने लगें।' साहीजी मेरी इस बात पर बड़े प्रसन्न हुए और बोले- 'तुम्हें पता है, डॉक्टर साहब राजी ही नहीं होते थे हिंदी में लिखने को। वह तो हमी लोग ने पीछे पड़के उनको उकसाया कि आप जैसा बोलते हैं, वैसा ही लिखिए न। तो, बस, जादू हो गया।' फिर वे थोड़ा हँसे, और बोले- 'यह सिर्फ लोहिया का जादू नहीं, खुद हिंदी का जादू है। मगर हिंदी भी अपना तेज तभी प्रकट करती है, जब कोई लोहिया उसे छेड़े।' मुझे यहां उनके उस 'लघुमानव' वाले निबंध का स्मरण हो रहा है, जिसमें कई सारे दूसरे विचार-बीजों के साथ

एक विचार यह भी है कि किस तरह हिंदी दोतरफा आक्रांत होने के कारण अन्य भारतीय भाषाओं से कहीं अधिक कठिन दबाव झेलती रही है और किस तरह हिंदी का यह 'संसारत्व' आधुनिकता के बावजूद अभी तक नहीं टूटा है। मैं नहीं जानता, 'संसारत्व' से साहीजी का यहां क्या आशय था। किंतु इतना जरूर समझ में आता है कि इसी के गहन अनुभव और चिंतन ने ही साहीजी को मध्यकालीन हिंदी काव्य का विशेष अवगाहन करने को प्रेरित किया। 'धर्म निरपेक्षता की खोज में' शीर्षक शिमला में लिखी गई उनकी लेखमाला का मूल अंग्रेजी प्रारूप मैंने उनके घर में ही बैठकर पढ़ा था जो बाद में सन् 1970 में 'दिनमान' में छपा था- तीन किशतों में। निश्चय ही वह साहीजी के चिंतन में आए एक नए मोड़ की सूचना थी, जिसका परिपाक आगे चलकर उनकी 'जायसी की खोज' में हुआ।

क्या जायसी का दृष्टिकेंद्र में आ जाना कालिदास का दृष्टि से ओझल हो जाना है? या कि वह मानवीय जीवन की कालिदासीय लय को ही ऐतिहासिक अनुभूति से परिपुष्ट करने का अनिवार्य उपक्रम है? आखिर कालिदास को चुनने के पीछे भी तो कहीं साहीजी की वही मानववादी-समाजवादी दृष्टि ही तो काम कर रही थी जो आधुनिक हिंदी कवि की समस्या को 'दर्शन को अनुभूति में घुलाने की समस्या' के रूप में देखती है और जो बहुधर्मी भारतीय समाज को एकजुट और परस्पर घुलनशील बनाए रखने के लिए न केवल राजनीति में, बल्कि साहित्य में भी एक *घुलावटी रसायन* की निरंतर तलाश में है। वह *घुलावटी रसायन* उन्हें मध्यकालीन कविता में- और सबसे अधिक मार्मिक रूप में जायसी में मिला। साहीजी को लगा होगा कि आखिर कालिदास की दुनिया संस्कृत की दुनिया है, भले ही उसका ऐहिक स्वर काफी पुष्ट और सर्वसामान्य क्यों न हो। हकीकत उन्हीं के कथनानुसार यह है कि 'ऐतिहासिक उथल-पुथल के फलस्वरूप संस्कृत और फारसी हिंदू और मुसलमान के साथ क्रमशः नत्थी हो गई थीं जबकि लोकभाषा हिंदी दीवारें तोड़ती है और समन्वय का आह्वान करती है' (धर्मनिरपेक्षता की खोज में-2)। परंतु साहीजी के लिए समस्या यह है कि 'धार्मिक तत्ववाद के सहारे समन्वय नहीं हो पाता और प्रत्यक्षवाद सतह पर तैरता है।' प्रेम-तत्व को बहुत महत्व देते हुए भी साहीजी इतिहास-तत्व को कभी आँखों से ओझल नहीं कर सकते। वे कबीर के प्रशंसक हैं, पर कबीर से उनकी मुश्किल आसान नहीं होती। इसलिए, कि 'कबीरदास की निचोड़ धर्म के पावन तत्व को मनुष्य की महज आंतरिकता में सीमित कर देती है। बाहर की बातें इस पावनता के घेरे से बाहर हो जाती हैं।' जबकि साहीजी बाहर और भीतर, नैतिक और शाक्त के द्वंद्व का एक कारगर और संतोषजनक हल चाहते हैं।

इसी सिलसिले में साहीजी भक्त कवियों के मानवीय मर्म की प्रासंगिकता तक पहुंचते हैं और उनमें भी जायसी पर आकर टिकते हैं। जायसी में उन्हें बाहर और भीतर दोनों को सहेज सकने वाली शक्ति और संवेदना के दर्शन होते हैं। वे 'पद्मावत' में सत्य के दोनों स्तरों की बेलाग मुठभेड़ देखते हैं और पाते हैं कि जायसी न प्रेम के मामले में समझौता करते हैं, न इतिहास के मामले में। आधुनिक युग के सारे अंतर्विरोधों को देख चुकने के बाद साहीजी को जायसी के होने का एक ऐसा अर्थ हाथ लगता है कि मात्र मजहबी, मात्र सौंदर्यादी-ईस्थेटिक या मात्र ऐतिहासिक अर्थ नहीं है, जो तीनों के आरपार गुजरकर तीनों को मनुष्य की अनुभूति में मिलाने-घुलाने वाला अर्थ है।

यह तो हुआ आलोचनात्मक चिंतन से पाया हुआ समाधान। मगर क्या यह टिकाऊ और कारगर

भी हो सकता है? कविता का अंतःसाक्ष्य- खुद साहीजी की 'साखी' का स्वर क्या कहता है? यहां कवि साही ने अपनी समूची कवि-परंपरा की दुहाई देते हुए अपनी सांसत व्यक्त की है : 'काशी का जुलाहा कहता है/कालिदास भाई, अब मैं क्या करूं?'... 'लात खाया संत कहता है/वेदव्यासभाई, अब मैं क्या करूं?'... दास कबीर कहता है/भाई तुलसीदास, अब मैं क्या करूं?' गरज यही, कि महाख्यानों, मिथकों और विराट दर्शनों की दुनिया तो पिचक गई। अब तो क्षुद्रतम स्वार्थों का बोलबाला है; मूल्य-विपर्यय के युग में किस पर ईमान लाएं और क्या करें? जो हाथ में लुकाठी लिए क्रांति के मसीहा हैं, वे ही घर फूंकने वाले भी हैं और अपने ही साथियों के साथ जघन्यतम विश्वासघात करते हुए पुण्यात्मा बने रहने वाले भी। तब फिर रास्ता क्या है? क्या कोई मंगतराम? क्या कोई निसर्गदत्त?... जो इसी शताब्दी की उपज हैं। मगर क्या उनकी अनैतिहासिक भाषा हमें समझ में आ सकती है, हमारे काम आ सकती है?

नहीं! यह बात साहीजी नहीं पूछते। यह उनकी भाषा नहीं है। क्या अपने कवित्व, और क्या अपने चिंतन दोनों में साहीजी जिस बिंदु की ओर निरंतर बढ़ते जान पड़ते हैं, वह वही है : 'विडंबना के भीतर से हमारी पर्याप्त प्रतिक्रिया की आवाज'। और यह आवाज साहीजी के लिए फिरदौसी के शाहनामे या कालिदास के 'रघुवंश' की भी उतनी ही होगी जितनी जायसी की। अर्थात् अपने मर्म को टेरती एक पूरे इतिहास-लोक की पारदर्शी और निर्वैयक्तिक आवाज....

देखिए ना, 'जायसी' का लेखक क्या कह रहा है-

...अचानक कल्पना एक झटके से मुक्त हो जाती है और हमारा साक्षात्कार आवाज, सिर्फ आवाज से होने लगता है।... चित्तौड़ का किला, राजमहल सब तिरोहित हो जाता है, नागमती का पार्थिव शरीर भी... वीरानों-जंगलों-गांवों-खेतों में टीसती हुई एक साफ लेकिन अशरीरी आवाज शेष रह जाती है। यह आवाज पूरे देश के गुजरते हुए समय के मर्म में निरंतर तैरती रहती है। देश और काल दोनों अनावश्यक आवरण की तरह छूटकर गिर जाते हैं- मर्म, केवल मर्म ही रह जाता है। .. इस आवाज में एक पारदर्शी निर्वैयक्तिकता है, जो नागमती को भी पीछे छोड़ जाती है, शनैः शनैः यह अंतवर्ती आवाज पूरे चित्तौड़ की और उससे भी आगे बढ़कर उस पूरे इतिहास-लोक की आवाज हो जाती है जिसे छोड़कर रतनसेन चला गया है।'.... (जायसी, 1983, हिं. एकेदेमी, प्रयाग)

भोपाल पहुंच जाने के बाद इलाहाबाद से मेरा संपर्क शिथिल हो गया था। जब साहीजी भोपाल आए, तब तक एक और दशक हमारे बीच से गुजर चुका था। मैंने अंततः शोध प्रबंध लिखने की ठान ली थी। जब मैंने अपने गुरु को बताया तो उन्होंने विषय के चुनाव पर संतोष प्रकट किया और अचानक यह सवाल किया कि येट्स की उस प्रसिद्ध उक्ति के बारे में मेरा क्या ख्याल है, जिसके मुताबिक, 'जब हम दुनिया से झगड़ते हैं तो रेहटरिक उपजाते हैं; और जब अपने आपसे झगड़ते हैं तो काव्य रचते हैं।' मैंने शरारतपूर्ण लहजे में उन्हें उत्तर दिया कि 'आपका शिष्य येट्स की इस बात से सहमत होने के अलावा और कर ही क्या सकता है!'... यों येट्स की बजाए एलियट का काव्यादर्श साहीजी के लिए अधिक स्वीकार्य रहा। निर्वैयक्तिक अनुभूति का एलियटीय आग्रह कहीं साहीजी का आग्रह भी निस्संदेह रहा होगा और अज्ञेय के प्रति उनके सार्वजनिक ऋण-स्वीकार का रहस्य भी यहीं कहीं निहित होना चाहिए। परंतु 'व्यक्तित्व की खोज' की बात एलियट ने नहीं, अज्ञेय ने की थी। और, अनुभूति को दर्शन में घुलाने की बजाए 'दर्शन को अनुभूति में घुलाने' की समस्या

के हल का श्रेय भी स्वयं साहीजी के कथानुसार अज्ञेय को जाता है, जयशंकर प्रसाद को नहीं। और येट्स कवि-व्यक्तित्व को, कवि-जीवनी तक को एलियट के बिलकुल उलट, खासा महत्व देता लगता है। क्या व्यक्तित्व की खोज साहीजी के लिए भी- निर्व्यक्तिक अभिव्यक्ति के आग्रह के बावजूद प्रासंगिक नहीं थी। आखिर जायसी की अस्मिता पर, उनके 'स्वभाव की व्यापकता' पर वे इतना बल क्यों देते हैं?

यह ठीक है कि निराला की तरह उनके हीरो तुलसीदास नहीं, जायसी ही बनते हैं। पर जायसी की प्रेमानुभूति उनके लिए किस सगुणमार्गी से कम है? अकारण नहीं, कि उन्हें जायसी में वैसी ही 'सगुण मध्यवर्ती मानवीय राजनीति' के भी दर्शन हो जाते हैं। यह भी अकारण नहीं, कि वे जायसी में सूफी प्रचारक का पक्षधर आवेग नहीं, शेक्सपीयर सरीखी निस्संग सृजन-ऊर्जा देखते हैं। आसक्ति और अनासक्ति दोनों को पिरोये इस जीवन-बोध में वह कौन सा बिंदु है जहां कला की निर्व्यक्तिक अनुभूति दर्शन के लिए विशिष्ट अद्वैत की भूमि को स्पर्श करती है? ऐसा प्रतीत होता है कि साहीजी लगातार उसी बिंदु की ओर बढ़ रहे थे। यह भी संयोग नहीं, कि एलियट की विडंबना को भी वे सही-सही पहचान सके। उन्हें स्मरण करते हुए प्रारंभ में ही मैंने निवेदन किया था कि उनकी आवाज ही सबसे पहले स्मरण में उभरती है : आवाज जो व्यक्ति विजयदेवनारायण साही की भी उतनी ही है, जितनी उनकी निर्व्यक्तिक लगती कविता की। इस संस्मरण की पूर्णाहुति भी मेरी नहीं, उनकी अपनी उसी आवाज की मांग कर रही है :

मुझे सख्त ताज्जुब होता है/ कि इस थोड़े समय के कारण/लोग तीसरे पहर/मेरा नाम लेकर क्यों पुकारते हैं/ क्या आखिरी आदमी/ इतना गहरा सहारा देकर विदा होता है?

X X X X X X

आवाज आ रही है/ सुबह शायद एक नए घटनाक्रम का आरंभ होगा/ हो सकता है तब मैं न रहूं/शायद मेरा न रहना भी/ उस घटनाक्रम की जरूरी कड़ी हो/ क्योंकि उस अप्रत्याशित को/न मैं जानता हूं, न तुम /न रेत में चमकती हुई तस्वीरें/ न ये पत्थर, न वनस्पतियां/ जो इंतजार कर रही हैं....



एक सत्याग्रही की चुप्पी...

कृष्ण बिहारी मिश्र

आठ दशक की लोकयात्रा पूरी कर ली थी अशोकजी ने। यानी बुढ़ीती तो आ ही गई थी, मगर अशोकजी की जीवनप्रियता और रचनात्मक सक्रियता पूरी तरह जवान थी। इसलिए उनका यकायक आँख मूंदकर सदा के लिए चुप हो जाना कदाचार के सघन समस से निरंतर आहत दुनिया के निरूपाय लोगों के लिए असाधारण त्रासदी है, जैसे एक बड़ा सहारा अदृश्य हो गया, जैसे सुरक्षा की आश्वस्ति का आत्मीय संबल टूट गया।

नियति की त्रासद लीला अशोकजी के निजी स्तर पर लगभग दो दशकों से नाना रूपों में क्रियाशील थी। अनेक आत्मीय चरित्रों के वियोग- दंश को निरूपाय मुद्रा में अशोकजी झेल रहे थे। मां के जाने के बाद शायद बुढ़ीती का अहसास होने लगा था। और छोटे भाई दिलीप सेकसरिया की मृत्यु ने अशोकजी को निपट अकेला बना दिया। पिछले कुछ दिनों से अशोकजी अधिक उदास रहने लगे थे। मगर युवा मित्र वार्ता- संपादक सुनीलजी की मृत्यु ने उन्हें भीतर से तोड़ दिया था और फिर ज्योत्सना मिलन का यकायक संसार छोड़ना, ज्येष्ठ बंधु कृती संपादक नारायण दत्तजी की आकस्मिक मृत्यु अशोकजी की स्पर्श कातर संवेदना के लिए बेहद त्रासद थी। पारिवारिक और सामाजिक परिदृश्य में मूल्यों का क्षरण उनको विक्षिप्त कर देता था। यातना असह्य हो जाती थी तो थोड़ी राहत के लिए बार-बार सोनेवाली टिकिया खाने लगते थे, विवेक को किनारे कर। लाचारी थी उनके स्वभाव की। ऐसी अनेक लाचारियों से उन्हें निरंतर जूझते रहना पड़ता था।

मूल्यों की गिरावट की गति जितनी तेज नजर आती थी अशोकजी की पीड़ा उतनी ही गहराती थी और एक अजीब विक्षेप उनके स्नायुतंत्र को छिन्न-भिन्न कर उन्हें बुरी तरह से थका देता था। सिगरेट और सोने वाली टिकिया एकमात्र उपचार था उनके पास। उनकी जीवन-चर्या को देखकर भौतिक सीमा में कैद लोगों को सहज ही भ्रम होता था कि लोकाचार से उदासीन अशोकजी अपने में डूबे रहते थे। मगर उनके शील-स्वभाव को जिन्हें सटीक जानकारी थी वे इस सत्य पर हस्ताक्षर करेंगे कि अपने में डूबने-खोने की बात तो दूर, अपने से यानी अपने सुख और कीर्ति से उनका कोई सरोकार नहीं था। उनका एकमात्र सरोकार निःस्व लोगों की पीड़ा से था और यातना- आक्रोश उन चालाक लोगों की धिनौनी चतुराई के प्रति था जो अपने वैभव-विलास को समृद्धतर करने के लिए आम की बहुमुखी यातना की जमीन तैयार करते रहते हैं। मगर राजनीति से जुड़े लोगों की धिनौनी-विलासिता उन्हें ज्यादा उद्वेलित करती थी, क्योंकि उनका निजी आदर्श महात्मा गांधी और

महामना मालवीय का पाखंडशून्य जीवन था।

सुचेता कृपलानी और सुभाषबोस के अग्रज शरत् बोस की अशोकजी उच्छ्वसित कंठ से प्रशंसा करते थे तो उसके मूल में उनकी राजनीति नहीं, धवल चरित्र और दायित्व निष्ठा थी। अशोकजी के मानस और जीवनादर्श को समझने के लिए उन चरित्रों को सटीक कोण से समझना जरूरी है, जिनकी अकसर वे प्रदूषित भीड़ से अलगाकर श्लाघा सहित चर्चा करते थे। समाजवादियों में जयप्रकाश नारायण की भद्रता-शालीनता की चर्चा करते वे थकते नहीं थे। जिस राजनीतिक दल से प्रतिबद्ध थे, उसके दार्शनिक थे राम मनोहर लोहिया और किशन पटनायक। किशनजी के आदर्श लोहिया थे, मगर अशोकजी किशनजी को अपना सजातीय मानते थे। लोहियाजी की किंचित् अमर्यादित निजता पर जब तब अंतरंग लोगों के बीच तीखी टिप्पणी करते उनका नैसर्गिक संकोच उन्हें दबाता नहीं था। इसी प्रकार अज्ञेय और जयप्रकाश नारायण के अभिजात्य पर अन्यथा टिप्पणी करते फकीर मिजाज के अशोकजी को मैंने कभी नहीं सुना। अज्ञेय की समृद्ध कर्म-साधना और प्रतिभा उत्कर्ष के प्रति उनकी श्रद्धा का स्तर बहुत ऊंचा था। इसलिए उन पर फूहड़ कटाक्ष करनेवालों से उनके संस्कार को आघात लगता था। किसी नामावर पुरुष का चारित्रिक मूल्यांकन करते अशोकजी शील को वरीयता देते थे।

अज्ञेयजी से उनका नैकट्य नहीं था, शायद परिचय भी नहीं। अपनी साध एक बार मेरे सामने प्रकट की थी। 1986 में मैथिलीशरण गुप्त-शताब्दी समारोह में अज्ञेयजी का बीज वक्तव्य सुनकर अशोकजी के मन में सहज इच्छा जगी थी कि अज्ञेयजी से मिलकर बताऊँ कि मैं आपके साहित्य का पाठक हूँ। पर संकोच इतना गहरा कि उनसे मिलकर इतनी सी बात कहना उनके लिए संभव न हो सका। अशोकजी को प्रसाद और अज्ञेय की कोटि का हिंदी में दूसरा कोई रचनाकार नहीं दिखता था, यद्यपि अपने समय के पांक्तेय लोगों से उनका अंतरंग रिश्ता था। मारवाड़ी समाज की विशिष्ट विभूति के रूप में जमनालाल बजाज और भागीरथ कानोड़िया को अशोकजी अकसर श्रद्धा सहित स्मरण करते थे, यद्यपि अपने पिता के प्रति उनके हृदय में गहरी श्रद्धा थी।

विशिष्ट बौद्धिक अशोक सेकसरिया सबसे अधिक तथाकथित बौद्धिकों से ही चिढ़ते-खीझते थे। उनके पाखंड और धिनौनी भोग-लिप्सा से। सही बात उजागर की है उनके मित्र जवाहर गोयल ने कि अशोकजी के हृदय में किसी के प्रति घृणा का भाव नहीं था। मेरा भी अनुभव यही है कि जिसके ही आचरण से चिढ़ते थे उनके प्रति भी घृणा नहीं, उदासीनता का भाव रहता था। जिसे चित्त से उतारना कहते हैं, कुछ वैसी मनोदशा और मुद्रा। मगर जिनको अपना समझते थे, उनके हृदय में जिनके लिए प्रेम था, उनके शील का हल्का स्खलन उन्हें पागल बना देता था। और गहरी पीड़ा से स्वयं दहकने लगते थे। शायद यह उनकी नैसर्गिक प्रकृति थी या सत्याग्रही महात्मा गांधी की आत्मशुद्धि की अनुशासन-चर्या का प्रभाव था या स्वकीय जीवन-चर्या। इस संबंध में अशोकजी से कभी बात नहीं हुई। उनके अत्यंत प्रिय थे योगेंद्र पाल सिंह, उनके राजनीतिक हमसफर, जिनकी दुःख कातरता और मानवीय गुणों की मुग्ध कंठ से प्रशंसा करते थे, पर योगेंद्र पालजी की उग्रता और रोष-मुद्रा से आशंकित-आतंकित भी रहते थे कि कहीं आक्रमक भाषा से किसी को घायल न कर दे। अशोकजी के दुःख-सुख के प्रति अतिशय संवेदनशील अपनी प्रिय कथा-लेखिका अलका सरावगी के उग्र मिजाज से अशोकजी परिचित थे और सचेत रहते थे कि अलकाजी की भाषा-मुद्रा

से किसी को चोट न लग जाए। बात-व्यवहार में उनके आदर्श थे नारायण दत्तजी और कृष्णनाथजी। उनकी सौम्य-संस्कृत बतकही-मुद्रा। अशोकजी एक बड़ी दुनिया के श्रद्धाभाजन थे, पर अलका सरावगी, संजय भारती और बालेश्वर राय के संवेदनशील परिवार की श्रद्धा का स्तर बहुत ऊंचा था।

अशोकजी के करीब मैं बाद में पहुंचा। विधा कर्म से जुड़े हम दोनों एक ही शहर में रहते थे, एक-दूसरे के चेहरे से परिचित थे, उनके घर की राह मेरी चिर परिचित राह थी, जहां उनके पिताजी के आदेश से मैं अकसर जाया करता था। मेरे प्रति स्नेहशील थे। बतकही के लिए बुलाया करते थे और गहरे संकोच के साथ ही श्रद्धेय सेकसरियाजी जैसे देश-ख्यात समाज-विशिष्ट पुरुष के पास पहुंचता था। मुख्य द्वार पर कपाट अशोकजी ही खोलते थे और बेहद उदासीन मुद्रा में अपने पिता के कमरे की ओर इशारा कर अपने कमरे में घुस जाते थे। उनकी मुद्रा रूचती कतई नहीं थी। अशोकजी की मुझमें कोई रूचि नहीं थी तथापि उनका फकीरी बाना मेरे निजी संस्कार को आकृष्ट करता था।

मेरे समानधर्मा बंधु डॉ. रमेशचंद्र सिंह की अकाल मृत्यु से मुझे गहरा आघात लगा था। उन्मथित चित्त से उनके प्रति श्रद्धांजलि निबंध लिखा था, उनकी विधा-निष्ठा और वैयक्तिक गुणवत्ता को रेखांकित करते, जो दैनिक 'सन्मार्ग' में छपा था। अशोकजी ने देखा था उस निबंध को। रमेशजी के प्रति उनकी धारणा ऊंची थी। दोनों की राजनीतिक निष्ठा और राह एक थी। मेरा निबंध अशोकजी को पसंद आया था। स्वाभाविक था कि रमेशजी की श्रद्धांजलि-गोष्ठी में अशोकजी आग्रहपूर्वक मुझे बुलाते। और उनके आग्रह पर मैंने सदारत की थी। यद्यपि उनकी राजनीति से मेरा कोई सरोकार नहीं था। रमेशजी के धन पक्ष को मैं सहज भाव से बहुमान देता था। काफी अंश तक हम समशील थे। आम अध्यापकों की तरह वे व्यावसायिक बयार से अप्रभावित थे। गंभीर अध्ययन-निष्ठा और अध्यापना उनका धर्म था। उनके प्रति मेरे विशेष आकर्षण का आधार महज इतना ही था। मेरे शोध-प्रबंध पर कलकत्ता विश्व-विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि मिली तो रमेशजी ने 'आचार्य नरेंद्रदेव परिषद्' के तत्वावधान में सम्मान-गोष्ठी आयोजित की थी, जिसमें अशोकजी अनुपस्थित थे। मगर कृती संपादक, अशोकजी के आत्मीय बंधु, नारायण दत्तजी की श्लाघामूलक टिप्पणी सुनकर अशोकजी ने मेरी पुस्तक पढ़ी और फिर मेरे प्रति वे सुमुख हुए। जब-तब खास प्रयोजन से याद करने लगे। मेरी कुटिया में, जिसे गहरे स्नेह से 'घोसला' कहते थे, उनकी आवाजाही शुरू हुई। अधिकारपूर्वक छोटे-मोटे दायित्व सौंपने लगे थे। 'बालेश्वरजी को व्याकरण का संस्कार करा दीजिए। आपके प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा है। बड़ा संवेदनशील है।' 'लाल बिहारी मंडल को आपके पास भेज रहा हूँ। बंगवाशी कालेज में ग्यारहवीं कक्षा में इसका ऐडमिशन करा दीजिए। और कहीं नहीं हो रहा है।' 'धनजी पांडे की जरूरी सहायता कीजिए। अभावग्रस्त हैं। नाती को पोस रहे हैं।' और मैंने सदा कोशिश की कि अशोकजी की संवेदना को मेरी ओर से धक्का न लगे और उनका आग्रह अनुत्तरित न रहे। किसी असमर्थ आदमी को थोड़ा भी सहारा मिलते देखकर अशोकजी खिल जाते थे और सहयोगी के प्रति कृतज्ञता से इतने विनीत हो उठते थे जैसे उनकी आंतरिक साध किसी ने पूरी कर दी हो। इसी तरह अपने किसी खास और नामावर की हीनमन्यता तथा हल्के चारित्रिक स्वलन को लक्ष्य कर खींचते हुए गहरी उदासी में डूब जाते थे। जो जितना करीब होता था, अशोकजी की खिन्नता उतनी ही गहरी होती थी। जब-तब मेरे हल्के आचरण ने भी उनके मानस को खरोचा था। मगर प्रेम

इतना गहरा कि मेरे पक्ष में किसी बड़ी हस्ती को टोकते उन्हें संकोच नहीं होता था। और दुनीति तथा अनौचित्य के प्रतिरोध में सत्याग्रह व्रत शुरू करते थे तो अपने साथ खड़े होने के लिए मुझे हांक लगाते थे। मेरे प्रति अशोकजी के भरोसा का यह स्तर था। और उनका सहयात्री होना मेरी मूल्यवान उपलब्धि थी। तथ्य है कि अशोकजी का सत्याग्रह कभी हारा नहीं। पूंजीतंत्र की अमानवीय लीला के प्रतिरोध में उनका सत्याग्रह सक्रिय था। उनके उज्ज्वल चरित्र का प्रताप था कि उनकी लड़ाई में उनके साथ सत्याग्रहियों की बड़ी संख्या में खड़ी हो जाती थी। अपने सौम्य आचरण से अशोकजी अपने साथियों को सत्याग्रह का प्रशिक्षण देते थे। इसी प्रकार निरक्षर लोगों को विद्या-ज्योति के विरल आस्वाद से संपन्न करना कदाचित् एकमात्र धर्म था उनका। और अपने धर्म के प्रति अशोकजी बेहद संवेदनशील थे। बेबी हालदार और सुशीला राय से उनके दुःख-सुख की कथा लिखवाकर कठोर आयास से और उसे माज-धोकर पुस्तक का रूप दे अशोकजी ने प्रकाशित कराई। अभावग्रस्त लोगों के दुर्भाग्य-मोचन के लिए अशोकजी कई भूमिकाओं पर सक्रिय थे।

संजय भारती को अपना अघोषित पुत्र मान लिया था। वत्सल पिता की तरह संजय की गृहस्थी के प्रति अतिशय संवेदनशील थे। उदासी से जब श्लथ हो जाते विश्राम के उद्देश्य से झोला उठाएं कचरापाड़ा हफ्ते-दो हफ्ते के लिए संजय के घर चले जाते, अपना घर मानकर। संपादन- कला में अत्यंत दक्ष अशोकजी अपनी बड़ी दीदी पन्ना देवी पोद्दार के दो संस्मरण निबंध लिए मेरी कुटिया में एक दिन पहुंचे। दीदी के लेख हैं। इन्हें संपादित कर कहीं, छपवा दीजिए। अशोकजी के प्रस्ताव ने मुझे चौंकाया था। पर आग्रह अशोकजी का था, जो मेरी ओर से अनुत्तरित नहीं रह सकता था। और रांची की 'घर' पत्रिका में दीदी के लेख को प्रकाशित देखकर अशोकजी खिल उठे थे। फिर एक दिन गहरी पीड़ा के साथ बोले, 'देखिए कृष्ण बिहारीजी, संवेदना का स्तर कितना गिर गया है, दीदी के लेख न तो उसके घर में किसी ने पढ़ा न तो बाबूजी के परिवार में किसी ने देखा।' उनकी पीड़ा उनके उदास चेहरे की रेखाओं पर मुखर थी। और एक दिन अपराहन में मेरे यहां पहुंचे। विशेष प्रयोजन से आए थे। कहने लगे 'दीदी आपसे मिलना चाहती हैं। किसी दिन समय निकालिए।' 'आप जब कहीं चलें।' स्वनाम धन्य पिता की ज्येष्ठ संतान होने के नाते श्रीमती पन्ना देवी पोद्दार को महात्मा गांधी, विश्व कवि रवींद्रनाथ ठाकुर, माता आनंदमयी, जमनालाल बजाज जैसे विश्व ख्यात देश की शीर्ष विभूतियों के अंतरंग सानिध्य का जिसे सहज ही सौभाग्य मिला हो उससे मिलने-बतियाने का मूल्यवान सुयोग कौन अभागा गंवाना चाहेगा। सो मैंने उल्लसित कंठ से कहा, 'जब आप कहीं चलें।' आज आपको असुविधा न हो तो आज चलें। और दीदी के घर हिंदुस्तान पार्क उसी दिन ले गए। मेरा सौभाग्य कि मुझसे मिल बतियाकर दीदी प्रीति हुई। और एक अंतराल के बाद अशोकजी दीदी के आदेश से विनोबा ग्रंथावली ढोकर मेरे यहां पहुंचाने लगे। दीदी का आशीर्वाद मुझ तक पहुंचाने अशोकजी को बस की भीड़ से धक्का खाते मेरे द्वार आना पड़ा था।

उनके अंतरंग लोक से परिचित जानते हैं कि कैसी-कैसी उवड़-खावड़ माटी से अपनी प्रतिभा स्पर्श से अशोकजी ने मूल्यवान मूर्तियां रची हैं, और ताटस्थय ऐसा जैसे किसी के लिए कुछ किया ही नहीं। उनकी दुनिया के लोग इस प्रेरक तथ्य को जानते हैं कि उनकी दृष्टि में नैष्ठिक ब्राह्मण और हरिजन में कोई भेद नहीं था। पर सत्य यह भी है कि उनकी पक्षधरता निःस्व और हरिजन से जुड़ी थी। उन्हीं के साथ खड़े होते थे। यह उनके शील और विवेक का स्वकीय पक्ष था और उनका

सबसे बड़ा दुःख था नारी जाति और शिशुओं की अवमानना। नारी जाति के प्रति अप्रतिम सम्मानशील अशोकजी भारतीय मर्यादा के प्रति अतिशय आग्रहशील थे। इस बिंदु पर वे महात्मा गांधी के पथानुगामी थे, समाजवादी नायक डॉ. लोहिया की जीवन-चर्या पूरी तरह स्वीकार्य नहीं थी उनके संस्कार को। भारतीय समाज के अनुशासन छंद के प्रति अशोकजी सदा सचेत-संवेदनशील रहते थे।

अपने कर्म- धन्य पिताजी श्रीसीता राम सेकसरिया के प्रभाव-प्रताप तथा अपनी प्रतिभा और पुष्ट शील के आधार पर अशोकजी उस ऊंची जमीन को सहज ही उपलब्ध कर सकते थे, जिसे हथियाने के लिए कैसे धिनौने आचरण करते हैं विद्या के सौदागर। मगर तब अशोकजी, अशोकजी न रह जाते, सामान्य और विशिष्ट श्रेणी के अपने संस्कारी मित्रों का भरोसा गंवा देते, रोशनी की तलाश में दिशाहारा वर्ग का कोई सरल मानुष उनके दरवाजे दस्तक देने न जाता। तब अशोकजी का परिवार सिकुड़ जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अशोकजी शेष-शेष तक अशोकजी बने रहे और बुढ़ीती के बावजूद सक्रिय बने रहे। उनके जागरूक विवेक ने उन्हें शुरू में ही सचेत कर दिया था कि अपने संसार का विश्वास गंवा देने पर आदमी जीने का भ्रम जीते हुए मर जाता है। जितने सहज-सरल और सहृदय थे अशोकजी उतने विलक्षण थे। करीबी लोग जानते हैं कि अशोकजी लोगों की धिनौनी चतुराई और पाखंड को सटीक रूप में समझते थे।

जीवन के उपसंहार काल में गहरी थकान और उदासी में डूबे रहते थे। 'वार्ता' की अस्तित्व-रक्षा की चिंता में' डूबे वय-विवेक छोड़कर सदा सक्रिय रहते थे।

बालेश्वर राय और उनके परिवार को अशोकजी ने अपना सहचर बना लिया था। बालेश्वरजी की पत्नी सुशीला जिस श्रद्धा भाव से बूढ़े अशोकजी की सेवा करती थी, केवल मां से वह दुर्लभ छोह मिल सकता है। सुशीला की सेवा-साधना के प्रति मन में सहज ही श्रद्धा जगती है। और स्वाभाविक चिंता कि इस त्रासद रिक्तता को बालेश्वर और उसका संवेदनशील परिवार कैसे झेलेगा। कोई समाधान नहीं सूझता। नृशंस नियति का मनुष्य के पास कोई उपचार नहीं होता शायद।

लोकबुद्धि कहती है, वार्द्धक्य काल की गहरी चोट हड्डी व्यवस्थित होने के बावजूद कष्ट देती रहती और सुशीला की सेवा-निष्ठा भी सामान्य स्थिति को उपलब्ध न करा पाती। मगर बुद्धि की बोली भावना कहां समझ पाती है। अब तो एक साधु सखा की रिक्तता सदा हृदय में दहकती रहेगी। नियति के विधान के सामने हम निरूपाय हैं। दंश झेलने को अभिशप्त। विकल्प के रूप में इस सघन तमस् में कोई नजर नहीं आता- 'अब न आंखि तर आवत कोऊ।'



स्वायत्त समाजविज्ञान के अन्वेषी

गिरीश्वर मिश्र

‘भारतीय समाज’ शास्त्रीय या अकादमिक उत्सुकता और कौतुहल के लिए सुदीर्घ काल से अनेक विषयों के अध्येताओं और जिज्ञासुओं का लक्ष्य रहा है। इस क्रम में इतिहास, कला, प्राच्यविद्या तथा नृविज्ञान आदि की दृष्टि से यहां का समाज अपनी प्राचीनता और विविधता के लिए आकर्षण का एक सहज केंद्र बना परंतु एक समाजविज्ञानी के लिए भारत एक जटिल चुनौती पेश करता है। प्राचीन काल से चली आती कमोबेश अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान धर्म और दर्शन की जीवंत परंपराएं, लोक और शास्त्र के बीच अंतर्विनिमय और अब तीव्रगामी तकनीकी क्रांति के बहुआयामी प्रभाव आज के भारतीय समाज की समकालीन विशेषताओं और प्रवृत्तियों के आकलन-विश्लेषण के कार्य का दुसाध्य बना देते हैं। ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि इसके अध्ययन की कई सरणियां चल निकलीं। कुछ को शास्त्रों और आचार ग्रंथों की आधारभूमि रुचि गयी तो कुछ ने पश्चिमी समाजविज्ञान की तर्ज पर प्रेक्षण की कोटियां बनाकर इंद्रियानुभविक प्रेक्षण को अपना आधार बनाया। भारत में समाजविज्ञान की जड़ें नई होने के कारण, और पश्चिम के बौद्धिक साम्राज्यवाद के कारण पश्चिमी चिंतन को प्रतिमान मान बैठना एक मजबूरी सी बन गयी। इस पृष्ठभूमि में बहुतों ने ज्ञान की सर्वभौमिकता को स्वीकार कर पश्चिमी सिद्धांत, सम्प्रत्यय और प्रविधि को अपनाया सहज और स्वाभाविक मान लिया। इस संदर्भ में देखने पर प्रोफेसर श्यामाचरण दुबे की समाज वैज्ञानिक दृष्टि अपने आप में एक सुखद आश्चर्य है। वह अनेक समकालीन समाजवैज्ञानिकों के आग्रहों से इस अर्थ में भिन्न दिखती है कि न तो वे परंपरा के भार से दबे रहे और न पश्चिमी विचारपद्धति से आक्रांत। उन्होंने परंपरा की कभी भी अंधभक्ति नहीं की और न ही आधुनिकता का अविचारित स्वागत। देशकाल की कसौटी पर जांच कर ही वे अपना मत स्थिर करते थे। शायद यही उनके समाजवैज्ञानिक शोध और चिंतन की मुख्य पहचान बन गयी है।

राजनीतिक विज्ञान के स्नातक और ‘कमार’ जनजाति के अध्ययन से अपनी समाज वैज्ञानिक गवेषणा की यात्रा आरंभ करने वाले दुबेजी के वैचारिक अवदान का क्रमिक विकास यदि देखा जाए तो विकास के साथ जड़ों की ओर लौटने की चुनौती और उसके प्रति आंतरिक प्रतिबद्धता को दर्शाता है। वह ऊर्ध्वमूल और अधोशाखा वाले अश्वत्थ वृक्ष का स्मरण कराता है जिसकी जड़ें ऊपर से नीचे की ओर आती हैं। खुले मन से परंपरा और आधुनिकता दोनों पर बिना किसी दुराव-छिपाव के विचार विमर्श प्रोफेसर दुबे की खूबी थी। वे हर तरह की दृष्टियों का सम्मान करते थे। नए और पुराने के

प्रति उनका आग्रह रेखांकित करने के लिए कालिदास की वाणी उपयुक्त होगी :

पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवधम् ।

सन्तः परीक्षन्त्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

पुराना सिर्फ अपने पुराने होने से अच्छा या नया सिर्फ नए होने का कारण बुरा नहीं होता। विचारवान परखने के बाद ही अच्छाई-बुराई तय करता है और अज्ञानी दूसरों के कहे अनुसार। प्रोफेसर दुबे में एक विचारवान की सहिष्णुता संवेदनशीलता और विवेक था।

भारतीय ग्राम की संस्था का अध्ययन हो विकास के मानदंडों का विश्लेषण हो भारतीय शिक्षा पर विमर्श हो, समाज की प्रवृत्तियों का आकलन हो या फिर समाजविज्ञान के लिए चुनौतियों का विवेचन हो-इस सबमें प्रोफेसर दुबे के विश्लेषण में अपनी संस्कृति की जमीन पर खड़े होकर, पर व्यापक अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य से अवगत एक सजग, सुरुचिसंपन्न विचारक के विश्लेषण परिलक्षित होते हैं। साथ ही उनमें एक सहज बौद्धिक निर्भीकता भी झलकती है जो अब विरल होती जा रही है। भारत में समाजविज्ञानों के अध्ययन की परंपरा और सोच को प्रोफेसर दुबे ने निश्चय ही एक प्रभावी दृष्टि से समृद्ध किया है जिसका व्यापक मूल्यांकन आवश्यक है। आज जब स्थानीय और वैश्विक दोनों तरह के दबाव बढ़ते जा रहे हैं, इस दृष्टि की उपादेयता और भी बढ़ गयी है। औपनिवेशिक मानसिकता को प्रखर चुनौती देते हुए प्रोफेसर दुबे की रचना यात्रा में निरंतर उद्विकास हुआ है। ज्ञान विज्ञान के बदलते परिदृश्य से जुड़ते हुए उन्होंने समकालीन प्रश्नों पर लुप्तप्राय होते वैदुषिक साहस के साथ विचार, और विचार करने का आह्वान किया है।

आधी शती तक विस्तृत एक शीर्ष समाजविज्ञानी और शिक्षाविद् की भूमिकाओं में प्रोफेसर दुबे की उपस्थिति नवाचारों के प्रति समुत्सुक एक सर्जनात्मक प्रयोगकर्ता-सरीखी अनुभव की जाती रही है। नयी पीढ़ी के लिए उनकी सहज उपलब्धता अकारण न थी, वह समय के प्रति सजग उनकी सहिष्णु चेतना की एक सहज और स्वभाविक परिणति थी। उनके सान्निध्य में आकर एक सम्यक् और समृद्ध दिशा-बोध की अनुभूति होती है। उनके साहचर्य में हम एक वैचारिक संस्कार से ओतप्रोत होते हैं, जो भारत जैसे विकासशील देश में एक प्रभावी और सार्थक समाजविज्ञानी की भूमिका निभाने के लिए अनिवार्य-सा है।

समाजविज्ञानों की विषय-वस्तु की यह विवशता है कि बहुत चाहकर भी उसे भौतिक विज्ञान की तर्ज पर जांचा-परखा नहीं जा सकता। सामाजिक यथार्थ की रचना देश-काल सापेक्ष होती है, और उसके स्वभाव को उसके संदर्भ में रखकर ही देखा-समझा जा सकता है। इस तरह का यथार्थ प्रतीकों, व्यवहारों और सांस्कृतिक उत्पादों, जिनमें साहित्य भी शामिल है, को संवेदना के साथ ग्रहण करने से ही पकड़ में आ सकता है। प्रोफेसर दुबे ने इसीलिए अपने अध्ययन और विवेचन में अनेक स्रोतों का उपयोग किया है और विच्छिन्न तथ्यों के बदले समग्रता या गेस्टाल्ट के बोध पर बल दिया है। इस बोध को उन्होंने संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने की एक गंभीर कोशिश की है। आधुनिक भारतीय समाजविज्ञानियों में प्रचलित विदेशी विचारकों को अपने लिए संदर्भ समूह बनाने और उनसे स्वीकृति की लालसा की तीव्र आलोचना करते हुए प्रोफेसर दुबे ने स्वायत्त और स्वाधीन समाजविज्ञान की स्थापना का आह्वान किया। इसी क्रम में उन्होंने देशज समाजविज्ञान की अवधारणा का भी विकास किया। उन्होंने यहां की परंपरा और संस्कृति से जुड़े अध्ययन को, जिसकी जड़ें यहां

की जमीन में हों महत्वपूर्ण माना।

समाजविज्ञानों की प्रचलित अकादमिक संस्कृति की सीमाओं पर विचार करते हुए प्रोफेसर दुबे ने अलग-थलग पड़े विभिन्न विषयों या अनुशासनों के बीच विनिमय को आवश्यक ठहराया था। वे विषयों की परस्पर संबद्धता और अनुपूरकता के हामी थे। उनकी दृष्टि में एक अच्छा शोध मात्र बुद्धिविलास न होकर सोद्देश्य होता है। इस क्रम में समाज वैज्ञानिक का कार्य वर्णन और व्याख्या से आगे बढ़कर प्रबंध और सामाजिक अभियांत्रिकी तक विस्तृत हो जाता है। इस रूप में एक समाजवैज्ञानिक राष्ट्र-निर्माण और आर्थिक विकास के वैकल्पिक मार्ग तलाशता है। उसकी बहुआयामी भूमिका होती है। औपनिवेशिक मानसिकता से ऊपर उठकर या मुक्त होकर ईमानदार आत्मनिरीक्षण को प्रोफेसर दुबे ने एक अनिवार्य आवश्यकता माना। सलाहकार और समीक्षक के रूप में समाज वैज्ञानिकों का नीति-निर्धारण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है। पर इनके लिए नई पहल जरूरी है जिसके अंतर्गत देशजीकरण की प्रक्रिया अहम भूमिका निभा सकती है।

समाजविज्ञानों का देशजीकरण उनकी सृजनात्मकता तथा प्रासंगिकता को प्रतिष्ठित करने के लिए आवश्यक है। देशजीकरण की प्रक्रिया को प्रोफेसर दुबे सम्प्रत्यय और विधि दोनों ही स्तरों पर ग्रहण करते हैं। अन्य संस्कृतियों से उद्धृत सिद्धांत और मॉडलों को आँख मूंदकर भारतीय समाज पर आरोपित करना विशेष फलदायी नहीं साबित हुआ है। इसी तरह अध्ययन-विधियों की भी सीमाएं हैं। संस्कृति की प्रथाओं और प्रचलित व्यवहार संहारों के प्रति बिना संवेदनशील हुए पाश्चात्य विधि यों का उपयोग आरोपित यथार्थ का ही बोध करा सकता है। इसीलिए प्रोफेसर दुबे ने भारतीय समाज और संस्कृति में उपलब्ध विचार की कोटियों और विधियों के उपयोग की संस्तुति की।

समाजविज्ञान के अध्ययन की परंपरा अधिकांशतः अकादमिक मूल्यों, प्रश्नों और सरोकारों से अनुबंधित रही है और उसकी उत्कृष्टता की पुष्टि विषय-विशेषज्ञों की राय के आधार पर हुआ करती है। प्रोफेसर दुबे ने इसके महत्व को कम नहीं आंका पर उसे अपर्याप्त ठहराया। उनके विचार में ज्ञान के साथ सामाजिक दायित्व भी आवश्यक रूप से जुड़ा हुआ है। इसके फलस्वरूप ज्ञान को प्रासंगिक भी होना चाहिए। उसके लिए जरूरी है कि वह समाज की आवश्यकताओं-आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील भी हो। प्रोफेसर दुबे इसीलिए शोध के परिणामों को आम जनता और नीति-निर्धारकों तक पहुंचाने और इस तरह के समूहों को संबोधित करने पर भी बल देते रहे हैं। शोधकर्ता और समाज के बीच सतत सक्रिय संवाद आवश्यक है। समाज से अलग-थलग पड़कर शोध अपना महत्व खो देता है। शोध की प्राथमिकताएं अनुशासन या विषय ही नहीं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में निरूपित की जानी चाहिए।

ज्ञान और उसके सामाजिक परिदृश्य के अंतःसंबंधों पर प्रोफेसर दुबे के विचार विकास की अवधारणा के विश्लेषण में प्रखर रूप से प्रकट हुए हैं। विकास और आधुनिकीकरण के आंदोलन को उसके ऐतिहासिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर प्रोफेसर दुबे ने तीसरी दुनिया के देशों द्वारा दुर्बल देशों, उसकी सीमाओं और उसके उपयोग के ऋणात्मक परिणामों को प्रभावी ढंग से रेखांकित किया है। संसाधनों के वितरण और उपयोग के असंतुलन, शक्तिशाली देशों का बहुविध शोषण इस तरह के विकास के प्रारूप के अनिवार्य परिणाम थे। जीवन की गुणवत्ता के निर्धारण में मनुष्य की विभिन्न स्तरों की आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति होनी चाहिए। इसके लिए धरती की क्षमता के अनुरूप

ही विकास का आयोजन श्रेयस्कर होगा। इस तरह की सोच के लिए औपनिवेशिक दासता वाली मानसिकता से उबरने की जरूरत को प्रोफेसर दुबे ने अनेक स्थलों पर व्यक्त किया है। नई मानसिकता में मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता, जो अधिक व्यापक और समृद्ध है, सर्वोपरि है। इन मूल्यों में केवल भौतिक सम्पन्नता ही नहीं बल्कि सामाजिक एवं पर्यावरणीय सरोकार भी सम्मिलित हैं। एक नए विश्व की संभावना, एक ऐसे विश्व, जिसमें परस्पर निर्भरता, अंतःक्रिया और अनुपूरकता हो, आज की एक गंभीर आवश्यकता है।

समाजवैज्ञानिक चिंतन में सिद्धांत और अनुप्रयोग का रिश्ता सैद्धांतिक विवेचनों में महत्वपूर्ण रहा है। प्रायः इनको आमने-सामने रख, एक-दूसरे की श्रेष्ठता के तर्क प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। प्रोफेसर दुबे इस तरह की प्रवृत्ति के विरुद्ध थे। उनकी दृष्टि में सिद्धांत और अनुप्रयोग अविभाज्य हैं। एक अच्छा सिद्धांत अपने उपयोग की संभावनाओं के होने, या न होने के नाते ही अच्छा या बुरा होता है। वस्तुतः अनुप्रयोग को दृष्टि के केंद्र में रखने से सिद्धांत की गुणवत्ता में वृद्धि ही होती है। इस तरह प्रोफेसर दुबे शोध को सतत प्रासंगिक बनाए रखने के पक्षधर थे।

प्रोफेसर श्यामाचरण दुबे के लेखन में शुद्ध अकादमिक प्रश्नों से कहीं अधिक जीवन और संस्कृति के क्षेत्रों में हो रहे वांछित-अवांछित परिवर्तनों और हस्तक्षेपों को लेकर चिंता भी व्यक्त हुई है। एक संवेदनशील विश्लेषक के रूप में उन्होंने न केवल समकालीन घटनाओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है वरन् घटनाओं को सामाजिक परिवर्तन की व्यापक पृष्ठभूमि में जांचा है और उनके तात्पर्यो या आशयों के प्रति आगाह भी किया है। वैचारिक ऊर्जा से अनुप्राणित उनका लेखन प्रभाविकता की दृष्टि से किसी के लिए भी स्पृहणीय हो सकता है। उनकी कृतियां हिंदी गद्य की भी उपलब्धि हैं और सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण के महत्वपूर्ण दस्तावेज भी। उनका शिल्प और उनकी प्रेषणीयता असंदिग्ध रूप से प्रोफेसर दुबे के भाषा-प्रयोग के कौशल को स्थापित करते हैं। उन्हें सुनना एक समृद्ध और स्मरणीय अनुभव होता था। उनका सानिध्य खुले मन से विचार करने को आमंत्रित करता था। उत्साह और आत्मीयता से भरी उनकी साथ हुई चर्चाओं की स्मृति मेरे लिए अमूल्य निधि है, उनके कर्तृत्व की यशः काया तो हमारे पास है ही।



बिंबों के कारखाने का मालिक

कांति कुमार जैन

मैं जब भी रामविलास शर्मा के घर गया, वह मुझे घर पर नहीं मिला। मैंने सुन रखा था कि उसने इंदौर में अपना घर बनवा लिया है। सोचा, चलें-मित्र का घर देखें और उसके ठहाके भी सुनें। वह अपने ठहाकों के लिए प्रसिद्ध था। उसके अधिकांश यार- दोस्त उन दिनों किराए के मकानों में रहते थे- मुक्तिबोध, परसाई, प्रमोद वर्मा, 'विद्रोही', ज्ञानरंजन। ऐसे में अपनों में से कोई तो ऐसा है जिसका अपना घर है। उसने अपने कवि-मित्र हरनारायण मिश्र की यह बात सिद्ध कर दी थी कि 'अपना भी घर बन जाएगा, अपना भी सर तन जाएगा।' सो मित्र का तना हुआ सर देखने की चाह में मैं इंदौर पहुंचा। वहां मित्र का घर तो था, तना हुआ सर नहीं था। तना हुआ सर धार में था।

रामविलास शर्मा मध्य प्रदेश राज्य परिवहन निगम का डिपो मैनेजर था और उसका स्थानांतरण धार हो गया था। धार में उसके साथ प्रमोद वर्मा थे, वहां के शासकीय महाविद्यालय में हिंदी के विभागाध्यक्ष। इस बीच प्रमोद स्थानांतरित होकर इंदौर आ गए। कहां रहें? रामविलास ने यार को अपना घर पेश किया। तुम रहोगे तो जब भी मैं इंदौर आऊंगा, मुझे खाली घर में नहीं आना पड़ेगा। रामविलास यारों पर जान निसार करने वाला आदमी था। यार को अपना घर सौंपकर, सर तानकर रामविलास धार चला गया। प्रमोद ने रामविलास के घर का वह कमरा हमारे लिए खुलवा दिया था जो उसने अपने लिए सुरक्षित रखा था। दूसरी मंजिल के उस कमरे में सुबह रामविलास के रंग जैसी गोरी धूप आती और दिन भर खिड़कियों के पल्लों से जो हवा टकराती, उसमें मुझे रामविलास के ठहाकों की गूंज सुनाई पड़ती। रामविलास के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी खूबी थी कि वह अनुपस्थित रहकर भी मित्रों के बीच उपस्थित रहा आता था। प्रमोद ने मुझे नई कविता पर इंदौर से होकर महाविद्यालय की स्नातकोत्तर हिंदी परिषद् में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया था। रामविलास शर्मा तब तक अपने ढंग की अद्वितीय प्रकृति संबंधी नई कविताओं से अपनी पहचान बना चुका था। यह 1968 की बात होगी। पर 1978 तक उसका कोई काव्य-संकलन प्रकाशित नहीं हुआ था। उसकी कविताएं हिंदी की सभी लघु पत्रिकाओं में छपने लगीं थीं- 'वसुधा' में खास तौर पर। मैं जिस कमरे में रूका था, वहां उसके पढ़ने की मेज पर उसकी कई कविताएं खिबरी पड़ीं थीं। उसकी मेज को पढ़ने की मेज कहना गलत है। वह पढ़ता शायद ही कभी हो। साहित्य की, समाज की और राजनीति की उसकी समझ सत्संग का फल थी। परसाई, मुक्तिबोध, शिवकुमार श्रीवास्तव, भाऊ

समर्थ, प्रमोद वर्मा, ज्ञानरंजन जैसे मित्रों के संग को वह सत्संग कहता। वह अध्ययन से नहीं, बनावट से मार्क्सवादी था। सत्संग ने उसकी मूल बनावट पर संदला करने का काम किया था। उसकी कविता में जो बिंब आते, वे सामान्यजन की पक्षधरता के बिंब होते। विषमता, अन्याय, शोषण, रूढ़ियों को मुर्दाबाद करने वाले। इंदौर के उस प्रवास में मुझे उसकी मेज पर उसी की लिखावट में एक कविता मिली-

*विंध्य के सागौन वन को भेदकर/ झील के निष्कंप जल को लांघ/ चुन रही महुआ/ आदिवासी
उत्तरायण सूर्य की तिरछी किरन/ आ रहा पूरब क्षितिज से/ साइनी के दूध जैसा कुनकुना-सा और
मीठा/ एक उजला दिन।*

मुझे आश्चर्य हुआ कि रामविलास को ये नए, टटके, कुंवारे बिंब मिलते कहां से हैं? इसका रहस्य खुला मंदसौर में। मैं जब स्थानांतरण पर मंदसौर पहुंचा तो पता चला कि रामविलास मंदसौर डिपो का मैनेजर होकर वहां आ गया है। मंदसौर में रामविलास शर्मा का जन्म हुआ था 1927 में। इसी मंदसौर को कालिदास की जन्म स्थली होने का भी श्रेय दिया जाता है। मंदसौर का पुराना नाम दशपुर है। मंदसौर की और उसके आसपास की श्री सुषमा ऐसी है कि कोई भी प्रकृति विषयक कविताएं लिखने लगे-सहज, संभाव्य है। शिवना, बुगलिया खाल, ढाकवनी, अफीम के खेत, सोंधी-चिकनी-काली मिट्टी, वहां के लोगों के पहिनावे के चटख रंग- ये सब मालवा की प्रकृति और लोकजीवन को बड़ा रमणीक बनाते हैं। नई कविता के प्रकृति-काव्य में रंग और मांसलता भरने का जितना श्रेय मालव-कवियों को है, उतना किसी अन्य अंचल के कवियों को नहीं। गिरिजाकुमार माथुर, शकुंत माथुर, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास, प्रभाकर माचवे, नईम जैसे कवियों में मालवा-प्रकृति अपने संपूर्ण रंग और रास के साथ उपस्थित है। इन कवियों के पहिले शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने भी मालवा की प्राकृतिक सुषमा को अपने काव्य का उपजीव्य बनाया था। रामविलास शर्मा ने अपने काव्य का सभारंभ मालवा की प्रकृति के आत्मीय चित्रण से किया था। प्रमोद वर्मा रामविलास शर्मा को बिंबों की मशीन कहते थे। मैं बिंब का कारखाना। कविता लिखते समय रामविलास शर्मा का यह कारखाना बिंबोत्पादन प्रारंभ कर देता है और एक-से-एक बढ़िया, आई.एस.आई. मार्का बिंब उसकी कविता में पैक होने लगते हैं। यदि रामविलास शर्मा का बचपन मंदसौर में न बीता होता और उसने मालवा की धरती को बच्चे के कुतूहल भरे नयनों से न देखा होता तो शायद उसकी कविता में वह चित्रोपमता न आती जो कालिदास की विशेषता है। रामविलास शर्मा प्रकृति विषयक नई कविताओं का कालिदास है- 'उपमा कालिदासस्य' की तरह 'उपमा रामविलासस्य' कहना बहुत गलत नहीं होगा।

मंदसौर में रामविलास से मिलने के लिए मैं उसके घर की तरफ चला। काफी भटकने के बाद जब लगा कि मैं स्वयं उसके घर नहीं पहुंच पाऊंगा तब मैंने राज्य परिवहन का जो पहिला लाल डिब्बा मिला, उसे रोका। ड्राइवर से पूछा कि तुम्हारे डिपो मैनेजर शर्माजी कहां रहते हैं? चलिए, साब, मैं पहुंचाए देता हूं। पर वे इस समय घर पर नहीं होंगे, डिपो में होंगे। मुझे वह अपनी बस में बैठाकर डिपो ले गया। रामविलास कार्यालय के किसी कमरे में नहीं था। वह आती-जाती बसों के बीच खड़ा था। ड्राइवरों से उसका हँसी-ठठठा चल रहा था। एक कंडक्टर हथेली पर सुरती मलकर अपने साहब को खिला रहा था। पांवों के बाथरूम स्लीपर डाले, ढीला पेंट पहिने, नीले रंग की बुशशर्ट की पूरी

बाहों वाले उसके हाथ कभी इस दिशा में उठते, कभी उस दिशा में। कौन सी बस कहां जा रही है, कौन सी बस किस रूट से आई है, उसे पता होता। सभी ड्राइवरों को वह नाम से जानता। उसका ठूठा चलता रहता, वह खैनी फांकता रहता और लेट-लतीफ ड्राइवरों को समझाइश भी देता चलता। क्यों बन्ने भाई, घर में ही बैठकर खाने का इरादा है क्या? मुझे भाभी जान का ख्याल न होता तो मैं कभी का तुम्हें सस्पेंड कर देता। कल इंदौर नाके पर ठीक साढ़े तीन बजे मिलो। देर नहीं होनी चाहिए और खसखसी दाढ़ी वाले बन्ने भाई कल अपनी खटारा बस लिए, उसके कल-पुर्जे चेक करवाने के बाद ठीक साढ़े तीन बजे इंदौर नाके पर हाजिर हैं। क्या पता, साहब इसी बस से इंदौर चले चलें। यह रामविलास का तरीका था अपनी गारद से काम करवाने का। ड्राइवर और कंडक्टर सब उसके दोस्त थे। वह अपनी मीठी बातों से जंभाई लेते ड्राइवरों और कंडक्टरों की थकान मिटा देता। यदि वह खड़ा-खड़ा कप बसी से चाय पी रहा होता तो सामने वाले ड्राइवर को एक बसी भर कट चाय देता- लो पंडज्जी, चाय पिओ- यह चाय बड़ा चमचा है यानी शक्कर इतनी कि उसमें चम्मच डालो तो वह खड़ी हो जाए। पंडज्जी खुश। उसकी कविता पढ़ते हुए यह पता नहीं चलता कि वह डिपो मैनेजर होगा। कहां बसों के रूट की जानकारी लेता हुआ, डीजल और टायरों का हिसाब रखने वाला डिपो मैनेजर और कहां कविता? पर रामविलास शर्मा अपनी कविता अपने आसपास की प्रकृति से दुहता था।

इब्सन ने कहा था- Poet is one who sees. रामविलास जो कुछ भी देखता था, उसके संवेदन में पककर कविता बन जाता। अक्षितिज फैली हुई प्रकृति और जन्म-मरण के बीच पसरा हुआ मानवीय जीवन उसके लिए काव्य धेनु थी और वह उसका दुहैया। या यों कह लीजिए कि उसे परिवेश की कैसी भी खटारा गाड़ी दे दें, वह उसकी स्टीयरिंग संभालेगा और ब्रेक मारता हुआ, गेअर बदलता हुआ, दचकों से बचता हुआ, हिचकोले खाता हुआ, हार्न बजाता हुआ आपको गंतव्य तक पहुंचा देगा। रास्ते भर वह जो भी देखेगा, गाड़ी के सामने, गाड़ी के आसपास, गाड़ी के भीतर-वह उसकी कविता की सामग्री बन जाएगा। डिपो के अपने मातहतों को वह कभी आप नहीं कहता था, अनौचारिक तुम से ही उसका काम चल जाता था। ठीक उसी प्रकार, उसकी कविता में कोई शब्द औपचारिक नहीं होता। फालतू के विशेषण उसकी कविता में बिलकुल नहीं मिलेंगे। वह जानता था कि विशेषणों का प्रचुर प्रयोग वही कवि करता है जिसके पास संवेदनात्मक कथ्य की कमी होती है। वह कहता था कि 'चारू चन्द्र की चंचल किरणों, खेल रही हैं जलथल में' में राष्ट्रकविजी ने 'चारू' और 'चंचल' जैसे विशेषणों का प्रयोग किसी संवेदनात्मक दबाव के कारण नहीं, छंद के दबाव के कारण किया है। उसकी कविता में प्रयुक्त होने वाले शब्द शब्दकोशों से नहीं, जीवन से आते थे। वह ड्राइंग रूम का आदमी नहीं था, वैसे भी ड्राइंग रूम सजावट और व्यवस्था उसको रास नहीं आती थी। उसका उन विद्वानों से मतभेद था जो ड्राइंग रूम को 'चित्रकक्ष' समझते हैं। मैंने उसे बताया कि ड्राइंग रूम अंग्रेजी के 'विथ ड्राइंग रूम' का संक्षेप है जो वह प्रसन्न हुआ। वही तो, जीवन में जिसे कभी संघर्षों से 'विथड़ा' करने की सुविधा नहीं मिली हो वह 'ड्राइंग रूम' में कैसे शरण लेगा? वह जब भी किसी मित्र के यहां आता तो चौके तक चलता आता। बाहर से ही शोर मचाता हुआ। उसके यहां कोई मित्र पहुंचता तो वह उसे ड्राइंग रूम में नहीं बिठाता, यार, यहीं चले आओ। फिर वह आंगन में हो या चौके में। एक आत्मीयता, एक अनौपचारिकता, एक खुलापन, एक ऊष्मा उसके व्यक्ति का ही

गुण नहीं था, उसकी कविता का भी गुण था। उसकी कविता में जो ताजगी है, वह उसकी इसी आत्मीयता का परिणाम है। शब्दों को अपनी कविता की सीट पर बुलाने का उसका तरीका नहीं था जो डिपो मैनेजर के रूप में कंडक्टरों, क्लीनरों और ड्राइवरों को बुलाने का था। बस स्टैंड पर चाहे वह सागर का हो, मंदसौर का हो, भोपाल, इंदौर या धार का हो, बस चालक को अपनी बस रवाना करने में देर लगती तो वह एनाउंसमेंट करवाता- फलां कहां है, उसकी बस तैयार है। वह फौरन अपनी सीट पर पहुंचे और देखते-देखते बस रवाना हो जाती। कविता के शब्द भी उसके निमंत्रण पर बिना देर लगाए पहुंचते, मुंह में पान दबाए, मुस्कराते हुए, बाबा छाप जर्दा की खुशबू बिखेरते हुए। और कविता की उसकी गाड़ी चल पड़ती। वह लंबी रूट का ड्राइवर नहीं था। रामविलास की डिपो का कोई ड्राइवर यदि बीमार पड़ जाता तो वह हाय-तौबा नहीं मचाता था। कंडक्टर को ड्राइवर की सीट पर बिठा देता- जरा संभलकर चलाना। बहुत जल्दी तुम्हारा प्रमोशन करवा दूंगा। शब्दों के साथ भी वह यही सुलूक करता। पता नहीं, कहां-कहां से, कैसे-कैसे शब्दों को उसके काव्यात्मक बना दिया। जब उसे गंध के लिए कोई विशेषण नहीं सूझता था तो वह स्थानांतरित रूपक से काम लेता। त्वचा के संवेदन को घ्राण के संवेद की सीट पर बिठा देता। वह धूप को 'हरी कच्च' बना देता, उसकी गंध को 'मुलायम' होते देर नहीं लगती। कुछ आलोचक तो इस स्थानांतरित रूपक को- 'ट्रासफर्ड मेटाफर' को- अच्छी कविता का प्राण तत्व मानते हैं। जब 'दिनकर' की 'उर्वशी' छपकर आई तो रामविलास ने उसमें 'मैं तुम्हारे रंग का संगीत सुनता हूँ' जैसी पंक्ति पढ़कर उन्हें सचमुच का बड़ा कवि माना।

रामविलास मानता था कि विश्व में कोई बात ऐसी नहीं है जो अब तक कही न गई हो। समर्थ कवि वही है जो उसी बात को बिलकुल नए अंदाज में कह दे। रामविलास ने उस नएपन के लिए नए बिंबों का सहारा लिया। वह जानता था कि कविता के शब्दकोशों में नहीं मिलते, वह उन्हें खेत-खलिहानों, चाय के टपरो, पान की गुमटियों या नदी के घाटों पर पर तलाशता और गलबहियां डालकर उन्हें अपनी कविता में खींच लाता। वह कहता- शरबती गेहूं खलिहान में पैदा नहीं होता, पैदा तो वह खेत में ही होता है, खलिहान में तो वह जमा भर होता है। शब्दकोश उसके लिए शब्दों के खलिहान भर थे। उसकी कविता में 'डगाली' पर फुदकती हुई गौरेया मिलती है, उसके किसानों के घरों में 'बोरसी' में दूध में 'उबाल' आता है, उसके यहां ताल का जल 'थरथराता' है, किरणें 'बुदबुदाती हैं' और पत्तियां 'तनतनाती' हैं। ध्वन्यात्मक शब्द उसकी कविता के अखाड़े में वर्जिश करते मिलेंगे। नजीर अकबरावादी को छोड़कर इतने ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग हिंदी के और किसी कवि ने शायद ही किया हो। भवानी प्रसाद मिश्र ने किया हो तो किया हो।

रामविलास शर्मा मुक्तिबोध की मंडली का कवि था। मुक्तिबोध की मंडली में कवि तो थे ही, भाऊ समर्थ जैसे चित्रकार थे, हरिशंकर परसाई जैसे व्यंग्यकार भी। मुक्तिबोध के मित्रों की मंडली संघर्ष कर रहे, छोटी-छोटी नौकरियां करने वाले, ईमानदार और वैचारिक निष्ठा वाले युवकों और अधेड़ों का समुदाय था। ये सब जीवन को बेहतर बनाने का सपना देखने वाले लोग थे- सड़क को घर की तुलना में वरीयता देने वाले। रामविलास भी अभिजन का नहीं, सामान्यजन का कवि था, सामान्य जीवननुभवों का। सोच में, कथ्य में, अभिव्यक्ति में वह राजमार्ग का नहीं, पगडंडियों का कवि था- 'ही प्रीफर्ड बाईबेज टू हाईवेज'। रामविलास से मेरी पहली भेंट सड़क पर ही हुई। भोपाल में 1965

में। सदर मंजिल में मुक्तिबोध स्मृति का प्रसंग था। परसाईजी थे। शिवकुमार श्रीवास्तव, प्रमोद वर्मा, गंगाप्रसाद विमल, अशोक वाजपेयी भी थे। मुक्तिबोध के महाचेले जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' ने अपने महागुरु की कीर्ति को दुहने वाले आयोजक घनश्याम 'मधुप' को कठघरे में खड़ा करने वाली अपनी कविता 'अवसर बोध' सुनाकर सभी को स्तब्ध कर दिया था-

मुक्तिबोध, एक नाम है/ जप सको तो जपो/ मुक्तिबोध/ अब आम है/ व्यक्तित्व पर चर्चा करो/ कृतित्व की अर्चा करो/ इसलिए कि-/ जिन ईमानदार लोगों ने/ अस्वीकार किया था मुक्तिबोध के/ मनुष्यत्व को (भी)/ उन कलाबाजों के गुप में/ खप सको तो खपो।

इस कविता का अंत हुआ था- 'व्यक्तिगत प्रचार के इस थर्मामीटर में तुम भी नप सको तो नपो!' 'मधुप' को 'विद्रोही' ने क्या नापा कि दुष्यंत को लगा कि वह भी इस आयोजन को नाप सकता है। श्रीकांत वर्मा बोल चुके थे। उसके बाद दुष्यंत को बोलना था। दुष्यंत मुक्तिबोध पर कम बोला, उसने श्रीकांत के लत्ते लिए। उसे श्रीकांत की कविता के पेटीकोट में लगे दागों की याद आई। दुष्यंत ने वे दाग कविता के 'शो विंडो' से निकालकर समारोह में नुमायां किए। उस समारोह में पुरुष तो थे ही, महिलाएं भी थीं- विवाहित और अविवाहित- दोनों। कुछ संकुचित हुई, कुछ ने आपस में खुसुर-पुसुर की। कुछ प्रौढ़ महिलाएं स्त्री जैविकी के इन चिह्नों को इस कदर सरे-समारोह प्रदर्शित किए जाने पर क्षुब्ध थीं। समारोह की गरिमा को लथपथ कर दुष्यंत प्रसन्न था। श्रीकांत ने दुरभिसंधि भांपी, माइक झपटा। श्रीकांत बेहद हाजिरजवाब व्यक्ति थे, तल्लखी उनकी हाजिर जबाबी को सान पर चढ़ा देती थी। उन्होंने अपना ऐतराज एक लतीफा सुनाकर दर्ज किया। फ्रांस के शिक्षामंत्री लंदन आए हुए थे। वहां के मैडम तुषाद की मोम मूर्तियों का संग्रहालय देखने गए। अपनी एक वेश्या प्रेमिका के साथ। उस संग्रहालय में एक नर्तकी की एक नग्न प्रतिमा भी थी। उस प्रतिमा की सरापा अनावृत देह को देखकर उस वेश्या ने अपनी आँखें हथेलियों से ढंक लीं। हाय, डियर, तुम मुझे यहां कहां ले आए? मुझे शर्म लगती है। श्रीकांत ने कहा- मेरी कविताओं पर अश्लीलता का आरोप लगाने वाले दुष्यंत उसी वेश्या की तरह हैं। श्रीकांत वर्मा के इस बिंब विधान पर इतनी तालियां बर्जी कि सदर मंजिल के सभागार की छत उड़ते-उड़ते बची! श्रीकांत ने समारोह लूट ही नहीं लिया, लूट का सारा माल अपनी जेबों में भर लिया। रात आधी हो गई थी, सदर मंजिल से होटल तक जाया कैसे जाए? भोपाल के साहित्यकारों ने तो अपने स्कूटर दबाए पर बाहर से आने वाले परसाई, शिवकुमार श्रीवास्तव, श्रीकांत, प्रमोद, रामविलास शर्मा, पांव-पैदल ही होटल की ओर रवाना हुए। इतने में वहां से एक बस गुजरी। राज्य परिवहन निगम की- लाल डिब्बा। बस ठिठकी, ड्राइवर ने साहब को देखा तो नहीं पर उनके ठहाकों से वह उन्हें पहचान गया था। साहब यानी रामविलास शर्मा। साहब श्रीकांत वर्मा के लतीफे की याद में ठहाके लगा रहे थे। अरे साब, इत्ती रात को कहां? वह भी पैदल। यह मुक्तिबोध प्रसंग का तीसरा धमाका था- पहले 'विद्रोही' की कविता, फिर श्रीकांत का लतीफा, उसके बाद रामविलास शर्मा की यह जन भागीदारी। मैंने सबेरे सब मित्रों को अपने यहां चाय पर आने को कहा। परसाईजी ने कहा- ये रामविलास शर्मा हैं, ये भी आएंगे। जरूर आएंगे। तुम्हारे मित्र तो अपने भी मित्र। यारों के यार। न उसने कहा कि आपसे मिलकर खुशी हुई, न मैंने कहा। तुम मित्रों के मित्र हो, तुमसे मिलकर खुशी तो होनी ही कहाई। रामविलास शर्मा खुश दिल इनसान था। उसने बड़ा मित्रवत्सल हृदय पाया था। वह मैत्री का महत्व जानता था, उसे मैत्री का निर्वाह करना आता

था। यह मेरी उससे पहली मुलाकात थी। सड़क पर, मित्रों के बीच।

यह फिर इंदौर की बात है। तब तक रामविलास शर्मा रिटायर हो चुका था। सोचा इस बार जरूर वह घर पर मिलेगा। मैं सरोज कुमार के यहां था- सरोज कुमार ने कहा कि आप रामविलास के यहां बैठने नहीं जाएंगे क्या? मैं मिलने जाना चाहता था और सरोज भाई बैठने जाने की बात कर रहे हैं? पता चला कि कुछ दिनों पहले 7 मार्च 1990 को वह यार-दोस्तों से मिलकर अपनी लूना पर रात हुए घर लौट रहा था। अपनी छोटी सी गाड़ी पर वह यों लगता जैसे गणेशजी चूहे पर बैठे हों। उसे मधुमेह था। रक्त शर्करा प्रायः कम हो जाती, चक्कर आते। पलासिया के मोड़ पर बड़ के पेड़ के नीचे पीछे से किसी महायान मेटाडोर ने उसके हीनयान को टक्कर मार दी। ट्रक वाला तो भाग निकला पर रामविलास मय अपनी लूना के वहीं पड़े रह गए। जब वहां से राज्य परिवहन निगम की कोई बस गुजरी तो ड्राइवर ने साहब को देखा, अरे! ये तो अपने शर्मा साहब हैं। सिर में चोट आई थी। बेहोश थे। जेब में डायरी मिली। घर बेटे को टेलीफोन किया पर वह कहीं बाहर था। उसने 'नई दुनिया' टेलीफोन किया, सरोज कुमार आए, अस्पताल ले गए। ब्राट डेड। रामविलास सड़क का आदमी था, उसकी मौत सड़क पर ही होनी थी! यदि वह घर में या अस्पताल में बिस्तर पर दम तोड़ता तो सड़क पर मरने के लिए उसे एक जन्म और लेना पड़ता। सड़क उसका जीवन था, सड़क दुर्घटना उसकी नियति। यह उसके जीवन की सातवीं सड़क दुर्घटना थी।

मैं रामविलास के यहां बैठने गया। इस बार यह जानते हुए कि वह घर पर नहीं मिलेगा। घर पर उसका बेटा था। बेटे ने अपने पिता की तमाम डायरियां दिखाई। बेटे ने उन्हें बहुत संभालकर रखा था। वे अभी तक छप नहीं पाई। 'कविता में सुबह', 'ऋतुगंध' और 'बादल' में जितनी कविताएं हैं, वे रामविलास की समूची कविताओं को देखते हुए कुछ भी नहीं। हिंदी की प्रकृतिपरक कविताओं में सेनापति, पद्माकर, सुमित्रानंदन पंत और 'अज्ञेय' के बाद यदि किसी कवि की कविताएं अपनी ताजगी में पाठक का ध्यान खींचती हैं तो वे रामविलास शर्मा की कविताएं हैं। उसकी प्रारंभिक कविताएं उस समय की लघु पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। 'रूपांबरा' में अज्ञेयजी ने उसकी कविताओं को सम्मिलित किया था। उसकी प्रारंभिक कविताओं की प्रकृति ठीक वैसी ही है जैसी उनकी परवर्ती कविताओं की है। मंदसौर में वह हमारे महाविद्यालय में खेलकूद प्रतियोगिता का मुख्य अतिथि था। रस्साकशी प्रतियोगिता से वह बेहद प्रभावित हुआ था। इस तरफ रस्सा थामे खिलाड़ी डटे हैं, उस तरफ भी। बीच में निर्णायक महोदय हैं- खींचो। दोनों दल जोर आजमा रहे हैं- कोई टस से मस नहीं हो रहा है। रामविलास शर्मा की कविताएं रस्साकशी जैसी ही होती थीं। इस तरफ मानव जीवन के कार्यकलाप हैं- उस तरफ प्रकृति के व्यापार। रामविलास शर्मा रस्से के बीचों बीच खड़ा है- खींचो। कोई टस से मस नहीं हो रहा। वह मानवीय जीवन के क्रियाकलाप को प्रकृति के परिचित व्यापारों से उदाहृत करता। कहना कठिन है कि इस रस्साकशी में जीत किसकी होती। शायद किसी की नहीं। जोड़ बराबरी पर छूटता। दोनों जीतते।

रामविलास सादृश्य के बल पर ऐसे-ऐसे बिंबों की योजना करता कि उसकी कल्पना शक्ति पर आश्चर्य होता। शाम को पहाड़ की ओट में खो जाने वाला सूरज उसे ऐसा लगता है जैसे आकाश की फटी जेब से कोई घिसा हुआ सिक्का फिसल गया हो। शाम के झुटपुटे में घर लौटते परिंदों का झुंड उसे मुट्ठी पर मुरमुरों के लिए झगड़ा करते बच्चों का लगता। जब वह सागर आया था तो टैरियों

पर बसा सागर शहर अपनी झील के कारण उसे उस बूढ़े भिश्ती की तरह लगा था जो अपनी पीठ पर तालाब की मशक बांधे झुका जा रहा हो। सागर के बीचों बीच खड़ी मस्जिद सबने देखी होगी पर जिस तरह रामविलास ने देखी, शायद ही किसी ने देखी हो। मस्जिद की ऊंची-ऊंची मीनारें उसे मजार पर सुलगने वाली अगरबत्तियों सी लगीं थीं। जब वह सागर झील पर नौका विहार करके लौटा तो उसने एक कविता झुकायी-

*नाजुक टहनी पर/ गांधी टोपी की कतार सी/ उजली धुली/ पांत बगुलों की/ सूख रहे हैं स्कर्ट
पजामे/ कुर्ते, फ्राक, निकर, शलवारें/ बैजनिया ब्लाउज/ झीनी बादामी चुन्नी से बादल/ शीश झुकाए
सधे हाथ से/ धीमे धीमे लोहा करती/ नन्हें पौधों के झगलों पर/ पछुआ धोबिन/ नए नातरे की
दुलहिन-सी/ सरकाए आंखों तक आंचल।*

जब रामविलास सागर में था तो परसाईजी का चलना-फिरना सीमित था। उसके साथ शिवकुमार घूमते या मैं! रामविलास शर्मा के साथ घूमना बिंबों के साथ घूमना था। मई-जून में शाम को यहां-वहां सड़कों को गीला एकजमा हो गया है। सागर के तालाब में नौकाविहार करते समय जो झाग उठता वह उसे नाव की करधनी लगता। रात के सन्नाटे में झींगुरों की आवाज सबसे सुनी है, रामविलास ने भी सुनी, कहा यार! तुम्हारे शहर में शोहदे रात को भी सीटी मारते हैं! रामविलास मानवीय क्रियाकलाप और प्रकृति के व्यापारों के बीच 'अप-डाउन' करने वाला कवि था। उसकी एक आँख मानव जीवन के दैनंदिन व्यवहार पर रहती, दूसरी प्रकृति पर दोनों के बीच ऐसी निरंतर आवाजाही न नागार्जुन के पास है, न केदारनाथ अग्रवाल के पास। एक तरह से उसकी कविता ऐसा बाइनाकुलर है जिसे साधकर वह मानव-जीवन और प्रकृति को एकमएक कर देता है।

रामविलास शर्मा कवि सम्मेलनों का कवि नहीं था, वह गोष्ठियों का कवि था, वह अपनी कविताएं गाकर नहीं पढ़ता था, गीत भी। गीत हो चाहे मुक्तछंद, वह तहत में ही पढ़ना पसंद करता था। उसने कविता लिखना परसाईजी से सीखा था- जी हां, वही व्यंग्य वाले हरिशंकर परसाई। परसाई भी पहले कविता लिखा करते थे। उन्होंने अपनी कुछ कविताएं रामविलास शर्मा को गाकर सुनाई थीं। बाद में परसाई ने कविता लिखना बंद ही नहीं कर दिया था, कविता को उन्होंने भाव देना भी बंद कर दिया था। रामविलास और परसाई की दोस्ती पर इसका कोई प्रभाव तो नहीं पड़ा, पर शर्मा को परसाई को ब्लैकमेल करने का एक मुद्दा जरूर मिल गया। लोग बड़े होने पर अपने बचपन के बिना चड्डी वाले चित्र और यौवन के प्रेम प्रसंग छिपाते हैं, परसाई व्यंग्यकार के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर अपना कविता प्रसंग छिपाते थे। रामविलास कहा करता था कि मैं जब चाहूं तब तुम्हें बदनाम कर सकता हूं। उसने अपने पास परसाईजी के कुछ गीत उन्हीं की लिखावट में दबा रखे थे। गीतों को दोयम दर्जे की काव्य रचना मानने के कारण बहुत से समीक्षक इस तथ्य को पचा नहीं पाते कि मुक्तिबोधजी ने अपनी काव्य-साधना गीतों से प्रारंभ की थी और उनके प्रारंभिक गीतों पर छायावादी प्रभाव है। और तो और मुक्तिबोध अपने प्रारंभिक काव्य प्रयोगों में माखनलाल चतुर्वेदी से प्रभावित थे। रामविलास शर्मा का कहना था कि महत्वपूर्ण यह नहीं है कि उसने कौन सी दिशा पकड़ी और अपने प्रवाह के दौरान उसने किन दोआबों और खेतों को सींचा। रामविलास घोषित प्रतिबद्ध कवि नहीं था। पर उसकी कविताओं में सामान्यजन के प्रति उसकी पक्षधरता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उसका अपना जीवन संघर्षों से भरा था। उसने कभी सुविधाओं की परवाह नहीं की, आत्म प्रचार

से भी कभी उसने अपने को नहीं साना। एक फक्कड़ अंदाज, एक लापरवाह ढंग, एक दुर्निवार मस्ती उसकी जिजीविषा का स्रोत भी था और सफलता का रोड़ा भी।

रामविलास वर्ष में एक बार तीर्थाटन पर निकलता। मित्र उसके तीर्थ थे। वह मंदसौर से निकलेगा तो इंदौर आएगा, सरोज कुमार से मिलने। फिर वह देवास का रुख करेगा, वहां नईम होते, भोपाल में तो उसके मित्रों के ढेर थे- अक्षय बाबू, शरद जोशी, 'विद्रोही', भगवत। चलो, जबलपुर चलते हैं। परसाईजी से नोकझोंक में उसे मजा आता। वहां ज्ञानरंजन से गप्पें होतीं। रायगढ़ में प्रमोद थे, थोड़े गुरू गंभीर पर रामविलास को गांभीर्य का गढ़ भेदना आता था। वह अभिमन्यु नहीं था जो विद्वता के चक्रव्यूह में फंस जाए। सागर में शिवकुमार श्रीवास्तव और उसके ठहाकों में प्रतिस्पर्धा होती। वह सागर में डिपो मैनेजर रह चुका था, उन दिनों उसकी शामें शिवकुमार के यहां कटतीं। साहित्य की बातें कम होतीं, बातों से जो भी बात निकल जाए। न शिवकुमार के पास बातों की कमी थी, न रामविलास के पास। वह जब भी शिवकुमार के यहां रुकता, शिवकुमार के घर की दीवारों पर पहले से झड़ा हुआ पलस्तर और ढीला हो जाता। उन दिनों परसाई सागर में थे, मुक्तिबोध पीठ पर। वह परसाई से मिलने सागर आया था, मेरे यहां आया। जब उसका ऑटो विश्वविद्यालय परिसार में बी-19 के गेट पर रूका तो मैं बरामदे में ही था। ऑटो से उतरकर वह बड़ी गर्मजोशी से मुझसे लिपट गया। पूछा कि ऑटो रोकूं या जाने दूं। मैंने ऑटो को जाने दिया। आज सारे कार्यक्रम निरस्त। संयोग से उन दिन मेरी कोई मीटिंग-सीटिंग भी नहीं थी पर तुम्हारा सामान कहां है? सामान तो थानेदार साहब ने जब्त कर लिया है? मैं समझ गया, यह रामविलास का पुराना मजाक था। जब जबलपुर जाता तो सबसे पहले परसाईजी के यहां जाता परसाई पूछते कि यहां किस-किस से मिल लिए। अभी किसी ने नहीं, पहले थाने में हाजिरी लगा दूं फिर लोगों से मिलूंगा। पर तुमने थानेदार साहब से कुछ कहा नहीं। कहा था कि कांति कुमार ने मुझे लिखा था कि यहां आओ तो मेरे साथ ही ठहरो। पर परसाई माने ही नहीं। लिखा कि तुम चिंता मत करो। मैं छोटे थानेदार को समझा दूंगा, वे बिलकुल बुरा नहीं मानेंगे। मैं परसाईजी की इस आदत से परिचित थां मुक्तिबोधजी की भी यही आदत थी। राजनांदगांव जाने पर सामान और कहीं रख दो तो वे नाराज होते- वाह साहब, आप मेहमान मेरे हैं और टिके कहीं और हैं! परसाई इसे मुक्तिबोध का सामंतवादी संस्कार मानते हैं। पर परसाई स्वयं इस संस्कार से मुक्त नहीं थे। रामविलास नाश्ता तो परसाईजी के यहां कर चुका था पर खाना उसने मेरे यहां खाया। उन दिनों वह 'नई दुनिया' में अपने यात्रा विवरण लिख रहा था। साधना को उसने देवी हिंगलाज की यात्रा के रोचक किस्से सुनाए। वे यात्रा विवरण एक तीर्थयात्री के नहीं, एक कवि के थे। वह जहां भी जाता, उसका कवि उसके साथ जाता। बोला-इन यात्राओं को लेकर मैंने कुछ कविताएं भी झुकाई हैं। कविता लिखने को वह कविता 'झुकाना' कहता। उसने चंदेरी पर लिखी अपनी कविता भी सुनाई-

दुबक गई है/ सहमे खरगोश-सी ढलती धूप/ करीब की छतनार झाड़ियों में/ जंगल से निकल/
भेड़ियों के झुंड-सा/ खूंखार अंधकार/ घुस आया है बस्ती में/ पहाड़ी दुर्ग के/ वीरान बुर्ज पर बैठा
सन्नाटा/ बूढ़ें गिद्ध-सा/ फड़फड़ाता है पंख/ तलहटी में लेटा/ अधमरा कस्बा/ करवट बदलकर/ हो
जाता है एकदम निस्पंद/ तंग गलियों की दीवारों पर बदन रगड़ते /आवारा सांडों-से

करघे के स्वर/ थक कर बैठ गए हैं चौराहों पर/ मां / जागेश्वरी के मंदिर में/ दीप जला मनोतियां

मांग/ उतर रही हैं सीढ़ियों से/ सर्दियों की ठिठुरती बांझ रात/ दे रहा है द्वार पर दस्तक/ थरथराते हाथ से/ इस नगर के शौर्य का/ सर्दियों पुराना/अनलिखा इतिहास।

मैं उन दिनों विश्वविद्यालयों की बुंदेली पीठ की लोक संस्कृति की पत्रिका 'ईसुरी' निकाल रहा था। मैंने रामविलास को बुंदेली लोक जीवन पर लिखी अपनी कुछ कविताएं भेजने के लिए लिखा-उत्तर आया- 'मैं कविताएं ऑर्डर पर तो लिख नहीं सकता। मैं बुंदेलखंड पर कविताएं न भेज सका, इसका दुःख है।'

रामविलास को मेले-ठेले बहुत पसंद थे। वह जहां भी जाता, मेले-ठेलों का मौका होने पर उनमें जाने का समय निकाल ही लेता। उसे उन में लोकजीवन के रंग मिलते, अपनी कविता के लिए नए बिंब मिलते। भगौरिया (भीलों का प्रणय उत्सव) के मेले में लौटने पर उसने एक कविता लिखी। उस कविता में वह फागुन की शाम को भील की ब्याहातुरा नौजवान बेटी बना देता है और सूरज को उसका प्रेमी जिसकी बांह थामकर वह मेले से सटक जाती है। उसे झाबुआ जाने का मौका मिलता तो वह कट्ठीबाड़ा गांव जरूर जाता जहां काजू के पेड़ हैं, आसपास सागौन, आम और महुआ के वन हैं। वहां जब सूर्य डूबता तो उसे लगता कि किसी आदिवासी स्त्री के माथे पर शीश फूल लटक रहा है, ताड़ के पेड़ की ओट से निकलने वाला चांद उसे पैट्रोमैक्स जैसा दिखाई पड़ता जब वह बुंदेलखंड की यात्रा पर होता तो उसे गांवों के शीशम की टहनियों से गुजरने वाला हवा सनसनाहट पैदा करने वाली लगती-आल्हा गाती हुई। छत्तीसगढ़ में विवाह की एक रीत है उढ़रिया। युवक और युवती के भागकर विवाह करने वाली रस्म। रामविलास शर्मा बिलासपुर गया है अपने मित्र प्रमोद वर्मा से मिलने। एक आदिवासी लड़की प्रमोद के चपरासी के साथ उढ़रिया आई है। चपरासी का नाम दुःखीराम है- प्रमोद कहता कि देखो पत्नी लाया है उढ़रिया और कहलाता है दुःखीराम। रामविलास शर्मा का दुःख रोज सबेरे दुःखीराम को देखकर बढ़ जाता। दुःखीराम सबेरे संडास में घुसता कि बाहर। यहां रामविलास घंटों मशक्कत कर रहे हैं- प्रारंभ, प्रयत्न, प्रत्याशा, नियतापत्ति की कार्यावस्थाएं बीत चुकी हैं पर फलागम का कहीं पता नहीं। रामविलास ने दुःखीराम को सुखीराम कहना शुरू कर दिया। प्रमोद के कार्यालय में एक पंखा पुलर था। चूड़ी पहनाकर वह दूसरी बीबी लाया था। नौ महीने भी नहीं बीते थे कि वह लड़कौरी हो गई- रामविलास ने छत्तीसगढ़ की ग्रीष्म ऋतु और चूड़ी पहनकर आई लड़कौरी को अपनी कविता में एक कर दिया-

इस नगर में/ ग्रीष्म की सुबह/ छत्तीसगढ़ की आदिवासी लड़की की तरह/ पलक झपकते हो जाती है जवान/ और किसी मनपसंद छैला से/ चूड़ी पहन चल देती है उसके साथ/ दरवाजा खोलकर देखते हैं आप/ आंगन में/ घुटनों चलती मासूम दोपहर/ ताक रही टुकुर टुकुर।

रामविलास प्रकृति का मानवीकरण नहीं करता, मानव जगत का प्राकृतीकरण करता है। वह प्राकृत कवि था। वह प्रकृति को मानवीय व्यापारों से उदाहृत नहीं करता, मानवीय जीवन को प्रकृति के बिंबों से समझना और समझाना चाहता है। वह घूमता था क्योंकि वह बेचैन आत्मा था- वह अपने भीतर से बाहर आना चाहता था। अपने को भूलने के लिए- वह समूह को अपनाकर लेना चाहता था, वह स्वयं समूह हो जाना चाहता था। वह 'सब्जेक्ट' और 'आब्जेक्ट' के द्वैत को मिटाकर एक कर देना चाहता था। उसकी मित्रमंडली उसे सार्थकता प्रदान करती थी- प्रकृति भी उसकी मित्र-मंडली में शामिल थी।

1972 में जब मैं मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादेमी के लिए 'नई कविता' नामक अपनी पुस्तक लिख रहा था, तब मैंने रामविलास शर्मा को भी उसमें स्थान दिया। उसमें डॉ. रामविलास शर्मा भी थे। 'तार सप्तक' का कवि होने के कारण। मैं आगरे के मार्क्सवादी डॉ. रामविलास शर्मा को मालवा के रामविलास शर्मा से कैसे अलगाऊं? दोनों मुक्तिबोध के मित्र, दोनों प्रकृति के कवि। तब तक मालवा के कवि रामविलास शर्मा की न तो कोई पुस्तक छपी थी, न ही उसकी कोई पहचान बनी थी। 'रामविलास शर्मा की कविताएं', 'रामविलास शर्मा का प्रकृति-काव्य' या इस जैसा कोई भी शीर्षक मेरे विवेचन को, 'रूपतरंग' डॉ. रामविलास शर्मा के खाते में डाल देता।

रामविलास शर्मा मुझे एक किस्सा सुना चुका था। उसकी कोई कविता नागपुर के 'लोकमत' में छपी थी। जब बहुत दिनों तक उसका कोई पारिश्रमिक नहीं आया तो उसने संपादक को पत्र लिखा। उत्तर आया कि आपके पारिश्रमिक की राशि फलां फलां नंबर के चेक से फलां दिनांक को आपके आगरे के पते पर भेजी जा चुकी है रजिस्टर्ड डाक से। कृपया डाकघर से पता लगाएं। रामविलास शर्मा समझ गया। उसने समझ लिया कि उसका लिखा हुआ ही नहीं, उसकी कीर्ति और उसके खाते का धन भी उसके सहनाम सीनियर डॉ. रामविलास शर्मा के खाते में जमा हो रहा है। उसने डॉ. रामविलास शर्मा को पत्र लिखा- उसकी प्राप्य राशि सही पते पर आ गई। मैंने इस व्यावहारिक कठिनाई को हल करने का आसान तरीका ढूंढा- लगभग ग्रामीण। मालवे के रामविलास शर्मा के नाम के कोष्ठक में मैंने लिखा- (डॉक्टर नहीं) और आगरे के रामविलास शर्मा के नाम के पहले लिखा डॉक्टर। मैंने 'नई कविता' (1972) में 'तार सप्तक' के डॉ. रामविलास शर्मा के नाम के साथ यह टिप्पणी दी थी- 'प्रसिद्ध आलोचक और 'निराला' के जीवनीकार आगरा निवासी डॉ. रामविलास शर्मा के अतिरिक्त मालवा के रामविलास शर्मा भी नई कविता के कवि हैं। दोनों का अंतर स्पष्ट करने के लिए मैंने 'तार सप्तक' में संकलित रामविलास शर्मा को (डॉ.) और मालवा के रामविलास शर्मा को (डॉक्टर नहीं) लिखा है।' इसके बाद रामविलास शर्मा द्वय में अंतर करने का यह नुस्खा पेटेंट हो गया। हरिशंकर परसाई ने जब 'जाने पहचाने लोग' में रामविलास शर्मा की मृत्यु का अपना संस्मरण लिखा तो शीर्षक दिया (अ डॉक्टर)। रामविलास शर्मा के ऐसे ही एक प्रसंग का उल्लेख डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपनी पुस्तक 'रामविलास शर्मा : व्यक्ति और काव्य' के संदर्भ में किया है। श्रोत्रिय की यह पुस्तक खूब बिकी। श्रोत्रिय को आश्चर्य हुआ। स्वाभाविक था। पता चला कि सारे प्रगतिशीलों, सारे जनवादियों, सारे वामपंथियों ने उनकी यह पुस्तक 'अपने' रामविलास शर्मा पर लिखी पुस्तक समझकर खरीदी भी, खरीदवाई भी।

यह वह समय था जब हिंदी के व्यावसायिक पत्रों में उसकी कविताएं यदाकदा ही प्रकाशित होती। वह कवि-सम्मेलनों में भी कम ही जाता। वह एक तरह से मित्रों और गोष्ठियों का कवि था। उसके मित्र और साहित्यिक बंधु उसकी कविताओं पर सौ जान से फिदा थे। अभी तक हिंदी कवि या तो अध्यापक होते थे या पत्रकार और संपादक। कुछ वकील जैसे लोग भी थे। 'निराला' हिंदी के पहले 'होलटाइमर' कवि हैं। उन्होंने कभी न नौकरी की, न ही जीविका के लिए कोई धंधा। रामविलास शर्मा (डॉक्टर नहीं) इस अर्थ में हिंदी कवियों में असामान्य है कि वह लिखने-पढ़ने या बुद्धि से काम लेने वाले किसी पेशे से संबद्ध नहीं था। उसके पहले मदन वात्स्यायन (तीसरा सप्तक) ही एकमात्र ऐसा कवि है जो उर्वरक कारखाने में रसायन शास्त्री था। वृत्ति विशेष की विशेषता

साहित्यकार के रचना जगत को प्रभावित करती है और उसे अपना एक व्यक्तित्व भी प्रदान करती है। मदन वात्स्यायन यदि सिंदरी का कवि था तो रामविलास (डॉक्टर नहीं) बस डिपो का। प्रभाकर श्रोत्रिय ने बहुत से अच्छे काम किए पर जो सबसे अच्छा काम किया, वह था म.प्र. साहित्य परिषद् के सचिव के रूप में 1978 में रामविलास शर्मा के प्रथम काव्य संग्रह 'कविता में सुबह' का प्रकाशन। यदि यह संकलन न छपा होता तो एक अच्छा कवि गुमनामी के अँधेरों में खो गया होता। रामविलास शर्मा ने दो बार अपनी कविताओं का संग्रह तैयार किया पर जैसा कि उसने लिखा- 'पहला संग्रह दस बरस पहले (यानी 1968 में) ही तैयार हो गया था पर वह छापेखाने तक पहुंचने के पहले ही गुम हो गया। पांच बरस बाद तैयार की गई प्रेस कॉपी का भी यही हथ्र हुआ। दोस्तों की कृपा।' इसी बीच रामविलास मौत के मुंह में पहुंच गया। पुर्जा-पुर्जा होकर भी नागपुर के इंटेसिव केअर वार्ड में न वह हारा, न ही उसने मौत को पीठ दिखाई। यार ने लिखा- 'जिंदगी-जिंदगी है और कविता-कविता।' कहते हैं मानव शरीर में 206 अस्थियां होती हैं। नागपुर में रामविलास के पूरे शरीर का एकसरे हुआ। अस्थियों की संख्या 300 से कुछ ज्यादा ही निकली। पूरे शरीर में यदि कुछ साबुत मिला तो बस उसका दिल था क्योंकि दिल में हड्डियां नहीं होतीं। दुर्घटनाग्रस्त रामविलास को चादर में बांधकर ही मेडिकल कालेज में पहुंचाया जा सका था। मित्रों ने उसे पेइंग वार्ड में भर्ती करवाया। भाऊ समर्थ वहीं नागपुर में थे। सबसे पहले वही पहुंचे। रामविलास को जब होश आया तो देखा-वार्ड की दीवारें सूनी थीं। भाऊ को लगा कि कुछ करना चाहिए। 'मेरा यहां अकेले में मन नहीं लगता।' मन लगता भी कैसे? बचपन से अब तक तुमने इतना सन्नाटा देखा ही कब था? परसाईजी जब तक नागपुर पहुंच गए थे। अधिकांश समय वे या भाऊ रामविलास के वार्ड में ही रहते पर कभी न कभी तो उन्हें भी बाहर आना ही पड़ता। भाऊ ने एक उपाय ढूंढा। भाऊ ने बड़े आकार की अपनी तीन पेंटिंग उसके कमरे में टांग दीं- सिरहाने की तरफ की दीवार को छोड़कर। अस्पताल के अधिकारियों से अनुमति लेनी पड़ी। रामविलास सालेक से ज्यादा उस गहन इकाई में कैद रहा- प्रकृति वहां नहीं थी, मनुष्य भी वहां उतने नहीं होते जितनों का रामविलास अभ्यस्त था पर भाऊ के चित्रों में प्रकृति भी थी, मानव जीवन भी था। चित्रों के चटख रंग रामविलास की प्रकृति के अनुकूल थे। भाऊ के चित्रों को वैसा प्रमाण पत्र और किसी ने नहीं दिया जैसा रामविलास ने दिया था। रामविलास ने कहा था- भाऊ के चित्र मेरी बाते सुनते हैं और मैं भाऊ के चित्रों की। रामविलास का पूरा जीवन ही 'इंटेसिव केअर वार्ड' में बीता- वहां भी उसे उसके मित्रों ने ही संभाला। भाऊ ने लिखा- 'आप और हम आपसियों को संभाल नहीं देंगे तो कौन देगा?'

रामविलास कवि था, गद्यकार भी था। उसने कुछ कहानियां भी लिखीं थीं, यात्रा विवरण लिखने में वह माहिर था। वह समीक्षक भी था। उसे मराठी आती थी, उसने भाऊ समर्थ की कई कहानियों का हिंदी अनुवाद भी किया था। अनुवाद में भी उसका कवि रूप छिपाए नहीं छिपता था। 'लाखनी में मई का धधकता महीना। खदबदाती धरती और आग उगलती धूप।' अनुवाद में भी वह बोलचाल के ठेठ देशज शब्दों का ठीक वैसे ही प्रयोग करता जैसा अपनी कविताओं में। 'एक स्थान पर कुछ लोग झांकरे जलाते बैठे थे', 'मेरी नानी ने मजाक में मुझसे कहा कि फोकट खाता है', 'अमेरिका में हिप्पियों के कैप शहर से बाहर हकाल दिए गए।' रामविलास अपनी कविताओं में चित्र बनाता था ठीक भाऊ के चित्रों की तरह। रामविलास के शब्द में रंग बिखरते थे और भाऊ के रंग अर्थ।

वह भाऊ का अंतरंग था। उसने भाऊ के साथ ठहाके लगाए, फीकी कड़क चाय पी। इंदौर में रामविलास ने भाऊ का सम्मान समारोह आयोजित किया 88 में। इस समारोह में मुझे भी जाना था। मैं नहीं जा पाया। रामविलास ने 1 मार्च 88 को मुझे लिखा- 'इस बीच भाऊ समर्थ सम्मान समारोह में व्यस्त रहा। कार्यक्रम सानंद संपन्न हो गया। भाऊ के 14 पेंटिंग बिकवाए। आप आते तो और भी सुख मिलता।'।

जब मैंने उसे अन्य कवियों के साथ ग्वालियर के कमला राजा कन्या महाविद्यालय में कविता पाठ के लिए आमंत्रित किया तो वह हजार डेढ़ हजार लड़कियों की भीड़ में नीले सालू वाली अपनी पुरानी कुड़ी को यहां से वहां तक खोजता रहा। पर बचपन की गुमी हुई कुड़ी भला कहीं मिलती है जो उसी को मिल जाती। उसने वहां अपनी कविताएं सुनाई थीं बहुत डूबकर। उसकी कविताओं में प्रेम के या सौंदर्य के प्रत्यक्ष चित्र नहीं होते थे, बिंबों के माध्यम से वह प्रेम और सौंदर्य की प्रभावी छवियां उकेरता था। कविता गोष्ठी समाप्त होने पर रामविलास मेरी विकी (मोपेड) पर मेरे साथ मेरे घर आया। टोंटे की बजरिया। यह क्या नाम हुआ? अब मुहल्ले के नामों पर मेरा कोई बस नहीं था। मैंने कहा, धीरे बोल। मैं ग्वालियर रियासत के रिटायर्ड आई.जी. पुतूसिंह साहब का किराएदार हूं। तूने उनके या उनके मुहल्ले का नाम की हँसी उड़ाई तो मानहानि के आरोप में वे मुझे भीतर करवा देंगे। उन्होंने चंबल के न जाने कितने डाकुओं को फर्जी मुठभेड़ में धराशाई किया है। तू भी किसी डाकू से कम है क्या? आज की कमला राजा की न जाने कितनी लड़कियों को तूने अपनी मोहनी मूरत और गोरी हँसी से अगुआ कर लिया है। उसने जोरदार ठहाका लगाया। उसके ऐसे ठहाकों को सुनकर भाऊ समर्थ विचलित हो जाते थे- कहते- 'उसकी मुक्त हँसी के पीछे दुःखों का पहाड़ ढंका रहता है।' वह साधना से मिलना चाहता था। बोला- भाभी, आपसे मिलकर नहीं जाता तो अगली बार मेरा पत्ता कट जाता। साधना ने कहा- खाना खाकर जाइएगा। बोला, नहीं भाभी मेरी बस चार बजे है। आधा घंटे में मुझे बस स्टैंड पहुंचना है। मेरी सीट सुरक्षित होगी। आखिर डिपो मैनेजर हूं न! फिर हँसकर बोला- भाभी, ये आपको कभी अपने कॉलेज ले गया है या नहीं? भाभी, आपको चौकस रहना चाहिए। साधना ने कहा- मैं तो रोज ही वहां जाती हूं। मैं वही पढ़ाती हूं। वह अपनी बात को खूबसूरत मोड़ देकर बोला- मेरे इसके जैसे भाग्य कहां? साल में एकाध बार भी मुझे कन्या रत्नों के महाविद्यालय में आने का सुअवसर मिलता रहे तो मेरे अहोभाग्य। अगले साल में फिर आपके पतिदेव के महाविद्यालय में आना चाहता हूं। साधना उसका परिहास समझ गई। वे हिंदी कवियों के कन्या महाविद्यालयों में आने की ललक से परिचित थीं। वे हँसी तो बोला, देखा, भाभी कितनी खुश हो रही हैं। ऐसा अतिथि कब-कब आता है जो न घर में ठहरता है, न ही कुछ खाता है। फिर बोला- अगले साल की मेरी बुकिंग पक्की। मैं उसे कंपू बस स्टैंड तक छोड़ने गया। वह खुश था- मित्रों से मिलकर उसे खुशी होती थी, कविताएं सुनाकर उसे अच्छा लगता था। उसकी खुशी उसके ठहाकों में गूंजती थी। जैसे भी उसकी कविता की तरह उसके व्यक्तित्व का स्थायीभाव प्रसन्नता था। थोड़े बहुत संचारी भाव किसके जीवन में नहीं होते? जीवन के दुःखों को वह संचारी ही मानता था।



साहित्य साधक शिवप्रसाद सिंह

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

शिवप्रसादजी मुझे 'विश्वनाथजी' न कहकर 'बिस्नाथजी' कहते थे। एक भाषा पंडित द्वारा उच्चारण का यह लहजा पहली मुलाकात से आखिरी मुलाकात तक बरकरार रहा। यह उनके भीतर के 'गांव' की अभिव्यक्ति थी। शिवप्रसादजी ने साहित्य, इतिहास, दर्शन और शास्त्र की मोटी-मोटी पुस्तकें जरूर पढ़ीं थीं पर वे गांव से ठेठ आदमी। रहे भी जीवन भर बनारस में ही जो शहर नहीं एक गांव ही है। इस महागांव को वे छोड़ना नहीं चाहते थे क्योंकि यह उनके मानस के अनुकूल था। उनके समय के विश्वविद्यालय अध्यापक प्रोफेसरी के लिए बहुत बेचैन रहा करते थे। इस परमपद के लिए वे जाने कितनी-कितनी कुर्बानियां करने को तैयार थे। कुछ तो अपना क्विंटल भर साहित्य बक्सों में भरकर रिटायरमेंट के समय तक इंटरव्यू देते रहते थे और सफल हो जाने पर अपना परिवार तथा पुरखों की धरती छोड़कर किसी भी दुर्गम स्थान पर चले जाते थे। शिवप्रसादजी ने ऐसा नहीं किया इसीलिए उन्हें प्रोफेसर का पद बहुत देर से मिला। एक बार जोधपुर में उन्हें प्रोफेसर पद आफर हुआ था और नामवर सिंह तक ने उन्हें वहां जाने की सलाह दी थी (जिसका मैं भी साक्षी हूँ) लेकिन वे नहीं गए। शिवप्रसादजी बनारस से ऊपर-ऊपर नहीं, कहीं बहुत गहरे जुड़े थे जिसके प्रमाण हैं उनके तीन उपन्यास जो काशी के अतीत और वर्तमान के शोधपरक आख्यान हैं।

गांव शिवप्रसादजी की रचना के केंद्र में है, बल्कि यही उनकी रचनात्मक ऊर्जा है। अपने ग्राम आधारित उपन्यासों- कहानियों के कारण आलोचकों-पाठकों द्वारा वे आंचलिक कथाकार के रूप में रेखांकित किए गए। उनका उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' पर्याप्त चर्चा में रहा। उनका व्यक्तित्व गांव के आदमी जैसा था- वैसी ही साफगोई और खरापन, सादगी और सहजता तथा निश्चितता और भावुकता। वैसी ही भाषा और भूषा। शहरी आभिजात्य, कृत्रिमता, छिपाव और दिखावा से वे दूर थे। मिलने वाले के सामने वे सब कुछ प्रकट कर देते थे। भीतरी गुस्सा, आक्रोश, ईर्ष्या, द्वेष, राग, विराग सब कुछ। बोलते समय उनकी आँखों में और चेहरे पर सारा भाव साकार होता रहता था। वे कंठ से नहीं उसके दस इंच नीचे से बोलते थे। आवाज में सांस का कोमल स्वर। फिर हँसते हुए और बड़ी-बड़ी आंखों से वे रही सही अभिव्यक्ति पूरी कर देते। लुंगी और बंडी पहले तथा पालथी मारे या एक कोहनी के सहारे तिरछे लेटे, साथ ही पनडब्बा खोलकर पान लगाते हुए बोलना और पान का बीड़ा मुंह में दबाकर देर तक 'हूँ हूँ' करते रहना उनकी सहज अदा थी।

ठीक-ठीक याद नहीं, शिवप्रसादजी से मैं पहली बार कब मिला। अनुमानतः 1964-65 का कोई

दिन रहा होगा। तब वे दुर्गाकुण्ड के सामने कामाकोठी में संभवतः किराए के मकान में रहते थे। 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' और 'ज्ञानोदय' आदि पत्रिकाओं में उनकी रचनाएं बहुत महत्व के साथ छपा करती थीं। साहित्य के बीज भीतर अंकुरित होने के कारण मुझे ऐसे लेखकों से मिलकर सुख मिलता था। मैं जब भी वाराणसी जाता और कभी-कभी तो लेखकों से मिलने के लिए ही जाता, शिवप्रसादजी से जरूर मिलता था। वे मुक्त स्वभाव के मुखर व्यक्ति थे अतः उनकी बातों में रस मिलता था। 1964-65 के बाद से मेरी भी रचनाएं 'ज्ञानोदय' में छपने लगी थीं। उस समय 'ज्ञानोदय' का प्रकाशन कार्यालय वाराणसी में दुर्गाकुंड पर ही था, जहां वे रहते थे। 1969 में मेरा एक बहुचर्चित लेख 'ज्ञानोदय' में छपा- 'साठोत्तरी पीढ़ी के नाम'- जिस पर आगे कई अंकों में लंबे-लंबे पत्र छपते रहे। शिवप्रसादजी ने लेख की बहुत तारीफ की और उसके बाद मुझे विशेष महत्व देने लगे। उसी वर्ष 20 जून को एक भयानक ट्रेन दुर्घटना में मैं भी फंस गया था, जिसमें घायल तो नहीं हुआ पर मैं बनारस से ही लौट रहा था। उस समय मोबाइल का आविष्कार नहीं हुआ था, अतः मेरे बच जाने की सूचना उन्हें देर से मिली। उन्होंने चिंता में पत्र लिखा था। उनसे मेरा तो मिलना-जुलना जारी था ही मेरे एक साथी अरुणेश उनसे बराबर मिलते रहते थे जिनसे वे मेरी चर्चा करते रहते थे। 1978 में मैंने साहित्यिक पत्रिका 'दस्तावेज' निकालना शुरू किया जिसके अनेक अंक शुरू में बनारस से ही छपे। इसके लिए मुझे अकसर बनारस जाना पड़ता था और हर यात्रा में उनसे मिलना भी हुआ करता था। 1979 में दस्तावेज का तीसरा अंक छपना था। दुर्गाकुंड के पास ही विजयानगरम् कोठी में बाबूलाल फागुल्ल रहते थे जिनका प्रेस था- महावीर प्रेस- और जो शिवप्रसादजी की भी कई पुस्तकों के मुद्रक थे। मेरे कहने पर शिवप्रसादजी मेरे साथ उनके पास भी गए ताकि वे छपाई आदि में मुझे कुछ रियायत कर सकें। 1981 में लखनऊ में प्रेमचंद समारोह था, संभवतः सूचना विभाग की ओर से, जिसमें नामवर सिंह, विष्णुकांत शास्त्री आदि काफी लेखक आए थे। शायद अमृतराय भी थे। उस समय दस्तावेज अंक 9 में शैलेश मटियानी की एक टिप्पणी छपी थी जिससे शिवप्रसादजी नाराज थे। वे उसके विरुद्ध कुछ लिखने वाले थे लेकिन उन्होंने भेजा नहीं।

1981 के बाद का लगभग सात आठ वर्षों का समय शिवप्रसादजी के लिए कठिन समय था। उनकी व्यक्तिगत-पारिवारिक समस्याओं ने उन्हें अंतर्मुखी बना दिया था। उनका पूरा व्यक्तित्व ही बदल गया था। उनकी जिंदादिली, उनकी मुखरता खत्म हो गई थी। वे लगभग मौन रहने लगे थे और किसी से भी मिलना-जुलना नहीं चाहते थे। ये वही दिन थे जब वे अपनी प्रिय बेटी मंजू के गुर्दे के इलाज के लिए संघर्ष कर रहे थे। अपने अथक प्रयासों के बाद भी वे बेटी को बचा नहीं सके और 1984 में मंजूशिमा की मृत्यु हो गई।

इस दारुण घटना के बाद तो शिवप्रसादजी काफी समय तक मौन रहे और उनका व्यवहार असामान्य हो गया। ऐसा अकसर होता कि मिलने वाला सामने बैठा है और वे न उससे बात कर रहे हैं, न अपने चेहरे पर कोई भाव प्रदर्शित कर रहे हैं, बल्कि एक भटकशून्य आदमी की तरह शून्य में निगाहें गड़ाए खामोश घूर रहे हैं। कभी-कभी उनका यह रूप इतना डरावना हो जाता जैसे आप किसी तांत्रिक के सामने बैठे हों। इस प्रसंग में सबसे दुःखद यह है कि उनकी यह स्थिति उनके विरोधियों को मुदित करने वाली थी और वे टिप्पणी करते थे कि शिवप्रसादजी 'डीरेल' अर्थात् पगला गए हैं। उनके साहित्य सहचर तरह-तरह के दुष्प्रचारों से उन्हें आहत करते रहते थे और यह

संवेदनशील होने के कारण शिवप्रसादजी हर छोटे-छोटे समाचार का, चाहे वह अखबार में छपा हो या किसी साहित्य गोष्ठी में उछला हो या किसी व्यक्ति द्वारा मिर्च मसाला लगाकर गढ़ा गया हो, गंभीरता से नोटिस लिया करते थे। इससे उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा जिसकी चर्चा उनसे मिलने वाले किया करते थे। इस बीच मैं भी दो-एक बार उनके यहां गया पर उनकी हालत देखकर उनसे मिलने का उत्साह ठंडा हो गया। पाठक इस पूरे प्रसंग की त्रासद कथा उनके उपन्यास 'मंजुशिमा' में पढ़ सकते हैं जिसमें उनके साहित्यिक विरोधियों के अमानवीय व्यवहार के भी संकेत हैं जिसके बारे में बाद में वे बताते भी रहे। ईश्वर को धन्यवाद कि शिवप्रसादजी इस मानसिक विचलन के कुछ ही वर्षों में मुक्त हो गए और इस मनःस्थिति में भी उनका रचनात्मक मन अपने उपन्यासों के लिए सामग्री जुटाता रहा। 'मंजुशिमा' तो इसका प्रमाण है ही अन्य उपन्यासों में भी इस अवधि की पूंजी सहायक हुई होगी।

1987 के बाद फिर शिवप्रसादजी से मेरी मुलाकातों का सिलसिला शुरू हुआ जो उनके अंतिम समय तक चलता रहा। अक्टूबर, 1987 में काशी विद्यापीठ में मैथिलीशरण गुप्त पर आयोजन था जिसमें मैं भी गया था। गोष्ठी के बाद वे बाहर बैठे थे। किसी से संदेश देकर मुझे अंदर से बुलाया और बोले, 'अब मैं रिटायर होने वाला हूँ।' इस एक वाक्य में कई ध्वनियां थीं। एक तो यह कि क्या अब भी मेरा संपर्क उनसे बना रहेगा और मैं उन्हें वैसा ही महत्व देता रहूंगा? मैंने कहा, 'आपके प्रोफेसर रहने, न रहने से क्या फर्क पड़ता है? क्या आपसे मेरा संबंध इसलिए है कि आप 'बड़काभारी' प्रोफेसर हैं?' शिवप्रसादजी अपनी स्वाभाविक अदा में 'हूँ हूँ' करके सिर हिलाने लगे।

फरवरी 1988 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में मैथिलीशरण गुप्त पर आयोजन था। मैंने विषय प्रवर्तन किया- 'राष्ट्रीयता का संदर्भ और मैथिलीशरण गुप्त'। वे गोष्ठी के अध्यक्ष थे। मंच पर बगल में बैठे थे। जब मैं विषय प्रवर्तन करके लौटा तो मेरे कान में बोले, 'आपने तो मेरा सारा मैटर ही ले लिया। अब मैं क्या बोलूंगा?' इस बात को उन्होंने अध्यक्षीय भाषण में सबके सामने भी दुहराया। मुझसे कहने लगे, 'मैं जब बोलता हूँ, मेरा ब्लड प्रेशर बढ़ने लगता है। मैं इतने कनविकसन के साथ बोलता हूँ कि क्या करूँ?' यह बात शिवप्रसादजी ने सही कही थी। वे भीतर से इन्चाल्व होकर बोलते थे। मैंने कई बार उनका व्याख्यान सुना है। कभी-कभी तो वे बहुत अच्छा और लंबा भी बोलते थे लेकिन कभी-कभी अति संक्षिप्त। जब वे आवेश में बोलते थे तो उन्हें सुनना दिलचस्प होता था। वे स्वयं बताते थे कि एक बार साहित्य अकादेमी, दिल्ली के मंच पर माइक के सामने पहुंचकर वे अवाकू हो गए। बिना एक भी शब्द बोले कुछ मिनट खड़े रहे और फिर नीचे उतर आए। सारी सभा उनके इस व्यवहार से स्तब्ध थी।

अपने उपन्यास 'नीलाचांद' पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार पाने के बाद उनकी मानसिक स्थिति में एक स्पष्ट परिवर्तन लक्षित हुआ। मन की एक ग्रंथि से वे मुक्त हो गए। व्यवहार और बातचीत में और भी सहज हो गए। मैं दिल्ली के गोमती गेस्ट हाउस में रूका था। शिवप्रसादजी भी किसी प्रसंग में दिल्ली में थे। उन्हें पता चला तो अशोक माहेश्वरी के साथ आए। उस समय परमानंदजी भी वहां थे, विजयदान देथा और मोहनगुप्त भी। शिवप्रसादजी नकल उतार-उतारकर घंटों खुलकर बोलते रहे। निश्चय ही अकादेमी पुरस्कार ने उनमें आत्मविश्वास भर दिया था।

1991 में मेरी कविताओं का चौथा संग्रह छपा- 'आखर अनंत'। उसी समय 'दस्तावेज-50' भी

प्रकाशित हुआ। दिल्ली में मनोहर श्याम जोशी और नामवर सिंह ने इनका लोकार्पण किया। मैंने अपना संग्रह शिवप्रसादजी को नहीं भेजा था। नामवरजी से उनकी प्रतिद्वंद्विता रही। नामवरजी द्वारा संग्रह के लोकार्पण की खबर से वे प्रसन्न नहीं थे। मुझसे व्यंग्य किया। 'आप मुझे आलोचक नहीं मानते तो क्या कविता का पाठक भी नहीं मानते?' इसके दो-तीन माह बाद वे केडिया पुरस्कार में निर्णायक होकर देवरिया आए। अगले दिन गोरखपुर में 'दस्तावेज' की ओर से एक कार्यक्रम था जिसमें श्रीलाल शुक्ल, गोविंद चंद्र पाण्डेय और विद्यानिवास मिश्र थे। मैंने शिवप्रसादजी को भी बुला लिया। उस दिन मैंने लक्ष्य किया कि शिवप्रसादजी ने अपने व्याख्यान से श्रोताओं को सबसे अधिक प्रभावित किया। गोष्ठी के बाद जब वे चलने लगे तो मैंने अपना काव्य-संग्रह 'आखर अनन्त' उन्हें दिया। चार ही दिन बार डॉ. राजेंद्र प्रसाद पांडेय का बनारस से फोन आया कि शिवप्रसादजी उस संग्रह की कविताओं की बहुत तारीफ कर रहे थे। इसके हफ्ते भर बाद ही लखनऊ दूरदर्शन पर एक कार्यक्रम में उनसे फिर भेंट हुई। बच्चन सिंह और दूधनाथ सिंह भी थे। बच्चन सिंह ने भी बताया कि वे मेरी कविताओं की बहुत प्रशंसा कर रहे थे। इस कार्यक्रम में दूधनाथ सिंह अध्यापकीय शैली में बहुत बोल रहे थे। शिवप्रसादजी ने बीच में उन्हें कई बार टोका। वे अपने विचारों पर दृढ़ता से कायम रहते थे।

1992 में 'दस्तावेज' अंक 53 और 54 प्रेस में देने के लिए मैं वाराणसी गया था। अंक 53 शिवप्रसादजी पर ही केंद्रित था। इस संबंध में उनसे बहुत सारी बातें हुईं। इसी वर्ष कुछ दिनों बाद फिर एक मौखिक परीक्षा लेने मेरा वाराणसी जाना हुआ। उन्हें पटना जाना था, अतः राजेंद्र पांडेय से कह दिया था कि ज्यों ही मैं पहुंचूं, उनसे वे बात करा दें। पांडेयजी ने सबेरे ही उनसे बात कराई। उसी दिन विद्यानिवास मिश्र के कुलपति निवास पर केडिया पुरस्कार की बैठक थी जिसके निर्णायकों में श्रीलाल शुक्ल, रमेशचंद्र शाह, उषाकिरण खान और शायद कन्हैयालाल नंदन तथा शंकरलाल पुरोहित थे। वह पुरस्कार शिवप्रसादजी के उपन्यास 'नीला चांद' को ही दिया गया। घोषणा के समय मैं भी उपस्थित था।

शिवप्रसादजी के साथ वाराणसी में तथा अनेक संगोष्ठियों में मेरी मुलाकात होती ही रहती थी। उनके साथ बैठना और बातें करना एक सुखद अनुभव हुआ करता था। वे विभिन्न साहित्यकारों के बारे में, उनकी राजनीति तथा उनके अंतर्विरोधों और व्यक्तिगत प्रसंगों पर भी खुलकर बोलते थे। अनेक नई जानकारियां भी देते थे। नामवर सिंह और उनके गुट के कम्युनिस्ट लेखक शिवप्रसादजी के शाश्वत प्रतिपक्ष थे। उनके विचार और आचार के विरोधों की चर्चा वे अकसर करते थे। काशीनाथ सिंह के लड़के के विवाह का अवसर था। शिवप्रसादजी बोले, 'देखता हूं, ये लोग विवाह में मंत्रोच्चार कराते हैं या नहीं।' शिवप्रसादजी लोहियावादी थे और लोहियावादियों के प्रशंसक लेकिन लोहियावादियों का गढ़ इलाहाबाद था जिसमें रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण शाही, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि थे। बनारस में तो नामवरजी का संप्रदाय फैला था। वैसे तो राजनीति की ही तरह हर शहर में साहित्यिक गुटबंदियां भी होती ही हैं पर बनारस में संभवतः कुछ ज्यादा ही थीं और हैं। इसका एक कारण यह भी है कि बनारस में यूनिवर्सिटी के लड़कों को भी इस साहित्यिक गुटबंदी में शामिल कर लिया जाता है और प्रगतिशीलता के प्रसाद में वे अपने वरिष्ठों के प्रति विनयशील नहीं रह पाते हैं। शिवप्रसादजी के भीतर अपनी उपेक्षा का दर्द जीवन भर बना रहा लेकिन क्या ऐसा हजारी प्रसाद द्विवेदी को अपने समकालीनों के बीच नहीं महसूस होता रहा? और कुछ शताब्दी और पीछे जाएं तो

क्या तुलसीदास को बनारस ने कम यातना दी? तो बनारस का मौसम ही कुछ ऐसा है यारों! लेकिन यहां मुझे यह भी कहना चाहिए कि शिवप्रसादजी न तो तुलसीदास थे और न हजारीप्रसाद द्विवेदी।

शिवप्रसादजी की विशेष ईर्ष्या नामवरजी से थी। स्वाभाविक भी था, क्योंकि दोनों बनारस के थे, सहपाठी थे, एक ही गुरु के शिष्य थे, एक ही नाव के यात्री। दोनों के चेले चाटी भी इस आग को तेज करते रहते थे। मुझे एक घटना याद आती है, लखनऊ की। तब ठाकुर प्रसाद सिंह उत्तर प्रदेश सूचना विभाग के निदेशक थे। शिवप्रसादजी उनसे मिलने गए। मुझे कुछ अति आवश्यक काम था। मैंने शिवप्रसादजी से कहा कि उन्हें सूचना विभाग छोड़कर मैं चला जाऊंगा। जब हम ठाकुर प्रसाद सिंह के कमरे में दाखिल हुए तो वहां नामवर सिंह पहले से बैठे हुए थे। अचानक आमने-सामने होने पर नामवरजी और शिवप्रसादजी तो असहज महसूस कर ही रहे थे, ठाकुर प्रसादजी और मैं भी असहज स्थिति में था। मैंने जब शिवप्रसादजी से अपने चलने की बात की तो उन्होंने मुझे रोक लिया। जिस प्रकार दो प्रेमियों के बीच तीसरे की उपस्थिति असहनीय होती है उसी प्रकार दो प्रतिद्वंद्वियों के बीच तीसरे की उपस्थिति स्पृहणीय हो जाती है। बहरहाल, दोनों के बीच कुशल क्षेम और कुछ शीतल संवाद हुआ और मुझे जहां जाना था, न जा सका। इसका पटाक्षेप यों हुआ किया गया था मैं शिवप्रसादजी के साथ लेकिन सभा विसर्जन पर नामवरजी ने मुझे अपने साथ कुंवरनारायणजी के यहां चलने का प्रस्ताव कर दिया। निर्दलों और निर्बलों की यही नियति होती है।

शिवप्रसादजी से उनके घर पर जब भी मैं मिला, उन्हें अपने ड्राइंग रूम में दरी-चटाई पर चादर बिछाकर बैठा पाया। बगल में मसनद, पान का डब्बा, पीकदान और चारों ओर सजी हुई किताबें लुंगी-बंडी पहने हुए। लगता था चौबीसों घंटे इसी कमरे में, इसी तरह रहते हैं। वे पढ़ने-लिखने में अति व्यस्त रहते थे। एक समय ऐसा भी था जब उनके कमरे के सामने एक छोटा सा बोर्ड लगा था जिस पर उनके कमरे के सामने एक छोटा सा बोर्ड लगा था जिस पर उनसे मिलने का समय लिखा था। जैसे सरकारी अफसरों के कार्यालयों में लगा होता है। एक व्यक्ति ने यह भी बताया कि एक बार हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रातः टहलते हुए शिवप्रसादजी के घर पहुंच गए थे लेकिन बोर्ड देखकर बिना आवाज दिए वापस लौट गए। एक बार मेरे साथ भी ऐसा घटित हुआ। मैंने उनके कमरे के बाहर बोर्ड देखा तो वह समय उनके मिलने का नहीं था। फिर भी मैंने घंटी दबा दी। शायद उनकी लड़की ही बाहर निकली। इसके पहले कि वह कुछ बोले, मैंने अपना परिचय दिया जिसे शिवप्रसादजी अंदर से सुन रहे थे। वे अंदर से ही बोले, 'आइए, आइए।' सामने पड़ते ही मैंने उनसे कहा, 'बाहर का बोर्ड मैंने पढ़ लिया है। इसके नीचे एक पंक्ति लिखवा दीजिए- कि यह नियम बाहर से आने वालों पर लागू नहीं होगा।' शिवप्रसादजी थोड़ा झेंपे और कुछ दिनों बाद जब मैं दुबारा उनके यहां गया, वह बोर्ड हटा लिया गया था लेकिन इससे यह तो जाहिर है कि वे अनवरत काम में लगे रहना चाहते थे। लिखने-पढ़ने में किसी प्रकार का विघ्न उन्हें विचलित करता था। अपने कठिन श्रम से ही उन्होंने सब कुछ हासिल किया था। आज के किसी छात्र को आश्चर्य हो सकता है कि उनका शोध प्रबंध 'सूर पूर्व ब्रजभाषा' जैसी विषय पर था और बाद में मोटे-मोटे उपन्यासों- कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने अस्तित्ववादी विचारकों पर भी पुस्तक लिखी। अध्ययन का यह विस्तार कितना लंबा है। वे साहित्य के साधक थे, एक सेल्फमेड (स्वनिर्मित) व्यक्ति।

सर्वेश्वर होने का अर्थ

विष्णु नागर

बात 1971 की है, शायद मई महीने की। मैं दिल्ली आया था, यह सोचकर कि दिल्ली में कोई नौकरी करेंगे, हर कोई नहीं, पत्रकारिता से संबद्ध काम ही करेंगे। यहां मैं किसी एक को भी जानता नहीं था। जिनको जानता था, बस उनके नाम से जानता था। उनमें एक सज्जन कांग्रेस के राज्य सभा सदस्य थे, जो मेरे कस्बे के रहने वाले और जो हाल ही में वहां से लोकसभा का चुनाव हारकर यहां लौट चुके थे। इसके अलावा काल्पनिक सहायता का एक सहारा 'दिनमान' था, उसके कवि रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, श्रीकांत वर्मा और प्रयाग शुक्ल, जिन्हें मैं उनकी कविताओं के माध्यम से जानता था और सबसे ज्यादा भरोसा न जाने क्यों इन्हीं पर था। और उस भोलेपन में कुछ भी गलत नहीं था।

मैं पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर ही सुबह-सुबह नहा- धोकर और शायद वहीं कुछ खा- पीकर सीधे दिनमान पहुंचा था, जो तब-बहादुरशाह जफर मार्ग पर होता था। वही मैंने अपना छोटा सा पुराना-धुराना बैग दूसरी मंजिल के बाहर रखा और खाली हाथ अंदर चला गया। सबसे पहले सर्वेश्वरजी के बारे में पूछा। मुझे बताया गया कि वह वहां बैठे हैं। मैं बिना किसी संकोच के उनके पास चला गया क्योंकि संकोच करके दिल्ली के अँधेरे में रास्ता तलाश नहीं किया जा सकता था। सर्वेश्वरजी से कहा कि मैं आपकी कविताएं पढ़ता रहा हूँ और मेरे हिंदी के एक प्राध्यापक आपको हिंदी का सबसे बड़ा कवि मानते हैं, जो कतई सत्य था, झूठ नहीं था। यही कारण था कि मैं सीधे उनके ही पास गया था। सर्वेश्वरजी की टेबल पर उनके सामने जाकर बैठा। अपना नाम और कहां से आया हूँ, यह बताकर मैंने उनके सामने अपनी बहुत आरंभिक कविताओं की डायरी रख दी, क्योंकि मेरे पास इसके अलावा कोई दूसरी पहचान नहीं थी। मैं तब बीए अंतिम वर्ष की परीक्षा देकर आया था और उस समय भी जिस विश्वविद्यालय से डिग्री मिलनेवाली थी, उसकी कोई प्रतिष्ठा अकादमिक जगत में नहीं थी।

उन्होंने पूछा- तुम कहां रुके हो? मैंने कहा, अभी तो कहीं नहीं और अभी कुछ पता भी नहीं है कि कहां रुक सकूंगा। इतनी देर में रघुवीरजी से मिलकर कवि कमलेश बाहर आए और सर्वेश्वरजी के पास खड़े होकर कुछ बातें करने लगे। बातों- बातों में सर्वेश्वरजी ने उनसे कहा कि इस लड़के को रात को तुम्हारी बरसाती में सोने की जगह दे सकते हो, यह कुछ साहित्यिक भी है, कविताएं लिखता है। कमलेशजी ने मना नहीं कर पाए और तुरंत आज रात ही वहां आने का प्रस्ताव दे दिया।

नार्थ एवेन्यू का वह नंबर बता दिया, जहां वह किसी सांसद के फ्लैट की बरसाती में रहते थे। कमलेशजी के जन्म स्थान गोरखपुर से आया हुआ एक युवक भी उस समय वहीं रह रहा था। मुश्किलों दिनों का लगभग मेरी ही आर्थिक स्थिति का वह युवक मेरा मित्र जैसा बन गया। बाद में कहीं कोई सिलसिला न जमने के कारण वह लौट गया। उसका नाम अब याद नहीं, फिर कभी किसी संयोग से मुलाकात हुई भी नहीं। बाद में कुछ करके मैंने एक कमरे का इंतजाम दिल्ली की उस समय सस्ती जगह गांधी नगर में किया। कुठरिया का किराया बीस रुपये महीना था। बीच में किसी समय मां को ले आया। मां-बेटे के लिए दो तरफ सिर करके भी सोना मुश्किल था।

इस तरह सर्वेश्वरजी से मेरा पहला परिचय हुआ। मुझे दिल्ली आकर छोटी-मोटी नौकरी के लिए काफी भटकना पड़ा। एक बार घबराकर लौट भी गया था। फिर किसी भ्रम में पड़कर यहां आ गया तो फिर जमने के लिए ही आया था। अंत में सर्वेश्वरजी के ही एक संपर्क से मुझे दिल्ली प्रेस की 'मुक्ता' पत्रिका में प्रशिक्षु पत्रकार के रूप में 200 रुपये महीने की नौकरी मिली। वह नौकरी तीन महीने चली। फिर बेरोजगारी और 'दिनमान' ही सहारा था। वहां आते-जाते बिना नौकरी किए मैं सबको जानने लगा था और सब मुझे-संपादक से लेकर चपरासी गोविंद तक।

रघुवीरजी और सर्वेश्वरजी के बाद श्रीकांत वर्मा, प्रयाग शुक्ल, नेत्र सिंह रावत, विनोद भारद्वाज आदि से भी संबंध बना, जो मेरे लिए कई तरह से बहुत सहायक रहा। सर्वेश्वरजी में एक किस्म की बेतकल्लुफी थी। वह बड़े बेफिक्र से रहते-दीखते थे। समय भी उनके पास होता था। वह अपने हम उम्र श्यामलाल शर्मा तो बहुत छेड़ते रहते थे, जो आकाशवाणी के दिनों से ही उनके साथी थे और बहुत सीधे-सरल आदमी थे। किसी से मजाक करते समय एक किस्म की शैतान मुस्कुराहट उनके चेहरे पर होती थी। मजे-मजे में कई बार कुछ मजेदार से सुझाव दिया करते थे। सर्वेश्वरजी और नेत्र सिंह रावत के साथ बहादुर शाह जफर रोड से कई बार पैदल चलकर हम गपियाते हुए कनॉट प्लेस तक जाते थे, जहां सर्वेश्वरजी के मित्र मुद्राराक्षस मिलते थे और फिर ये दोनों वहां से चलकर जनपथ पर बने एक दक्षिण भारतीय कैफे में जाकर खाते-कॉफी पीते, बतियाते थे। उधर रावतजी मोहन सिंह प्लेस के कॉफी हाऊस चले जाया करते थे, जहां नए-पुराने लेखकों का जमावड़ा होता था। एक तरह से वह वामपंथी युवा लेखकों-कवियों का गढ़ था। जब मैं सर्वेश्वरजी के साथ होता तो डोसे या बड़े का आनंद लेकर रात के खाने का खर्च बचाता था।

एक बार सर्वेश्वरजी के साथ मैं टी हाऊस के सामने (जो तब कई और लेखकों के गपियाने का ठिकाना था और वहां कई छोटी पत्रिकाएं दरवाजे के पास एक कोने में मिलती थी) रेलिंग के सहारे खड़े थे कि परसाईजी पार्लियामेंट स्ट्रीट से अकेले ही कनॉट प्लेस की तरफ आते दीखे। उन दोनों ने एक दूसरे को देखा तो उनके बीच कुछ बातें हुईं। सर्वेश्वरजी ने परसाईजी से मेरा परिचय एक उभरते हुए कवि के रूप में करवाया, हालांकि तब मैं न उभर रहा था और न डूब रहा था। परसाईजी ने मेरे नमस्कार का जवाब दिया और फिर दोनों अपनी बातों में व्यस्त हो गए। यह परसाईजी से मेरी पहली मुलाकात थी और उसके बाद एक और मुलाकात हुई, जब मैं उनसे मिलने के उद्देश्य से जबलपुर गया। शायद 1985 की बात होगी, हालांकि मैं लगभग बचपन से ही 'नई दुनिया' में उनका स्तंभ 'देख कबीरा रोया' पढ़ता आ रहा था और आज भी उनका लिखा कुछ भी दुबारा-तिबारा पढ़ना भी मेरे लिए एक सुखकर अनुभव है।

सर्वेश्वरजी के कारण मुद्राराक्षस से भी अच्छा परिचय हुआ। सप्ताह के एक खास दिन सर्वेश्वरजी और रावतजी 10-दरियागंज स्थित टाइम्स ऑफ इंडिया के एक पुराने दफ्तर में जाते थे, जहां 'दिनमान' की छपाई आदि काम होते थे और जहां बाद में 'दिनमान' को स्थानांतरित कर दिया गया था। 'दिनमान' के आगामी अंक के अंतिम प्रूफ पढ़ने के लिए सर्वेश्वरजी और रावतजी जाया करते थे। कभी-कभी मैं वहां भी शाम के समय पहुंच जाता। जब वे काम से निवृत्त हो जाते तो फिर हम लोग फटफटे से कनॉट प्लेस रवाना होते। कभी मैं सर्वेश्वरजी के साथ रहता, कभी रावतजी के साथ।

सर्वेश्वरजी से मेरा व्यक्तिगत संबंध एक स्तर पर पारिवारिक भी बन गया था। उनकी दोनों बेटियां-विभा और शुभा- तब छोटी-छोटी थीं और सरदार पटेल स्कूल में पढ़ा करती थीं। सर्वेश्वरजी की पत्नी की मृत्यु मेरे दिल्ली आने से पहले हो चुकी थी और उनके साथ उन बच्चियों की नानी भी रहती थीं जो काफी बुजुर्ग थीं। एक बार वह अपने न्यू राजेंद्र नगर स्थित इस फ्लैट में कुछ दिन बीमार पड़े तो मैं लगभग नियमित रूप से उनके पास जाता। उनका मेरे प्रति स्नेह इतना अधिक बढ़ा उस समय कि उन्होंने एक बार भावुक होकर कहा कि तुम मेरे बेटे की तरह हो। सर्वेश्वरजी ने इस बीच मुझे अपने कुछ कविता संग्रह भी भेंट किए थे, जिसमें से एक पर मुझे याद है कि उन्होंने तुकबंदी करते हुए लिखा था मजे मजे में- गागर में सागर, भरते हैं विष्णु नागर।

बेरोजगारी और तंगी के दिनों में कई बार ऐसी नौबत आ जाती थी कि क्या खायें? जब में पैसा ही नहीं होता था। उम्र जवानी की और पेट एकदम खाली। खाने के लिए जब में दस रुपये भी नहीं। कई बार सर्वेश्वरजी से मैंने मांगे (तब दस रुपये से कम में भी खाना मिल जाता था)। सिर्फ एक बार उन्होंने किसी कारण से मना किया। अब या तो इसका कारण यह रहा हो कि वह घर से अपनी जरूरत भर पैसा लाए हों या लाना भूल गए हों और उन्होंने उस दिन का काम किसी साथी से कुछ मांगकर काम चलाया हो। वैसे याद आता है कि तब वे मुझसे कुछ नाराज चल रहे थे। इसका प्रभाव भी हो सकता है। कभी-कभी संवेदनशील आदमी से भी ऐसा हो जाता है।

गांधीवादी और बेहद सज्जन मटमैली सी खादी का कुर्ता-पायजामा पहनने वाले, झक सफेद बालों वाले, गोरें चिट्टे और कंधे पर हमेशा झोला टांगनेवाले देवदत्तजी (जिन्होंने गांधीजी की हत्या अपने सामने होते देखी थी) किसी तरह अपने प्रयासों से लघु पत्रिका टाइप अंग्रेजी की एक पत्रिका निकालते थे, जो बेहद सादा होती थी। संयोग से उसमें एक बार सर्वेश्वरजी की कोई कविता देवनागरी में छपी, जिसकी टोन 'इंदिरा गांधी' विरोधी थी। मुझे वह कविता पढ़ने को दी गई। मैंने उसे पढ़कर पत्रिका सर्वेश्वरजी के सामने रख दी। उन्होंने पूछा कि तुम्हें यह कविता कैसी लगी? मेरी आदत खास तौर पर रघुवीरजी के जनतांत्रिक रुख के कारण 'बिगड़' चुकी थी क्योंकि वह इसका बुरा नहीं मानते थे तो मैंने यही प्रयोग यहां भी यही दोहराते हुए कहा कि यह कविता इंदिरा गांधी के विरोध की दृष्टि से तो ठीक है लेकिन कविता के रूप में खास अच्छी नहीं। इसके बाद- जैसा कि दूसरे लोग भी सर्वेश्वरजी के स्वभाव के बारे में बताते हैं- वही मेरे साथ भी होना था। उन्होंने बहुत कड़ाई से कहा- 'अच्छा अब आपको भी मेरी कविता पसंद नहीं आने लगी'। मैंने कोई सफाई दी होगी लेकिन उन्हें वह स्पष्टीकरण स्वीकार नहीं हुआ और वह बहुत लंबे अरसे तक मुझसे नाराज रहे। उसके ठीक बाद अशोक वाजपेयी द्वारा संपादित 'पहचान' सीरिज-चार में मेरी भी एक छोटी

कविता पुस्तिका छपकर आई -‘मैं फिर कहता हूँ चिड़िया’ तो उसे बुरी तरह उधेड़ दिया। वैसे यह सही है कि मेरी कविताओं की तब प्रकृति सर्वेश्वरजी की कविताओं से बिलकुल मेल नहीं खाती थी। उनकी टोन बिलकुल क्रांतिकारी होने लगी थी और मेरी वे कविताएं बहुत ‘सबड्यूड’ थीं। शायद यह कारण रहा हो या उनकी नाराजगी रही हो, उन्होंने मेरे आरंभिक प्रयास की भूरी-भूरी निंदा ‘दिनमान’ में की। मेरे पहले प्रयास को मेरे सबसे निकट रहे वरिष्ठ कवि ने इस तरह देखा तो उनके साथ दूरियां बढ़ना स्वाभाविक था और रिश्तों में कुछ सुधार तब आया, जब मैं 1978 में मुंबई से वापिस दिल्ली स्थांतरित होकर ‘नवभारत टाइम्स’ में आया। उस समय जनता पार्टी की सरकार थी, जिसके समाजवादी मंत्री पुरुषोत्तम कौशिक, उड्डयन विकास मंत्री थे। उनके मंत्रालय को पत्रकारों का एक दल बोइंग विमान का कारखाना देखने सिएटल (अमेरिका) भेजना था। मंत्रीजी ने सोचा होगा कि क्यों न उसमें अपनी वैचारिक पसंद के पत्रकार और ज्यादातर हिंदी के पत्रकार भेजे जाएं? उनमें सर्वेश्वरजी तो थे ही, ‘नवभारत टाइम्स’ की तरफ से भी नाम चाहिए होगा तो मुझे ले जाने का प्रस्ताव उन्होंने किया। मैंने तुरंत हामी भर दी, हालांकि तब न मेरा पासपोर्ट था और न मैंने अपने संपादक अज्ञेयजी को यह बात बताई थी। खैर एक-दो दिन बाद ‘द टॉइम्स ऑफ इंडिया’ के उड्डयन संवाददाता के.एन. मलिक ने अपने अखबार में खबर लगा दी कि मंत्रालय ऐसे पत्रकारों को भेजने जा रहा है, जिन्हें उड्डयन का एबीसी नहीं पता तो मामला रह गया, मंत्रीजी आगे न बढ़ पाए। इस कारण मलिक साहब का जुगाड़ तो जम ही गया होगा। बड़ा अखबार, बड़े पत्रकार।

कभी-कभी वह मुझे पुस्तक समीक्षा के लिए दे दिया करते थे। एक बार शायद उन्होंने मुझे अपने प्रिय रहे मणि मधुकर की कोई किताब दी थी और एक बार मैं उनसे केदारनाथ सिंह का कई वर्षों बाद प्रकाशित कविता संग्रह ‘जमीन पक रही है’, ले आया था। मुझे इससे पहले उनकी कविताएं खासतौर पर ‘अभी बिलकुल अभी’ कविता संग्रह की कविताएं बहुत पसंद आई थीं और अपनी इसी पसंदगी के आधार पर मैं उनका यह नया संग्रह ले आया था। पता नहीं क्यों क्या सोचकर उन्होंने कह दिया कि उस पर लिख देना। शायद यह सोचकर कहा होगा कि यह केदारजी की कविताएं पसंद करता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से उनके संग्रह की तारीफ करेगा लेकिन उनका यह संग्रह पढ़ने के बाद मैं निराश हुआ। मैंने जिस तरह उसे पाया, लिख दिया और वह छप भी गया। उस समय मैं साहित्य संसार में एकदम नया था और केदारजी बेहद प्रतिष्ठित। खैर वह एक अलग पूरा किस्सा है और मैं उसे अन्यत्र लिख चुका हूँ।

सर्वेश्वरजी वैसे बड़े मजाकिया और बड़े हल्के-हल्के अंदाज में मुस्कराते रहने वाले व्यक्ति थे। ऐसा लगता था कि वह हमेशा उत्फुल्ल रहते थे। मिलने आने वालों से बड़ी तत्परता और गर्मजोशी से बातें करते थे, इसलिए उनका सम्मान उस समय के तमाम साहित्य-रंगमंच से जुड़े लोगों से था। उन्होंने जब ‘बकरी’ नाटक लिखा और उसका मंचन हुआ तो वह बेहद लोकप्रिय साबित हुआ। उनकी छवि एक विद्रोही किस्म के नाटककार की भी बनी। इसके अलावा उनका रुझान उस समय उग्र वामपंथ की ओर होने लगा था। उनकी कविता का तेवर रोमांटिक रूप से आक्रामक था। वह ‘दिनमान’ के रंगमंच समीक्षक भी थे और उनके साथ मुझे कई नाटक देखने का मौका मिला। मुझे याद है कि एक बार त्रिवेणी कला दीर्घा के खुले रंगमंच पर कोई नाटक हो रहा था। मैं और सर्वेश्वरजी थोड़ा पीछे थे और थोड़ा आगे साहू शांति प्रसाद जैन और उनकी पत्नी रमा जैन बैठी थीं। सर्वेश्वरजी

ने मुझसे थोड़ी धीमी और मजाकिया अंदाज में कहा कि शांति प्रसादजी चाहें तो तुम्हें अपने संस्थान में नौकरी दे सकते हैं।

सर्वेश्वरजी से फिर संबंध तो बने मगर वह गरमाहट नहीं रही, जो थी। कविता की कुछ समझ बढ़ी तो मुझे उनकी कविताएं बहुत पसंद नहीं आने लगीं। मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि मैं सर्वेश्वरजी की कविताएं पसंद इसलिए नहीं करता था कि वे मुझे कवि के रूप में नकार चुके थे। मुझे ही नहीं बहुतों को उनकी कविता का रोमानी मिजाज पसंद नहीं आता था। उनकी क्रांतिकारी सी कविताएं भी काफी रोमांटिक थीं। यह बात मैंने 'आजकल' के लिए उनकी कविताओं के समग्र संकलन कविता-1 व कविता-2 पर लिखते हुए कही लेकिन लंबे व्यक्तिगत संबंधों के कारण मैंने संपादक से कहा था कि मेरा नाम न दें लेकिन शायद सर्वेश्वरजी को उसका अंदाज था कि मैं ही वह आलोचक हूँ। वह मेरी लेखन शैली शायद पहचानने लगे थे या कहीं से पता लगा लिया होगा। वफादारी और गैरवफादारी की सीमा रेखा अपने विचारों की कीमत देकर भी निभाने में जो विश्वास रखते हैं, उनकी बात अलग है।

मुझे दुःख है कि सर्वेश्वरजी के 'पराग' का संपादक बनने से लेकर उनकी मृत्यु तक के काल (और उसके बाद भी) मैं विदेश में था। मुझे इस बात का अफसोस हमेशा रहेगा। मैं उन्हें अंत समय देख नहीं सका। संयोग से उनकी दोनों बेटियां उसी हाउसिंग सोसाइटी में रहती हैं, जहां मेरा परिवार रहता है। पत्नी और मेरे दोनों बेटों के उन दोनों बहनों से बहुत अच्छे रिश्ते हैं। सर्वेश्वरजी होते तो शायद वह भी यहां रहते और उनसे शायद एक नया, पड़ोसी वाला संबंध बनता। शायद मैं उन्हें ज्यादा समझ पाता।



बाबा नागार्जुन के साथ-साथ

वाचस्पति

‘जनतावादी’ कवि, मिथिला के जन-जीवन के कथाकर, यायावर बैद्यनाथ मिश्र ‘यात्री’ बाबा नागार्जुन की संगत मुझे फरवरी 1973 से अक्टूबर 1998 ई. की अवधि में बहुत सघनता से मिली। वे परिवार के मुखिया की तरह जब-तब लंबे प्रवास पर आकर साथ रहते रहे। उनसे तथा अन्य कवियों से आत्मीयता की डोर में बंधने की एक छोटी-सी अंतकथा है। बनारस-इलाहाबाद के बीच 1970 के आसपास ज्ञानपुर- महाविद्यालय में पत्रकार प्रवर बनारसी दास चतुर्वेदी अपने प्राचार्य पुत्र के साथ प्रवास पर थे। कवि त्रिलोचन के साथ उनके पास गया तो बातों के क्रम में बनारसीदासजी ने एक सवैया सुनाया। अंतिम पंक्ति ही याद रही जिससे जीने की दिशा बदल गई- ‘जे कवि हैं कोमल विरबा इनको कबहूँ कुम्हिलान न दीजै’ -चतुर्वेदीजी ने त्रिलोचन की विदाई के समय यह पंक्ति फिर सुनाई। इसकी अमिट छाप अब भी मेरे मन पर है।

अथ श्री नागार्जुन बाबा कथा : बाबा नागार्जुन से सर्वप्रथम भेंट का संयोग एक साहित्यकार सम्मेलन में मिला। बांदा से उनकी पीढ़ी के प्रमुख कवि केदारनाथ अग्रवाल काशी आए। यहां कवि धूमिल ने दिसंबर 1972 ई. में ‘त्रिलोचन अध्ययन केंद्र’-‘त्रिके’ नाम से एक बड़ी गोष्ठी का उद्घाटन-व्याख्यान उनसे कराया। केदार बाबू ने प्राध्यापक रणजीत के सहयोग से बांदा में 22 से 25 फरवरी 1973 ई. में आयोजित हो रहे ‘अखिल भारतीय प्रगतिशील साहित्यकार सम्मेलन’ की रूपरेखा विस्तार से बताई। काशी के स्थापित-नवोदित रचनाकारों को बांदा आने का न्यौता उन्होंने दिया। इस सम्मेलन में बनारस से कवि त्रिलोचन, धूमिल, छायाकार एस.अतिषल, अवधेश प्रधान, सुधेंदु पटेल, योगेंद्र नारायण, प्रभु झिंगरन, वीरेंद्र शुक्ल, हरिहर यती और मैं बांदा जाकर शरीक हुए। आयोजन में शामिल कुछ स्थापित बड़े नामों में हमारी दिलचस्पी थी- केदार बाबू के साथ नागार्जुन, मन्मथनाथ गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय, विश्वंभरनाथ उपाध्याय, चंद्रभूषण तिवारी आदि। देश भर से तमाम युवजन भी पहुंचे थे।

बांदा में आयोजन-स्थल आर्य कन्या इंटर कॉलेज का भवन था। पता किया तो मालूम हुआ कि बाबा नागार्जुन केदार बाबू के साथ ठहरे हैं। खपरैल के विशाल अहाते का पुरानी शैली का भवन। बाबा नागार्जुन बैठक में ही मिल गए। मुझसे पढ़ाई-लिखाई, घर-परिवार और बनारस में शिवप्रसाद सिंह, काशीनाथ सिंह के बारे में कुछ बातें कीं। बुंदेलखंड की हल्की ठंड में बाबा घुटने तक के काले सफेद चैक का कोट, मफलर लपेटे बाहर साथ निकलने को तैयार हुए। इस बीच मैंने अपनी

हस्तलिपि में बाबा के संग्रह 'सतरंगे पंखोंवाली' की कॉपी उनके सामने रखी। उन दिनों फोटोकॉपी की सुविधा महंगी थी। बाबा ने उलट-पुलटकर देखने के बाद शुरू के खाली पृष्ठ पर लिखना शुरू किया-

'इन रचनाओं का संकलन ('सतरंगे पंखों वाली') इस प्रकार कब अलग से प्रकाशित होगा, कहा नहीं जा सकता।

आशीर्वाद देने लायक काम किया है वाचस्पति उपाध्याय ने। स्वान्तःसुखाय ही सही, सामयिक उपयोग के लिए ही, इतने मनोयोग से पूरे संकलन को अपनी सुंदर लिखावट में ढाल लिया गया है.... अपने आप में यह काम मुझे कलात्मक और प्रीतिभावना पूर्ण प्रतीत होता है। मैं आंतरिक तौर पर अभिभूत पा रहा हूँ अपने को।

सुदूर अतीत में ऐसा ही होता था। अलभ्य पुस्तकें इसी प्रकार उतार ली जाती थीं। काशी के स्वाध्यायनिष्ठ युवक विद्वान आज भी उस परंपरा को जीवित रखे हुए हैं। 'हाथ कंगन को आरसी क्या?'
-नागार्जुन, 22.02.1973, बांदा (उ.प्र.)

बाबा नागार्जुन बांदा में अगले दो दिन शहर में स्थित टुनटुनिया पहाड़ और करीब किलोमीटर दूर केन नदी घुमाने ले गए। मैं रास्ते भर केदार-नागार्जुन की दो लंबी कविताओं 'नागार्जुन के बांदा आने पर' और 'ओ जन-मन के सजग चितेरे' को मन ही मन गुनता रहा। सम्मेलन स्थल पर बाबा नए युवा रचनाकारों से हाथ मिलाकर मिलते रहे। कई उत्साही युवा उनसे गले मिले। रात को संपन्न कवि सम्मेलन में बाबा नागार्जुन की कविताएं खूब संप्रेषित हुईं। बांदा से विदा होते हुए बाबा नागार्जुन ने डायरी में मेरा पता नोट कराया और दिल्ली में अपने छोटे बेटे श्रीकांत का पता दिया। इस तरह बांदा में बाबा नागार्जुन से यह पहली भेंट थी। इससे आगे की उनसे लंबी मुलाकातों का एक सिलसिला शुरू हुआ और दो दशक से अधिक तक उनसे होने वाले लंबे पत्राचार का भी।

बाबा नागार्जुन 1974 के अगस्त में बनारस आए। बी.एच.यू. परिसर के बाहर आत्रेय-निवास में तब मैं अवधेश प्रधान के साथ था। बाबा उसी असुविधाजनक कमरे में साथ रहे। उन्होंने 'प्यासी पथराई आँखें' अपने काव्य-संकलन की हस्तलिखित प्रति पर अपने हस्ताक्षर 9 अगस्त को किए- 'निष्ठापूर्वक अनुलिखित इन रचनाओं की अप्राप्यता मर्मज्ञों को परेशान करती है। -नागार्जुन'। बनारस-प्रवास में बाबा धूमिल-त्रिलोचन रहित उन सभी से खोजकर मिले जिनसे पिछले साल बांदा में भेंट हुई थी। दमा के प्रकोप के बावजूद चंद्रबली सिंह, शिवप्रसाद सिंह, काशीनाथ सिंह के साथ शहर में बाबा मिले। बी.एच.यू. हॉस्टल जाकर नए रचनाकारों से मिलना-बतियाना नहीं भूले। काशी की उन पुरानी जगहों पर भी वे गए जहां संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की। कोयले की अंगीठी पर रोटी सेंकते हुए बाबा नागार्जुन ने बताया कि रोटी न तो कच्ची रहे और न जले। अच्छी रचना भी ऐसी ही होती है।

बनारस में कहीं जाएं-रहें पर बाबा नागार्जुन का स्थायी अड्डा होता था- मार्फत स्वामी विमलानंद सरस्वती राजगुरु मठ, बी-3/175 शिवाला घाट। विमलानंदजी से बाबा की राहुल जी और स्वामी सहजानंद पर लंबी चर्चाएं होती थीं।

1974-75 में बाबा नागार्जुन बिहार में जे.पी. आंदोलन में फणीश्वरनाथ रेणु और अन्य रचनाकारों के साथ सक्रिय रहे। अपने पत्रों में रेणुजी, मूर्तिकार दामोदार अम्बष्ठ, कथाकार मधुकर

सिंह, कवि रवींद्र राजहंस, पत्रकार जुगनू शारदेय की आंदोलन में हिस्सेदारी का जिक्र प्रायः उन्होंने किया। आपातकाल में बाबा नागार्जुन ग्यारह महीने जेल में रहे। 26 अप्रैल 1976 को कारामुक्त हुए। बीच में पत्रों का सिलसिला भी बंद रहा। जे.पी. आंदोलन के छल-कपट और पाखंडी रूप से तिलमिलाए बाबा ने इस आंदोलन के विरुद्ध जमकर कहा-लिखा। इस सारे प्रसंग में उनका 'जनतावादी' नजरिया ही सर्वोपरि रहा।

10 फरवरी 1975 की रात में ब्रेन ट्यूमर से लखनऊ में धूमिल का निधन हुआ। करीब एक दशक का संग-साथ छूटा। उत्तर प्रदेश राज्य शिक्षा सेवा के अंतर्गत उत्तराखंड के नैनीताल की तराई स्थित कस्बे काशीपुर में मुझे 11 फरवरी से प्राध्यापक पद पर जाना पड़ा। बाबा ने 21.04.1975 को पटना से एक पत्र में लिखा- 'काशीपुर रहना तुम्हें अखरता रहेगा। हमारे पूर्वजों को भी इसी तरह स्वजनों-मित्रों-साधना केंद्रों से हटकर सुदूर कहीं रहना पड़ता था।' आगे इसी पत्र में धूमिल के संदर्भ में उन्होंने लिखा- 'मेरे हुए पशुओं की खालों-हड्डियों के व्यापारी बड़ी मुस्तेदी से अपने धंधे का आधुनिकीकरण कर रहे हैं। वर्ष-भर अभी धूमिल ही उनका 'उपजीव्य' रहेगा। फिर कोई और निकल आएगा जो अकाल मृत्यु को प्राप्त होगा।' बाबा के पत्रों से बनारस छूटने की क्षतिपूर्ति होती रही।

जून 1978 में बौद्ध धर्म-दर्शन की विदुषी शकुंतला शुक्ल से गोरखपुर में मेरा विवाह हुआ। लंबी यात्राओं पर होने से बाबा नागार्जुन नहीं आ सके। दिल्ली से त्रिलोचनजी पहुंचे।

और जून 1981 में एक दिन टिन का बक्सा और प्लास्टिक की डोलची में कुछ पत्रिकाएं-किताबें लिए बाबा नागार्जुन काशीपुर में प्रकट हुए। दिल्ली से मुरादाबाद होकर करीब छह घंटे की दूरी उन्होंने रेल से तय की। हर्षित मन से शकुंतला ने उनकी अगवानी की। संयोग से जब बाबा पहुंचे तो उसी दिन डाक से जहरीखाल-लैंसडाउन के शासकीय महाविद्यालय में मेरे तबादले का आदेश मिला। प्रशासकीय स्तर पर कुछ दिन तबादले पर न जाकर रुके रहने की विशेष व्यवस्था की। बाबा ने एक दिन पूर्ण विश्राम किया। काशीपुर में गिरि सरोवर और द्रोण सागर बाबा नागार्जुन ने भ्रमण किया। वे भग्नप्राय उस काटन मिल और स्कूल के परिसर में भी गए जहां शिक्षिका मां के साथ कथाकार यशपाल का बचपन का कुछ समय बीता था। 'सिंहावलोकन' में यशपाल ने इस स्थान का जिक्र किया है।

काशीपुर से अस्सी किलोमीटर पर नैनीताल-यात्रा बाबा के साथ सपरिवार संपन्न हुई। अपने साथी प्राध्यापक प्रमोद पाठक के आवास पर नैनीताल में आतिथ्य ग्रहण किया। जून महीने में उस दिन ज्येष्ठ पूर्णिमा को बाबा सत्तर वर्ष के हुए। भवाली होकर भीमताल गए। नौका-विहार और भीमताल के सुरम्य ताल के किनारे बाबा एक युवा की तरह चहलकदमी करते रहे। साथ गए एक किशोर निर्मल उप्रेती के साथ पहाड़ के सीढ़ीदार खेतों को देख उन्होंने ऐसी अनेक तुकबंदियां कीं-

*नीचे खेती, ऊपर खेती,
बीच खड़ा निर्मल उप्रेती।*

नैनीताल में 'पहाड़' के संपादक युवा इतिहासविद् यायावर शेखर पाठक, कुमाऊं-हिंदी के कवि गिरीश तिवारी 'गिर्दा' बहुत गर्मजोशी से मिले। इनके आवास पर मित्र-मिलन का यह दौर आगे भी चलता रहा। 'नैनीताल समाचार' का दफ्तर भी बाबा की बातचीत का एक अड्डा बना। एक और ठिकाना रंगकर्मी जहूर आलम की दुकान 'इंतखाब' बनी। आगे नैनीताल की यात्राओं में

पर्यटकों को घुड़सवारी कराने वालों और नेपाल से आए भारवाही कुलियों जैसे मेहनत-मशक्कत पर जीने वालों के भी बाबा अंतरंग बन गए।

नैनीताल और आसपास की यात्रा से वापसी के बाद काशीपुर महाविद्यालय से मुझे जहरीखाल राजकीय डिग्री कॉलेज जाने का आदेश मिला। इस नई और अनजानी पहाड़ी जगह पर जाने के लिए बाबा ने उत्साहित किया। पहली जुलाई 1981 को मैं इस नई तैनाती पर पहुंचा। कुछ ही महीने बाद बाबा नागार्जुन भी पहुंचे।

पर्वतीय ग्राम जहरीखाल के बारे में थोड़ा जान लें। उत्तराखंड के पौड़ी गढ़वाल जनपद की गढ़वाल राइफल्स सैनिक छावनी है लैंसडाउन। घने जंगलों से घिरे, 1887 ई. में स्थापित, इसका स्थानीय उच्चारण 'लैंसडौन' है।

एक नाम 'कालो डांडा'- काला पहाड़। अधिक वर्षा और कोहरे से घिरे पर्वत शिखर। समुद्र तल से ऊंचाई करीब अठारह सौ मीटर। यहीं से पौड़ी मार्ग पर छह किलोमीटर पश्चिम में है छोटा-सा पहाड़ी गांव 1660 मीटर की ऊंचाई पर 'जहरीखाल'- जिसे जयहरीखाल, जैहरीखाल भी बोलते-लिखते हैं। उत्तराखंड के गठन के बाद इस पर्वतीय ग्राम में अब कहीं 'हिल स्टेशन' जैसी होटल कल्चर विकसित हुई है। आबादी तकरीबन चार-पांच हजार होगी। लैंसडाउन से जहरीखाल पहुंचे तो पर्वतीय उपत्यका के दायें ढलान पर 'जैहरी' गांव है। बायें ढलान पर 'पाली' गांव है। इसी गांव के पीतांबर दत्त बड़थवाल का 1934 ई. में काशी हिंदू विश्वविद्यालय का प्रथम डी-लिट्. शोध प्रबंध 'द निर्गुण स्कूल ऑव हिंदी पोएट्री' शीर्षक से स्वीकृत हुआ। जहरीखाल रेल-बस सेवा से जुड़ा है। निकट का रेलवे स्टेशन कोटद्वार चालीस और बिजनौर का नजीबाबाद पैसठ किलोमीटर (उत्तर रेलवे) है।

आने से पहले बाबा नागार्जुन का 14.12.1981 का शकुन के नाम पत्र आया- 'एक प्रीति-भोज में डॉ. नामवर सिंह, डॉ. केदारनाथ सिंह और हमारे परम मित्र त्रिलोचन शास्त्री मिल गए। लैंसडाउन यात्रा की बात मालूम होने पर तीनों 'सिंह', मुझे आतंकित करने लगे- 'बाबा, इस विकट मौसम में आप वहां 'हिमसमाधि' लेने जा रहे हैं क्या? लैंसडाउन तो मसूरी से भी अधिक सर्द पहाड़ी स्थानों के रूप में बदनाम है।'।

अपनी धुन के धनी बाबा नागार्जुन पहली बार दिसंबर 1981 में इधर पहुंचे। दिल्ली से टुकड़ों में हापुड़-मुरादाबाद-नजीबाबाद-कोटद्वार होकर लैंसडाउन आने तक 18 की शाम हो गई। देर होने से बाबा इस सैनिक छावनी के एक 'पंचम श्रेणी' होटल में ठहरे। 19 दिसंबर की सुबह जहरीखाल लोकल टैक्सी जीप से बाबा नागार्जुन का प्रथम आगमन हुआ। नौ दिन रहे। एडवोकेट ललित प्रसाद सुंदरियाल के घर में किराए का मेरा मकान बाबा की जीवंत उपस्थिति में गुलजार रहा। सिल्वर ओक यानी बांज, बुरुंश, चीड़ के घने वनों की पगडंडियों पर बाबा ने खूब-चहलकदमी की। इंटर कॉलेज की अर्द्धचन्द्राकार बाउंड्री में पंक्तिबद्ध देवदारु वृक्षों की कतार से दूर तक घाटी का वे घंटों अवलोकन करते रहे। 'अलकनंदा' संपादक योगेश पांथरी के संयोजन में आसपास के रचनाकार गोष्ठी में जुटे। बाबा ने अपनी चुनी रचनाओं के साथ राहुल सांकृत्यायन के साथ तिब्बत-यात्रा और श्रीलंका प्रवास के संस्मरण सुनाए। बौद्ध धर्म के अनुयायी देशों में हिंसा के प्रसार पर उन्होंने गहरा क्षोभ व्यक्त किया। स्थानीय रचनाकारों की हिंदी-गढ़वाली-कुमाऊंनी रचनाशीलता का बाबा ने भरपूर आनंद लिया। फिर से ग्रीष्म में आने का वायदा कर बाबा नागार्जुन 27 दिसंबर को दिल्ली लौटे।

जहरीखाल में 1982 से वर्ष 1988 ई. तक (यानी मेरा तबादला उत्तराखंड के खटीमा होने की अवधि में) बाबा हर साल ग्रीष्मकालीन प्रवास पर निरंतर आते रहे। जहरीखाल डाकघर के सामने सुंदरियाल-सदन में बाबा नागार्जुन की संगत जमती। आंगन के सामने ऊंचाई पर नाशपाती के छतनार पेड़ के नीचे बाबा दिन में बैठते। आगंतुकों से बोलते-बतियाते। स्थानीय पहाड़ी परिवेश पर कविताएं लिखते। देश देशांतर के आत्मीय जनों को पत्र लिखते रहते। शकुंतलाजी बाबा और आए अतिथियों की सेवा स्वागत-सत्कार में बराबर तत्पर रहतीं।

पहली बार आने पर बाबा ने हमारी डायरी में दो श्लोक नोट किए-

सा ते भवतु सु-प्रीता
 देवी शिखरवासिनी ।
 उग्रेण तपसालब्धो
 यया पशुपतिः पतिः॥
 बालोऽहं जगदानन्द,
 न मे बाला सरस्वती ।
 अपूर्णे पंचमे वर्षे
 वर्णयामि जगत्-त्रयम्॥

उन्होंने संक्षिप्त टिप्पणी भी दर्ज की- 'ये दोनों श्लोक अनिमेष को सवेरे-सवेरे रटवा देने हैं। पंडितों के परिवार में हमारे मैथिल बंधु आज भी बच्चों को ये श्लोक रटवा देते हैं।' नागार्जुन बाबा ने दोनों हाथों के अंगूठा निशान स्वयं लगाए। बड़े बेटे चि. अनिमेष का अंगूठा निशान भी लगवाया।

जहरीखाल बाजार के करीब डेढ़ किलोमीटर दूरी पर नीचे पहाड़ी ढलान पर 'जहरी' गांव 01 अगस्त 1982 को बाबा देख आए। उस गाय से मिले जिसका दूध उनके लिए आता था। उन क्यारियों में आसपास टहले जहां से हरी सब्जी मिलती थी।

जहरी गांव में जगत सिंह और आलम सिंह से बाबा फौजी जीवन के बारे में बतियाते रहे। चाचा-भतीजे दोनों फौज में हैं। सालाना छुट्टी पर आए हैं। बाबा नागार्जुन अगले दिन जहरीखाल के राजकीय महाविद्यालय में पुरस्कार-वितरण के लिए गए। पहाड़ के विद्यार्थियों से उनके घर-गांव के बाबत देर तक बतियाते रहे। बच्चों ने अपने अभिभावकों के फौजी जीवन और पहाड़ की मामूली-सी खेती के बारे में अपने अनुभव साझा किए।

4 अगस्त 1982 रक्षाबंधन को बाबा नागार्जुन ने छोटू का नाम अलिंद निश्चित किया। 22 जून 1981 को बेटू का नाम पहले ही अनिमेष तय किया। बाबा ने बताया कि देश के अनेक परिवारों में बच्चों के नामकरण का दायित्व उन्हें मिलता रहता है। ज्योतिषी बाबा समझकर कई बार महिलाएं उनसे हाथ की रेखाएं बांचने का आग्रह करतीं। ऐसे मौकों पर फंस जाने पर बाबा नागार्जुन तात्कालिक बुद्धि से काम लेते और शेष प्रश्न अगले साल तक टल जाते।

जहरीखाल में लंबा शीतावकाश होने पर अकसर बाबा मुझे सपरिवार दिल्ली आने और अन्यत्र कहीं चलने को कहते। दिसंबर 1982 में जयपुर में प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन संपन्न हुआ। स्थानीय धर्मशाला में सभी प्रतिनिधि ठहराए गए थे। बाबा नागार्जुन, त्रिलोचन, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन सहित राजस्थान के तमाम वरिष्ठ और युवा लेखक आए थे। इन सबके बीच बाबा प्रमुदित

मन से शरीक हुए। जाड़ा अधिक होने से कई औपचारिक कार्यक्रमों में वे शामिल नहीं भी हुए।

जयपुर में बाबा दिवंगत रांगेय राघव के परिवार में मुझे भी ले गए। सुलोचना राघवजी उनकी बेटी सीमन्तिनी और पत्रकार दामाद अशोक शास्त्री से भेंट हुई। सीमन्तिनी ने अपने पिता रांगेय राघव की बंगाल के अकाल पर प्रसिद्ध रिपोर्ताज-कृति की एक प्रति दी। अशोक शास्त्री ने मुल्ला नसरुद्दीन पर किताब भेंट में दी। बाबा ने जयपुर में आलोचक विश्वंभरनाथ उपाध्याय का 'गया-प्रयाग' नाम का घर दूर से दिखाया। बाबा जयपुर के गांधी आश्रम खादी-भंडार गए। मोटी खादी के गहरे रंगों के कपड़े लिए। एक ऊनी दोहरी चादर खरीदी। कहा- 'यात्राओं के हिसाब से हम कपड़ों के रंग तय करते हैं। कुछ भी, कैसा भी नहीं चल सकता!'

जून 1983 में बाबा नागार्जुन अपने बड़े सुपुत्र शोभाकांत के साथ जहरीखाल आए। 'ओमप्रकाश स्मृति-सम्मान' के लिए प्रकाशक अरविंद कुमार ने बीस किताबें भिजवाई थीं। 'पहाड़ पर लालटेन' मंगलेश डबराल का कविता-संग्रह बाबा नागार्जुन के निर्णय से पुरस्कृत हुआ।

शोभाकांतजी बाबा और मेरे पत्र के साथ जहरीखाल लाने के लिए त्रिलोचनजी के पास दिल्ली गए। बाबा नागार्जुन ने मार्ग व्यय के साथ दो सौ इक्यावन रुपये प्रदान करने की बात भी लिखी थी। त्रिलोचन बाबा नागार्जुन का आदेश मानकर 27 जून 1983 को दिल्ली से जहरीखाल पहुंचे। उसी दिन ज्येष्ठ पूर्णिमा को बाबा के यशस्वी जीवन के 72 वर्ष पूरे हुए। बाबा और त्रिलोचन के सम्मान में उसी दिन संपन्न गोष्ठी में अलीगढ़ से कुंवरपाल सिंह, नमिता सिंह के साथ अनेक क्षेत्रीय रचनाकार शामिल हुए। हमारी घरेलू डायरी में त्रिलोचन ने दर्ज किया- 'जहरीखाल कम देखा, जो देखा, कम न था। यह स्मृति गुप्त धन है मेरा। फिर फिर और और देखने की स्पृहा मन में तरंग उठाएगी। बाबा का संकल्प और उत्साह हमारी हिंदी को नवजीवन दे, आगामी दशकों के लिए मेरी यह कामना है।'

बाबा नागार्जुन ने त्रिलोचन को 1982 में पैंतीस दिन के कश्मीर प्रवास का विस्तृत वर्णन सुनाया। बाबा क्षमा कौल-हिमा कौल के परिवार में श्रीनगर-कश्मीर में रहे। तीर्थ खीर भवानी, बारामूला आदि स्थानों की यात्रा का जिक्र किया। सांप्रदायिक क्षेत्रीयता की सुलगती आंच में कश्मीरियत की तबाही के शुरुआती दौर के हालात सुनकर त्रिलोचन बहुत खिन्न हुए।

नासपाती के पेड़ तले, जहां बाबा की बैठकी होती, किताबें-पत्रिकाएं भी रखी रहतीं। दोपहर का भोजन लेने बाबा रसोई तक आते। एक दिन संयोग से उसी वक्त एक गाय आई और कश्मीरी शासकों के कल्हण कृत इतिहास 'राजतरंगिणी' का आधा हिस्सा चबा गई। बाबा नाराज नहीं हुए। कहा- 'विदुषी गाय को समकालीन साहित्य पसंद नहीं आया।' मैंने राजतरंगिणी' की अन्य प्रति बनारस से लेकर बाबा को सौंपी।

30 अगस्त 1983 को बाबा नागार्जुन अल्मोड़ा पहुंचे। 'जंगल के दावेदार' के संपादक पी.सी. तिवारी के साथ रामकृष्ण मिशन में ठहरे। पत्रों में मित्रों को बाबा ने अल्मोड़े की बौद्धिक जागरूकता से अवगत कराया।

हर साल ग्रीष्म से वर्षा के प्रारंभ तक बाबा नागार्जुन जहरीखाल प्रायः आते रहे। जून में ज्येष्ठ पूर्णिमा उनके जन्मदिन के बहाने सालाना गोष्ठी होती रही। बीच में 'उत्तरा साहित्य-मंच' के बैनर से लघु गोष्ठियों के आयोजन में आसपास के नौजवान बाबा से विचार-विमर्श करते रहे। 02 जून

1985 को दिल्ली से मैनेजर पांडेय ने वार्षिक गोष्ठी में बाबा नागार्जुन के जीवन-सृजन पर घंटे भर से ज्यादा का वक्तव्य दिया।

गोष्ठियों में शामिल होने और पत्राचार को बाबा नागार्जुन बीज बोने जैसा काम मानते थे। सैकड़ों परिवारों और शहर-कस्बों में बाबा ने मेहनतकश किसान की तरह ऐसी मानसिक खेती की। गरीबी और दरिद्रता में फर्क किया और दूसरों को समझाया। विडंबना यह है आज गरीबी घटी है पर सांस्कृतिक दरिद्रता बढ़ी है।

लखनऊ में इंदिरा गांधी के हाथों बाबा नागार्जुन ने उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का पुरस्कार लिया। पुरस्कार लेकर जहरीखाल आए। उन दिनों सोशल मीडिया नहीं था फिर भी सख्त आलोचना हुई। 'दिनमान' (29 जनवरी-4 फरवरी 1984) में बाबा ने अपनी सफाई दी- 'पुरस्कार क्या इंदिरा गांधी के घर का था? उत्तर प्रदेश सरकार ने जो रकम हमें दी वह रकम चार साल पहले क्यों नहीं मिली? यह होता और हमारे मन में ग्लानि की बात तब होती जब हम सरकार की तारीफ में कविता लिखते या अगले ही दिन दरबार में पेश हो जाते। मगर वैसा तो हमने किया नहीं। यह तो ऐसी बात हुई कि सरकार से हमारा विरोध है और रेलगाड़ी चूँकि सरकार की है इसलिए हम उस पर चढ़ें ही नहीं, कारपोरेशन के नल का पानी ही न पियें।' (दिनमान, पृ.-51, 04 फरवरी, 1984) इस घटना से बाबा लंबे समय तक तीखी आलोचनाओं के शिकार रहे।

जहरीखाल में लंबे प्रवास के चलते बाबा नागार्जुन ने वहाँ भारतीय स्टेट बैंक में 23.04.1985 को बचत बैंक खाता संख्या 7/656 खोला। व्यवसाय लिखा- लेखन-कार्य। 1986 में शेष धन रहा मात्र रु. 68.40 पैसे।

1985 से सादतपुर, दिल्ली में बाबा अपने पुत्र यात्री प्रकाशन के श्रीकांत के साथ स्थाई ठिकाने पर रहने लगे। अप्रैल 1986 में लखनऊ के रवींद्रालय में प्रगतिशील लेखक संघ के पचास साल पूरे हुए तो एक बड़ा समारोह हुआ। भारतीय भाषाओं के अनेक मूर्धन्य लेखक वहाँ थे। बाबा नागार्जुन खराब स्वास्थ्य के बावजूद गए। वहीं से काशीपुर के रास्ते उन्हें साथ लेकर मैं जहरीखाल पहुंचा।

बाबा के बड़े पुत्र शोभाकांत बिहार से सपरिवार आए। इस बार बाबा 2 जुलाई 1986 तक सत्तर दिन जहरीखाल-प्रवास पर रहे। 22 जून 1986 ई. को जहरीखाल में बाबा के संघर्षशील जीवन के 75 वर्ष पूरे हुए। कुमाऊं और गढ़वाल से 'पहाड़' के संपादक शेखर पाठक, गिरीश तिवारी 'गिर्दा', बल्ली सिंह चीमा, छायाकार कमल जोशी, अतुल शर्मा, हरिमोहन के साथ मणिपुर से डॉ. देवराज, दिल्ली से प्रकाशक अशोक माहेश्वरी के साथ कवि-चित्रकार गोविन्द प्रसाद और तमाम आसपास के रचनाकार-बुद्धिजीवी बाबा की हीरक जयन्ती पर आ जुटे। बाबा नागार्जुन की जहरीखाल के परिवेश पर लिखी कविताओं का संग्रह 'आखिर ऐसा क्या कह दिया मैंने' उसी दिन लोकार्पित हुआ। बाबा ने बार-बार अपनी पंक्तियां दोहराई-

देखोगे, सौ बार जियूंगा-

देखोगे, सौ बार मरूंगा।

इस आयोजन से चंद रोज पहले मंगलेश डबराल और कर्णसिंह चौहान दिल्ली से जहरीखाल आकर बाबा से मिले। जब भी आए बाबा, प्राचार्य इन्द्रराम के पोलियोग्रस्त बच्चे आशुतोष 'आशु' के साथ कैरम-लूडो खेलना न भूले!

गढ़वाली सैनिक छावनी 'लैंसडौन' के 1987 ई. में सौ वर्ष पूरे होने पर देवेन्द्र नैथानी और पत्रकारसंस्कृति कर्मी अश्वनी कोटनाला (अब कैसर से दिवंगत) ने साढ़े तीन सौ पृष्ठ का ग्रंथ प्रकाशित कराया। 'बादल जहरीखाल के' और 'वीर बांकुरे गढ़वाली' जैसी बाबा की रचनाएं इस इलाके में सैनिकों के बीच लोकप्रिय हुईं।

जहरीखाल-लैंसडाउन की यात्रा में कभी अकेले तो कभी पुत्र शोभाकांत, चित्रकार-कथाकार हरिपाल त्यागी के साथ बाबा नागार्जुन का कार्यक्रम बनता। दिल्ली तक पहुंचाने कई बार मेरा जाना भी हुआ। वहां सादतपुर के अपने आवास से गश्त लगाते बाबा- विष्णुचंद्र शर्मा, हरिपाल त्यागी, सुरेश सलिल, महेश दर्पण, रामकुमार कृषक, हीरालाल नागर, राधेश्याम तिवारी जैसे और भी रचनाकारों के यहां छड़ी खटखटाते पहुंच जाते। मनपसंद पत्र-पत्रिकाओं और नई किताबों का वे आदान-प्रदान करते। गृहणियों से रसोई में जाकर बोलते-बतियाते। गरज यह कि नागार्जुन जैसा 'घरघुसरा' कोई और नहीं हुआ।

अप्रैल 1988 में जहरीखाल की अंतिम यात्रा बाबा ने हरिपाल त्यागी के साथ की। त्यागीजी ने कई बार की यात्राओं में इधर अनेक रेखाचित्र और चित्र बनाए। 20 से 24 अप्रैल तक क्षेत्रीय कलाकारों के साथ त्यागीजी की चित्र प्रदर्शनी नरेंद्र क्लब लैंसडौन में लगी। उद्घाटन-समापन बाबा नागार्जुन ने किया। छत्तीसगढ़ के बिलासपुर से वरिष्ठ आलोचक राजेश्वर सक्सेना, छायाकार प्रताप ठाकुर, लेखक रफीक खान और एक अन्य मित्र बाबा नागार्जुन से मिलने पहुंचे।

बाबा नागार्जुन ने जून 1989 में खटीमा से पिथौरागढ़ यात्रा की योजना बनाई। बस से दस घंटे की थकाऊ दूरी तय की। वहां मित्रवर प्राचार्य रामसिंह के आवास पर 17 से 23 जून तक रहे। इसी बीच ज्येष्ठ पूर्णिमा को 78 वर्ष बाबा नागार्जुन के पूरे होने पर पिथौरागढ़ में रचना-गोष्ठी हुई। युवा कवि सुंदरचंद ठाकुर और उभरते नेता भगतसिंह कोश्यारी से भेंट की मुझे याद है। बाबा ने पिथौरागढ़ की घाटी की तुलना कश्मीर घाटी से की। उन्होंने पर्यटन की संभावनाओं के विस्तार और पड़ोसी नेपाल से सांस्कृतिक संबंधों की निरंतरता पर बल दिया।

1991 ई. में मेरा तबादला नैनीताल की तराई के मैदानी शहर काशीपुर में हुआ। बाबा आए। सूचना आई कि उनके बेटों के पुत्रों के पुश्तैनी गांव तरौनी में जनेऊ हैं। 31 मार्च 1983 का शंकुतला जी के नाम बाबा का एक पत्र याद आया- '22/5 को हमारे तीनों नातियों का (उर्मिला के पुत्रों का) 'यज्ञोपवीत-संस्कार' होना है। मिथिला के ब्राह्मणों में शादी से ज्यादा महत्व जनेऊ को ही दिया जाता है। अब भले ही 'जनेऊ' धारी बालक चार रोज बाद यज्ञोपवीत के उन रंगीन सूत्रों पर- अभिमंत्रित 'जनेऊ' पर स्याही क्यों न पोत लें। 'मृच्छकटिक' नाटक में चोर-ब्राह्मण (शर्विलक) अपने जनेऊ से 'संध' नापने का काम लेता है- संध नापने का सूत वह घर पर ही भूल आया था। खैर, बाबा के साथ पटना-मुजफ्फरपुर होकर सकरी जंक्शन पर उतरकर तरौनी गांव पहुंचना हुआ।

तरौनी की हरीतिमा और गांव में बचपन के साथियों से मिलकर बाबा के मन प्राण फिर से हरे हुए। गांव में उन्हें उनके पुकारू नाम 'ठक्कन' से बोलने वाले अनेक हमउम्र मिले। बाबा के कच्चे घर से आगे पगडंडी पर कुछ ग्रामीण स्त्रियां मिलीं। बाबा को रोका। डांटना शुरू किया मैथिली में- 'बहुत मनबढ़ हो गए हैं। गांव-घर को भूल गए हैं। कहीं भटकने की उम्र है यह! कहीं मत जाइए। अब गाम में ही रहें।' बाबा नजरें झुकाए चुपचाप सुनते रहे। देर तक उन ग्राम्याओं की बातों का

जवाब अंत में बाबा के अश्रुपूरित मौन ने दिया। तरौनी से वापसी में ज्येष्ठ पूर्णिमा को 80 वर्ष होने पर बाबा की जन्मदिन गोष्ठी पटना में कवि अरुण कमल, बद्रीनारायण आदि के संयोजन में गंगा-तट पर मनाई गई। 1991 के ग्रीष्म में गांव तरौनी और बिहार की यात्रा से बाबा तरोताजा होकर लौटे।

बी.एच.यू. के हिंदी-विभाग में मेरे सर्वश्रेष्ठ गुरुवर शिवप्रसाद सिंह का लंबी बीमारी से 28 सितंबर 1998 को निधन हुआ। खिन्न मन से मैं नौ-दस अक्टूबर को उनके आवास पर पहुंचा। बनारस में स्वामी विमलानंद सरस्वती के सहयोगी प्रमोदजी से मिला और भी पुराने मित्र मिले।

बाबा नागार्जुन के लहेरियासराय-दरभंगा में गंभीर रूप से रोगग्रस्त होने की खबर मिली। बनारस से वहां ट्रेन में आरक्षण के बिना जाने का निश्चय किया। लहेरिया सराय में बाबा के बड़े पुत्र शोभाकांत और रेखाजी के साथ उन्हें जिस दुर्बल स्थिति में देखा, देखकर मन को धक्का लगा। कब्रिस्तान के सामने छोटे-से किराए के घर में बिस्तर पर 'क्लीनशेड' बाबा को देखा तो उनका घनी दाढ़ी वाला चेहरा याद आया। तीन दिन रहने पर बाबा से कोई बात नहीं हुई। बाबा घुटने मोड़े लेटे रहते या सिर झुकाए धनुषाकार मुद्रा में बैठे रहते। शोभाकांत-परिवार उनकी हरसंभव सेवा करता रहा। जब विदा लेने में बाबा नागार्जुन के बिस्तर पर एक किनारे बैठा तो काफी देर बाद उन्होंने सिर ऊपर उठाया। मेरे हाथ अपने दोनों हाथों में थामे। दो शब्द फुसफुसाए- 'कब आए?' इसके साथ दो बूंदें उनकी आँखों से मेरी हथेलियों पर गिरीं। यात्री की जीवन-यात्रा पर लगने वाले विराम का मैं मूक साक्षी बना बेहद भरे मन से लौटा। बाद में 5 नवंबर 1998 की भोर में बाबा नागार्जुन के अंतिम यात्रा में निकल जाने की खबर कई दूरसंचारी मित्रों से मिली।

बाबा नागार्जुन के न रहने पर उनके कई जीवन-प्रसंग सहसा याद आए। कहीं भी रहें चार पुत्रों और दो पुत्रियों के परिवार का योगक्षेम उन्होंने सदा सोचा। अनियमित जीवन में परिवार का हितलाभ नियमित हो, इसकी भरसक कोशिश की। पाकेट ट्रांजिस्टर पर लोकसंगीत की धुनों बीबीसी हिंदी-उर्दू-बांग्ला-अंग्रेजी सुनाई दे तो लगता है बाबा कहीं आसपास ही हैं। बड़े आकार के एटलस में लेंस लगाकर उत्तरी ध्रुव-दक्षिणी ध्रुव का रूट समझने वाले बाबा लगता है उधर ही कहीं चले गए।

बाबा नागार्जुन के 21.11.1981 के शकुंतला के नाम पत्र का अंत याद आता है, 'परंतु, यह तो निश्चित ही समझो कि जिस प्रकार आचार्य किशोरी दास वाजपेयीजी अपने जीवन का अंतिम चरण कनखल (हरिद्वार) में गुजार गए हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे स्थान पर अपनी शेष आयु अतिवाहित करूंगा।... तुम तीनों जहां-जहां रहोगे, वही-वही स्थान मेरे लिए 'सर्वोत्तम पुण्य तीर्थ' हुआ करेंगे. ... शकुन, तू मुझे आशीष दे कि मैं तेरे ही स्नेहिल आश्रय में अंतिम श्वास लूं... हां!! नागार्जुन-तुम्हारा।'

परंतु, नहीं- बाबा नागार्जुन ने अंतिम श्वास अपने जनपद दरभंगा में ली। वे उसी मिट्टी में जा मिले जिस मिट्टी से बने थे। कई चंट बुद्धिजीवी नागार्जुन को दूसरा कबीर मानते रहे। अगर कहीं कोई दूसरा नागार्जुन दिखे या मिले तो अवश्य सूचित करें। प्रतीक्षा रहेगी।



अजब आजाद मर्द

ओम भारती

मैं अपने कुछ ऐसे हमउम्र रचनाकारों में से हूँ जिन्हें अपने से कई दशक बड़ी उम्र से वाकिफ़ बड़े लेखकों का संग मिला। ग्रेटमास्टर हरिशंकर परसाई को तो मैं होश आने के दिनों से जानता रहा हूँ इसलिए कि उनका जन्म-स्थान जमानी और मेरा कस्बा इटारसी अगले दरवाजेवाले पड़ोसी की तरह हैं। अब तो दोनों के बीच वाली बाड़ (फेंस) ढह गई है। अच्छी बाड़ अच्छे पड़ोसी बनाती है। मेरा जन्म एक साहित्यिक परिवार में हुआ है और मेरे पिता परसाई के अग्रज रहे। सो मैं परसाई को एक अरसे से चाचाजी के रूप में जानता रहा। किशोरावस्था में इतनी समझ तो आ गई थी कि वे लेखक हैं। जब इंजीनियरिंग की तालीम पाने मैं जबलपुर पहुंचा तो आश्चर्य था कि वहां परसाई चाचा हैं। प्रवेश के बाद पहले ही रविवार को उनका निवास खोज लिया था। फिर तो महीने में कम अज कम एक बार उनके पास पहुंचना आदत में आ गया। रांझी, मेरा छात्रावास का स्थान, उनके ठिकाने से कोई उतनी ही दूरी पर था जितनी दूरी, इटारसी और जमानी के मध्य थी और किराए की साइकिल से तय की जाती थी। जबलपुर खासा लंबा शहर था। रांझी उसका एक सिरा था लेकिन ऊंचे-पूरे भव्य परसाई तो वहां की जिंदगी के बीचों-बीच रहते थे। मैं बड़ा हो रहा था और उम्र के इस बढ़ने में परसाई की परछाई के तले होते रहना मेरी खुशनसीबी थी। यह खुशनसीबी उनके जाने के वक्त तक बनी ही रही क्योंकि जब भी जबलपुर में पदस्थ रहा उन्हीं के आस-पास रहने का ठिकाना मिलता रहा। परसाईजी के अनेक अक्स मेरे स्मरण में हैं। युवा परसाई, शिवकुमार श्रीवास्तव या विद्रोही के साथ घर आते परसाई, इटारसी की त्रिमूर्ति (महेश प्रसाद भारती, विपिन जोशी, प्रेमशंकर दुबे) के साथ, हमीदिया अस्पताल, भोपाल में रुग्ण मुक्तिबोध के साथ परसाई, छात्रों को राह दिखाने परसाई, नागार्जुन, प्रमोद वर्मा, नईम, शरद जोशी, मलय, कवि रामविलास शर्मा, भाऊ समर्थ, महेशदत्त मिश्र, सुकुमार पगारे, मायाराम सुरजन, हनुमान वर्मा, ज्ञानरंजन के संग वाले परसाई। जबलपुर में चलते परसाई और उनके भीतर चलता जबलपुर, जबलपुर ही नहीं समूचा देश और दुनिया। बाद में लगभग 'बिस्तरबंद' हुए परसाई। फिर भी, दबंग और दीप्त परसाई। उनके साथ व्यक्तिगत संस्मरण तो इतने सारे हैं कि पूरा ग्रंथ लिखा जा सकता है। मैं यहां पर लेखक परसाई और उनके लिखे में दिखते परसाई को याद करना बेहतर समझता हूँ।

अज्ञेय की एक कविता-पंक्ति है- 'थक जाती है याद भी/ढोते उड़ाते/परत दर परत/राख'। इस बाईस अगस्त को मैं सोच रहा था कि क्या किसी की स्मृतियों पर इतनी राख चढ़ सकती है कि

उसे झाड़ते-उड़ाते और बच जानेवाली जिद्दी राख की परतें ढोते-ढोते याद भी थक जाए? कदाचित् अज्ञेयजी को ऐसा अनुभव हुआ हो। 'उत्तरा' में 'अमर्त्य' शीर्षक वाली सुमित्रानंदन पंत की कविता की पंक्ति देखिए। पंतजी लिखते हैं- 'तुम आए, गए, जगत का छल/तुम हो, तुम होंगे सत्य अटल।' पंतजी को बीज रूप में यह बात शायद भवभूति से मिली हो। 'मालती माधव' के पांचवें अंक में भवभूति का कथन है- 'न खलु स उपरतो यस्य वल्लभः स्मरति।' (प्रिय जिसकी याद करता है वह मृत नहीं है।) यह आवाज पश्चिम से भी आती है जब 'हालोड ग्राउण्ड' में टॉमस कैंपवेल बताते हैं कि 'टू लिव इन हार्ट्स वी लीव बेहाइन्ड, इज नाट टू डाई।' - पीछे छूटे द्वारा जिसे याद किया जाता है उसकी मौत नहीं होती। मैं आज भी परसाई को जीवित मानते हुए प्रणाम करता हूं।

सन् 1924 की 22 अगस्त को जन्मे हरिशंकर परसाई आज तिरानवे बरस के हो गए होते। प्रेमचंद के पश्चात् सबसे ज्यादा पढ़े जाने वाले साहित्य के प्रस्तोता परसाई ही हैं। प्रेमचंद का निधन हुआ तब भारत पराधीन था और परसाई मात्र बारह वर्ष के। सन 1947 में देश स्वतंत्र हुआ और इसी वर्ष, आजादी के तत्काल बाद परसाई ने कहानियां लिखना प्रारंभ किया। जबलपुर से प्रकाशित होनेवाले साप्ताहिक 'प्रहरी' में उनकी पहली रचना छपी और शीघ्र ही वे हिंदी गद्य-परिदृश्य का अनिवार्य अंग बन गए। 'नवयुग का शंख फूंकने के लिए कलेजे से वायु निकालनी पड़ती है, वह नाक से नहीं बजता' लिखने वाले इस लेखक ने अपने प्राण झोंक दिए, अपना कलेजा दे दिया कहानी को। हिंदी कहानी में एक नया युग ले आए परसाई। मुक्तिबोध व परसाई दोनों के ही अभिन्न रहे कवि आलोचक प्रमोद वर्मा ने वर्षों पूर्व 'याद करते हुए परसाई को' कविता लिखी थी। उसमें वे बता रहे थे- 'वह इतिहासकार नहीं था/लेकिन/उसकी पाद टिप्पणियां न होतीं तो/उसके समय का इतिहास/राजा रानी का किस्सा बनकर ही रह जाता।' सचमुच इस कोण से भी परसाई का स्तंभ लेखन ऐतिहासिक मूल्य रखता है। स्कैलैजील की एक युक्ति याद आती है- 'इतिहास का जानने वाला गुजरे हुए वक्त की तोल करने वाला पैगम्बर होता है।' परसाई की लिखत ऐसे ही जानकार की लिखत है, जिसमें इतिहास-विवेक का बल है। कहा गया है कि इतिहास की बदौलत लोगों की संवेदना एक आकृति लेती है और बदलती भी है। यह भी, कि कथा में सबकुछ सत्य होता है सिवाय नाम व तारीख के। दूसरी तरफ, इतिहास में नाम व दिनांक के अलावा कुछ भी सच नहीं होता। परसाई तो गुजरे हुए वक्त की ही नहीं, अपने दौर की भी तौल कर रहे थे और भविष्य का मानचित्र भी संकेतित कर रहे थे। तभी तो रवीन्द्रनाथ त्यागी ने कहा- 'स्वतंत्रता-पूर्व साहित्य का जायजा लेना हो तो प्रेमचंद का साहित्य और स्वातंत्र्योत्तर भारत का सही जायजा लेने के लिए हरिशंकर परसाई का साहित्य हमारा सहायक हो सकता है'। उनके कथन से असहमत होने की गुंजाइश नहीं है। प्रेमचंद और परसाई दोनों ही हिंदी कथा-साहित्य के महान निर्माता हैं-ग्रेट मास्टर्स।

परसाई कहा करते थे और लिखा भी है उन्होंने- 'मैं भाग्य को सराहता हूं कि जल्दी ही कविता करना बंद कर दिया।' गद्य लेखन के द्वारा उन्होंने जो लड़ाई लड़ी, वह उन्हें दुनिया के उन चुनिंदा रचनाकारों में से एक बनाती है जिन्होंने एक असमान एवं बंधे हुए समाज को आमूल बदलने के लक्ष्य को कभी नहीं छोड़ा। क्या कविता को छोड़कर उन्होंने सही किया? इस प्रश्न का उत्तर उनकी कविताओं में मिलेगा? क्यों उन्होंने अपने कवि होने को हमेशा के लिए ओट में डाल दिया?

हर रचनाकार अपने सृजन-संसार में एक यात्रा संपन्न करता है। तय है कि उसमें मोड़, घुमाव,

भटकाव, ठहराव, पड़ाव भी होंगे। पर देखना यह होगा कि वह अन्विति भी है या नहीं। लेखन की यह अन्विति लेखक के व्यक्तित्व की अन्विति भी होती है। यही अन्विति उसके साहित्य को समग्रता में समेटे जाने पर एक वाक्य बनती है। बड़ा लेखक है तो बड़ा वाक्य-महावाक्य। निर्भीकता एवं जोखिम उठानेवाली साहसिकता के प्रत्यय के बिना, और सत्य के संधान के अभाव में वाक्य बनता ही नहीं, यह भी सच है। सन 1985 में उनके जीते-जी छप चुकी रचनावली के छह खंड मानो इस महालेखक का महावाक्य रचते हैं। मैं जो 1948 में जन्मा, इस अर्थ में संपन्न हूँ कि बचपन से लेकर परसाईजी के अंतिम दिनों तक उनका सान्निध्य पाता रहा। आशय यह कि उनके बारे में बोलने-लिखने का एक छोटा-सा हक तो रखता ही हूँ। मैंने आरंभ में निवेदन किया, यह हक मुझे दिया मेरे जन्म-स्थान इटारसी ने। चूंकि मेरा परिवार साहित्यिक था, (मेरे पिता कवि थे और परसाईजी से सात-आठ वर्ष बड़े थे) परसाईजी को मैंने अपने घर से ही पाया। उसके बाद नौकरी में, और कवि-कथाकार होने की धुन में भी जबलपुर और परसाई मेरे निरंतर बने रहे। सतना में 1976 में उनकी अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की मध्यप्रदेश राज्य इकाई गठित हुई तो उसी अधिवेशन में मैं भी उनके दस्ते में, दल में या बदलाव लाने की उनकी मुहिम में शामिल हो गया।

मुझे लगता था जैसा कि हर लेखक के साथ होता है, परसाईजी ने भी पहले कविताएं लिखी होंगी। पर वे उपलब्ध नहीं हैं। उनकी कवि-छवि की मेरी खोज चली तो एक-दो कविताएं जो प्रकाश में आई हैं, वे गीत की शैली में हैं। एक का शीर्षक है- 'जगत के कुचले हुए पथ पर भला कैसे चलूं मैं?' जाहिर है कि इसके द्वारा उन्होंने लीक पर न चलने के अपने इरादे की मुनादी कर दी। इसकी पहली ही पंक्ति में उन्होंने दृढ़ता से कहा है- 'किसी के निर्देश पर चलना नहीं स्वीकार मुझको।' मैं ही नहीं, उनके पाठक भी जानते हैं कि सत्ता, व्यवस्था या किसी भी संस्था के निर्देश पर नहीं, अपनी ही आत्मा के, मन-मस्तिष्क के द्वारा सुझाई राह पर ही चलते रहे वे। उस राह पर नहीं जिस पर किसी और के पांवों की छाप हो। जो राह चुनी वह अनोखी थी, कांटों भरी थी- 'ले निराला मार्ग उस पर सींच जल, कांटे उगाता'। 'निराला मार्ग' शब्द-पद में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' द्वारा अपनाए गए परंपराभंगक तेवरों की ध्वनि भी आप सुन सकते हैं, और औरों से हटकर ही नहीं, अपने ही द्वारा निर्मित मार्ग का स्वरूप भी देख सकते हैं। निष्कंटक मार्ग नहीं चाहते थे वे। उसमें कांटे बोककर और जल सींचकर कंटीली राह तैयार करने, उसे पुरजोखिम बनाने का निश्चय परसाई का था। फिर ऐसी कठिन राह पर उसे रौंदकर चलने का जीवट भरा संकल्प भी। इस गीत का जो अगला पैराग्राफ है, उसमें भी उनका भावी रूप प्रतिबिंबित है- 'यह धधकता रूप मेरा विश्व में भय ही जगाता।' याद कीजिए, परसाईजी ने लिखा था- 'मैं लेखक छोटा हूँ, पर संकट बड़ा हूँ।' एक बड़े लेखक की विनयशीलता के साथ उन्होंने अपने रचनाकार को तो बड़ा नहीं बताया, लेकिन यह कहने से भी नहीं चूके कि जो वे लिख रहे हैं, वह बहुत से बड़े-बड़ों पर भारी संकट की तरह है। इसी गीत में उन्होंने ईश्वर को पत्थर में देखने से इनकार किया और 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे विचार को, मनुष्य में ही भगवान के होने के दर्शन को अपना समर्थन दिया।

एक और गीत है परसाईजी का- 'क्या किया आज तक क्या पाया?' यहां अपना ही आंकलन कर रहा है कवि परसाई। मुक्तिबोध याद आएंगे- 'अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया?' उन्हीं की तरह आत्म-निरीक्षण, आत्मालोचन की कोशिश है इसमें। समय बीतता जा रहा है, और उसमें

अपना हासिल क्या है, उपलब्धि कितनी है, यह सवाल है खुद से ही। घिसी-पिटी डगर पर न चलने का, औरों के सुर में सुर न मिलाने का फैसला यहां भी उजागर हो रहा है। और मानो वे दूसरों को भी सवालियों के कटघरे में खड़ा कर रहे हैं-‘जूठन खाया तो क्या खाया?’

मात्र दो कविताओं के आधार पर किसी की भी कविताई कसौटी पर नहीं कसी जा सकती। जब कविताएं खुद बोल रही हों तो किसी बाहरी मूल्य-निर्णय की जरूरत भी नहीं है। यह तो मैंने बाद में यह पुष्ट संकेत तो मिल ही रहा है यदि कविताएं लिखते रहते तो इस विधा में भी परसाईजी ने नए शिखरों का आरोहण किया होता। मुक्तिबोध ने भी शुरुआती दौर में छंदोबद्ध कविताएं लिखी थीं, और उनका उत्तर-सृजन बिलकुल भिन्न रहा। परसाई भी बाद में दूसरी ही तरह के और आधुनिक कवि तो होते ही। हमारे लोग और हमारी कठिनाइयां (और कमजोरियां भी) उनके सृजन का अहम हिस्सा सदैव बनी रहीं। वे चीजों को इस तरह पाठकों के समक्ष रखते थे कि उनके देखने का नजरिया बदल जाए। इस इरादे से कि वे खुद अपने लिखे को बांचनेवालों (जांचनेवालों नहीं) की बेबाक आवाज बन जाएं। परसाईजी की उक्त कविताएं स्वतंत्रता-पूर्व की हैं और इनमें तत्कालीन काव्य-रुझान स्पष्ट है। बाबूजी (स्व. मायाराम सुरजन) से मुझे उनकी कविताओं का जिक्र सुनने को मिलता था। परसाईजी के दो अभिन्न मित्र, जो मुझसे भी अनुज की तरह कम और दोस्तों की तरह ज्यादा, आत्मीय व्यवहार रखते थे, स्व. रामविलास शर्मा (इंदौर) तथा स्व. प्रमोद वर्मा (रायपुर)-इन दोनों को भी परसाईजी का कवि-चेहरा अच्छी तरह याद था। तो जैसा कि हर लेखक के साथ होता है, हरिशंकर परसाई ने भी सर्वप्रथम कविताएं ही रची थीं।

जहां तक मुझे उनके संपर्क के कारण याद है, मैं कह सकता हूं कि वे कविताओं की अद्भुत समझ रखते थे। हिंदी, अंग्रेजी और उर्दू की कविताई का एक बड़ा हिस्सा उन्हें मुंहजबानी याद था। वे कहते थे और उन्होंने लिखा भी है- ‘मुझे गालिब आधा याद है। मीर भी, जिगर भी।’ मजाज, फिराक, फैज, निराला, कबीर, तुलसी, रहीम, रसखान ही नहीं, शेक्सपीयर समेत अनेक अंग्रेजी कवियों को भी वे अपनी स्मृति से उद्धृत कर देते थे जबकि ये किताबें उनके पास नहीं होती थीं। गोर्की, गोगोल, तोल्सतोय, मार्क ट्वेन, आस्कर वाइल्ड, ज्यां पाल सार्त्र, ब्रेख्त, अर्नेस्ट हेमिंग्वे, स्टीनबेक, पाब्लो नेरूदा आदि का साहित्य उन्होंने अंग्रेजी में, अनुवादों में पढ़ रखा था। लिहाजा, जब भी उनसे बात होती, बहुत सावधानी से ही बोला जा सकता था। परसाईजी की कविताओं पर भी अंगभीर ढंग से बात करना संभव नहीं है। हां, यह प्रयास अवश्य करना चाहिए कि उनकी और कविताओं की तलाश की जाए। इस काम में उनका परिवार सहायक हो सकता है। पर वे कविताओं की अद्भुत समझ रखते थे। हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी की हजारों कविताएं उन्हें याद थीं। कहते थे- ‘मुझे गालिब आधा याद है। मीर भी, जिगर भी। मजाज, फिराक, फैज, अकबर इलाहवादी, शेक्सपीयर, तुलसी, कबीर, रहीम, रसखान और न जाने कितने हिंदी के कवि वे अपने उद्धरणों में किताबों से नहीं, स्मृति से ले आते थे। उनसे बात करते समय किसी को भी बहुत सतर्क रहना होता था। वे जैसा बोलते थे, वह उनकी रचनाओं का विस्तार ही होता था। उनकी लिखी भाषा और बातचीत की भाषा के बीच कोई फांक नहीं थी। यदि उनका लिखा ठीक से समझा नहीं गया तो वे भी परेशान नहीं हुए। उन्होंने संक्षिप्त सी टिप्पणी की- ‘जो गालिब को नहीं समझे, वही उसे सही समझें।’ वे सचमुच में स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते थे। उनका यह प्रतिरूप मेरे इन शब्दों से कहीं ज्यादा बड़ा और समृद्ध है, जो मैंने

यहां शब्दों में रचा। वे स्थिर किए गए को, 'फिक्सड' को बदलते हुए को अर्थात् 'चैजिंग' को एक साथ आँखों में रख पाते थे। इसीलिए मैंने उन्हें बड़ा उस्ताद, महागुरु या ग्रेट मास्टर कहा है। वे अपनी सृजनात्मकता के अनेक भिन्न स्तर, सतह और सीढ़ियां सिरजने में सक्षम साबित हुए।

याद आता है कि परसाईजी की पहली कहानी है- 'पैसे का खेल'- जो प्रहरी के 23 नवंबर 1947 के अंक में छपी थी। यह कहानी दीपावली के त्योहार के प्रसंग में है। परसाई ने उसमें लिखा- 'घर में तो एक कागज पर अपने ऋण का हिसाब लिखकर उसकी ही पूजा की। अपने पास तो लक्ष्मी के नाम पर यही कभी न छूटने वाला कर्ज है'। 'गर्दिश के दिन' में जब दशकों बाद परसाईजी ने अपने आरंभिक संघर्षों की चर्चा की, तब पाठकों को पता चला कि वे कितनी कठिनाइयों से गुजरे थे। वे पारिवारिक स्थितियों और निर्धनता का रोना रोने के बजाय उनसे निपटने में लगे रहे। वे अकबर इलाहाबादी की एक उक्ति का जिक्र बहुधा करते थे- 'जानता हूं हो रहा है जो न होना चाहिए/बहस यह है कि कब तक इस गम में रोना चाहिए'। उन्होंने लिखा- 'मैंने देखा कि दुःखी और भी हैं, इसमें मेरी संवेदना का विकास हुआ'। वे जबलपुर में महाकोशल स्कूल की अध्यापकी छोड़कर स्वतंत्र लेखन में उतर पड़े। 'आइल किंग' कहानी के इन शब्दों में मानो वे अपनी कैफियत दे रहे थे- 'आरंभ शीघ्र ही अंत में बदल जाए, इसलिए उसे कुछ अर्थ के इंजेक्शन देने का इरादा किया।'

परसाईजी की तीसरी कहानी- 'बेचारा कामनमैन'। यह 'प्रहरी' के 18 दिसंबर 1949 के अंक में आई थी। तब से लेकर आखिर तक यही कामनमैन, साधारण मनुष्य, आम, आदमी उनके तमाम गद्य साहित्य का वास्तविक नायक रहा आया। उन्होंने देखा कि भारतीय जीवन बेहद विसंगतियां लिए है। उसमें अन्याय, पाखंड, छल, दोमुंहापन, अवसरवाद, असमंजस्य आदि हैं। इनके विश्लेषण हेतु परसाई ने साहित्य, दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र वगैरह पढ़े। उन्होंने जाना कि जीवन की सबसे सही व्याख्या कार्ल मार्क्स ने की है, तथा मानवीय स्थिति को बदलने वाला श्रेष्ठतम और अंतिम दर्शन मार्क्सवाद है। परसाई रचावली की छोटी-सी भूमिका में कहते हैं- '35 साल अपने विश्वासों को मजबूरी से पकड़कर, बिना समझौते के, मैंने जो सही समझा वही लिखा है। जो कुछ मानव-विरोधी है, उस पर निर्मम प्रहार किया। नतीजे भोगे हैं, अभी भोग रहा हूं, आगे भी भोगता जाऊंगा।'

आज तो चरित्र में अंतर्निहित साहस विलुप्त होती प्रजाति का गुण है। रचनाकारों में निर्भीकता और साहस की जगह भीरुता और अवसरवादिता ने ली ली है। अक्लमंदी या परिपक्वता सही वक्त पर सही बात कहने या करने मात्र में नहीं है। वह तो गलत चीजें किसी भी समय पर नहीं कहने और नहीं करने में है। परसाई इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं। मई 1953 में अपनी किताब 'हँसते हैं, रोते हैं' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट किया था कि 'भाषा जैसी बोलता हूं, वैसी ही लिखी है। 'ढलवां साहित्य' शीर्षक से उन्होंने लिखा-जीवन को चित्रित करने के लिए जीवन देखना पड़ता है। मानव जीवन गणित के सूत्रों पर नहीं चलता। वह मनोविज्ञान के नियमों से भी बंधा हुआ नहीं है, सांचों में ढला हुआ साहित्य प्राणहीन होता है। परसाई के इन शब्दों में युवा लेखकों के लिए महत्वपूर्ण संदेश ही तो है। परसाईजी ने कहानियां लिखीं, उपन्यास लिखे, निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र भी खींचे और विधाओं के अंतर्संबंधों का एक अभिनव रूप सामने किया। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, शिखर सम्मान, भवभूति अलंकरण समेत अनेक सम्मान उन्हें मिले, परंतु सबसे विरल सम्मान उन्होंने पाठकों से पाया। जब उनकी कथा-रचनाओं के नाट्य रूपांतरण रंगमंच पर खेले गए तो दर्शकों ने उन्हें भी

सर-आंखों पर बैठाया। समाचार पत्र के हृदय यानी संपादकीय पृष्ठ पर स्तंभ लिखनेवाले आज कितने हैं जिन्हें परसाई के जैसा पाठकों का भरोसा मिलता हो। वे जनता के चहेते, सबसे प्रिय स्तंभकार थे- 'डार्लिंग कालमिस्ट'। परसाई स्तंभ लेखक के रूप में 'ओपिनियन पेज-राइटर' की भूमिका में उत्कृष्ट मीडिया-पंडित ही तो थे। वे एंतोन चेखव की तर्ज पर कहते थे- 'मेरा काम सामाजिक बीमारियों को पाठकों के समक्ष रखना है। उनका इलाज तो उन्हें खुद ही खोजना होगा। परसाई के लेखन को मैं 'स्तंभकारों की पाठ्य पुस्तक' बेहिकक कह सकता हूँ।

'इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर', 'विज्ञापन में बिकती नारी', 'पिटने में फर्क', 'लिटरेचर ने मारा तुम्हें', 'कबीर की बकरी', 'मित्रता', 'वे बहादुरी से बिके', 'भेड़ें और भेड़िए' वगैरह ऐसी रचनाएं हैं, जिनके कारण परसाई पाठकों के दिल में पैंटे हुए हैं। एक वक्त में देश को एक सवाल परेशान करता था- 'आफ्टर नेहरू, हूँ? नेहरू के बाद कौन'- इसी तर्ज पर यदि प्रश्न करें कि परसाई के बाद हिंदी व्यंग्य में कौन, तो मेरा जवाब होगा- 'कोई नहीं।' मेरा कोई 'आफ्टर' नहीं यह परसाई स्वयं ही किसी लेख में लिख गए हैं। मेरूदण्ड-हीनता और विचारधारा-विहीनता के इस कुटिल काल में परसाई के बाद कोई दूसरा परसाई नहीं हुआ है। अनामिका अंगुलिका का यह नाम कालीदास के संदर्भ में तो अर्थवान है ही, परसाई से जोड़ते हुए भी वह अनामिका ही रही आएगी। दशकों पूर्व ग्वालियर में संपन्न समारोह 'महत्त्व हरिशंकर परसाई' के बाद उन्होंने लिखा था- 'मैं ग्वालियर में नहीं था, रायपुर में था। मेरी गैरहाजिरी में मेरे महत्त्व का हिसाब लगाया गया, यह अच्छा हुआ। मैं खुद होता तो कुछ बातों का प्रतिवाद हो सकता था।' 'हम शायरों की बच्चे जुनू के उठाये नाज/अहले वतने में इतनी शराफत कहां है जोश'- इस शेर को याद करते हुए उसकी दूसरी पंक्ति का शीर्षक बनाते हुए उन्होंने जो लिखा वह महत्त्वपूर्ण है। आज जब परसाई की देह जीवित नहीं हैं, तब भी वे अपनी कहानियों की देह में जिंदा हैं। उन्होंने अपने लेखन का मर्म इस मार्मिक वाक्य में भर दिया है- 'दर्द को कलेजे की भट्टी में गला कर हमने हँसी के रूप में प्रवाहित कर दिया है। गालिब के जिस शेर को वे अपने मन का शेर बताते थे, वह मुझे कंठस्थ हो गया था- 'ये लाश वेकफन असदे खस्ताजा की है/हक मगफरत करे, अजब आजाद मर्द था।' मैं इसी शेर से उठाकर परसाई को 'सम अप' करना चाहूंगा, कुल जोड़ बैठाऊंगा तो योग फल यही होगा- 'अजब आजाद मर्द थे परसाई।' परसाई सी निर्भीकता एवं साहस का प्रत्यय तो हर रचनाकार में अनिवार्यतः होना चाहिए। सार्त्र ने बताया था कि दमन और शोषण से मुक्त होने पर मनुष्य जिससे परिभाषित होता है, उसे संस्कृति कहते हैं। परसाई इसी मानव संस्कृति के पैरोकार हैं।

'प्रेमचंद की असलियत' शीर्षक से कवि परसाई ने लिखा था- 'किसी बड़े आदमी की जयंती करने से बहुत फायदे हैं इससे करने वाले की तंदुरुस्ती बढ़ती है और उम्र लंबी होती है। कायाकल्प होता है। नया जन्म होता है। जो तारा डूब रहा होता है, वह चमत्कार से एकदम ऊपर उठ आता है। अपने नाम के राम जो जन-उपेक्षा के कारण बनवास कर रहे होते हैं, यश की अयोध्या में लौट आते हैं।' सन 2017 मेरा सत्तरवां संवत्सर है। परसाईजी के स्तंभ लेखन का या कहूँ कि अटूट लिखने-छपने का सत्तरवां साल भी है यह। संस्मरण लिखने वाले मुझको भी परसाईजी द्वारा ऊपर इंगित 'एडवांटेज' मिल सकता है। अतः उनकी उक्त छवियों की याद लिखकर मैं भी इस विश्वास से उफन रहा हूँ कि मेरे दुर्बल पांव भी शायद कीर्ति का कोसलपुर देख लेंगे। इति।

एक चुप्पे की विनोद-प्रियता

नंदकिशोर आचार्य

वात्स्यायनजी से मेरी पहली मुलाकात 1971 में जोधपुर में हुई थी, जब वह बर्कले से लौटकर वहां विश्वविद्यालय में 'तुलनात्मक साहित्य विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्यरत थे। उनके काव्य-सृजन पर आधारित मेरी पुस्तक 'अज्ञेय की काव्य-तितीर्षा' उस समय तक- करीब एक वर्ष पूर्व ही- प्रकाशित हो चुकी थी। उस पुस्तक के लिखे जाने की एक अलग कहानी है, जो मैं अन्यत्र कह चुका हूं। मैं उनके साहित्य का प्रारंभ से ही प्रशंसक पाठक था। उनकी कहानी हमारे मैट्रिक के पाठ्यक्रम में थी, जिसके कारण मैं उनके नाम से परिचित हुआ। उन्हीं दिनों मैंने 'शेखर : एक जीवनी' भी पढ़ा, जो हमारे पड़ोस के एक पुस्तकालय में उपलब्ध था। यह तो क्या कहूं कि मुझे तब वह कितना समझ आया होगा, लेकिन शेखर के चरित्र और उस उपन्यास की भाषा ने मुझे बहुत प्रभावित किया। मैं उस समय तक उसी पुस्तकालय से लेकर प्रेमचंद की कहानियां, कुछ उपन्यास तथा जैनेंद्र की कई कहानियां पढ़ चुका था। 'शेखर' की भाषा और उसका प्रभाव उन सबसे बिलकुल अलग था। उसके बाद तो मैं उनकी रचनाएं खोज-खोजकर पढ़ता रहा। लेकिन, शुरू में कहानियां-उपन्यास ही पढ़े। 'नदी के द्वीप' पढ़ा, जब मैं बी.ए. द्वितीय वर्ष का छात्र था। यहां यह भी कह दूं कि हिंदी साहित्य मेरे औपचारिक अध्यापन का विषय नहीं रहा। एक पाठक की तरह ही उन्हें पढ़ता था। लेकिन, उनकी कविताएं मैंने बाद में पढ़ी जब मैं इतिहास और बाद में अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. कर रहा था।

यह 1968 के अप्रैल माह की बात है, बीकानेर में उनकी कविताओं को लेकर एक चर्चा गोष्ठी हुई, जिसमें मैंने भी उनकी कविताओं पर कुछ बातें कहीं, जिन्हें सुनकर वहां के एक वरिष्ठ लेखक डॉ. राजानंद भटनागर ने सूर्य प्रकाशन मंदिर के मालिक सूर्य प्रकाश बिस्सा को सुझाया कि उन्हें मुझसे अज्ञेय की कविता पर एक आलोचना पुस्तक लिखवानी चाहिए। सूर्य प्रकाश कॉलेज के दिनों में मेरे साथी तथा घनिष्ठ मित्र थे। जब वह यह प्रस्ताव लेकर मेरे पास आए तो मैं बहुत विस्मित हुआ और पहले तो मैंने यह कहकर इनकार कर दिया कि मैं आलोचना नहीं लिखता हूं- यद्यपि कविताएं मैं लिखने लगा था- और हिंदी आलोचना का मेरा कोई अध्ययन भी नहीं है लेकिन, आखिर उनके बहुत जोर देने पर मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस तरह वह पुस्तक लिखी गयी- यद्यपि बीच में कुछ और भी रोचक बातें हुईं, पर उनकी चर्चा का यह अवसर नहीं है। जब मैं किताब लिख रहा था तो कई मित्रों और विशेष तौर पर 'वातायन' के संपादक डॉ. पूनम दर्श्या का आग्रह

था कि मुझे दिल्ली जाकर अज्ञेयजी से मुलाकात कर लेनी चाहिए और हो सके तो उनका एक साक्षात्कार की किताब में शामिल किया जा सकता है। लेकिन, मैंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। दरअसल, उन दिनों हिंदी साहित्य के वातावरण में अज्ञेय को लेकर विचित्र प्रकार की कई अफवाहें सुनी जाती थीं : यह कि वे बहुत अहंवादी हैं, कि आप मिलने जाएंगे तो वे बात नहीं करेंगे या आपको बिठाकर दूसरी ओर से घर से बाहर चले जाएंगे और आखिर उकताकर आपको बिना बात किए ही लौटना पड़ेगा, या अगर वे बैठे भी रहे तो चुपचाप रहेंगे आदि और भी इसी तरह की बातें। मुझे लगता था कि जिसके लेखन में इतनी सूक्ष्म और गहरी संवेदना तथा मानवीय संबंधों को लेकर इतनी भाव-प्रवणता है, वह लेखक ऐसा नहीं हो सकता। लेकिन, यदि यह सब सच निकला तो क्या मैं कभी मन में उस लेखक के प्रति वही सम्मान रख पाऊंगा जो अभी मेरे मन में है। इसलिए मुझे यही बेहतर लगा कि मैं न मिलूं और वही लिखूं जो मुझे जंचता है। उनके व्यक्तित्व से अपनी आलोचना या मूल्यांकन को क्यों प्रभावित होने दूं। पुस्तक छपी तब तक अज्ञेय 'दिनमान' छोड़कर बर्कले जा चुके थे। मेरे प्रकाशक ने दबाव डालकर एक पत्र के साथ किताब वहीं भिजवा दी। मैंने फिर एतराज किया कि यदि उन्होंने जवाब नहीं दिया तो मुझे बहुत बुरा लगेगा। जब वे देश लौटेंगे तो प्रकाशक की ओर से पुस्तक उन्हें भेज दी जाएगी पर सूर्य प्रकाश नहीं माने और अंततः पुस्तक बर्कले भेज दी गई। लगभग छः महीने तक कोई जवाब नहीं आया- मुझे लगने लगा कि शायद मैंने ठीक ही सुना था। अचानक एक दिन एथेंस से उनका एक पत्र मिला जिसमें विलंब के लिए अफसोस जताते हुए किताब के बारे में उनकी टिप्पणी के साथ यह सूचना भी थी कि देश लौटकर वे जोधपुर विश्वविद्यालय में शायद आएंगे और तब शायद हमारी भेंट भी हो सकेगी। मैंने इतिहास में अपना एम.ए. जोधपुर विश्वविद्यालय से ही किया था और अकसर मैं वहां जाता रहता था। ऐसी ही एक जोधपुर यात्रा के दौरान उनसे मेरी पहली भेंट हुई थी। उस पहली भेंट में ही जैसे एक अंतरंग संबंध उनसे बन गया, जो उनके जीवन-पर्यंत न केवल बिना किसी व्यवधान के बना रहा, बल्कि और घनिष्ठ होता चला गया। मेरे बुलावे पर वह कई बार बीकानेर आए- अनंतर मुझे उनके साथ 'एवरीमेंस वीकली' और 'नया प्रतीक' में काम करने का तो अवसर मिला ही, साथ ही बोनस यह कि लगभग साल भर में उनके साथ वसंत विहार में रहा। 'एवरीमेंस' छोड़ने के बाद भी दिल्ली जाने पर उन्हीं के घर ठहरता था- गोल्फ लिंक्स, निजामुद्दीन और बाद में कैवेंटर्स ईस्ट वाले घर में। उनका ही नहीं, इलाजी का भी भरपूर स्नेह-सौहार्द मुझे मिला, जो उनके निधन के बाद भी इलाजी के जीवन-पर्यंत मुझे मिलता रहा। अज्ञेयजी के साथ हुई यात्राएं की- विशेषतया भीमताल और बिनसर की तथा उनके कई आयोजनों और संपादन-कर्म में सक्रिय सहयोगी होने का भी सौभाग्य मिला। उनके साथ बिताए गए जीवन की यादें तो इतनी हैं कि एक विस्तृत पुस्तक बन जाए, जो कभी समय मिला तो ठावस के साथ बैठकर लिखना चाहूंगा।

इस दीर्घ साथ और सहयोग के बीच मुझे अकसर इस बात पर आश्चर्य होता रहा कि जो पूर्वग्रहपूर्ण बातें उनके बारे में कही-सुनी जाती थी, उनका क्या कहीं किंचित भी आधार था। मैंने तो यह पाया कि वह हर किसी की बात को बहुत ध्यानपूर्वक सुनते और अपनी सटीक प्रतिक्रिया भी देते थे और जहां उनकी मदद की जरूरत हो और वह ऐसा कर सकते हो तो बिना जताए मदद भी करते थे तथा उस मदद का किसी से भी जिन्न तक नहीं करते थे। मैं 'एवरीमेस' में उनके साथ

काम कर रहा था तो अचानक उन्हें फ्लू हो गया। मैं क्योंकि उनके साथ ही रह रहा था, सो मैं शाम को घर जाते समय उनके नाम आई डाक साथ लेता गया। इतनी सारी डाक देखकर उन्होंने कहा कि मैं डाक खोलकर देख लिया करूं और बहुत जरूरी कुछ हो तो ही घर लाऊं। मैंने आपत्ति की कि उनकी व्यक्तिगत डाक भी उसमें हो सकती है, इसलिए मेरा उसे खोलकर देखना उचित नहीं होगा। उन्होंने कहा कि जब वह स्वयं कह रहे हैं तो मुझे संकोच करने की कोई जरूरत नहीं है। उन्हीं दिनों चार-पांच पोस्टकार्ड उनके नाम से आए, जिनमें उनके द्वारा कुछ गरीब विद्यार्थियों को भेजी गयी सहायता राशि की प्राप्ति की सूचना थी और पत्रों से यह लगता था कि यह सहायता वह उन्हें प्रतिमाह भेजते थे। मैंने वे पोस्टकार्ड दफ्तर में उनकी मेज पर ही छोड़ दिए और उनसे इस बारे में कोई जिक्र नहीं किया। मुझे मालूम था कि ऐसा कोई जिक्र करना उन्हें अच्छा नहीं लगेगा। इसी तरह, वत्सलनिधि द्वारा जरूरतमंद लेखकों के परिवारों की भी मदद की गई थी, पर उसके बारे में भी कभी कोई जिक्र वह नहीं करते थे। मुझे भी इस बात का पता डॉ. छगन मोहता से लगा, जो वत्सलनिधि के न्यासी थे और मेरे भी पितृतुल्य थे। उन्होंने एक दिवंगत लेखक के बारे में मुझसे पूछा तो मैंने जानना चाहा कि वह उनके बारे में क्यों जानना चाह रहे हैं। उन्होंने सहज भाव से कहा कि वत्सलनिधि से उनके परिवार की कुछ सहायता करने का प्रस्ताव वात्स्यायनजी ने किया है और पत्र द्वारा न्यास के अन्य सदस्यों की स्वीकृति चाही है। स्वीकृति उन्होंने भेज दी। मैंने उनसे कहा कि इस बात का जिक्र वह किसी से न करें क्योंकि वात्स्यायनजी को यह बुरा लगेगा। मैंने भी कभी उनसे इस बारे में कोई जिक्र नहीं किया कि मुझे यह बात मालूम है।

मैंने यह भी देखा कि यदि कोई व्यक्ति दिल्ली से बाहर से उनसे मिलने आता था, तो उसके जाते समय वह उससे यह अवश्य पूछते थे कि लौटते समय उसे कोई कठिनाई तो नहीं होगी। उसे वह बस नंबर आदि बताते और यदि वह व्यक्ति किसी गांव से आया है तो स्वयं उसे अपनी गाड़ी में बस स्टैंड तक छोड़ने जाते थे। कई बार ऐसे मौकों पर मैं स्वयं साथ गया हूं।

उनके चुप्पा रहने की तो बहुत अफवाहें थीं, पर मैंने पाया कि वे न केवल अरुचिपूर्वक बातचीत में हिस्सा लेते, बल्कि कई बार अद्भुत रूप से विनोद-प्रिय भी हो जाते थे। एक बार मैं, शीन काफ निजाम और रमेशचंद्र शाह कैवेंडर्स ईस्ट वाले घर में एक साथ ठहरे हुए थे। रमेश की और मेरे बीच दोस्ताना नॉक-झोंक चलती रहती थी। एक दिन नाश्ते पर बैठे हम ऐसे ही नॉक-झोंक चला रहे थे कि अचानक रमेशजी ने निजाम साहब से कहा कि जब वह उन्हें जोधपुर बुलाए तो दुश्मनों को (यानी मुझे) न बुलाएं। मैंने एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक वाक्य सुनाया कि बार्लिन का रास्ता वियना होकर जाता है। (यह वाक्य जर्मन कैसर द्वारा प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व रूस को कहा गया था, जिसका तात्पर्य यह था कि यदि कोई जर्मनी से मित्रता चाहता है, तो उसे आस्ट्रिया से भी मित्रता करनी होगी) रमेशजी ने तुरंत नहला मारा 'वही वियना जहां दुनिया का सबसे बड़ा पागलखाना है।' मैंने कुछ जवाब देता, उससे पहले ही वात्स्यायनजी ने दहला जड़ा 'हां, वही जहां से सब पागल ठीक होकर आते हैं।' मैं और निजाम साहब हँस पड़े और रमेशजी को तो अवाक् होना ही था।

ऐसा ही एक वाक्या उनकी एक जोधपुर यात्रा के दौरान हुआ। निजाम साहब चाहते थे कि उनका एक जन्मदिन जोधपुर में मनाया जाए। उन्हें किसी तरह मनाकर इस बात के लिए तैयार किया गया, जिसमें इलाजी की भी भूमिका थी और वह स्वयं इस यात्रा में उनके साथ थीं। यह सोचा

गया कि जन्मदिन की पूर्व सन्ध्या पर उनका एक काव्य-पाठ भी रखा जाए। उन्हें निजाम साहब के किसी मित्र के घर पर ठहराया गया था। शाम को काव्य-पाठ बहुत प्रभावी हुआ। वहां का जयनारायण व्यास टाउन हाल खचाखच भरा हुआ था। दूसरे दिन सुबह जब मैं और निजाम साहब उन्हें जन्मदिन की बधाई देने पहुंचे उससे पहले ही जोधपुर के कई लोग कुछ-न-कुछ भेंट लेकर पहुंच गए थे। उन्हीं में एक सज्जन ने न जाने कुछ बिना उन्हें बताए उनकी सैंडिल से पैरों का माप ले लिया था। किसी कारीगर से रातोंरात बनवाकर बहुत उम्दा जोधपुरी जूतियों का एक जोड़ा वह उन्हें जन्मदिन की बधाई के साथ भेंट दे गए थे। जब हम पहुंचे तो निजाम साहब ने काव्य-पाठ का जिक्र करते हुए कहा कि वाचन बहुत ही अच्छा रहा और श्रोता तो अभिभूत जैसे हो गए थे। वात्स्यायनजी ने मुस्कुराते हुए जूतियों का जोड़ा दिखाते हुए कहा कि तभी तो ये मिले हैं। हमें तो झंपना ही था।

इसी तरह, कई बार ऐसा हुआ है कि विद्यानिवासजी और मैं दोनों वहां एक साथ हैं। कभी स्क्रैबल खेल रहे हैं, जिसका वात्स्यायनजी को बहुत शौक था, तो कभी किसी साहित्यिक आयोजन को लेकर बातचीत हो रही है। हिंदी के कई वरिष्ठ लेखकों का स्नेह-सौहार्द मुझे शायद इसलिए भी मिल सका क्योंकि मैं वात्स्यायनजी का स्नेह-पात्र था।

दरअसल, मेरे मन में 'वात्स्यायनजी के अनेक संस्मरण' हैं। देखें, कब सबको संयोजित कर पुस्तक रूप दे पाता हूं। उनका संपादक रूप, भाषा को लेकर उनकी सजगता व्यक्तित्व के अनेक पहलू बहुत कुछ।



श्रद्धांजलि

- कवि- संस्मरणकार अजित कुमार (18 जुलाई 2017)
- कवि चंद्रकांत देवताले (17 अगस्त 2017)

के आसामयिक निधन पर
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
की
ओर से श्रद्धांजलि।

वह निगाहे करम का घना-घना साया

राजेन्द्र राव

मेरे पिता आर्डनेस फैक्ट्री (आयुध निर्माणी) में अधिकारी थे। हर चार-छः साल बाद तबादला होता रहता था। 1967 में कानपुर में ही पैराशूट फैक्ट्री से ट्रांसफर होकर हार्नेस एंड सैडलरी में आए जिसे सामान्यजन किले की फैक्ट्री कहते थे। यह शहर के मर्मस्थल याने फूलबाग के एकदम पास और गंगा किनारे है। इसकी स्थापना 1858 में ठीक गदर के बाद हुई थी। इस पुरानी फैक्ट्री के कार्मिकों के लिए अंग्रेजों के जमाने से ही तीन अलग अलग एस्टेट हैं। हमें भगवत दास घाट एस्टेट में बंगला नं.9 ए-2 मिला। दरअसल यह एक बहुत बड़ा बंगला था जिसे चार भागों में बांट दिया गया था। हमें जो हिस्सा मिला था वह गंगाजी के सामने था। उन दिनों उनका पाट बहुत विस्तृत था, जल निर्मल था और घाट से बिलकुल सटकर बहती थीं। घर के हर कमरे से पतितपावनी की मोहक छटा नजर आती थी। लोग बताते थे कि यह नानाराव पेशवा का बंगला था। उसकी स्थापत्य शैली, ऊंची-ऊंची लाल टाइल्स वाली छतें, भारी भरकम दीवारें और बड़े-बड़े खिड़की-दरवाजे, प्रवेश करते ही किसी और लोक में ले जाते थे। आज मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ किसी ऐतिहासिक जगह पर रहने का अवसर मिला। यहीं मेरा लिखना शुरू हुआ। सबसे बड़ी बात तो यह कि यहां रहते हुए मैं अनायास ही दो बड़े कथाकारों का कृपापूर्ण सानिध्य पा सका। दोनों कथाकारों की विचारधारा और लेखन शैली अलग-अलग थी लेकिन दोनों सघन व्यक्तित्व और विलक्षण रचनात्मकता के धनी थे। उनके पास जाकर बैठना मानो लेखन की अनौपचारिक कार्यशाला में प्रतिभागिता के समतुल्य था।

इस बंगले से एक सड़क नानाराव पार्क होते हुए माल रोड़ पहुंचती थी तो दूसरी सिविल लाइंस होते हुए एल्लिन मिल के मुख्य द्वार तक ले जाती थी, जहां से दो-चार कदम की दूरी पर सूटरगंज में गिरिराज किशोर का आवास था। माल रोड़ पहुंचने से पहले एक सड़क कचहरी की ओर मुड़ती थी। उस पर थोड़ी ही दूर पर रिजर्व बैंक के स्टाफ क्वार्टर्स थे जिनमें कामतानाथ रहते थे। मुझे बचपन से ही पढ़ने का बेइंतहा शौक था। हिंदी की लगभग सभी पत्रिकाएं तो खरीदकर पढ़ता था मगर किताबों के लिए दुनिया-जहान के चक्कर लगाने पड़ते थे। जिस भी शहर में बसेरा हुआ उसकी लाइब्रेरियों को छानना और किताबें इशू कराना मेरा प्रिय शगल था। उन दिनों 'सारिका', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'कहानी' और 'कादम्बिनी' जैसी पत्रिकाओं में लेखकों के पते छपते थे। भागवत दास घाट वाले घर में आकर मुझे जल्दी ही पता चल गया कि मैं कानपुर में रहने वाले दो प्रख्यात कथाकारों

के बहुत नजदीक पहुंच गया हूँ। अपरिचय और एकदम अप्रकाशित होने के कारण उनके घर जाने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। फिर भी ढूँढ़ ढूँढ़ कर गिरिराज किशोर और कामतानाथ की कहानियाँ बहुत ध्यान से पढ़ीं। कहानियों के पात्रों की बीच छुपे लेखक को देखने समझने की अनथक कोशिश करता रहा और उनके व्यक्तित्व और परिवेश के बड़े स्पष्ट मगर काल्पनिक चित्र मस्तिष्क पटल पर बना डाले। अब उनसे मिलने-भेंटने की सुविधा हो गई। संवाद भी होने लगे। कुछ ही मुलाकातों के बाद मुझे एहसास हो गया कि मैं फालतू में झिझक रहा हूँ और एक दिन हिम्मत जुटाकर, अपनी प्रिय हरक्युलिस साइकिल पर आरूढ़ हो मैं सिविल लाइंस की साफ-सुथरी सड़क पर कचहरी, डीएवी कालेज और ग्रीन पार्क पार करते हुए सूटरगंज पहुंच गया। गिरिराज किशोर एल्लिन मिल के मेन गेट के ठीक सामने वाली सड़क पर एक ऊंची कुर्सी पर बने पुख्ता मकान में अपनी बड़ी बहन सत्या दीदी के साथ रहते थे।

उन दिनों मोबाइल फोन तो क्या लैंडलाइन फोन भी प्रचलन में नहीं थे इसलिए बिना पूर्व सूचना के किसी के घर जा धमकना इतना बुरा नहीं समझा जाता था। नहीं मिले तो कोई बात नहीं। उस दिन किस्मत ने भी साथ दिया, गिरिराज किशोर उस समय घर में ही थे और संभवतः फुरसत में भी। ऊपर बगीची की मुँडेर से सत्याजी ने झाँका और ऊपर आने को कहा मैंने साइकिल नीचे सड़क पर खड़ी की और कुछ सीढ़ियाँ चढ़कर छोटी सी बगिया के विकेट गेट पर पहुंच गया। मैंने हिचकते हुए सत्या दीदी से पूछा- 'क्या गिरिराज किशोरजी घर में हैं?' उन्होंने कहा, 'हां-हां, आप अंदर आ जाइए।' फिर एक जालीदार दरवाजा खोलकर कहा, 'भैया देखो ये तुमसे मिलने आए हैं।'

उनकी छोटी सी बैठक में सामने खिड़की के पास एक लिखने की मेज थी। दूसरी तरफ किताबों से भरी दो अलमारियाँ थीं जिनके सामने सोफे पर वे बैठे कुछ पढ़ रहे थे। मेरे जैसे अपरिचित का स्वागत उन्होंने खड़े होकर किया तो मेरे सभी पूर्वानुमान ध्वस्त हो गए। मैंने कहा 'मैं आपकी कहानियाँ पढ़ता रहा हूँ। इसी शहर में रहता हूँ। आपसे मिलने की बहुत इच्छा हुई तो चला आया।' उन्होंने कहा, 'आपने बहुत अच्छा किया।' उसके बाद वे पूछते रहे और मैं बोलता रहा। पहले उनकी कहानियों पर बात हुई फिर कामतानाथ, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, भारती, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश से लेकर अज्ञेय और मटियानी तक मैं बोलता चला गया। पुस्तकालयों से ले जाकर पढ़ी हुई किताबों के बारे में ऐसा किसी साहित्य के देवता के सामने बोलने का यह पहला अनुभव था। वे बड़े ध्यान से मेरा पाठकीय प्रलाप सुनते रहे। चुप हो जाता तो प्रश्न करके सिलसिले को आगे बढ़ा देते। सहसा मैंने अनुभव किया कि उनके चेहरे पर प्रसन्नता का सुखद उजाला छाया हुआ था। मैंने इसे स्वीकृति के रूप में लिया। उनके सामने मेरी कोई रचना नहीं थी, कुछ भी नहीं था, यहां तक कि रंगरूपन भी तो नहीं था। जब यह सिलसिला थमा तो उन्होंने मेरे घर परिवार, नौकरी और निवास आदि के बारे में जानकारी ली। फिर सहसा पूछा, 'क्या आप लिखते हैं?' जाने क्यों मुझे ऐसा लग रहा है कि आपने एक-दो कहानियाँ लिखी हैं और अब ठीक से लिखने का मन बनाया है।'

उनके इस प्रश्न और अंतर्निहित आब्जर्वेशन ने जैसे मेरा कुंडलनी जागरण कर दिया। हकीकत यह थी कि मैंने अपनी कैमिकल प्रोसेस प्लांट की शिफ्ट इंचार्ज की नौकरी के दिनों के कठिन अनुभवों को बगैर ज्यादा नमक-मिर्च लगाए लिख डाला था एक लंबी कहानी के रूप में। पृष्ठभूमि में बल्लभ गढ़ के पास एक निर्जन स्थान पर स्थापित एस्बेस्टस सीमेंट की चदरें बनाने वाला कारखाना था जो

दिन-रात चलता रहता था। हम आठ-दस युवा शिफ्ट इंचार्ज पीली कोठी नमक बैचलर्स होस्टल में रहते थे और हफ्तावार शिफ्ट बदलती रहती थी। प्लांट जब तक चलता सब कुछ ठीक रहता मगर ब्रेक डाउन होते ही चारों तरफ कहर बरपा हो जाता। विशालकाय अजगर की तरह लेटे पड़े स्वचालित प्लांट से जगह-जगह सीमेंट और एस्बेस्टास की स्लरी के फव्वारे फूट पड़ते। मेंटीनेंस फिटर्स के साथ स्थिति को काबू करने के भागीरथ प्रयास में हमारे कपड़े, हाथ और बाल स्लरी से ओत-प्रोत हो जाते। घंटों की मशक्कत के बाद अजगर करवट बदलता और हम प्रोडक्शन लास का तखमीना लगाने और अगले दिन दिए जाने वाले लिखित स्पष्टीकरण का ड्राफ्ट बनाने बैठ जाते। बड़ी बीहड़ जिंदगी थी वहां की। बस वीक एंड पर एक दिन हम सभ्यता की ओर लौटते थे जब सुबह से देर रात तक दिल्ली जाकर मौज मनाने के लिए कंपनी की स्टेशन वैगन मिलती थी।

अगले हफ्ते मैं लगभग बीस पेज की हस्तलिखित कहानी गिरिराजजी को पढ़ने के लिए दे आया। कुछ हिम्मत बढ़ी तो उनकी आलमारी के दो किताबें भी पढ़ने के लिए मांग लाया। अगली छुट्टी के दिन उत्सुकता भरे हृदय और लौटाने वाली किताबों के साथ उनके यहां पहुंचते ही यह आभास हो गया कि वे प्रसन्न और मेरी लगातार डिस्टर्बिंग साप्ताहिक उपस्थिति के प्रति अत्यंत सहज थे। उन्होंने कहानी को पसंद किया था, कुछ संशोधन-संपादन भी कर दिया था। पांडुलिपि को लौटाते हुए उन्होंने कहा, 'लगता नहीं कि यह आपकी पहली कहानी है लेकिन आपने पढ़ा बहुत है। पढ़ा ही नहीं गुना भी है, इसी से सध गया है। इससे बहुत फर्क पड़ता है। आप इस कहानी को एक बार फिर से रीराइट करके 'कहानी' पत्रिका को भेज दीजिए। उसके संपादक श्रीपत राय हैं, प्रेमचंदजी के बड़े पुत्र। वे 'कहानी' के नववर्षािक के लिए आई हुई कहानियों में से सर्वश्रेष्ठ कहानी को पुरस्कृत करते हैं और सम्मान सहित छापते हैं। मुझे लगता है कि आपकी यह कहानी बाजी मार सकती है।' अपनी कहानी के बारे में उन जैसे सिद्धहस्त लेखक से सुने गए वे शब्द आज, इतने दिन बाद भी मेरे कानों में गूंज उठते हैं। ऐसे खांटी प्रोत्साहन की राह मेरे अंदर छुपा बैठा कथाकार जाने कब से देख रहा था। कुछ लिखने के बाद मैं हमेशा सोचा करता था कि इसे किस को पढ़वाऊं? मेरे घर और फैक्ट्री के परिवेश में दूर-दूर तक साहित्यिक अभिरुचि का नामोनिशान तक न था। बहरहाल मैंने बैग से निःसंकोच दूसरी कहानी उनके हवाले की और कल्पना के पंखों पर उड़ते हुए खुशी-खुशी घर आया। बगैर दम लिए कहानी को फिर से लिखने में तल्लीन हो गया। एक स्वर्णिम अवसर मेरे सामने था।

अगले हफ्ते उनके यहां पहुंचा तो उन्होंने एक और अच्छी खबर सुनाई। मेरी दूसरी कहानी उन्होंने पढ़ने के बाद एक परिचयात्मक पत्र के साथ 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के संपादक मनोहर श्याम जोशी को भिजवा दी थी। उनकी सदाशयता और उदारता का यह रूप देख मैं मन ही मन नतशिर हुआ। एक कतई अनजान, अनाम और नौसिखिये युवा लेखक को राह दिखाने में उन्होंने जरा भी देर नहीं की। उस समय बिलकुल नहीं सूझा कि किस तरह अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की जाए चुपचाप बैठ गया। उन्होंने स्थिति को समझकर बातचीत का रुख दूसरी ओर मोड़ दिया।

भागवत दास घाट कानपुर के बड़े डाकघर के एकदम पास था। वहां दिन में दो बार डाक आती थी। दिल्ली से चला पत्र तो दूसरे ही दिन मिल जाता था। अगले ही दिन 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' से एक मोटा सा लिफाफा आ पहुंचा। मेरा दिल धक्क से रह गया- जाहिर था कि कहानी लौट आई

है। उदास मन से लिफाफा खोला-कहानी ही थी मगर जोशीजी के पत्र के साथ। पत्र पढ़ते ही मेरी बांछें खिल गईं। उन्होंने लिखा था- 'प्रिय भाई, आपकी कहानी अच्छी लगी और आपकी श्रो-अवे स्टाइल भी पसंद आई लेकिन कहानी जरूरत से ज्यादा लंबी है। इसमें से कुछ अनावश्यक विवरण आदि आसानी से हटाए जा सकते हैं। आशा है कि थोड़ी काट-छांट करके इसे शीघ्र भेजेंगे। 'मेरी समझ में यह एक स्वीकृति पत्र था, पूरा नहीं तो तीन बटा चार तो था ही। 'अब विलंब केहि कारण कीजे'- मैं तुरंत ही कहानी को फिर से लिखने बैठ गया। सामने वहां से लौटी हुई पांडुलिपि रख कर। दोबारा लिखते हुए महसूस हुआ कि सचमुच कुछ अवांतर प्रसंग और फालतू विवरण जिन्हें हटाने पर रचना कहीं अधिक चुस्त-दुरुस्त लगने लगी। बहुत से शब्द बदले गए, वाक्य नए सिरे से बनाए गए। देर रात तक मैं उसी में उलझा रहा और काम पूरा करके ही उठा। सुबह बड़े डाकघर में काउंटर खुलते ही कहानी वाला लिफाफा उसमें सरका दिया। यह दिसंबर 1970 के तीसरे हफ्ते की बात रही होगी।

नए साल के पहले ही दिन श्रीपत रायजी का पत्र मिला। उन्होंने लिखा था- 'प्रिय राजेन्द्र, तुम्हारी कहानी 'शिफ्ट' पढ़ कर आनंद की अनुभूति हुई। मैं इस कहानी को पुरस्कार देते देते रह गया। यह नववर्षाक में प्रकाशित होगी। 'उनके पत्र ने मानो गिरिराज किशोर द्वारा प्रगट की गई राय पर मोहर लगा दी। अगले दिन सुबह हाकर ने 3 जनवरी का 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' का अंक अखबार के साथ डाला तो देखा उसमें मेरी कहानी 'सुनहरी मछली को किसने मारा' छपी थी। तीन पृष्ठों में फैली उस कहानी के साथ मेरा चित्र भी छपा था। सच कहता हूं वह मेरे जीवन का एक निर्णायक क्षण था। एक अज्ञात कुल-शील युवा लेखक को नए वर्ष का इससे बेहतर क्या तोहफा मिल सकता था। दो तीन दिन बाद 'कहानी' का विशेषांक भी आ गया। उस वर्ष पृथ्वीराज मोंगा की कहानी पुरस्कृत हुई थी। उसके बाद स्थितियों में बदलाव आने लगा। वह जमाना कुछ और था। लोग कहानियां बड़े शौक से पढ़ते थे और पसंद या नापसंद होने पर लेखक को ही नहीं संपादक को भी पत्र लिखते थे। मेरे नाम जगह जगह से पत्र आने लगे। पाठकों के पत्र तो थे ही, बहुत सी पत्रिकाओं से रचना भेजने के आमंत्रण भी आए। लघु पत्रिकाएं भी। किस्सा-कोताह यह कि गिरिराज किशोरजी के यहां जाते हुए मुश्किल से डेढ़ महीना हुआ होगा कि बतौर कथाकार मेरा बप्तिस्मा बड़ी सहजता से हो गया। मुझे यह बात धीरे धीरे समझ आई कि उनके सघन और उत्प्रेरक रचनात्मक व्यक्तित्व के सानिध्य में मेरी क्षीण सर्जना सहसा पनप उठी थी। मैं जल्दी ही उनके घर के एक सदस्य की तरह संकोचमुक्त हो गया। उनकी बड़ी बहन सत्याजी और जीवन संगिनी मीराजी का स्नेह और आतिथ्य कम बड़ी उपलब्धि नहीं थी।

गिरिराज किशोर नियमित लेखन करते थे। अलस्सुबह। उनके हस्तलिपि पढ़ने के लिए अभ्यास की जरूरत पड़ती थी। एक टाइपिस्ट नियमित रूप से उनके लिखे पन्नों को टाइप करता था। कभी कभी वे लिखे जा रहे उपन्यास के अंश मुझे सुनाते थे। जैसे जैसे मैं उनकी रचना प्रक्रिया से परिचित होता गया मेरे मन में उनकी प्रतिभा और लेखन में संलग्नता के प्रति आदर की भावना बढ़ती गई। मैं अपने जीवन में पहली बार एक से व्यक्ति को देख रहा था जिसके लिए साहित्य से बढ़कर कुछ भी नहीं था। उन दिनों वे कानपुर विश्वविद्यालय में डिप्टी रजिस्ट्रार थे और अनेक व्यस्तताएं थीं मगर अपने दिन का अच्छा खासा समय वे पढ़ने-लिखने के लिए सुरक्षित होता था।

उन दिनों वह अपना महत्वपूर्ण उपन्यास 'जुगलबंदी' लिख रहे थे। उनका साहित्य और नौकरी में प्रवेश इलाहाबाद में रहते हुए हुआ था। उन दिनों इलाहाबाद हिंदी साहित्य के केंद्र में था हालांकि दिल्ली धीरे-धीरे साहित्य में पैर फैलाती जा रही थी। फुरसत में होते तो अकसर इलाहाबाद के दिनों के अपने अनुभव सुनाया करते। उनकी देखा-देखी मैं भी लिखने-पढ़ने में संलग्न होता गया। घर की छोटी टेबुलों पर लिखने में होने वाली दिक्कत को देखकर मेरी मां ने मेरे लिए एक लिखने की मेज बनवा दी। एक डाइनिंग चेयर भी खरीदी गई। बस मेरा ठीया बन गया। मैं चूंकि फैक्ट्री में नौकरी करता था इसलिए दिन में लिखना संभव नहीं था। घर से कार्यस्थल (एचएएल) दूर था। सुबह का गया शाम को लौटता था। मैंने देर रात को लिखने की आदत डाल ली। रात का खाना खाकर अपनी मेज पर जम जाता। पहले डाक निपटाता, पत्रिकाओं के नए अंक पढ़ता फिर लिखने का सिलसिला देर रात तक चलता। कभी-कभी तो पूरी रात आँखों ही आँखों में कट जाती। जैसे ही रचना पूरी होती किसी न किसी पत्रिका को भेज देता। यूँ तो स्वीकृति का प्रतिशत बहुत अच्छा था मगर उन दिनों संपादक नए ही नहीं स्थापित लेखकों से भी मेहनत करवाते थे। खुद तो करते ही थे।

तब से लेकर आज तक साहित्य की दुनिया के लोकाचारों में बहुत बदलाव आया है परंतु गिरिराज किशोरजी के घर में साहित्यिकों के आतिथ्य और आवभगत की बहुत ही सुंदर परंपरा में रती भर भी बदलाव नहीं आया है। मैं उनके घर नियमित रूप से जाने-आने लगा तो अकसर ही उनके यहां किसी न किसी साहित्यिक व्यक्ति को ठहरे हुए या बैठे हुए पाया। स्थानीय लेखक तो होते ही थे बाहर से आने वाले बहुत से बड़े लेखकों और संपादकों से मैं उनके यहां ही मिला। कहां तक गिनाऊं बड़ी लंबी सूची है फिर भी कुछ लोगों का उल्लेख करना चाहूंगा जो वहां मिले और प्रकारांतर से जिनकी थोड़ी बहुत आत्मीयता हासिल हो पाई- मनोहर श्याम जोशी, राजेन्द्र यादव, नरेश मेहता, उपेन्द्रनाथ अशक, शैलेश मटियानी, रमेश बक्शी और अचला शर्मा, श्रीलाल शुक्ल, से.रा. यात्री, कन्हैयालाल नंदन आदि से सूटरगंज वाले मकान में ही परिचय हुआ। (जाहिर है कि गिरिराज किशोर के सौजन्य से) बाद में जब वे आईआईटी में रजिस्ट्रार होकर गए और कैंपस में रहने लगे तो उनके द्वारा स्थापित रचनात्मक लेखन केंद्र के कार्यक्रमों में हिंदी साहित्य का शायद ही कोई ऐसा महत्वपूर्ण नाम रहा हो जो न आया हो। वहां के अतिथि गृह में हमेशा कोई न कोई बड़ा साहित्यकार हफ्तों या महीनों के लिए ठहरा हुआ होता। फिर भी कुछ लोग थे जो गिरिराजजी के घर में ही ठहरते थे। उनमें प्रमुख नाम है अज्ञेयजी का। कम से कम दो बार तो मेरे जैसे अपदार्थ को भी उनके यहां अज्ञेय जैसी महान हस्ती के पास बैठने का, उन्हें नाश्ता करते हुए देखने का और बहुत ज्यादा जरूरत पर बहुत कम बोलते हुए देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मगर तब तक गंगा में बहुत पानी बह चुका था। मैं फिर से सत्तर के दशक के सूटरगंज वाले दिनों की ओर लौटता हूँ। सूटरगंज वाले घर में मैं जिन लोगों से मिला उनमें मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया मनोहर श्याम जोशी जिनके तेज तर्रार संपादन में 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' हिंदी की नंबर एक पत्रिका 'धर्मयुग' से जमकर टक्कर ले रही थी। गेट अप, कलर प्रिंटिंग, कागज के लिहाज से 'धर्मयुग' के मुकाबले 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' कहीं ठहरता नहीं था मगर जोशीजी नित नई योजनाएं बनाते और क्रियान्वित करते रहते थे। जब मेरी दो तीन कहानियां उन्होंने छाप दीं तो एक दिन मिलते ही बोले, 'मैं चाहता हूँ कि तुम कहानियों के अलावा भी कुछ दिलचस्प और पठनीय किस्म का गद्य लेखन करो। फिलहाल रिपोर्टाज या यात्रा

वृत्तांत से शुरू कर सकते हो फिर इन डेप्थ रिपोर्टिंग में उतरो।’ रिपोर्ताज और इन डेप्थ रिपोर्टिंग की लेखन कला जानने के लिए उन्होंने कुछ अंग्रेजी किताबों को पढ़ डालने की सलाह दी। मैं इस दूर की कौड़ी के बजाए कुछ लाइव वायर लेखन करने के मूड में था इसलिए कह बैठा, ‘जोशीजी, मैंने बचपन और बाद के दिनों में कुछ लोगों को प्रेम में पड़ते और नाकाम होते बहुत नजदीक से देखा है। मेरे पास उनकी असफल प्रेम की कहानियां हैं। आप कहें तो मैं लिखना शुरू कर दूं।’ जोशीजी ने गंभीर होकर अपने मोटे फ्रेम के चश्मे से झांकते हुए गौर से मुझे देखा और बोले, ‘सब काम छोड़कर इसे लिखना प्रारंभ कर दो। कम से कम छह सात कहानियां लिख डालो जिन्हें एक अच्छा सा शीर्षक देकर प्रेम कहानियों की धारावाहिक शृंखला के रूप में छपा जा सके।’ हमारे इस वार्तालाप को गिरिराजजी चुपचाप सुन रहे थे। बाद में उन्होंने कहा, ‘यह अच्छा आइडिया है मगर गहराई और संवेदना से लिखना उतनी ही बड़ी चुनौती है। आप लिखिए फिर देखते हैं।’

उधर दिल्ली पहुंचते ही जोशीजी ने पहले पत्र और फिर तार द्वारा तकाजा शुरू कर दिया। मैंने रात रात जाग कर तीन-चार दिनों में तीन कहानियां लिख डालीं। शीर्षक क्या रखा जाए कुछ समझ में नहीं आ रहा था। गिरिराजजी ने कहानियां पढ़ीं, पसंद किया और शीर्षक सुझाया- ‘सूली ऊपर सेज पिया की’। उसके बाद की कथा आज भी स्वप्नवत लगती है। साप्ताहिक हिंदुस्तान में लगातार दो हफ्तों तक धारावाहिक प्रेम कथा शृंखला का विज्ञापन छपा और असफल प्रेम कहानियों की सिरीज का प्रकाशन आरंभ होते ही धूम मच गई। इसका लोगो बहुत आकर्षक था- परिणय स्थल पर रखे जाने वाले डिजायनर मंगल कलश पर लिपटा हुआ विषधर। तीसरी किस्त आते-आते तो पाठकीय प्रतिक्रियाओं का जैसे सैलाब उमड़ आया। मेरे घर सैकड़ों की संख्या में पत्र आने लगे। एक दिन इस भीड़ में आया एक दुर्लभ पत्र, ‘धर्मयुग’ के संपादक धर्मवीर भारती का। उन्होंने इस सिरीज की योजना और इसके अंतर्गत लिखी गई असफल प्रेम की कहानियों को बहुत पसंद किया था। साथ ही धर्मयुग के लिए भी ऐसी ही किसी धारावाहिक सिरीज की योजना बनाने का कृपापूर्ण आमंत्रण था। उधर ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ का प्रिंट-आर्डर अंक दर अंक बढ़ता जा रहा था। जोशीजी का आग्रह या कहिये आदेश था कि इसकी कम से कम दस किस्तें लिखी जानी चाहिए। मैंने एक इलेक्ट्रिक कैटल खरीदी और चाय बनाने का सामान अपनी लिखने की मेज पर रखकर पूरी पूरी रात लिख कर बाकी सात किस्तें लिखीं। लिखते-लिखते थक जाता था तो बाहर बरामदे में आकर रात के अँधेरे में मंथर गति से बहती भागीरथी का मौन निनाद सुनने का प्रयास करता। वह अनहद नाद कानों ही नहीं प्राणों के लिए भी अमृत तुल्य था। यह मेरा सौभाग्य ही था कि विश्व की सबसे ऐतिहासिक और पवित्र कही जाने वाली नदी की गोद में बैठकर (कुछ बरस) लिखने का अतुल्य अवसर मुझे मिला।

गिरिराज किशोर नेशनल बुक ट्रस्ट और साहित्य अकादेमी के सेमिनार और समारोह में भाग लेने दिल्ली जा रहे थे। मुझे भी साथ लेते गए। उनके सौजन्य से पहली बार निजी यात्रा प्रथम श्रेणी के डिब्बे में की। उनके ससुर दिल्ली मिल्क स्कीम के जनरल मैनेजर थे। उनके सरकारी आवास में हम ठहरे। टैक्सी से हर जगह गए। एनबीटी के सेमिनार में सभी भारतीय भाषाओं के ख्यात नाम लेखक आए थे। अंग्रेजी में उनके विद्वतापूर्ण भाषणों के बीच श्रीकांत वर्मा, लक्ष्मी नारायण लाल और मुद्राराक्षस को सुनना एक अलग ही तरह का अनुभव था। साहित्य अकादेमी पुरस्कार नामवर सिंह

को मिलना था। वहाँ पहुँचे तो आलोचक प्रवर का भाषण चल रहा था। इतने बरस बाद भी उनकी वह बात याद आती है कि 'मैं भी साहित्य के मंदिर में आराधना करने आया था मगर देखा कि यहाँ बहुत कूड़ा-कचरा जमा है तो झाड़ू लेकर उसे बुहारने लग गया तब से यही काम कर रहा हूँ।' यह मैं विशुद्ध स्मृति के सहारे लिख रहा हूँ। हो सकता है कि शब्द कुछ और रहे हों मगर आशय यही था। आलोचना को इतने सहज रूपक से परिभाषित करने का उनका वाक चातुर्य मुझे भाया। इस यात्रा में मैंने हिंदी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के भी महत्वपूर्ण लेखकों को देखा-सुना। मुझे कुछ निराशा भी हुई। सब के सब सजे-धजे, सतर्क, एक दूसरे के कान काटने वाले चतुर और गरिमा ओढ़े लोग थे। इनमें वह मस्ती, वह फक्कड़पन, वह चुहल, वह सादगी नजर नहीं आई जिसकी कल्पना मैं किया करता था। जैसे शायद घर परिवार में ठीक से रहते होंगे मगर यहाँ एनबीटी या साहित्य अकादेमी का आतिथ्य, मंच की चौधियाने वाली रोशनी में 'साला मैं तो साहब बन गया, साहब बनकर खूब तन गया' को चरितार्थ करते हुए शेष क्षुद्र प्राणियों (श्रोताओं/दर्शकों) को अपनी महती उपस्थिति से कृतार्थ कर रहे थे। जैसे श्रोताओं में श्रद्धालुओं की संख्या काफी थी। यह मेरी खामखयाली भी हो सकती है मगर कुछ न कुछ गड़बड़ थी जरूर। एक दो महिलाएं तो लक्ष्मी नारायण लालजी पर लट्टू हुई जा रही थीं। उधर प्रगति मैदान में अंतरराष्ट्रीय पुस्तक मेला भी लगा हुआ था। मतलब यह कि बतौर ग्रीन हार्न मेरी दीक्षा उन दो दिनों में हो गई।

गिरिराज किशोर के आत्मीय मित्रों में राजेन्द्र यादव बहुत ऊंची पायदान पर थे। महीने दो महीने में उनका एक-आध चक्कर लग ही जाता था। कानपुर के जाने माने कांग्रेसी और साहित्यकार (आलोचक) नरेशचंद्र चतुर्वेदी भी उनके काफी करीब थे। इन तीनों महानुभावों ने मिलकर एक बहुत अच्छी और गंभीर साहित्यिक पत्रिका 'निरंतर' का प्रकाशन कानपुर से शुरू किया। मेरे सामने ही इसके कई अंक निकले और चर्चित हुए। एक दिन जब मैं साइकिल से गिरिराज धाम पहुंचा तो राजेन्द्र यादव बाहर बगिया में खड़े थे। मैं सुरक्षित रखने के लिए साइकिल उठाकर ऊपर ले गया। यह देखकर राजेन्द्र यादव ने कहा, 'एक बात बताओ, तुम हिंदी के लेखकों की नाक कटवाने पर क्यों तुले हो? क्यों ये साइकिल घसीटते घूमा करते हो। फौरन एक स्कूटर खरीदो। अगली बार मैं तुम्हें साइकिल पर नहीं देखना चाहता।'

मैंने कहा, 'स्कूटर खरीदने के लिए पैसे भी तो हों फिर साइकिल तो आम आदमी की सवारी है।'

राजेंद्र राव ने हँसते हुए कहा, 'पैसे तो बिरला के लगने हैं। कौन तुम्हारी जेब से जाने हैं।' उनका इशारा 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में चली दो धारावाहिक शृंखलाओं और एक उपन्यास से था। वहाँ से जाने कितने चेक आए थे जिन्हें मैं बैंक में जमा कर देता था। भले ही हँसी में कही गई हो मगर उनकी बात मेरे मन को लग गई। घर में आकर बात की तो सबने कहा कि ठीक ही तो कहते हैं, अब जैसे भी बन पड़े स्कूटर खरीद डालो। बैंक से जमा-धमा निकाली, कुछ पैसे मां ने दिए। उन दिनों स्कूटर खुले बाजार में नहीं ब्लैक में मिलता था। काफी देखने सुनने के बाद एक लैम्ब्रेटा स्कूटर खरीद लिया। अगले महीने जब राजेन्द्र यादव गिरिराजजी के यहाँ आए तो मेरा स्कूटर देखकर बहुत खुश हुए, 'हां यार, अब लगते हो हिंदी के लेखक।' उन्हीं दिनों यह खबर जोरों पर थी कि इंडियन प्रेस वाले जिन्होंने अमृतराय से 'नई कहानियां' पत्रिका खरीदी थी उसे बेचना चाहते हैं।

निरंतर के तीनों संपादकों ने 'नई कहानियां' खरीदने के लिए इलाहाबाद जाने का प्लान बनाया। जाने कैसे मुझे भी साथ ले जाने पर सहमति बन गई। अपना यह हाल था कि उस समय तक इलाहाबाद ही नहीं देखा था। तीन साहित्य के दिग्गजों के साथ इलाहाबाद के साहित्यिक परिदृश्य को देखने का यह स्वर्णिम अवसर था।

नरेशजी की एम्बेसडर कार से हम चारों इलाहाबाद गए। उन लोगों की साहित्यिक बातचीत, खास तौर पर राजेन्द्र यादव की छेड़छाड़ और लतीफों के बीच रास्ता कैसे कट गया पता ही नहीं चला। गाड़ी सीधे पाठकजी के घर के सामने जाकर रुकी। वे ही इंडियन प्रेस के कर्ता धर्ता थे। 'नई कहानियां' चल नहीं पा रही थी इसलिए बिकनी तो थी ही मगर उसके तत्कालीन सहायक संपादक उसे लेने की बात कर चुके थे। पाठकजी के रूचि लेने के बावजूद बात बनी नहीं। वहां से लोकनाथ पहुंचकर बढ़िया किस्म की, देसी घी की पूरी-सब्जी का भोजन किया। गिरिराजजी ने लोकनाथ के बारे में बताया। वह उस समय शहर का सबसे लोकप्रिय फूड कोर्ट था। देखने में भले ही किसी कस्बे के बाजार सा लगता हो। वहां के प्रसिद्ध इलाहाबादी मिनी समोसे और आलू दम मसाला के पैकेट खरीदे गए। उसके बाद अगला मुकाम रानी मंडी स्थित कालिया दंपति का घर था। रवीन्द्र कालिया की विनोद वृत्ति और ममताजी की सहजता ने मुझे प्रभावित किया। हम लोग ऊपर बैठे थे, नीचे उनका प्रेस चल रहा था। दो तीन और साहित्यकारों के घर होकर इस यात्रा का अंतिम पड़ाव सिविल लाइंस स्थित काफी हाउस में हुआ। कहना न होगा कि दिल्ली और इलाहाबाद की दोनों यात्राएं मेरे लिए बहुत शिक्षाप्रद रहीं। मैंने महसूस किया कि हिंदी साहित्य का एक पुराना अड्डा धीरे-धीरे उखड़ रहा है और केंद्रीय सत्ता के संरक्षण में अत्यंत प्रभावी शक्तिपीठ तेजी से उदित हो रहा है। इलाहाबाद के काफी हाउस में नगर के लगभग सभी छोटे बड़े लेखकों के दर्शन हुए। शैलेश मटियानी, शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह, सतीश जमाली, अशकजी आदि के नाम अभी भी ध्यान में हैं। संगम तक तो जाना नहीं हुआ मगर साहित्यिक संगम में स्नान जरूर कर लिया। वहां के प्रबुद्ध रचनाधर्मियों की बातें सुनकर ऐसा लगा कि साहित्य एक लाइलाज बीमारी है और इसे हल्के में लेना ठीक नहीं है। वहां लोग साहित्य को जीते थे, लगता था कि उनकी वही हर सांस के साथ अंदर जाता था और रचना या विमर्श के साथ बाहर आता था।

'धर्मयुग' के लिए मैंने पहले तो एक कहानी लिखी फिर सर्कस कलाकारों के जीवन में छाए अंधेरों की कहानियों की एक कथा श्रृंखला लिखी- 'हम विषपाईं जनम के'। यह शीर्षक भी गिरिराजजी ने ही दिया था। श्रीपत राय की 'कहानी' के लिए मैं नियमित रूप से लिखता रहा। हर दो तीन महीने के बाद उनकी चिट्ठी आ जाती थी। उन दिनों हिंदी कहानी की सबसे चर्चित पत्रिका 'सारिका' थी। कमलेश्वर उसके संपादक थे और अपनी पत्रिका के जरिए समांतर कहानी आंदोलन उन्होंने छेड़ा हुआ था जो कि घोषित रूप से आम आदमी के सरोकारों और उसकी बेहतरी से जुड़ा हुआ था। इस आंदोलन के न तो समर्थकों की कमी थी न ही विरोधियों की। सारिका बड़ी पत्रिका थी, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, राजेंद्र अवस्थी और मोहन राकेश उसके संपादक रहे थे। कमलेश्वर अपने खुलेपन और वाकपटुता के चलते युवाओं में लोकप्रिय होते जा रहे थे। मैंने एक लंबी कहानी लिखी- 'कीर्तन' और सारिका को भेज दी। मुझे उमीद तो नहीं थी मगर दो हफ्ते बाद ही कमलेश्वर के पत्र के साथ कहानी वापिस आ गई। उन्होंने पहले तो कहानी की कुछ खूबियों का उल्लेख करते हुए

उसे और अधिक कसी हुई बनाने के लिए कुछ सुझाव दिए और तदनुसार पुनर्लेखन करके भेजने के लिए लिखा। जल्दी ही वह कहानी उस समय सारिका में चल रही भारतीय भाषाओं की लंबी कहानियों की शृंखला में छपी और चर्चित हुई। इस कहानी के छपने के बाद एक दिन कामतानाथजी ने मिलने के लिए बुलवाया। वे मेरे घर के बिलकुल पास ही रहते थे। उनसे आत्मीयता स्थापित होने में देर नहीं लगी।

अब तक मैं बहुत से चर्चित और सफल लेखकों और कवियों से मिल चुका था। मैं देखता था कि गिरिराज किशोर सबसे अलग थे। उनमें विनम्रता और मिलनसारिता थी। वह साहित्य जगत को अपना विशद परिवार समझकर चलते बहुत थे। हिंदी ही नहीं अन्य भाषाओं के बहुत से धुरंधरों से उनका मिलना बैठना था लेकिन हृदय दर्जे के स्वाभिमानी थे। उस जमाने में जब धर्मवीर भारती और कमलेश्वर की तूती बोलती थी गिरिराजजी ने 'धर्मयुग' और 'सारिका' से मुंह मोड़ लिया। किसी समय दोनों उनके बहुत करीब थे लेकिन कुछ तो संपादकी की अहंमन्यता और कुछ सैद्धांतिक मतभेद जब दीवार बनकर खड़े हो गए तो उन्होंने इन दो शीर्ष पत्रिकाओं को रचना भेजना बंद कर दिया। ऐसी हिम्मत और अभिमानी जिद मैंने मटियानीजी के अलावा और किसी में नहीं देखी लेकिन उन्होंने हमेशा मुझे 'धर्मयुग' और 'सारिका' में रचनाएं भेजने को प्रोत्साहित किया। इसके अलावा एक खूबी यह कि वे पूर्णतः अव्यवसनी, सामिष और टी टोटलर रहे हैं जबकि अधिकतर लेखक सिगरेट या शराब के सेवन को सामान्य लोकाचार मानते थे। मैं खुद सिगरेट पीता था। कभी-कभार पीने में भी कोई अटक नहीं थी और चाय का बेहद शौकीन था। गिरिराजजी के यहां हमेशा ग्रीन लेबल मिश्रित बढ़िया फ्लेवर वाली चाय मिलती थी। उनके यहां कोई न कोई साहित्यकार आया ही रहता था। उनका अतिथि सत्कार बेजोड़ था मगर कभी-कभी मद्यप मेहमान के सत्कार को लेकर दिक्कत आती थी। मुझे याद है एक बार रमेश बक्षी और उनकी संगिनी अचला शर्मा आकर ठहरे। उनके सामान में सूटकेस और बैग के अलावा एक पांच लीटर का रम का भरा कंटेनर भी था। संयोगवश शाम मैं वहां पहुंचा तो गिरिराजजी ने कहा, 'चलो इन लोगों को लेकर क्वालिटी (बार) चलते हैं। मैं तो लेता नहीं आप इनका साथ देना।' फिर दो रिक्शों में सवार होकर हम लोग चले तो बक्षीजी ने मना करते-करते भी रम का कंटेनर साथ ले लिया। बोले, 'आप लोग समझते नहीं हैं? बार की नपी तुली डोज से हमारा कुछ नहीं होगा।' खैर उस दिन शहर के एकमात्र अच्छे बार में जो साहित्यिक महफिल जमी उसकी याद आज भी पुलकित कर देती है। रमेश बक्षी का बात कहने और सुनने का अंदाज और अचलाजी का सुंदर व्यक्तित्व मुझे बहुत भाया। इसी तरह का एक अवसर अशकजी के कानपुर प्रवास के दौरान आया। नरेशचंद्र चतुर्वेदी अपनी कार में अशकजी, गिरिराजजी और मुझे क्वालिटी ले गए। वहां कठिनाई यह आई कि दोनों मेजबान ठहरे वैष्णव और मुख्य अतिथि उनके साथ दिए बगैर दावत कबूल करने को तैयार नहीं। उधर वेटर आर्डर लेने के लिए खड़े-खड़े थक गया। अशकजी की जिद रंग लाई। टी टोटलरों ने थोड़ी थोड़ी बीयर से मुंह झूठा करना स्वीकार किया और मधुपान गोष्ठी आरंभ हुई। मेरा खयाल है उस समय अशकजी अस्सी के पेटे में रहे होंगे या कुछ कम मगर उनकी शोखी देखते ही बनती थी। बातों के बादशाह मगर मजाल है कि सामने वाले की बात से आसानी से सहमत हो जाएं। कुछ छेड़छाड़, कुछ फतवे, कुछ निजी प्रसंग, यही सब होता रहा मगर अशकजी की उपस्थिति ने वातावरण को आवेशित किए रखा। अशकजी के साथ मैंने व्हिस्की के दो पैग तो लिए ही होंगे

मगर बीयर की बोतल बहुत राम-राम करके खाली हुई।

हमारे संबंध पारिवारिक स्तर पर भी बढ़ते रहे। भागवत दास घाट वाले घर वे कई बार आए। मेरे बेटा जन्मा तो सत्या दीदी उसके लिए स्वयं बुनकर एक नन्हा सा ऊनी सूट लाई। वह अब भी हमारे यहां है। मेरी मां गिरिराजजी का बहुत सम्मान करती थीं। जब भी कहीं जिक्र छिड़ता उनकी तारीफ करतीं। आज पुरानी स्मृतियों का रेला आया तो गिरिराजजी से जुड़ी कुछ यादों को यहां दोहरा सका। अभी तो बहुत कुछ बाकी है।



लेखकों से अनुरोध

- ◆ वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- ◆ लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- ◆ भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गई हो। बेहतर होगा कि लेख यूनीकोड/मंगल फॉन्ट में ही टाइप कराकर भेजें।
- ◆ चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- ◆ रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- ◆ लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख bahuvachan.wardha@gmail.com, पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

मो. नं.- 7888048765, 09422386554

एक भटका हुआ बुद्धिजीवी नीलाभ

ममता कालिया

सिविल लाइंस, इलाहाबाद का एक पता है, 15 दरबारी बिल्डिंग। यह एक बड़ा सा अहाता है जिसमें इंडियन कॉफी हाउस, लोकभारती प्रकाशन और नीलाभ प्रकाशन जैसे प्रमुख प्रतिष्ठान हैं। बीसवीं सदी के आठवें-नवें दशक में बुद्धिजीवियों के लिए यह सर्वाधिक आकर्षक जगह थी कॉफी, किताब और कहकहों पर न कोई, राशन था न रोकटोक। पुराने स्वामित्व वाला लोकभारती प्रकाशन तब रमेशजी और दिनेशजी बड़े धाकड़ अंदाज में चलाया करते थे। बड़े से बड़ा और नए से नया लेखक लोकभारती जाए बगैर अपनी इलाहाबाद की यात्रा पूरी न मानता। रमेशजी तो गुरुगंभीर बने रहते, दिनेशजी अपने लतीफों और लंतरानियों से आगंतुक को हक्का-बक्का कर देते। ठीक उनकी बगल में नीलाभ प्रकाशन का माहौल इतना बेतक्लुफ नहीं था हालांकि उनके यहां उस वक्त की सभी चर्चित ओर साहित्यिक पत्रिकाएं बिक्री के लिए करीने से लगी रहतीं। नीलाभ प्रकाशन की देखरेख का जिम्मा अशकजी के बड़े बेटे उमेश भाई पर था जो कम बोलने वाले संजीदा आदमी थे। कभी-कभी शाम को नीलाभ अपने प्रकाशन पर आता लेकिन उसका मन भी बगल के शोरूम, लोकभारती में ही लगता।

नीलाभ अपने पिता अशकजी की तीसरी और अपनी मां कौशल्याजी की पहली संतान था। कौशल्याजी उसे गुड्डू न कहकर 'गुड्डा', 'गुड्डे' बुलाया करतीं। नीलाभ का यह घरू नाम 'गुड्डा' आस पड़ोस में इतना जाना पहचाना था कि अकसर कई छोटे बच्चे 5 खुसरो बाग रोड आ जाते कि हम 'गुड्डे' से खेलने आए हैं। नीलाभ एक हाथ से उन्हें कंधों के ऊपर उठा लेता और कहता, चलो तुम्हें कुश्ती लड़ना सिखाएं।'

अशक-परिवार तो लंबा चौड़ा था किंतु कौशल्याजी का लाड़ 'गुड्डे' पर सर्वाधिक था। वे बड़े चाव से बतातीं, कैसे उनके प्रकाशन गृह का नाम रखा गया। रजिस्ट्रार कार्यालय में उनसे यकायक पूछा गया, 'आप प्रकाशन खोलना चाहती हैं, कोई नाम बताइए, उसी नाम से पंजीकरण होगा।'

कौशल्याजी की बगल में दो तीन साल का 'गुड्डा' टांगें हिलाते हुए बैठा था। कौशल्याजी ने हड़बड़ी में कह दिया, 'नीलाभ प्रकाशन' रख दीजिए।' इस तरह यह प्रकाशन गृह आरंभ हुआ। अशकजी कहते, 'भई मेरा इस प्रकाशन से कुछ लेना देना नहीं है। मैं इनका लेखक हूँ। ये मुझे रायल्टी देती हैं। बाकी यह सब तामझाम कौशल्या की बेवकूफी है।'

सन् 1948 में इलाहाबाद में जमीने सस्ती थीं। राजधानी लखनऊ बन जाने से शहर में अंग्रेजों

के बनाए बड़े-बड़े बंगले वीरान पड़े थे। अशक दंपत्ति यहां थोड़ी सी पूंजी और बहुत सा पराक्रम लेकर आए थे। अशकजी जीवट के धनी थे। 5 खुसरो बाग रोड़ उन दिनों एक उजाड़ सी सड़क पर भुतहा सा बंगला था जिसमें मिसेज विल्सन नाम की एक ब्रिटिश वृद्धा रहती थीं। अशकजी ने उन्हें सुरक्षा और संरक्षण का आश्वासन देकर बंगले का तीन चौथाई भाग किराए पर ले लिया। किराया, खाना और खैरियत के एवज में मिसेज विल्सन को यह इंतजाम अच्छा ही लगा। उनके बच्चे इंग्लैंड में बस गए थे और किसी के पास कभी इतनी फुरसत न हुई कि आकर अपनी बूढ़ी मां को ले जाए। सन् 1969 की नवंबर में जब रवि महीने भर अशकजी के यहां रहे, मिसेज विल्सन कभी-कभी उनसे एक एयरोग्राम मंगवाकर बेटे को चिट्ठी लिखवातीं जिसका जवाब कभी नहीं आया। अशकजी की सतर्क निगरानी में नीलाभ की पढ़ाई अत्युत्तम चली। उनके घर में पढ़ने-लिखने का माहौल था। नीलाभ की पाठ्य पुस्तकें अशकजी भी साथ पढ़ते। एक-एक शब्द पर चार-चार शब्दकोश पलटना, निसंकोच डॉ. हरदेव बाहरी भाषाविद् को फोन मिलाना और डॉ. रघुवंश से लंबी बहस करना, पिता-पुत्र का रोज का क्रम था। तब नीलाभ बड़ा नाजुक मिजाज लड़का था जो सारी कायनात से सिर्फ प्यार चाहता था। रवि और नीलाभ की दोस्ती को ऐसे हो गई जैसे वे लड़कपन के यार हों। ज्ञानरंजन भी उन दिनों नौकरी तो जबलपुर में करते थे लेकिन इलाहाबाद में रहना पसंद करते। सभी का मन अशक-घर में लगता। कौशल्याजी बड़े खुले दिल से सबको खिलाती-पिलातीं।

कौशल्याजी टी पॉट में ग्रीन लेबिल चाय की पत्तियों के ऊपर खौलता पानी डालकर टी-पॉट को टी-कोजी से ढक देतीं। दो मिनट बाद पॉट में आधी चम्मच चीनी डालकर पाट हिलातीं। बहुत साफ शीशे के ग्लास या खूबसूरत कप में आधी चम्मच चीनी और एक चम्मच दूध मिलाकर चाय देतीं। उस दार्जिलिंग चाय का फ्लेवर नायाब होता। नीलाभ भी ऐसी चाय का आदी और शौकीन था। ज्यादातर किसी के घर की चाय उसे पसंद न आती।

अशक-परिवार का चाय पीने का अंदाज निराला था। रवि भी अच्छी चाय के दीवाने थे। कभी-कभी रात में खाने से पहले अशकजी नीलाभ को आवाज लगाते, 'गुड्डे' जरा भाग एक अब्दा तो ला। नीलाभ अपनी जावा बाइक पर गनगनाता हुआ जाता और मिनटों में साबू-अंदाज में कभी रम तो कभी विहस्की का हाफ लाकर मेज पर दख देता। पिता-पुत्र-मित्र मिलकर पीते और अगली शरारतों के नक्शे बनाते। अशकजी ने उसी अहाते में अपने पढ़ने-लिखने बैठने के लिए दो-तीन कमरों की एनेक्सी बनवाई हुई थी। कौशल्याजी नौ बजे एनेक्सी में आकर कहतीं, खाना खाओगे कि सारी रात पीते रहोगे।'

सचाई तो यह थी कि पूरी रात पीने लायक माल ही न होता। पर दोस्तों का संग साथ अशकजी, नीलाभ, रवि और ज्ञान को इतनी मस्ती से भर देता कि कोई रंज भी न रहता।

रवि का कुछ समय मकान ढूंढने में बीतता। गुड्डा रवि को अपनी जावा बाइक पर बिठाकर निकल पड़ता। उन दोनों को कोई मकान मंहगा लगता तो कोई मनहूस। रवि ने चौक की एक गली रानीमंडी में अपना प्रिंटिंग प्रेस लगाया था। उनकी इच्छा थी कि मकान चौक और खुसरो बाग रोड के आसपास ही मिल जाए। ये एकदम पुराने इलाके थे, घिच-पिच मकानों वाले जिनमें कदीमी किराएदार बसते। इस मकान ढूंढो अभियान में रवि को कुछ याद ही नहीं रहा कब बारह दिसंबर तारीख आई और चली गई।

उधर मुंबई में हॉस्टल में रहते हुए मैं रोज रवि के खत का इंतजार करती। एस.एन.डी.टी. विश्वविद्यालय का यह हॉस्टल क्रॉस मरीनलाईंस पर एस.एन.डी.टी. परिसर में ही था। हर लड़की की तरह मुझे भी अपना और रवि का जन्मदिन और शादी की सालगिरह बड़ी अहम तारीखें लगती थीं। हमारी शादी को चार साल होने जा रहे थे लेकिन मैं अभी अपने को नवविवाहित ही मानती थी। हम पहली बार अलग रह रहे थे। 12 दिसंबर को जब डाक के तीनों पहर बीत गए और रवि का खत नहीं आया, रात में अपने कमरे में बैठ, गुस्से से फनफनाते हुए मैंने रवि को लिखा, 'जरूर तुमने वहां जाकर कुछ आवारा दोस्त बना लिए हैं जिनके साथ मजे कर रहे हो। तुम्हें यह भी याद नहीं कि आज 12 तारीख को हमारी शादी की सालगिरह होती है। और भी दिल तोड़ने वाली बातें मैंने लिखी होंगी क्योंकि जब रवि को वह खत मिला तो रवि पढ़कर एकदम खामोश क्या, बस सुन्न बैठ गए। तभी अशकजी वहां से गुजरे। उन्होंने रवि से कहा, 'कहो ममता का मुहब्बतनामा आया है, क्या लिखा है उसने? रवि ने हताशा में मेरी चिट्ठी अशकजी को पकड़ा दी। अशकजी एक सांस में खत पढ़ गए। रवि उस रात उदास, गुमसुम, बिना खाना खाए सो गए।

अशकजी ने तय किया कि अपने यार की मुसीबत का इलाज किया जाए। उन्होंने आधी रात लगाकर मुझे एक बहुत लंबी चिट्ठी लिखी, उसकी नकल उतारी (उस जमाने में फोटोस्टेट शुरू नहीं हुआ था) और सवरे गुड्डे से डाक में छुड़वा दी। उन्होंने रवि से कह दिया, 'तुम फिकर न करो, मैंने ममता को समझाकर खत लिख दिया है।'

तीन चार दिन और डाक का इंतजार करने के बाद जब इलाहाबाद से चिट्ठी आई तो यह देखकर मेरा खून खौल गया कि रवि की बजाए अशकजी मेरे निजी खत का जवाब दे रहे हैं। क्रोध के अतिरेक में मुझे अशकजी का खत किसी वकील के हिदायतनामे जैसा लगा। अशकजी ने बाकायदा 1 2 3 4 क्रम संख्या डालकर मेरे आरोपों का उत्तर दिया-

- तुमने लिखा कालिया ने यहां चंद आवारा दोस्त बना लिए होंगे तो बल्ली, इतने दिनों से उसके आवारा दोस्त मैं, मेरी बीवी कौशल्या और मेरा बेटा नीलाभ ही हैं।
- तुमने लिखा उसे शादी की सालगिरह याद नहीं रही। तुम औरतों की यही आदत होती है। तुम क्यों चाहती हो वह तुम्हें तोहफे दे, मुबारकवाद दे। वह किन परेशानियों में से गुजर रहा है, इसकी तुम्हें कोई फिक्र नहीं है।

इस तरह पूरा खत मुझे खबरदार करते हुए लिखा गया था। उसमें खुशखबरी सिर्फ एक थी कि 'बल्ली बहुत जल्द गुड्डे की शादी होने वाली है। उसका इंतजाम भी कालिया और गुड्डे के बाकी दोस्तों को देखना है। अगर तुम्हें छुट्टी मिले तो तुम भी आ जाओ। मैं तो नहीं जा पाई लेकिन रवि से पता चला कि नीलाभ की शादी में चार दोस्तों ने जमकर मस्ती की। स्टेशन से रिक्शे पर बैठा कर नीलाभ और सुलक्षणा उर्फ वर-वधू को 5 खुसरो बाग रोड घर तक लाया गया और रिक्शेवाला बना रवींद्र कालिया। दूसरे रिक्शे पर कौशल्याजी और बड़ी मामीजी बैठीं। उन्हें हांककर लाने वाले का नाम ज्ञानरंजन। इसकी तस्वीर भी कहीं हमारे घर में पड़ी होगी।

सुलक्षणा यथा नाम तथा गुण थी। उसने अशक परिवार में बहुत जल्द अपनी जगह बना ली। रसोई का काम भी संभाला। वह बहुत अच्छे ग्रीटिंग कार्ड बना लेती थी। खूबसूरत थी, हँसती थी तो गालों में गड्डे पड़ते थे लेकिन संयुक्त परिवार में एकल, अतिरेकी भावनाओं की अभिव्यक्ति

शायद कम हो पाती थी। इकलौते बेटे पर माता पिता का झुकाव भी कुछ ज्यादा ही था। अशकजी रात 11 बजे तक तो अपनी रचनाएं ही सुनाते रहते। अलस्सवेरे कौशल्याजी बहू को आवाज लगा देती, 'लच्छू बेटा पापाजी को चाय देनी है।' उनके दो प्यारे से बेटे हुए टुक्कू और गोगी लेकिन मैंने अकसर सुलक्षणा को उदास पाया। उससे बात करने लायक एकांत मिलना कठिन था। एक बार नीलाभ और सुलक्षणा को हमने अपने यहां खाने पर बुलाया। ऊंची-ऊंची सीढ़ियां चढ़कर सुलक्षणा हमारे आंगन में पहुंची। मैंने सफाई पेश की, 'हमारा मकान बड़ा बेढंगा है। दरअसल यह गोदाम था।' सुलक्षणा ने कहा, 'इससे क्या, यहां आपको प्राइव्हेसी तो है।' नीलाभ की कविताओं की पहली पुस्तक 'संस्मरणारंभ' प्रकाशित हुई। यह एक लंबी कविता थी जो पतली सी पुस्तक भर थी। इलाहाबाद ने इसके साथ वही सलूक किया जो वह नए लेखकों के साथ करता था। इसको कोई भाव ही नहीं दिया। नरेश मेहता ने हिंदी-अंग्रेजी मिलाकर घोषित किया यह Son's मरणारंभ है।

जाहिर है कि गुड्डे और उसके पिताश्री दोनों को ऐसे लतीफों से चोट लगती। फिर नीलाभ तो बहुत नाजुकमिजाज था। वह अपनी कविताओं पर ध्यान देने की बजाए नरेश मेहताजी के उपन्यासों और नाटक में भाषा की त्रुटियां ढूंढने में जुट गया। नीलाभ के साथ एक और दिक्कत यह भी कि जिन लोगों को अशकजी से कोई पुराना हिसाब चुकाना होता वे भी चोट नीलाभ को पहुंचाते। शहर के उस सलूक ने नीलाभ को तुनकमिजाज और कुछ झगड़ालू भी बना दिया। बात-बात पर बुरा मानता, बोलचाल बंद कर देना, वक्रोक्ति में बात करना तभी की अर्जित आदतें थीं। ऊपर से उन दिनों शरद जोशी का लिखा एक जुमला भी चल निकला- 'सबके बेटे अमिताभ नहीं होते, कुछ के बेटे नीलाभ भी होते हैं।

नीलाभ से लोग आमने-सामने पंगा मोल नहीं लेते थे क्योंकि वह एक पहलवान किस्म का आदमी था। एक बार उसकी जावा बाइक चोरी चली गई। अशकजी रोज कहते, 'गुड्डे तू कोतवाली में रिपोर्ट लिखा दे।' नीलाभ कहता 'पापा, पुलिस क्या करेगी। जिस भी दिन चोर मेरी बाइक लेकर निकलेगा मैं उसे दन्न से पकड़ लूंगा।'

हुआ भी यही। एक रोज रात के वक्त सब लोग बैठे थे कि सड़क से जावा की गनगनाहट सुनाई दी।

'पापा मेरी जावा।' कहकर नीलाभ कूदकर उठा। बड़े भाई की मोटरबाइक पर उसने उमेश को साथ लेकर दौड़ लगाई। आधे घंटे की रेस और हाथापाई के बाद उसने अपनी बाइक पर कब्जा पा लिया।

कुछ दिनों बाद नीलाभ ने दिल्ली के चक्कर लगाने शुरू किए और जल्द ही वह नियुक्ति पाकर बी.बी.सी. लंदन पहुंच गया। नीलाभ की आवाज बहुत सुंदर, स्पष्ट और संवेदनशील थी। उसका उच्चारण उत्कृष्ट था। अनेक भाषाओं और बोलियों पर उसका अधिकार था। आनन-फानन में वह किसी भी विषय पर आलेख लिख सकता था। ये सभी विशिष्टताएं बीबीसी में काम आईं और उसने तीन वर्ष के दो टर्म वहां पूरे किए। दूसरे टर्म में वह अपना परिवार भी वहां ले गया था।

छह वर्ष बाद नीलाभ वापस अपने घर और शहर में आ गया। फिर वही पढ़ना, लिखना, घूमना शुरू हो गया। आमतौर पर नीलाभ ने नौकरियों की परवाह नहीं की। इलाहाबादी मिजाज के अंतर्गत, वह पुरस्कार, फेलोशिप और सम्मानों के पीछे दौड़ने वाले लेखकों को हिकारत से देखता। उसने अपनी

कविता, 'वजीफाखोरों का गीत' से कैरियरिस्टों पर तंज भी किया -

*‘हमको दे दो एक वजीफी
हमको दे दो एक इनाम
हम है दीन-हीन बेचारे
तुम हो माता-पिता हमारे
अब तो छूटे सभी सहारे
कैसे चले हमारा काम।’*

यह उसके कविता संग्रह 'शब्दों से नाता अटूट है' में शामिल है। नीलाभ की मयनोशी के बारे में हमें कभी ज्यादा अंदाजा नहीं लगा क्योंकि उसकी और रवि की संगत अलग किस्म की थी। उसके दांपत्य में अगर कोई समस्या थी तो वह भी दबी-ढकी रही। उसकी पत्नी घर से अकेली कहीं निकलती नहीं थी। हां नीलाभ जब मर्जी दिल्ली आ जाता। उसने अपने आधे-अधूरे प्रेम छोड़े नहीं थे और एकाध नए इश्क के चक्कर में भी पड़ गया था।

यकायक एक दिन मेरे पास अश्कजी की बड़ी बहू बिम्मा भाभी का फोन आया कि 'ममता तुम जरा लाउदर रोड पर डॉ. मुक्ति भटनागर के अस्पताल में जाकर नीलाभ के पास बैठो, उसका ऑपरेशन होने वाला है। हमें तो वह पास फटकने नहीं देता।'

मैं जब भागी-भागी अस्पताल पहुंची तो डॉ. मुक्ति भटनागर एक लंबी, मोटी सुई से नीलाभ के लिवर से मवाद निकालकर पास की चिलमची में पिचकारी छोड़ती जा रही थीं। डॉ. मुक्ति और मैं एक दूसरे के नाम से परिचित थे लेकिन उसे इतना एहसास नहीं था कि नीलाभ मेरा कहा कितना मानता है। वह मुझे हिदायत दे रही थी, 'इस बार तो यह बच गए, अब अगर इन्होंने शराब पी या तंबाकू खाया तो मेरे यहां तो लाना मत।' नीलाभ को एक दो दिन अस्पताल में रहना पड़ा। वह बिस्तर पर पड़े पड़े हर सजीव निर्जीव चीज को गाली देता रहा। नीलाभ के बड़े बेटे टुक्कू को विदेश में अच्छी नौकरी मिल गई। दिल्लीवाला मकान टुक्कू के ही नाम पर था। कालकाजी या ईस्ट ऑफ कैलाश का यह फ्लैट सुलक्षणा की बहन और जीजा ने ही टुक्कू के लिए भेंट किया था। टुक्कू तो इसमें रहता नहीं था, गोगी अभी छोटा था। फ्लैट की चाभी नीलाभ के पास रहती। वह यहां आता और रानी नाम की नौकरानी से घर की साफ सफाई करवाता। बाद के वर्षों में जब सुलक्षणा ने पति-घर छोड़ दिया नीलाभ बड़ी हेकड़ी से लोगों से कहता, 'लोग अपनी रानी को नौकरानी बना डालते हैं, मुझे देखो, मैंने नौकरानी को रानी बना दिया।' जिन्होंने उसकी पहली पत्नी को देखा हुआ था जैसे हमें, बड़ी चोट लगती उसकी इस गर्वोक्ति से।

बीच के वर्षों में नीलाभ से हमारा कोई संपर्क नहीं रहा। कभी मिलता तो लापरवाही से बात करता। हम उसकी उपलब्धियों के प्रति सचेत थे। उसने अरुन्धति राय के उपन्यास 'द गॉड ऑफ स्मॉल थिंग्स' का बेहतरीन अनुवाद किया 'मामूली चीजों का देवता' उस पर उसे उचित ही साहित्य अकादेमी का अनुवाद पुरस्कार भी मिला। उसने दूरदर्शन के लिए एक धारावाहिक लिखा था 'कसौटी' जिसमें एंकरिंग भी उसी की थी। उसका एक एपिसोड डाकुओं के जीवन पर था जिसमें नीलाभ बताता है कि डाकू की बेटे की विदाई में जो संदूक जाता है उसमें बन्दूक भी जाती है।' नीलाभ के अंदर अथाह प्रतिभा थी लेकिन हेकड़ी उससे ज्यादा, इसलिए वह टिककर कहीं काम न कर पाता।

बहुत वर्षों के बाद सन् 2013 में जब हम लाजपतनगर पार्ट-1 में रहते थे जून की एक उमस भरी सुबह हमारे घर की घंटी बजी। मैंने दरवाजा खोला तो दरवाजे पर नीलाभ खड़ा था और उसकी बगल में सकुचाई सी, भूमिका।

‘आओ, आओ’ मैंने कहा।

नीलाभ जल्दी में था, बोला, ‘कालिया कहां है, उसे बुलाओ।’

मैंने अंदर जाकर रवि को बताया।

रवि चश्मा लगाते हुए बैठक में आए। नीलाभ ने हाथ मिलाते ही मुनादी की, ‘कल मैंने भूमिका द्विवेदी से शादी कर ली है।’ नीलाभ की आवाज में दंभ, दर्प और विजयश्री की टंकार थी।

मैंने चाय ऑफर की। भूमिका ने कहा वह चाय नहीं पीती। नीलाभ ने बताया वे लोग जल्दी में हैं। नीचे उसकी गाड़ी खड़ी थी।

ऐसा पहली बार हुआ कि एक विवाह ने हमारे जेहन में खुशी की जगह खतरे की घंटी बजाई दोनों के लिए खतरे की वजहें अलग-अलग थीं। ज्यादा अफसोस भूमिका के लिए हुआ। घर-परिवार से दूर रहते हुए यह इलाहाबादी लड़की नीलाभ की दिलकश आवाज, दिलफेंक अंदाज, लच्छेदार बातों, बहसों और किस्सों के जाल में उलझ गई थी।

नीलाभ के लिए यह आखिरी पारी थी। उसकी दो पत्नियां कैंसर से मर चुकी थीं, बच्चों से उसका कोई संबंध नहीं बचा था। इलाहाबाद के तट से वह अपनी सारी नावें औंधी कर आया था। स्त्री के सान्निध्य के बिना वह जीना नहीं जानता था। उम्र के बैक गियर में वह अपनी गाड़ी सरपट दौड़ाने का इच्छुक था। अशकजी ने जीवन में तीन शादियां कीं। नीलाभ अपने पिता के नक्शेकदम पर ही चल रहा था। हेकड़ी में आधी बोटल नीट दारू चट कर जाना, आई.आई.सी. में किसी से भी भिड़ जाना और दोस्तों की नेक सलाह को भी बदी समझना उसके लिए आसान बात थी।

नीलाभ के जीवन का दुखांत मुझे एक कालजयी कहानी की याद दिलाता है। तोलस्तॉय की इस कहानी का शीर्षक था ‘आदमी को कितनी जमीन चाहिए?’ नीलाभ की जिंदगी हमें सोचने पर मजबूर करती है ‘आदमी को कितनी बीवियां चाहिए।’ नीलाभ-कथा का दारुण पक्ष यही है। वह तो झटपट चला गया। अपनी जिद में न कभी माकूल इलाज के लिए राजी हुआ न देखभाल के। दवा का काम दारू से लिया। अंत समय तक पीता रहा। उसकी नव्या पत्नी भूमिका के सामने जीवन की लंबी, सुनसान राह पड़ी है। पता नहीं उसने इस पर चलने के लिए क्या इरादा और इंतजाम किया है। कुछ समय बाद उसे हरिवंश राय बच्चनजी की कविता से प्रेरणा लेनी चाहिए :

‘क्या करूं समवेदना लेकर तुम्हारी क्या करूं?’

किंतु इस आभार का अब हो चुका है बोझ भारी

क्या करूं समवेदना लेकर तुम्हारी? क्या करूं?’

अंधेरो के रू-ब-रू शब्द

महेश कटारे

लेखन की पैदल यात्रा में अनेक विशिष्ट, गण्य, उल्लेखनीय व्यक्तियों से भेंट ही मेरे जीवन का हासिल भी कहा जा सकता है। उनके साथ उठना-बैठना, बातचीत और साथ-साथ रहना भी होता रहा है जिनमें हिंदी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के भी मूर्धन्य लेखक, कलाकार शामिल हैं किंतु आज मैं स्मरण करना चाहता हूँ कवि, चिंतक, प्रखर वक्ता प्रकाश दीक्षित के संग-साथ को क्योंकि अब वह निहायत क्षीणकाय हैं पर कलम के मजदूर होने के नाते अब भी प्रतिदिन तीन से चार घंटे रुक-रुककर, थम-थमकर मजदूरी करते हैं।

मैं छठे दशक के अंत में (पिछली सदी) शहर ग्वालियर में पहुंचा था पढ़ाई के लिए। रिश्तेदारी में रहना होता था उस परिवार के बच्चों से खुद को पीछे सरकाते हुए। सातवें दशक के साथ बड़ी मुश्किल से हॉस्टल मिला क्योंकि उम्र तब भी कम थी। वहां पहुंचकर कमतरी के अहसास से मुक्ति मिली। उन दिनों कवि सम्मेलनों का बड़ा दौर-दौरा था। हम हॉस्टल से कभी 'सर' से अनुमति लेकर तथा कभी छिप-छिपाकर भी कवि-सम्मेलन सुनने-देखने जाते थे। मंच पर बैठने वाले कवि उन दिनों हमारे हीरो हुआ करते थे और मन में हुमक उठती थी कि काश ऐसा हो सके कि मैं भी ऐसे मंच पर बैठूं... कविता सुनाऊं... तालियां बटोरूं। कुछ कवि तो हमारे पाठ्यक्रम में थे और हमने इन्हें मंच से सुना। ये थे- रामधारी सिंह दिनकर, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द। कवि सम्मेलनों के दो प्रकार थे- स्थानीय तथा राष्ट्रीय। राष्ट्रीय का अर्थ यह कि कुछ कवि बाहर से भी बुलाए गए हैं। ग्वालियर से कुछ कवि ऐसे थे जिनकी दोनों प्रकार के मंच पर उपस्थिति रहती थी। नाम थे- वीरेंद्र मिश्र, आनंद मिश्र, मुकुट बिहारी सरोज तथा प्रकाश दीक्षित। प्रकाश दीक्षित की उम्र सबसे कम थी पर मंच संचालन इन्हीं को सौंपा जाता था। कदाचित् इसलिए कि यह अच्छे वक्ता थे तथा इन्हें पढ़ाकू माना जाता था। बाद में हमें पता लगा कि यह तुकवाली ही नहीं अतुकांत कविता भी लिखते हैं तथा कहानी, उपन्यास भी।

हमारा दर्शन, परिचय भारत-चीन युद्ध के बाद का था और इकतरफा क्योंकि मैं तो उन्हें पहचानता था, वह मुझे क्योंकर जानते? इन दिनों लगभग हर कवि देशभक्ति की बाढ़ में तैरती धमाकेदार कविताएं लिख रहा था जैसे- 'हम चीन की दीवार पर सौ-सौ तिरंगे तान देंगे। इस पंक्ति के बार-बार दुहराए जाने से आजिज आकर श्रोताओं के बीच से एक बड़ी भदेस पर यथार्थ मूलक टिप्पणी हुई थी जिसका जिक्र यहां नहीं करूंगा पर यह तो कहना ही पड़ेगा कि इस राष्ट्रीय

कवि-सम्मेलन का संचालन भी प्रकाश दीक्षित कर रहे थे।

प्रकाश दीक्षित से आमने-सामने वाला परिचय भारत पाकिस्तान के पैसठ वाले युद्ध के बाद हुआ था। मेरे एक समवयस्क मित्र का उनसे संक्षेप वाला परिचय था। वही मुझे प्रकाश दीक्षित के घर ले गए थे। कॉलेज में पहुंच जाने के चलते मां को मेरे लिए साइकिल खरीदनी पड़ी थी ताकि मैं दस कि.मी. दूर कॉलेज जा आ सकूं। प्रकाशजी (लोग उन्हें इसी नाम से संबोधित करते थे) का घर हमारे ऐतिहासिक कॉलेज, जिसका नाम 'विक्टोरिया कॉलेज' से बदलकर अब 'एम.एल.बी कॉलेज' हो चुका था, इसी कॉलेज की चहारदीवारी की बगल में नगर निगम द्वारा कम आय समूह के लिए बनवाई गई लक्ष्मीबाई कॉलोनी में रहते थे।.... आज भी रहते हैं। कमरे क्या थे जैसे रेल के डिब्बे आधा काटकर उसके दो कमरे बना दिए हों तथा पीछे अटैच वाश, बाथरूम हो। रसोई इसी रूम के निहायत पड़ोस में। डिब्बे का आधा हिस्सा इस हिस्से के ऊपर जमाकर क्वार्टर दो मंजिलें किए गए थे। प्रकाशजी निचले हिस्से में थे तो इनके कब्जे में आंगन अथवा बड़ी सी क्यारीनुमा गार्डन की जगह आती या मान ली गई थी तथा ऊपर वाले के लिए छत का अधिकार बनता था। प्रकाशजी 'दैनिक निरंजन' नाम के अखबार में नौकरी करते थे। मंचों पर कविता पढ़ते थे, इस प्रकार इतना कमा लेते थे कि 'मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाए।'

प्रकाश दीक्षित उस समय कांग्रेस से जुड़े थे और प्रथम विभाजन के पूर्व युवा तुर्कों के बीच इनकी बहुत प्रतिष्ठा थी। युवा तुर्क थे- चंद्रशेखर, मोहन धारिया व के.सी. पंत आदि। उन्हीं दिनों कांग्रेस में पार्टी का मुखपत्र निकालने का विचार बना और संपादन के क्रम में प्रकाशजी का नाम आया पर इन्हें ग्वालियर फोबिया रहा है, वह शहर छोड़ने तैयार न हुए। आपातकाल लगाए जाने पर उन्होंने विरोध स्वरूप कांग्रेस छोड़ दी। शायद इनका रचनाकार राजनीति पर हावी हो गया था। विद्रोह उनमें पहले से कहीं जड़ जमाए बैठा था। सरकारी नौकरी का प्रयास नहीं किया। अखबारी नौकरी गो तब तक बनिये की नौकरी नहीं बनी थी पर उसमें न पर्याप्त पैसा मिलता था न स्थायित्व था। दैनिक 'निरंजन' बंद हुआ। प्रकाशजी अस्वस्थ थे तथा खाली। मैं जब शहर जाता प्रकाशजी से मिलता। अपने छोटे से कमरे में वह किताबों के बीच बैठे, लेटे मिलते। स्वस्थ हुए तो फिल्म पटकथा लिखने बंबई चले गए किंतु साल भर में ही लौट आए। लौटकर फिर से बेरोजगार हुए। वह देश की प्रसिद्ध 'बैलेट्रुप' 'रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप' के लिए नाट्यानुवाद करने तथा बैले लिखने लगे। मैं उनके सहयोगी की तरह जुड़ा पर मेरे व उनके बीच गांव व शहर वाली 35 कि.मी. दूरी थी जो मुझे साइकिल से तय करनी होती थी। पर इतना हुआ कि मैं अब कविता, कहानी लिखने लगा था। 'रंग श्री लिटिल बैले ट्रुप' से अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति जुड़े थे- अज्ञेय, हबीब तनवीर, ब.व. कारंत, श्रीकृष्ण मेनन। सुप्रसिद्ध कोरिओग्राफर प्रभात गांगुली, डांसर श्रीमती गुलवर्धन, रेवा वर्धन, के. नारायण पिल्लई, राघवन वारियार, शंकर नारायण जैसे सिद्ध कलाकार इस संस्था में थे और अधिकांश अहिंदी भाषी। एक अजीब बात थी कि ये लोग अंग्रेजी बोल, समझ लेते पर हिंदी में आजीवन टूटे फूटे रहे। प्रकाशजी का हिंदी, अंग्रेजी पर समान अधिकार है इसलिए वह इस बैले ग्रुप की जरूरत बन गए। यहां इन्होंने ब्रेख्त, शेक्सपियर, सार्त्र के नाटकों का मंचन कराया। नाट्यानुवाद किए तथा हिंदी में भावानुवाद भी। वह एक बड़े नेता की संस्था द्वारा प्रकाशन के लिए कुछ अंग्रेजी पुस्तकों का हिंदी अनुवाद भी करते थे। मित्रता में वह पुस्तकों को अपने या संस्था के नाम से प्रकाशित कर लेते और बड़प्पन

में अनुवाद का पैसा देना प्रायः भूल जाते रहे। एम.ए. हिंदी में गोल्ड मेडलिस्ट प्रकाश दीक्षित पी. एच.डी. न कर पाए पर मैं ही क्या शहर के पचासों लोग जानते हैं कि उन्होंने पचासों शोध प्रबंध लिखे हैं। हिंदी, अंग्रेजी, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र के भी और किसी भी शोधकर्ता अथवा कर्त्री से उन्हें कहा गया पारिश्रमिक नहीं मिला। मैं उन पर थोड़ा नाराज होता तो वह हँस देते कि यार! लड़की वाली बात है- या अरे, अमुक साथ आए थे कहा- पत्र पुष्प है यह तो। आपका अहसान रहेगा। इस तरह वह अब तक अहसान करते आ रहे हैं। अभी भी अनुवाद कर रहे हैं- एरिक हाब्सबॉम की दो जिल्दों के अनुवाद में अवश्य उन्हें दो लाख से ऊपर मिल गए थे। अभी भी शोध-प्रबंध लिख रहे हैं कि अब वृद्धावस्था में पति, पत्नी की दवाओं का खर्चा भी बढ़ गया है। बेटी अपने घर सुखी है और बेटा वर्ष में एकाध बार उन्हें पिता होने का अहसास कराने आ जाता है।

किंतु प्रकाश दीक्षित ने आज तक किसी से कोई याचना नहीं की। किसी फेलोशिप के लिए आवेदन नहीं किया.... किसी पुरस्कार के लिए मुंह नहीं खोला। किताबें उनके मित्र छपवाते रहे। कविताएं छपने के लिए परिचित ही भेजते रहे और प्रकाश दीक्षित आज भी अपने दो कुर्ते, दो पायजामे में बिना शिकायत किए जा रहे हैं। हां, बेटे की शादी पर एक सूट सिलवाया था जिसे दुबारा उन्हें पहने शायद ही किसी ने देखा हो। प्रकाश की ही पंक्तियां हैं-

*पांखुरी के ओंठ पर वह बूंद जो ठहरी हुई है,
है वहीं है दाह कोई रात भर जलता रहा है।*

शहर के एक अशासकीय महाविद्यालय में अध्यापकी के चंद वर्ष प्रकाशजी के कदाचित् सबसे अच्छे या संपन्न दिन रहे हैं तथा अजीब विरोधाभास यह कि उस महाविद्यालय का संचालन उसी विचारधारावालों के हाथों में था और है जिसके विरोध में वह सदैव रहे और हैं। वहां भी प्रकाशजी का अध्यापन, समय पालन तथा कर्तव्यनिष्ठा को सभी तक उदाहरण माना जाता है। अस्तित्ववाद पर उनकी पुस्तक ने बड़े-बड़े नामी आलोचकों को चौंकाया था। आइन रेंड के उपन्यास का नाट्य रूपांतरण सुनकर प्रसिद्ध आलोचक मुंह की ओर देखते रहे थे, बड़ी देर तक। मेरे नाट्य लेखन में प्रवेश की एक बड़ी वजह प्रकाशजी की 'देखा-देखी' है। नृत्य-नाट्य लेखन के लिए भी उन्हीं ने उत्साहित व मार्गदर्शन किया। तभी तो मैं बड़े आत्मविश्वास से कह देता हूँ कि नृत्य नाट्य आलेखन में पहला नाम (हिंदी में) प्रकाश दीक्षित का है... दूसरा कोई और होगा या हो सकता है पर तीसरा महेश कटारे का है। पर जाने क्यों नवें दशक के अंत तक पहुंचते-पहुंचते यह आदमी चुप होने लगा। आत्मप्रकाशन की वृत्ति से उन्हें सदैव परहेज रहा, या देखा गया उनमें पर कविता सुनाकर प्रशंसा पाने की प्यास मैंने उनकी आँखों में सदैव पाई। अब ये अलग बात है कि आठवें दशक के बाद उनकी कविता सामान्य श्रोता तथा पाठक के लिए जटिल होती गई। समझ में न आने पर भी हम दो चार लोग केवल उसकी ध्वन्यात्मकता के आधार पर सिर हिलाना सीख गए हैं। इन कविताओं में एक रिसती हुई बेचैनी और दहशत है। वजह उनके काव्य संग्रह के शीर्षक में निहित है- 'आक्षितिज सूरजमुखी का देश।'

प्रकाश दीक्षित टेबल पर रखी उस किताब की तरह हैं जिसे खोलते हुए डर लगता है कि जिल्द न उखड़ जाए, पन्ना न तिरक जाए कहीं। जिज्ञासु के लिए उसमें तार्किक समाधान मिल सकते

हैं और तार्किक का सामना आक्रामक प्रश्नों से हो सकता है। डॉ. नामवर सिंह तथा अशोक वाजपेयी के साथ बैठक में ऐसे दृश्य देखे हैं। एक बार ग्वालियर के युवा लेखकों ने 'नई कविता और शिल्प' विषय पर गोष्ठी आयोजित थी। यह एक घर की छत पर शाम के समय रखी गई थी ताकि हॉल का किराया बचे। बैठने के लिए दो फर्श मांग लिए गए तथा सूर्यास्त के बाद प्रकाश के लिए बांस बांधकर लट्टू लटका लिया गया था। वक्ताओं में दो कॉलेज प्राध्यापक थे। उनके वक्तव्य वही थे जो पाठ्यक्रम की पुस्तकों में रहते हैं। खैर....। अध्यक्षता करते हुए प्रकाश दीक्षित ने कहा कि- 'कविता एक ऐसे बिंदु पर आ गई है जहां उसकी संभावनाएं चुक गई हैं। अतः एक नए मोड़ की आवश्यकता है। अतिशयगद्यता इसकी चुकी हुई संभावनाओं का प्रमाण है। अतः कविता को आंतरिक नाद, छंद, संगीत का सहारा लेना पड़ेगा। (यह शायद 1983-84 की बात है)। इसके कुछ माह बाद ही भोपाल के भारत भवन में डॉ. नामवर सिंह ने कविता के 'लिरिकल' होने पर जोर दिया व कविता में 'लय' होने व पाने पर बरगी नगर के वत्सलनिधि शिविर में बार-बार जिक्र हुआ जिसमें अज्ञेय, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, विष्णुकांत शास्त्री व प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे साहित्यकार उपस्थित थे। तात्पर्य यह कि ग्वालियर के जंगल में मोर जिस लय और ताल की चाह प्रकट कर रहा था वह इच्छा सार्वदेशिक थी।

प्रकाशजी से जुड़े अनेक संस्मरण हैं। आज की लेखक पीढ़ी (मैं सिर्फ ग्वालियर तथा अधिक से अधिक के ही संदर्भ में कहना चाहूंगा) तो इससे बेखबर है कि ऐसे लोग अभी जीवित हैं जो दो जोड़ी कपड़े, दो जून की रोटी तथा दो कमरे के मकान में रहते हुए भी साहित्य व समाज के लिए चिंतित हैं। साहित्य के भरोसे पर न नौकरी की न छोटी मोटी 'दुकान' की ही सोची कि बुढ़ापे में गुजर-बसर चलती रहे। बस कलम के आसरे सांसें खींच रहे हैं- बिना मांगे, बिना विलाप किए। घटिया कविता, कहानी पर आज भी या तो पीड़ा से भरकर चुप लगा लेते हैं या तीखी, कटु टिप्पणी कर देते हैं यह जानते हुए भी कि- 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम।' जो उनके लिए होते हैं उनकी रचनात्मक गुणवत्ता पर तो उनकी तीखी निगाह रहती है तथा बड़ी निर्दयता से वह उसकी रचना की चीरा-फाड़ी कर देते हैं।

हां नवां दशक ही था और मैं कहानी के साथ-साथ कविता भी लिख लेता था। जीं हां, तुकबंद तथा तुकमुक्त दोनों प्रकार की कविता। कविता तो मैं आज भी ठीकठाक लिख ही लेता हूं तथा कविता का पाठ ऐसा कर लेता हूं कि बहुत से कवि भी नहीं कर पाते जिन्होंने वह कविता लिखी है। तो वाक्या यों है कि एक संभाग स्तरीय आयोजन में प्रकाशजी के साथ पड़ोसी जिले के मुख्यालय गया था। कहना चाहिए कि मेरे ऊपर उन्हें ले जाने का जिम्मा था क्योंकि बचपन में ही मां की मृत्यु के कारण एक असुरक्षा की भावना कहीं अवचेतन में जाकर बस गई है। अतः अकेले वह यात्रा कर ही न सकते थे। तो कार्यक्रम के पश्चात रात्रि में हस्बे मामूल कवि सम्मेलननुमा काव्य गोष्ठी रखी गई। मैंने भी एक लंबी सी कविता सुनाई जिसमें जनवरी की धूप का एक रूपक था कि प्रातः शिशु व मध्यान्ह पूर्व किशोरी व मध्यान्ह में युवती होती है आदि- इत्यादि। श्रोताओं ने पसंद की, तालियां बजाई। मेरा कवि काफी गदगद था।

इसी गदगदावस्था में हम रिक्शे पर सवार उस स्थान की ओर लौट रहे थे, जहां हमें ठहराया गया था। प्रकाशजी बड़ी देर से चुप थे। मैंने ही पूछा- 'आपको कैसी लगी मेरी कविता? कोई सुझाव?'

प्रकाशजी जैसे फट पड़े- 'भाई साब मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप कहानी ही लिखें, कविता पर कृपा करें। आप तो उसे मारने पर तुले हैं।'

जाहिर था मैं इस उत्तर से अचकचा गया... ठेस भी लगी पर सम्हलते हुए पूछा- 'कुछ गड़बड़ी है कविता में?'

'गड़बड़ी? अरे जनवरी के महीने में जब बादल छाए हैं, आप लड़की को अमराई में झूला झुला रहे हैं। उसे निमोनियां हो जाएगा भाई साब.... वह मर जाएगी।'

हां उसके बाद मैंने कहानी को ही थामने का संकल्प ले लिया। रचना-कर्म के मामले में वह अपने वह अपनों के लिए इसी हद तक निर्मम हैं। आज जबकि रचना-धर्मी के सामने 'कर्मचारी' बनने की मजबूरी है और किसी भी सेवा (नौकरी) में मन या बे मन कुछ समझौते तो करने, निभाने ही पड़ते हैं तब ऐसे लोग अजूबे लगते हैं कि अभावों के बीच भी वह आदमी कवि, लेखक बनकर सदी की चिंता को अपने बूढ़े कंधों पर ढोते हुए जिए जा रहा है। प्रकाशजी के काव्य-नाटक 'पृथु' के नान्दी की कुछ पंक्तियां हैं-

*'सूर्य है हम जो अँधेरे फोड़ता है, आस्था हैं हम कभी मरते नहीं हैं,
उपलब्धियों के पात्र हम निस्सीम हैं, जो युगों से रिक्त हैं भरते नहीं हैं
पत्थरों पर जिंदगी की दूब रोपी, हम सृजन का वेग हैं आकार हैं हम,
शीश ताने ही रहो संभावनाओं, सब प्रयोगों के लिए आधार हैं हम॥*



कवि-मित्र वेणुगोपाल

गोपेश्वर सिंह

यहां अँधेरे में हो
इसलिए
अकेले हो
रोशनी में आओगे
तो कम से कम
अपने साथ
एक परछाईं
तो
जुड़ी पाओगे।

1980 के दशक में वेणुगोपाल की यह कविता हमारी जुबान पर होती थी। इस कविता के जरिए हमने उस कवि को जाना था। तब हमारे मन में वेणु की बड़ी ही प्यारी क्रांतिकारी छवि थी। नक्सलवाड़ी आंदोलन का असर कहीं न कहीं हमारी चेतना पर था। कुमारेंद्र, कुमार विकल, वेणुगोपाल, आलोक धन्वा आदि के नाम का शोर तब हिंदी में खूब था। नक्सलवाड़ी आंदोलन ने हिंदी कविता का मन-मिजाज बदलना शुरू किया था। वेणु और आलोक तो जैसे इस चेतना के हीरो कवि थे। कारण शायद यह हो या पटना में होने की भौगोलिक सुविधा, मैं कुमारेंद्र और आलोक के बहुत करीब था। लगभग रोज का जीवंत संग-साथ और गपशप हमारी दिनचर्या के जरूरी हिस्सा थी। अकादमिक संसार से बाहर की साहित्यिक दुनिया के बड़े हिस्से से मेरा परिचय इनके जरिए ही संभव हो पाया। लेकिन वेणु हैदराबाद में रहते थे। चाहकर भी मैं तब के अपने प्रिय कवि से मिल न पाया। मिलना तभी हुआ जब मैं सेंट्रल यूनिवर्सिटी, हैदराबाद में अध्यापक होकर गया। वहां मैं आधे मन से गया था। एक अहिंदी भाषी शहर में हिंदी अध्यापक होकर जाने का भीतर बहुत उत्साह नहीं था। लेकिन एक खुशी जरूर थी कि वहां 'कल्पना' जैसी पत्रिका के संस्थापक-संपादक बदरी विशाल पिप्ती हैं और मेरे प्रिय कवि वेणुगोपाल का भी वह गृह नगर है।

3 अक्टूबर 2000 को मैंने सेंट्रल यूनिवर्सिटी में योगदान किया। उसके अगले दिन हिंदी विभाग के अध्यापक प्रो. सुवास कुमार से मैंने कहा कि वेणुगोपाल से मिलने की इच्छा है। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा कि हम अभी आपकी इच्छा पूरी किए देते हैं। हम विभाग के बाहर खड़े थे और गपशप कर रहे थे। उन्होंने हाथ से सामने की दिशा में यह कहते हुए इशारा किया- 'ये रहे वेणुगोपाल!'

मैंने उधर देखा। मझोले कद का एक व्यक्ति कंधे से झोला लटकाए और दाहिने हाथ में कुछ किताबें छाती से दबाए धरती को दबाता सधे कदमों से हमारी ओर आ रहा है। अगल-बगल विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं की टोली। पास आने पर मैंने हाथ जोड़कर अपना परिचय देते हुए नमस्कार किया। वेणु ने अपना हाथ बढ़ाया और कहा- 'वेणुगोपाल।' वे देर तक मेरा हाथ अपने हाथों में लिए रहे। मैंने ऊपर वाली कविता उन्हें सुनाई जो जुबानी याद थी। वे मुस्कराते रहे।

वे कक्षा लेकर निकले थे। बौद्धिक थकान मिटाने के लिए उन्हें कॉफी-सिगरेट की जरूरत थी। वे हमें लिए हिंदी विभाग के पीछे की दुकान की ओर चल पड़े। दुकान के सामने एक पेड़ के नीचे पड़े पथरों पर हम बैठे तो काफी देर तक बैठे ही रहे। साहित्य, संस्कृति और राजनीति पर हमने लंबी बातचीत की। कॉफी-चाय के कई दौर चले। उस दिन की हमारी कथाएं समाप्त हो चुकी थीं। हम फुर्सत में थे। वेणु शाम को 'स्वतंत्र वार्ता' हिंदी दैनिक पत्र में फीचर पेज संभालते थे। वहां वे पांच-छह बजे जाते थे और दस साढ़े दस तक काम करते थे। सो वे भी इत्मीनान के मूड में थे। संभव है मेरे प्रति यह उनका शिष्टाचार हो। पहली मुलाकात थी। समय की कमी की शिकायत का कोई मौका वे मुझे नहीं देना चाह रहे हों। उस दिन ज्यादातर वे ही बोले। मैं तो लगभग चुप ही था। सुनता रहा। सुवासजी यूं भी कम बोलते हैं। सो वेणु ही बोलते रहे। उनका अध्ययन क्षेत्र बड़ा व्यापक था। देश-विदेश के साहित्य का बहुत कुछ वेणु को याद था। उस दिन की वह बैठक मेरे लिए बड़ी सुखकारी थी। हैदराबाद जाने का बेमन का मेरा जो फैसला था वह बुरा नहीं लगा। मुझे लगा कि जिस नगर में वेणुगोपाल जैसा सुशिक्षित हिंदी का कवि रहता हो वह रहने लायक तो है ही।

उसके बाद तो मिलने-बैठने का लगभग रोज का सिलसिला-सा हो गया। सोमवार से शुक्रवार तक सप्ताह में पांच दिन कक्षाएं चलती थीं। वेणु तब गेस्ट फैकल्टी के रूप में अध्यापन कार्य कर रहे थे; सो हमारी मुलाकात प्रायः होती और हमारी जीवंत रचनात्मक बातचीत जारी रहती। कमरों की कमी थी। इस कारण खाली समय में हम दोनों के बैठने की व्यवस्था एक ही कमरे में थी। यह व्यवस्था मेरे लिए बहुत ही सुखकारी साबित हुई। इस कारण बिना किसी कोशिश के हमारी नियमित मुलाकात अमूमन होती ही थी। कभी कमरे में और कभी पेड़ के नीचे कॉफी पीते हुए हम घंटों बतियाते। यह एक तरह की अड्डेबाजी थी, जो हमें खूब पसंद थी। विभाग के दूसरे अध्यापक प्रायः इस तरह की अड्डेबाजी में नहीं शामिल होते थे। हां, कुछ साहित्य प्रेमी छात्र जरूर हमारी बैठक में शामिल रहते। मेरे द्वारा एक गेस्ट फैकल्टी को इतना महत्व दिया जाना बहुतों को शायद पसंद नहीं था। हिंदी के बहुतेरे अध्यापक हीनता ग्रंथि के शिकार होते हैं। इसे वे अपनी अतिरिक्त अकड़ से छिपाते हैं। रचनाकारों के संग अड्डेबाजी मेरा प्रिय शौक है। न जाने जीवन का कितना बड़ा हिस्सा ऐसी अड्डेबाजियों में मैंने खर्च किए हैं, और यह अब भी मुझे दीवानगी की हद तक प्रिय है। सो मैं दूसरों की कुंठाओं से मुक्त इस बैठकी में शामिल रहता। वेणु का संग-साथ पढ़ने-लिखने के लिए प्रेरक भी होता था और चुनौतीपूर्ण भी। कहना व्यर्थ है कि वह संग-साथ मेरे लिए मूल्यवान था। लेकिन सिलसिला ज्यादा दिन नहीं चला। दिसंबर में सत्रांत हुआ और वेणु की छुट्टी हो गई।

नियमित फैकल्टी के अभाव में वेणु गेस्ट फैकल्टी के तौर पर पिछले दो-ढाई साल से पढ़ा रहे थे। पगार आठ हजार रुपये थी। बेरोजगार व्यक्ति के लिए आठ हजार की रकम ज्यादा नहीं थी, लेकिन यहां उससे अधिक कुछ और भी था, जो वेणु को बहुत प्रिय था। वह था अध्यापन का सुख,

जो उनका पुराना सपना था। विश्वविद्यालय परिसर का बौद्धिक माहौल और छात्रों से नियमित संवाद उन्हें बहुत प्रिय था। इस सुख के लिए उन्होंने क्या नहीं किया! जिसका मुंह देखना भी उन्हें गंवारा नहीं था, उसके पीछे-पीछे हाथ बांधकर खड़े रहना पड़ा। कुछ की थीसिसें तक उन्होंने लिखीं, पर वेणु को हिंदी के आचार्यों ने, खासतौर से हैदराबादी आचार्यों ने एक तरह से धोखा दिया। सारी शैक्षणिक योग्यता और बौद्धिक काबिलियत होते हुए वे किसी कॉलेज-यूनिवर्सिटी में एक अदद लेक्चरर तक नहीं हो सके। इसका कारण यह था कि अपने क्रांतिकारी भावावेश के दिनों में वे हिंदी- आचार्यों की बौद्धिक हैसियत की ऐसी-तैसी कर चुके थे। जब इसका ज्ञान हुआ तब देर हो चुकी थी। आचार्यों ने उनके एक-एक पाप (?) का बदला लिया। अपनी खुशामद कराते रहे, उनका शोषण करते रहे, लेकिन नौकरी नहीं दी। एक आचार्या का वे वर्षों तक भाषण लिखते रहे। भाषण देने उस मोहतरमा को जाना होता और लाइब्रेरियों की खाक वेणुगोपाल छानते! सुना कि उस 'विदुषी' की डी. लिट्. की थीसिस भी उन्होंने ही लिखी थी! प्रलोभन यह दिया गया था कि विश्वविद्यालय में नियुक्त हो जाओगे, लेकिन जब नियुक्ति हुई तो पैनल में वेणु कहीं नहीं थे। आर्थिक मजबूरी में वे उन आचार्यों के पीछे-पीछे विनत भाव से चलने को मजबूर होते गए। उस विनत भाव का ही फल था, हमारे विश्वविद्यालय में गेस्ट फैकल्टी के रूप में उनका प्रवेश जो अब छिनने जा रहा था।

आखिरी दिन का अंतिम क्लास लेने के बाद वेणु कमरे में आए। चुप और उदास! थोड़ी देर बाद जैसे अपने आप बोले : 'पिछले दो-दो-दो वर्षों से आठ हजार की नियमित आमदनी की आदत हो गई थी। दस हजार के करीब 'स्वतंत्र वार्ता' से मिलते हैं। जीवन जैसे-तैसे चल रहा था। अब आगे सिर्फ अँधेरा है। संघर्ष करने की भी एक उम्र होती है। साठ का होने जा रहा हूँ। अब कोई काम मिलने से रहा। लेकिन मित्रों की इतनी बड़ी जमात है! उस पर जब मैं नजर डालता हूँ तो भविष्य जगमग लगता है।' वेणु आशा-निराशा के बीच की मनःस्थिति में थे। मुझे उनके दूसरे काव्य संग्रह 'हवाएं चुप नहीं रहतीं' की 'देखना और सुनना' शीर्षक कविता याद आई और देर तक दिमाग में बजती रही :

देखने के नाम पर
मेरे पास सिर्फ वह अँधेरा है
जो बढ़ता ही चला जा रहा है
लेकिन सुनने के नाम पर
ढेर सारी किलकारियां हैं
घुटनों के बल
खिसक-खिसक कर आते हुए बच्चे भी
मैं
जो कुछ भी देख पा रहा हूँ
वह आज है
लेकिन जो सुन रहा हूँ
वह आने वाला कल है'।

'चलिए कॉफी पीते हैं!' वेणु ने कहा और हम आखिरी बार अपने मयकदे में थे। मयकदा यानी हिंदी विभाग के पीछे वाली कॉफी की दुकान। हम साथ-साथ अंतिम बार पेड़ के नीचे पत्थरों पर

बैठकर कॉफी पी रहे थे। वेणु बीच-बीच में सिगरेट जलाते रहते थे। उस दिन भी हम देर तक बैठे रहे। दुनिया जहान की बातें करते रहे। वेणु पिछला भूल चुके थे और फॉर्म में थे। हमारी यह बैठक भी पहली बैठक-सी थी। अधिकतर वे ही बोले। विश्वविद्यालय परिसर में हमारी वैसी बैठकी फिर नहीं हो पाई। हमारे साथ और कौन था यह तो याद नहीं, लेकिन इतना याद है कि उस दिन मैं वेणु को छोड़ने 'वार्ता' कार्यालय तक गया। हमारे साथ एम. फिल और पी.एच.डी. के कुछ छात्र भी थे।

विश्वविद्यालय से छुट्टी के बाद 'स्वतंत्र वार्ता' की नौकरी वेणु की जीविका का अंतिम पड़ाव थी। वे शाम की शिफ्ट में वहां बैठते थे। उनके जिम्मे रविवार के विशेष पन्ने थे। उसके अलावा प्रतिदिन अखबार में आचार्य रजनीश से लेकर अन्य बाबाओं के प्रवचनों के अंश होते थे जो प्रायः वेणु द्वारा तैयार किए जाते थे। प्रति सप्ताह जो राशिफल प्रकाशित होते थे, वे भी प्रायः वेणु लिखते थे। यह वेणु के नाम से नहीं, गोपालाचार्य के नाम से छपता था। एक बार दोपहर में जब मैं वेणु के घर गया तो वे राशिफल से संबंधित उस स्तंभ के लिए किसी को डिक्टेशन दे रहे थे। मेरे लिए उन्होंने चाय मंगाई। मैं बैठकर चुपचाप चाय पीता रहा और वे डिक्टेशन देते रहे। काम पूरा होने के बाद उन्होंने वेदना में डूबी आवाज में कहा कि 'जीविका के लिए वह सब भी करना पड़ता है, जिसमें अपनी कोई आस्था नहीं होती।'

'स्वतंत्र वार्ता' तेलुगु और हिंदी में निकलने वाला हैदराबाद का प्रसिद्ध दैनिक पत्र है। तेलुगु संस्करण अधिक प्रसिद्ध है। वहां की तेलुगु पत्रकारिता की मुख्य धारा के पत्रों के साथ उसकी प्रतियोगिता है लेकिन हिंदी संस्करण की वैसी स्थिति नहीं है। इसका मुख्य कारण अहिंदी भाषी शहर में उसका होना है। उसका मुख्य पाठक व्यवसायी और हिंदी के अध्यापकों और अंग्रेजी कम जाननेवाले हिंदी भाषियों का एक वर्ग है। यह वह वर्ग है जो सोच में पिछड़ा और दकियानूस है। अध्यात्म और धर्म के पन्नों के कारण इस वर्ग में उसकी शायद बिक्री होती थी। उन पन्नों को संभालने का मुख्य दायित्व वेणुगोपाल पर था, जिसका निर्वाह वे मन या बेमन से प्रतिष्ठान के अनुरूप करते थे।

वेणुगोपाल तो उनका साहित्यिक नाम था। असली नाम नंद किशोर शर्मा था। वेणु के पूर्वज बहुत पहले राजस्थान से जीविका की खोज में हैदराबाद गए और वहीं के होकर रह गए। एक मंदिर में पुजारी का काम शर्मा परिवार करता था। वेणु को पैतृक रूप में पुजारी का काम जीविका के लिए मिली, लेकिन मार्क्सवाद और नक्सलवादी आंदोलन के असर में वे पुजारी के काम से भागते रहे। तेलुगु के क्रांतिकारी काव्य आंदोलन का प्रभाव भी उन पर था। क्रांतिकारी कवि वरवर राव, ज्वालामुखी, निखिलेश्वर आदि से परिचय-मित्रता भी थी। उस आंदोलन का ऐसा असर था कि वे घर-परिवार छोड़कर नक्सलवादी आंदोलन से प्रभावित साथियों के साथ इधर-उधर घूमते रहे। उसी दौरान उनकी गिरफ्तारी हैदराबाद के पास के कस्बे सिरपुर कागज नगर में हुई। गिरफ्तारी की खबर से देश के साहित्यिक जगत में वे एक चर्चित नाम हो गए। गिरफ्तारी के दौरान उन्हें तरह-तरह की यातनाएं दी गईं। उन्हें एक ऐसे कमरे में बंद रखा गया जिसमें जहरीले जीव-जंतु थे। वहां से निकलने के बाद उनके जीवन को जैसे पंख लग गए। वे इस शहर से उस शहर घूमते रहे। कभी विदिशा- भोपाल, कभी पटना, कभी रांची, कभी कलकत्ता। यायावरी वेणुगोपाल का प्रिय शौक थी। इसी क्रम में उन्होंने विजय बहादुर सिंह के सहयोग से पीएचडी कर ली। उन्हें उम्मीद थी की इस डिग्री के आधार पर उन्हें किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में नौकरी मिल जाएगी, लेकिन उन्हें यह

नौकरी नहीं मिलनी थी, सो नहीं मिली!

एक बार कवि कुमार अंबुज अपने बैंक के काम से हैदराबाद गए। उनके आग्रह पर मेरे यहां उनकी, सुवास कुमार और वेणुगोपाल की रात भर की बैठकी का प्रोग्राम बना। खाना खाने के बाद हम चारों जमीन पर गोलाकार बैठ गए और शुरू हुई देश-दुनिया और साहित्य-संस्कृति की बेशकीमती बातचीत। उसी बातचीत के क्रम में अंबुज ने वेणु के ऊपर थोड़े आक्षेप भी किए, थोड़ा दुःख भी प्रकट किया। कुमार अंबुज का कहना था- वेणु तो हमारे हीरो थे, उन्हें पूजा-पाठ और ज्योतिष वगैरह का, बेमन से ही सही, काम करते हुए देखकर दुःख होता है। वेणु देर तक अंबुज को सुनते रहे। जब अंबुज चुप हुए तो उन्होंने इतना ही कहा- 'किसी भी विचारधारा के लिए शहीद होने की जगह अपने परिवार और जीवन की रक्षा मेरे लिए अधिक जरूरी है।' वे बीच-बीच में उस मंदिर में पूजा-पाठ भी संभालते थे जहां से वे पैतृक रूप से जुड़े थे और जहां उनकी पत्नी और बच्चे रहते थे। अंबुज का हमला शायद उनके इसी काम को लेकर था।

मैं जब हैदराबाद में था, तभी पटना के हमारे दो कवि मित्र- मदन कश्यप और कुमार मुकुल नौकरी छूट जाने से बेरोजगार हो गए। 'वार्ता' संपादक से मेरा परिचय था। मैंने उन दोनों के लिए उनसे बात की। वे तैयार हो गए। क्योंकि 'वार्ता' को उन दिनों अनुभवी पत्रकारों की जरूरत थी। दोनों के 'वार्ता' ज्वाइन करने के बाद एक दिन जब वेणु से मुलाकात हुई तो उन्होंने एक वाक्य कहा, जिससे मैं कई दिनों तक परेशान रहा। उन्होंने कहा : 'गोपेश्वरजी! ध्यान रखिएगा कि मेरी नौकरी पर किसी तरह का संकट न आए'। मुझे लगा कि मदन कश्यप और कुमार मुकुल के आने से वे असुरक्षित महसूस कर रहे थे। उन्हें लगने लगा था कि संपादक कहीं उन्हें हटाकर उन दोनों को फीचर पेज का जिम्मा दे सकता है! हालांकि ऐसी कोई बात नहीं थी। वेणु की यह चिंता निर्मूल थी। लेकिन असुरक्षाबोध से घिरे मन में इस तरह के खयालों का उठाना स्वाभाविक था। उन्हीं दिनों एक ऐसी घटना घटी, जिसके लिए मैं अपने को जीवन भर माफ नहीं करूंगा। एक दिन शाम को वेणु से मिलने 'वार्ता' दफ्तर गया। मैं वेणु की ओर जा रहा था तभी संपादक मिल गए और मुझे लिए हुए अपने केबिन में चले गए। हम दोनों चाय पी रहे थे और बात कर रहे थे कि वेणुगोपाल अगले दिन छपने वाले अखबार के एक पेज का ऑफ प्रिंट लेकर आए। उसमें तकनीकी त्रुटि थी जो शायद वेणु की असावधानी से छूट गई थी। संपादक ने उन्हें बहुत जोर से डांटा और अपने चेंबर से निकल जाने को कहा। वेणु 'सॉरी' बोलकर चुपचाप बाहर चले गए। मैं थोड़ी देर चुपचाप बैठा रहा। मन खराब हो गया। उठकर चला आया लेकिन मन में वह घटना आती-जाती रही। मुझे अब भी लगता है कि वह ऐसी गलती नहीं थी कि वेणु को एक बाहरी व्यक्ति के सामने इस तरह डांटा जाए! मुझे आज भी अफसोस है कि मैंने संपादक को मना क्यों नहीं किया कि मेरे सामने यह सब न करें!

'वार्ता' के संपादक शायद वेणु को बहुत पसंद नहीं करते थे। इसका कोई कारण तो नहीं था, कारण था तो यह कि वे वेणु के कारण हीनताबोध के शिकार थे। वेणु का साहित्यिक सम्मान तो था ही, उनसे देश भर के बड़े-छोटे लेखक जब कभी हैदराबाद आते तो मिलने आते। नगर में भी वेणु की साहित्यिक प्रतिष्ठा थी। संपादक को अपने मातहत किसी व्यक्ति का इतना सम्मानित होना शायद अच्छा नहीं लगता था! इस कारण बाद में वेणु ने मिलने आये मित्रों से कार्यालय के बाहर मिलना शुरू किया, मित्रों को कम समय देना शुरू किया। हर हाल में उन्हें नौकरी बचानी जो थी!

कुछ दिनों बाद मालूम हुआ कि वेणुगोपाल को गैंग्रीन हो गया। यह शायद 2004 की जनवरी-फरवरी के महीने थे। हम अस्पताल गए। पैर काटने की बात चल रही थी। वेणु के किसी मित्र ने 'रामबाण-सा असर करने वाली' होम्योपैथिक दवा लाकर दी थी। वेणु को उस दवा पर भरोसा था, हम उन पर कोई दवाब देना नहीं चाहते थे। कुछ दिनों तक उस दवा का सेवन उन्होंने किया लेकिन उसका असर कुछ भी न हुआ। अंततः पैर काटना पड़ा और वेणु वैशाखी पर चलने लगे। आत्मविश्वास से भरा, जमीन को दबाते हुए चलने वाला एक कवि वैशाखी पर खड़ा था, लेकिन चेहरे पर कोई दैन्य भाव नहीं था। हमें लगा कि 'वार्ता' की नौकरी अब छूट जाएगी। हम लोगों ने संपादक से उनको नौकरी में जारी रखने का आग्रह किया। हमारा आग्रह था कि वेणु के साथ मानवीय व्यवहार किया जाए। लेकिन प्रबंधन का रवैया ऐसा रहा कि वेणु ने एक दिन कहा- 'गोपेश्वरजी, आप मानवीय व्यवहार की उम्मीद कर रहे थे, मेरे साथ तो दानवीय व्यवहार भी नहीं किया गया। इसके आगे मैं क्या कहूँ। वे वैशाखी पर चलते हुए 'वार्ता' कार्यालय जाते और देर रात तक अपना काम करते रहते।

कवि के साथ वेणु अच्छे रंगकर्मी भी थे। उनकी एक छोटी-सी रंग मंडली थी। उसके जरिए वे कभी-कभार नाटकों का मंचन करते और जगह-जगह उसका प्रदर्शन करते। वे जितने अच्छे नाट्य निर्देशक थे, उतने ही अच्छे अभिनेता भी। उनके नाटक मैंने देखे थे और उनका यह रूप भी मुझे बहुत पसंद था। अपने नाटक की एक भूमिका में जब वे बहुत शानदार अभिनय कर रहे थे तो हैदराबाद के हिंदी के प्रोफेसर ने ईर्ष्या भाव से कहा 'न जाने इसके कितने रूप हैं!' सचमुच वेणु के कई रूप थे। वे वास्तव में जीनियस थे। जीवन की मुश्किलों ने उन्हें किसी भी रूप में पूरी तरह खिलने न दिया!

जब वे भोपाल में ब.व. कारंत के साथ नाटक करना सीख रहे थे तभी उनके जीवन में वीरांजी आई। दोस्ती प्रेम में और प्रेम शादी में बदलते देर नहीं लगी। वीरांजी से वेणु की एक प्यारी-सी बच्ची थी कोंपल, जो बहुत अच्छी नृत्यांगना थी। वीरांजी बाद में भोपाल आ गई थीं और वहीं के जूनियर कॉलेज में पढ़ाने लगी थीं। वेणुगोपाल कभी वीरांजी के साथ होते, कभी मंदिर वाली अपनी पहली पत्नी के साथ। दो घरों में बंटा हुआ उनका जीवन कितना तनावपूर्ण रहा होगा, इसकी मैं सिर्फ कल्पना भर कर सकता हूँ। इसी बंटे हुए जीवन के कारण वे शायद बिखर गए!

पहली पत्नी से, जहां तक याद है, एक लड़की और एक लड़का था। लड़की की शादी उसी मंदिर वाले घर में हुई थी। हैदराबाद का साहित्यिक समाज उस दिन एकत्रित था। वेणु ने पिता के सारे धार्मिक कर्मकांड पूरे किए। शादी में आने वाले खर्च की व्यवस्था उन्होंने कैसे की यह तो वही जानते थे। बेटे को जब इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिले के समय भी वेणु को भयंकर अर्थ संकट से जूझना पड़ा। दिल्ली के एक कथाकार ने, जो पहाड़ से आता है, जो खुद बेरोजगार युवाओं का अपनी पत्रिका के लिए शोषण करता है, जो पम्फलेटनुमा एक मासिक पत्रिका निकालता है और जो खुद को भारी क्रांतिकारी समझता है, वेणु की अपनी पत्रिका में खूब लानत-मलामत की कि यह सेठों से अपने बेटे की पढ़ाई के लिए चंदे उगाहता है।

जून 2004 में जब मैं हैदराबाद छोड़ रहा था तो वेणु से मिलने गया- वीरांजी के घर पर। उस दिन हमारी बातचीत न के बराबर हुई। हम चाय पीते रहे और लगभग चुप-चुप-सा रहे। दिल्ली आने के बाद हमने एक-दूसरे को चिट्ठियां लिखीं। दिल्ली से वेणु को अनेक शिकायतें थीं। वे मुझे हिदायत दे रहे थे कि मैं दिल्ली की मानसिकता में आने से अपने को बचाऊं!

कुछ समय बाद हम 'वार्ता' कार्यालय के बाहर मिले। मैं और अरुण कमल किसी सिलसिले में हैदराबाद में थे। फोन किया तो वेणु ने शाम को कार्यालय के बाहर बुलाया। हम सड़क किनारे खड़े थे। वेणु बैशाखी पर धीरे-धीरे आए। थोड़ी देर हमने बात की। यह वेणु से मेरी आखिरी मुलाकात थी। कुछ समय बाद मैं बरेली में वीरेन डंगवाल के साथ बैठा हुआ था। वेणु की चर्चा चली। वीरेन ने फोन लगाया। उधर से वेणु ने कहा कि 'वे कैंसर से पीड़ित हैं। और ज्यादा दिन अब नहीं बचेंगे।' वीरेन डंगवा ने उन्हें प्यार भरी डांट लगाई और कहा कि 'हमसे यह नाटक मत करो।' फिर फोन मेरी ओर बढ़ा दिया। हमने उस दिन यही समझा कि वेणु ने हमसे मजाक किया है। लेकिन वह सच था। गैंग्रीन के बाद वे सचमुच कैंसर से जूझ रहे थे। कुछ ही दिनों बाद 2 सितंबर 2008 की सुबह खबर मिली कि कवि वेणुगोपाल का कल निधन हो गया। लीलाधर मंडलोई और मेरे प्रयास से दिल्ली में वेणुगोपाल की स्मृति में सभा हुई, जिसमें बड़ी संख्या में लेखक-संस्कृतिकर्मी आए। अशोक वाजपेयी, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, मैनेजर पाण्डेय आदि साहित्यकारों ने उन्हें बहुत शिष्ट से याद किया। लीलाधर मंडलोई ने, जब मैं हैदराबाद में था, दूरदर्शन के लिए वेणु का एक इंटरव्यू कराया था। उसके बाद भी कुछ इंटरव्यू कराए। वेणु को जो लोग बेइंतहा प्यार करते थे उनमें एक लीलाधर मंडलोई भी थे। वे वेणु की रचनाओं को एक जगह संपादित प्रकाशित करने में लगे थे। पता नहीं यह काम कहां तक पहुंचा!

वेणुगोपाल के तीन काव्य संग्रह प्रकाशित थे- 'वे हाथ होते हैं' (1972), 'हवाएं चुप नहीं रहती' और 'चट्टानों का जलगीत' (1980)। पत्र-पत्रिकाओं में अभी भी कई संग्रहों लायक कविताएं बिखरी पड़ी हैं। कुछ पूरी-अधूरी कविताएं अप्रकाशित भी होंगी। अंतिम दिनों में वेणु ने बहुत अच्छी कहानियां भी लिखीं। कुछ संस्मरण भी लिखे। संभव है, नाटक भी लिखे हों! ये सारी रचनाएं अप्रकाशित हैं। 'हवाएं चुप नहीं रहती' संग्रह में 'सपना मेरा ही है' शीर्षक कविता है। यह कविता आपातकाल में लिखी गई थी। लेकिन आज जब मैं इसे पढ़ता हूं तो लगता है जैसे वेणुगोपाल ने गैंग्रीन और कैंसर जैसे अंधेरे से संघर्ष करते हुए यह कविता अभी-अभी लिखी है और लिखते-लिखते हमसे सदा के लिए दूर चले गए हैं-

*'पहली बार ऐसा लग रहा है कि
इस बार लौटना
नहीं हो सकेगा
मंजिल पर
उतर जाऊंगा तो बस उतर ही जाऊंगा,
इस भीड़ के साथ
और
वह स्टेशन कभी नहीं
देख पाऊंगा जहां से,
मेरे पिछले सारे सफर शुरू होते थे
और खत्म भी वहीं।'*

छोटे शहर का बड़ा लेखक

रूप सिंह चंदेल

नवंबर, 1987। हमने शाहजहांपुर जाने का विचार किया, जहां पत्नी की बड़ी बहन अनुसुइया राठौर रहती थी। उन दिनों आलोचक-साहित्यकार राजकुमार गौतम मेरे साथ काम करते थे। लंच के समय आध घंटा हम घूमने कार्यालय से बाहर निकल जाते- मौसम कैसा भी क्यों न हो। वे आधा घंटा ही मिलते हमें साहित्यिक गुफ्तगू करने के लिए। कभी-कभी हम दफ्तर बिल्डिंग में बनी नवल कैंटीन में सुबह ग्यारह बजे के लगभग चाय पीने जाते, लेकिन ऐसा कम ही होता। मैंने गौतम से शाहजहांपुर जाने की चर्चा की। सुनकर कुछ देर वह चुप रहे। यह उनके स्वभाव में है, तुरंत प्रतिक्रिया न देना- सोचना और फिर अपनी बात कहना। उनकी इस खूबी को मैं भी अपनाना चाहता रहा, लेकिन आज तक नहीं अपना सका। तुरंत प्रतिक्रिया में कई बार हम वह बोल जाते हैं जो हमें नहीं कहना होता। बोलने के अलावा उत्तर लिखने के मामले में भी रुकना चाहिए। खैर, कुछ देर बाद गौतम ने कहा, 'तुम वहां जा रहे हो तो हृदयेशजी से भी मिल लेना। बेहतर होगा कि उनका साक्षात्कार कर लेना।'

सच यह था कि तब तक मैंने हृदयेश को बहुत कम पढ़ा था। गौतम ने मेरा संकट समझा और बोले कि उनके पास उनका कोई उपन्यास होगा तो ला देंगे। अगले दिन उनके थैले से हृदयेशजी का एक उपन्यास निकला। मैं केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालय का सदस्य था। पुस्तकालय मेरे कार्यालय से चार कदम की दूरी पर केंद्रीय हिंदी निदेशालय कार्यालय के नीचे ब्लॉक नं 7 में था। उसी दिन मैंने लंच में वहां हृदयेशजी की पुस्तकें खोजीं, जहां उनका एक कहानी संग्रह हाथ लगा।

शाहजहांपुर जाने से पहले मैंने दोनों पुस्तकें पढ़ीं। उनका फोन नं. भी खोज लिया और एक दिन अपने शाहजहांपुर पहुंचने की सूचना देकर मैंने हृदयेशजी से मिलने का समय मांगा। उन्होंने कहा कि मैं किसी भी दिन सुबह दस बजे के बाद मिलने आ जाऊं। मैं उनसे मिलने गया। वह बक्सरिया मोहल्ले में रहते थे। रेलवे स्टेशन को जाने वाली सड़क पर उनका मकान था जिसे मकान कहना उचित नहीं- एक बड़ी हवेली थी वह सड़क से बहुत ऊंची। सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंचा। घंटी बजाई। लंबे, सांवले, दुबले-पतले, गालों पर पड़ी झुर्रियों और ऊबड़-खाबड़ चेहरे वाले सज्जन ने दरवाजा खोला। वे ही हृदयेशजी थे। घर में संगमरमर पत्थरों का काम दर्शनीय था। दरवाजे पुराने लेकिन बेहद मजबूत थे- अपने मालिक की छवि के विपरीत।

हृदयेशजी मुझे कमरे में ले गए, जहां सोफे पर मुझे बैठाया और स्वयं सामने कुर्सी पर बैठे।

सीधे मुद्दे पर आ गए। 'हां तो आप क्या जानना चाहते हैं?'

'बहुत कुछ- आपकी साहित्यिक यात्रा पर बातचीत करना चाहता हूं।'

'पूछें।' लेकिन तभी उन्हें कुछ याद आया और बोले, 'एक मिनट रुकें' और वह घर के अंदर गए। कुछ देर बाद लौटे और कुर्सी पर बैठते हुए बोले, 'चाय के लिए कहने गया था।'

बातचीत शुरू करने से पहले उन्होंने पूछ लिया, उत्तर लिखेंगे या-

'टेप रिकार्डर लाया हूं।'

'फिर ठीक है।'

और बातचीत प्रारंभ हो गई। मैं प्रश्न लिखकर ले गया था। कुल बीस प्रश्न थे। किसी साक्षात्कार से साक्षात्कार करने का वह पहला अवसर था। मेरे हर प्रश्न के हृदयेशजी ने लंबे उत्तर दिए। बीच में चाय आ गई और बातचीत रुकी रही लेकिन उस दौरान दिल्ली और साहित्यिक माहौल पर चर्चा होती रही। चाय के बाद हमने फिर बातचीत प्रारंभ कर दी। दो घंटे से ऊपर हम बातचीत करते रहे हालांकि साक्षात्कार एक घंटे तक ही चला था। जब मैं उठने लगा, हृदयेशजी बोले, 'एक बार टेप सुन लिया जाए।'

'हां, यह ठीक रहेगा।'

मैंने टेप पुनः ऑन किया। उसमें कोई आवाज न हुई। न सूं न सी। मेरा चेहरा फक- हृदयेशजी के चेहरे पर भी निराशा और उदासीनता के चिह्न उभर आए थे। क्षण भर तक मैं किंकर्तव्यविमूढ़ बैठा हृदयेशजी के चेहरे पर आ-जा रहे भावों को पढ़ता रहा और शर्मिंदगी अनुभव करता रहा। अंततः कुछ देर बाद मैं बोला 'आपने जो कुछ भी बोला है वह यथावत मेरे मस्तिष्क में मौजूद है। मैं पूरा साक्षात्कार आपको लिखकर भेज दूंगा। आप उसे देख लेंगे और यदि संशोधन की गुंजाइश अनुभव करेंगे तो करके मुझे लौटा देंगे।'

लाचारी थी। हृदयेशजी ने सिर हिलाकर कहा, 'ठीक है।'

मैंने पूछा, 'इसे किस पत्रिका को भेजा जाए।'

'से.रा. यात्री से बात कर लेना। वह मेरे मित्र हैं। वर्तमान साहित्य में छप जाएगा।'

उस दिन की एक बात मुझे भली भांति याद है। हृदयेशजी ने दुःखी मन से कहा था, 'दिल्ली के बहुत से साहित्यकार परिचित हैं। मिलते हैं, तब बहुत उत्साह और अपनत्व दिखाते हैं लेकिन दिल्ली जाते ही भूल जाते हैं। कभी किसी काम के लिए कहता हूं तो उत्तर तक नहीं देते।'

'अब भविष्य में यदि कोई काम होगा, आप मुझे कहेंगे और आपको निराशा न मिलेगी।'

हृदयेशजी ने शायद मुस्कराना नहीं सीखा था। बोले, 'ठीक है।' फिर कुछ रुककर बोले, 'केंद्रीय हिंदी निदेशालय के डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना हैं जिन्हें यदि कभी किसी काम के लिए कहा तो वह कोशिश करते हैं उसके लिए। शेष तो ऐसे ही हैं।'

'आप अब मुझे बताया करेंगे।'

'ठीक है।' उन्होंने संक्षिप्त उत्तर दिया और हम उठ खड़े हुए थे। वह दरवाजे के बाहर तक मुझे छोड़ने आए थे।

साक्षात्कार 'वर्तमान साहित्य' में प्रकाशित हुआ। हृदयेशजी के साथ पत्राचार प्रारंभ हुआ। प्रायः वह पोस्टकार्ड लिखते। 2012 तक उनके साथ मेरा पत्राचार अबाध गति से चलता रहा। सैकड़ों पत्र

उन्होंने मुझे लिखे होंगे और मैंने सभी के उत्तर उन्हें दिए। शाहजहांपुर की मुलाकात के बाद उन्होंने लिखा कि मैं उन्हें कोई प्रकाशक बताऊँ। उन दिनों मेरी पहचान केवल किताबघर (अब किताबघर प्रकाशन) के सत्यव्रत शर्मा से थी। वह मेरे प्रकाशक भी थे। मैंने उनसे हृदयेशजी के विषय में चर्चा की और कहा कि यदि वह उनका कुछ प्रकाशित करने में रुचि दिखाएँ तो मैं उन्हें लिख दूँ। शर्माजी ने रुचि दिखाई तो मैंने हृदयेशजी को उनका फोन नंबर देते हुए लिखा कि वह सत्यव्रत शर्मा से बात कर लें। उन्होंने बात की और वह किताबघर की लेखक सूची में शामिल हुए। वहाँ से उनका उपन्यास 'पगली घंटी' प्रकाशित हुआ, जो जेल कैदियों को लेकर लिखा गया था।

हृदयेशजी शाहजहांपुर कोर्ट में जज के पी.ए. थे। इंटरमीडिएट तक शिक्षा पाई थी इसलिए उन्होंने उसी अनुभव को अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया है। मेरे एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था कि वह वास्तविक पात्रों को अपने साहित्य का आधार नहीं बनाते। उनके सभी पात्र काल्पनिक हैं। मुझे आज तक यह बात पची नहीं। वास्तविक पात्र ही रचना को वास्तविकता प्रदान करते हैं लेकिन आज सोचता हूँ तो लगता है कि ऐसा उन्होंने उन पात्रों के कोपभाजन बनने से बचने के लिए कहा होगा जिन्हें लेकर उन्होंने सृजन किया था।

हृदयेशजी केवल पत्रों द्वारा ही मुझे काम नहीं बताते थे, बल्कि काम होने में विलंब देख फोन भी कर देते। कभी एन.बी.टी. का कोई काम तो कभी किसी प्रकाशक का। प्रकाशक ने प्रूफ नहीं भेजे तो फोन, प्रकाशक ने रायल्टी नहीं दी तो फोन। चूंकि वह प्रकाशक तक मेरे माध्यम से पहुंचे थे तो मेरा दायित्व था कि (ऐसा वह मानते थे) मैं उसे वैसा करने के लिए कहूँ जैसा वह चाहते थे। यह अनुभव अन्य लेखकों के साथ भी मुझे हुआ, जिन्हें मैंने प्रकाशकों से जोड़ा और उनकी पुस्तकें प्रकाशित करवायीं। होता यह कि लेखकों को प्रकाशक नहीं मिलते और मिलते तो वे रायल्टी के मामले में आना-कानी करते और जब मेरे कहने पर उन्हें कोई प्रकाशक प्रकाशित कर देता तब वह बड़े लेखक बन जाते और रायल्टी के लिए न केवल प्रकाशक की जान खाने लगते बल्कि मुझे भी पत्र और फोन लिखने लगते। एक नहीं कितने ही उदाहरण हैं। किताबघर के पश्चात मैंने हृदयेशजी का परिचय भावना प्रकाशन से करवाया, जहाँ से उनके तीन उपन्यास एक साथ 'तिक्की' के रूप में प्रकाशित हुए। उनकी संपूर्ण कहानियाँ भी भावना प्रकाशन ने प्रकाशित कीं। चूंकि भावना से उन्हें सब कुछ समय से प्राप्त होता रहा इसलिए कभी उन्होंने मुझे इस बारे में न फोन किया और न पत्र लिखा।

एक घटना के उल्लेख से हृदयेशजी के व्यक्तित्व को अच्छी तरह समझा सकता है। शायद 1994 की बात थी। किताबघर के सत्यव्रत शर्मा ने अपने पिता के नाम से 1993 से आर्य स्मृति सम्मान प्रारंभ किया। राजकुमार गौतम किसी रूप में प्रकाशन से जुड़ चुके थे और मेरा अनुमान है कि सम्मान शर्माजी ने गौतम की प्रेरणा से प्रारंभ किया था। 1994 में विशेष अतिथि के रूप में हृदयेशजी को बुलाया गया था। मैं भी कार्यक्रम में पहुंचा जो तब से अब तक त्रिवेणी सभागार में हो रहा है। हृदयेशजी को बैग थामे खड़ा देख मुझे प्रसन्नता हुई। मैं लपककर उनके पास पहुंचा और यह सोचकर कि संभव है इतने वर्षों में वह मेरी शक्ति भूल गए हों, मैंने उन्हें अपना परिचय दिया। उनका चेहरा भावशून्य बना रहा। वह मुंह के अंदर ही क्या बुदबुदाएँ, मैं समझ नहीं पाया। मैं हतप्रभ था और यह समझ ही नहीं पा रहा था कि जो व्यक्ति प्रति सप्ताह अपने काम के लिए मुझे पत्र

दर पत्र लिखता है मुझे देख उसमें कोई उत्साह नहीं। मैं उनके पास से हट गया। बाद में उनके स्वागत के लिए मेरा नाम पुकारा गया तो मंच पर जाकर मैंने उन्हें माला पहनाकर उनका स्वागत किया, लेकिन मेरा मन इतना उखड़ चुका था कि कार्यक्रम समाप्त होने के बाद मैं उनसे नहीं मिला। इस घटना के बाद भी मैंने उनके काम करने जारी रखे और उनके कहने पर भावना प्रकाशन से उनका परिचय करवाया।

हृदयेशजी की आलोचकों ने बहुत उपेक्षा की थी। यदि उनका संपर्क मधुरेशजी से न रहा होता, जो कि बदायूं के किसी महाविद्यालय में हिंदी के प्रोफेसर थे, तो निश्चित ही हृदयेश को वह चर्चा न मिली होती जो उन्हें मिली। उन्होंने उल्लेखनीय कहानियां लिखीं और महत्वपूर्ण उपन्यास भी। विषय की विशिष्टता के कारण उनका साहित्य हिंदी में अपनी एक अलग पहचान रखता है लेकिन वह व्यवहारकुशल व्यक्ति नहीं थे। उनके व्यवहार में एक प्रकार की रुक्षता थी। हो सकता है कि यह मेरा भ्रम हो। एक हद तक वह मुझे आत्मकेंद्रित व्यक्ति लगे। इस सबके बावजूद वह सत्ता से दूर रहनेवाले व्यक्ति भी थे। महत्वपूर्ण साहित्यिक अवदान के बावजूद उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान की नजर उनकी ओर नहीं गई, जबकि दो कौड़ी का लेखन भी न करने वाले लेखकों को यश भारती, विशिष्ट साहित्य सम्मान से नवाजा गया और अब भी नवाजा जा रहा है। उन्हें जब ज्ञानरंजन ने 'पहल सम्मान' प्रदान किया और शाहजहांपुर जाकर सम्मानित किया तब उसकी प्रशंसा हिंदी जगत में सभी लोगों ने की थी।

कोई बड़ा पुरस्कार न पाने की पीड़ा आजीवन रही हृदयेशजी को। उनके अंतिम दिनों में एक बात और मैंने नोट की थी कि अपनी पुस्तकों को प्रकाशित करवाने की भयानक उत्सुकता और जल्दबाजी थी उनमें। जिन दिनों भावना प्रकाशन से उनकी संपूर्ण कहानियां प्रकाशित हो रही थीं, वह फोन पर फोन मुझे कर रहे थे उसके विलंब को लेकर और एक ही बात कहते, 'यार, मैं पका हुआ आम हूं कब टपक जाऊं? आप उन्हें कहें, 'एक दो बार उन्होंने मुझे भी इसके लिए फोन किया था और मैंने उन्हें आश्वस्त किया था कि आप चिंता न करें पुस्तक अवश्य प्रकाशित होगी।

दरअसल दूर बैठे लेखक प्रकाशन की समस्याएं नहीं समझते। प्रकाशक को अपना व्यावसायिक आधार भी देखना होता है। कुछ लोग मेरी इस बात पर कह सकते हैं कि मैं प्रकाशकों का पक्ष ले रहा हूं लेकिन ऐसा नहीं है। हम लेखकों को वास्तविकता समझना चाहिए। प्रकाशक पूंजी तभी लगाएगा जब वह उसे निकाल लेने को लेकर आश्वस्त होगा। इस स्थिति में विलंब होता है। मैंने गलतफहमी में ऐसे रचनाकारों की भी प्रकाशकों से अनुशंसा कर दी जो कुछ छपवाने के लिए दयनीय होकर मुझे कहते थे, लेकिन पांडुलिपि प्रकाशक के पास देने और प्रकाशक द्वारा उसकी तैयारी पूरी कर लेने के बाद उन्होंने प्रकाशक को जिस प्रकार दुःखी किया उससे कभी किसी लेखक के लिए अनुशंसा न करने का मैंने निर्णय किया। कालांतर में अपने निर्णय पर मैं कायम नहीं रह सका और हाल ही में एक लेखक के कहानी संग्रह के लिए एक प्रकाशक से अनुशंसा कर ही दिया। मुझे सदा यह लगता है कि मेरे लिए डॉ. शिवतोष दास जैसे भले व्यक्ति ने अनुशंसा (किताबघर से) की थी और मैं उन भाग्यशाली लेखकों में हूं जिसकी बात कुछ प्रकाशक (सभी स्थापित) मान लेते हैं तो मुझे अवश्य अनुशंसा करनी चाहिए और ऐसा करके मुझे बहुत ही हार्दिक प्रसन्नता होती है।

एक कथाकार के रूप में हृदयेशजी का अवदान हिंदी साहित्य के लिए अमूल्य है, लेकिन अन्य

विधाओं में उनकी पकड़ कमजोर थी। उन्होंने आत्मकथा लिखी। ऐसा नहीं कि उन्होंने साहित्यकारों और अन्य लोगों की आत्मकथाएं नहीं पढ़ीं होंगी। आत्मकथा में वह अपने को साध नहीं पाए। जीवन में समय-समय पर उन्होंने डायरी लिखी थी। आत्मकथा में उसका भरपूर सहारा लिया। अच्छा रहा होता कि वह अपनी डायरी छपवा लेते। मोहन राकेश की डायरी (राजपाल एंड सन्स) और अन्य साहित्यकारों से प्रेरणा ले सकते थे। आत्मकथा को लेकर निश्चित ही एक मोह रहा होगा उनके मन में और उस मोहवश उन्होंने जो लिखा वह इतना सतही बना कि उससे अधिक खराब आत्मकथा मैंने आज तक नहीं पढ़ी।

हुआ यह कि सुधीर विद्यार्थी ने मूलचन्द्र गौतम की पत्रिका 'परिवेश' में उस आत्मकथा को लेकर लंबा लेख लिखा। विद्यार्थीजी लंबे समय तक शाहजहांपुर में रहे थे और हृदयेशजी के निकट भी रहे थे। वह स्वयं एक साहित्यकार, संपादक और क्रांतिकारियों पर विशेष कार्य करने व्यक्ति हैं। विद्यार्थीजी हृदयेशजी की बहुत-सी ऐसी बातों से परिचित थे जिनका उल्लेख हृदयेशजी ने तोड़-मरोड़कर किया था। विद्यार्थीजी ने उस आत्मकथा (किताबघर प्रकाशन से प्रकाशित) की जो आलोचना की वह काबिले गौर थी। लेकिन उनकी आलोचना पढ़कर मुझे लगा था कि विद्यार्थीजी ने पूर्वाग्रहीत होकर वह सब लिखा था। मैंने अपने ब्लॉग में उनके उस आलेख की आलोचना की। मैंने हृदयेशजी को इस विषय में फोन किया और उसकी चर्चा की तो उन्होंने कहा, 'उसे छोड़ें- आप स्वयं उस पर कहीं समीक्षा लिख दें।' तब तक मैंने उस आत्मकथा का केवल वह अंश ही पढ़ा था, जिसे कमलेश्वर ने सारिका में 'गर्दिश के दिन' कॉलम के अंतर्गत प्रकाशित किया था। निश्चित ही वह उल्लेखनीय अंश था। मैंने समीक्षा लिखने के लिए हां कह दी। मैंने सत्यव्रत शर्मा को हृदयेशजी की आत्मकथा भेजने के लिए फोन किया। एक सप्ताह के अंदर दो प्रतियां मुझे मिलीं। 'गर्दिश के दिन' के बाद पुस्तक ने उबाना प्रारंभ कर दिया। जल्दी ही मुझे अपनी उस गलती का भान हुआ जिसके कारण मैंने सुधीर विद्यार्थी की आलोचना की थी। किसी प्रकार मैंने उस आत्मकथा को समाप्त किया और सिर थामकर रह गया कि उसे लिखने के पीछे लेखक का उद्देश्य क्या था। आवश्यक नहीं कि हर आत्मकथा किसी बड़े उद्देश्य को लेकर लिखी जाए, लेकिन लेखक जहां से भी उसे प्रारंभ करे उसके बाद जीवन के हर पक्ष को उसमें उद्धृत तो करे। केवल डायरी के बल पर उसमें कितना कुछ कहा जा सकता है। आत्मकथा लिखना तलवार की धार पर चलना जैसा होता है और उसे ही लिखना चाहिए जो उसके प्रति ईमानदार रह सके।

मुझे याद है कि हृदयेशजी की आत्मकथा में ऐसा कुछ भी मुझे नहीं मिला जिसके आधार पर उसे आत्मकथा कहा जा सके। उसे पढ़ने के बाद सोचता रहा कि बेहतर रहा होता कि उन्होंने कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव की भांति संस्मरण लिखे होते। सुधीर विद्यार्थी ने उसे झूठ का पिटारा कहा। मैं हृदयेशजी के जीवन के साहित्येतर प्रसंगों को नहीं जानता था, लेकिन मुझे यह अवश्य लगा कि उसमें कहीं कुछ छूटा अवश्य है बल्कि कहना सही होगा कि छोड़ा गया था। उदाहरण के लिए पत्नी के साथ अपने संबंधों को लेकर उन्होंने लिखा कि उन्होंने केवल एक-दूसरे की शारीरिक आवश्यकताएं पूरी की थीं- प्रश्न उठता है कि क्या पत्नी के सहयोग के बिना वह लेखक बन सकते थे। उनकी नौकरी इतनी अच्छी न थी कि दूसरे अधिकारी लेखकों की भांति सुविधापूर्ण जीवन जीते और मन मुताबिक लेखन करते। जज के पी.ए. के रूप में सुबह सात बजे उन्हें उसके बंगले में

डिक्टेसन लेने के लिए पहुंचना होता था। स्पष्ट है शाम दफ्तर से जब लौटते रहे होंगे तब क्या स्थिति रही होगी। ऐसे में पत्नी ने सहयोग न किया होता तब- उनके इस झूठ का पर्दाफाश सुधीर ने अपने आलेख में किया था।

हृदयेशजी को जब यह ज्ञात हो गया कि आत्मकथा की प्रतियां प्रकाशक ने मुझे भेज दी थीं उन्होंने फोन करके मुझे पूछा कि मैं उसकी समीक्षा कहां लिखूंगा। 'कमर मेवाड़ी की पत्रिका संबोधन' में लिख दूंगा।' मैंने कहा था।

दो सप्ताह बाद उनका फोन आया कि समीक्षा लिख दी। लिख नहीं पाया मैंने बता दिया। सच यह था कि उस आत्मकथा की समीक्षा मैं लिखना नहीं चाहता था। एक सप्ताह बाद पुनः फोन। उस समय मैं ड्राइव कर रहा था। बात नहीं हुई। तीन चार दिन बाद फिर उसी समय फोन। उस समय भी मैं ड्राइव कर रहा था, लेकिन ट्रैफिक पुलिस की नजर से दूर था। मैंने फोन उठाकर कहा कि ड्राइव कर रहा हूं बात नहीं हुई। एक सप्ताह बीता फिर ठीक सवा पांच बजे शाम को फोन। मैं उन दिनों पत्नी को दिल्ली विश्वविद्यालय से लेने के लिए शाम चार बजे घर से निकलता था और पांच बजे लेकर लौट रहा होता था। उस समय भी ड्राइव कर रहा था। मैंने पत्नी को कहा कि वह बता दें कि मैं गाड़ी चला रहा हूं। दो दिन बाद फिर उनका फोन चार बजकर कुछ मिनट पर आ गया। मैंने गाड़ी स्टार्ट ही की थी। बोला, 'हृदयेशजी, मैं ड्राइव कर रहा हूं।' मेरा इतना कहना था कि उधर से आवाज आई, 'यार, जब भी मैं आपको फोन करता हूं आप ड्राइव कर रहे होते हैं।' वह मेरी बात को झूठ मान बैठे थे।

उस दिन के बाद उन्होंने दो बार और फोन किए, लेकिन मैंने फोन नहीं उठाया। मुझे इस बात की पीड़ा थी कि पच्चीस वर्षों से जिस व्यक्ति ने एक बात भी उनसे कुछ छुपाया नहीं उस पर संदेह। उसके बाद उनका अंतर्देशीय पत्र आया। मैंने स्पष्ट लिखा कि मुझ पर संदेह करके आपने मुझे पीड़ा पहुंचाई- और भी कुछ लिखा होगा जो याद नहीं। वही हमारे अंतिम पत्र थे। एक दिन कमर मेवाड़ी साहब ने बताया कि उनके पास फोन करके उन्होंने पूछा था कि मैंने उनकी आत्मकथा के लिए समीक्षा भेजी या नहीं। हमारे मध्य फिर कभी संवाद नहीं हुआ। मैं सोचता हूं कि लेखक जब अधिक बूढ़ा हो जाता है उसकी छपास और अपनी पुस्तकों की चर्चा की भूख बढ़ जाती है। कई परिचित बुजुर्ग लेखकों को ऐसा करते देखा है। हृदयेशजी इसका अपवाद कैसे हो सकते थे।

1 नवंबर, 2016 को ज्ञात हुआ कि हृदयेशजी नहीं रहे। यादें ताजा हो उठी थीं। एक साहित्यकार के रूप में वह सदा ही जीवित रहेंगे।



रामविलास शर्मा : वे यादें, वे बातें

प्रकाश मनु

रामविलासजी से आगरा में मैं मिल चुका था, जब मैं आगरा कॉलेज, आगरा में भौतिक विज्ञान में एम.एस.सी. कर रहा था। पर उनसे लंबी और कहीं अधिक खुली मुलाकात हुई बरसों बाद, सन् 1992 में दिल्ली में। पत्नी के निधन के बाद रामविलासजी तब दिल्ली में ही, विकासपुरी में अपने बेटे विजय के साथ रह रहे थे। यही समय था, जब उन्हें फिर से जानने का मौका मिला और एक छूटा हुआ तार जुड़ा।

सन् 1992 में के.के. बिड़ला फाउंडेशन द्वारा रामविलासजी को व्यास सम्मान प्रदान किया गया। रामविलासजी ने सम्मान की राशि लेने से इनकार कर दिया और बड़ी मुश्किल से इस बात के लिए राजी हुए कि के.के. बिड़ला उनके घर आकर, उन्हें एक नारियल और प्रशस्ति-पत्र प्रदान करें। रामविलासजी बड़े कद के लेखक थे और निराला पर उनका काम मुझे बेहद रोमांचित करता था। पर अपनी सैद्धांतिकता के कारण पुरस्कार की राशि ग्रहण न करने के उनके निर्णय ने मेरी निगाहों में उनके कद को कहीं अधिक बड़ा कर दिया था।

मेरे मित्र विजयकिशोर मानव ने तय किया कि इस मौके पर 'दैनिक हिंदुस्तान' के रविवासरीय में रामविलासजी पर कुछ विशेष सामग्री दी जाए। मुझे रामविलासजी का एक लंबा और खुला इंटरव्यू लेने का काम सौंपा गया।

मैंने तब तक रामविलासजी की 'निराला की साहित्य साधना' और 'आस्था और सौंदर्य' आदि पुस्तकें, 'रूप-तरंग' और 'तारसप्तक' की कविताएं तथा कुछ निबंध पढ़ रखे थे। पर इस इंटरव्यू की तैयारी के लिए उन्हें दोबारा पढ़ना जरूरी था। सो रामविलासजी की जितनी पुस्तकें संभव थी, मैंने एकत्र कीं और उनका अध्ययन शुरू कर दिया। उनमें गंभीर और भारी-भरकम आलोचनात्मक किताबों के साथ-साथ 'घर की बात' जैसी नितांत घरेलू और अनौपचारिक किताब भी थी। कुछ किताबें भाषावैज्ञानिक अध्ययन से संबंधित थीं।

इन्हें पढ़कर मैं चकित था, रामविलासजी की विद्वत्ता से अधिक उनके ज्ञान और रुचियों की विविधता को देखकर हालांकि रामविलासजी का बात कहने का अंदाज इतना सीधा-सादा और प्रभावी था कि बात सीधे दिल में उतरती थी। यह बात शुरू से ही मुझे खींचती रही है और इससे बड़े लेखक की एक कसौटी मेरे मन में बनी कि वह 'उरझावनहारी' नहीं, 'सुरझावनहारी' बात करता है और उसके बाद भी अपनी गहरी छाप छोड़ता है।

बहरहाल, यह सन् 1992 का कोई दिन रहा होगा। मैंने इंटरव्यू के लिए उन्हें फोन किया। उन्होंने कहा, 'दिन में तो मैं लिखता-पढ़ता हूँ। आप आज शाम को आ जाइए।'

शाम को मैं उनके घर (सी-358, विकासपुरी) पहुंचा, तो वे घूमने जाने के लिए तैयार थे। मेरा नाम सुना तो उन्हें तुरंत याद आ गया। बोले, 'मनुजी, मैं पार्क में घूमने जा रहा हूँ। आप चाहें तो मेरे साथ ही चलिए।'

मेरे लिए भला इससे अधिक आनंददायक और क्या हो सकता था? पार्क उनके घर से थोड़ी ही दूर था, कोई डेढ़-दो फर्लांग। मैं उनसे बातें करते हुए उनके साथ-साथ चल पड़ा। रामविलासजी मूड में थे और उत्साहपूर्वक बातें कर रहे थे। पार्क में पहुंचने पर पता नहीं पार्क की हरियाली का असर था या किसी और बात का, रामविलासजी और ज्यादा उत्फुल्ल अवस्था में आ गए और बातचीत खासी अनौपचारिक तर्ज पर चल पड़ी।

मालूम पड़ा, रामविलासजी रोज इस पार्क में आते हैं और कोई दो-तीन चक्कर रोज लगाते हैं। मेरे लिए यह चीज आश्चर्यचकित कर देने वाली थी कि इस उम्र में भी वे इतना तेज चल लेते हैं। मैं भी कोई धीरे चलने वाला प्राणी नहीं पर उनका साथ देने के लिए मुझे सायास कुछ तेज चलना पड़ रहा था।

बातों-बातों में मैंने उनके मित्रों की चर्चा छोड़ी तो बात नागरजी (अमृतलाल नागर) की ओर मुड़ गई। बोले, 'अभी मैं नागरजी के उपन्यासों पर एक लंबा लेख लिखने के लिए उनके उपन्यास दोबारा पढ़ रहा था, तो मैं उनकी भाषा देखकर दंग रह गया। और कई जगह तो मैं अकेले में हँसता रहा कि यह शहर का आदमी...भला इतने ठेठ बैसवाड़ी के शब्द जान कैसे गया?' कहते-कहते रामविलासजी जोरों से हँस पड़े।

फिर नागरजी से अपनी लंबी मित्रता और संबंधों का जिक्र करते हुए, छेड़छाड़ का एक मजेदार प्रसंग उन्होंने सुनाया। बोले, 'नागरजी मुझसे साल-दो साल छोटे थे। हम उनसे कहा करते कि तुम हमसे छोटे हो। क्या 'तुम-तुम' करते हो? आप कहा करो! इस पर नागरजी कहते हमसे 'आप' नहीं कहा जाएगा, हम तो 'तुम' ही कहेंगे।...खूब छेड़छाड़ होती थी। कभी रूठ भी जाते थे, पर फिर आसानी से मान जाते थे।' कहते-कहते रामविलासजी बड़ी मीठी-सी हँसी हँस देते हैं।

मैंने नोट किया, मित्रों की स्मृति उनकी आंखों में एक बड़ी प्यारी और स्वप्निल-सी चमक भर देती है और उनका पूरा चेहरा मुलायम-मुलायम हो उठता है।

फिर लखनऊ में रामविलासजी के पढ़ाई के दिनों की चर्चा चल निकली। वहीं निरालाजी से रामविलासजी की पहली मुलाकात हुई थी। उसकी बड़ी आत्मीय चर्चा हुई। और रामविलासजी ने मानो मुग्ध होकर कहा, 'तब के निराला एकदम यूनानी देवताओं जैसे लगते थे। लंबा ऊंचा कद, चौड़ी छाती, दमकता हुआ माथा। आंखों में तेज।...हर समय कविताओं में खोए रहते थे। सैकड़ों कविताएं उन्हें याद थी। और वे अपने से ज्यादा दूसरों की कविताएं सुनाया करते थे। खासकर रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताएं सुनाना और उनकी व्याख्या करना उन्हें बहुत पसंद था।'

इसी प्रसंग में पंत और निराला के आपसी संबंधों को लेकर दिलचस्प बातचीत हुई। इनके आपसी तनाव और प्रतिस्पर्धा के बारे में पूछने पर रामविलासजी ने मुस्कराते हुए कहा, 'इन लोगों के संबंध बड़े अद्भुत थे। निरालाजी पंत की आलोचना भी करते थे, पर अगर कोई और पंत की

आलोचना करता तो उस पर पिल पड़ते थे। पंत को निस्संदेह वे बड़ा कवि मानते थे, पर खुद को उनसे ज्यादा बड़ा कवि मानते थे।’

कहते-कहते फिर उनके होंठों पर वही मीठी और मोहक मुस्कान आ गई, जो अतीत की स्मृतियों में जाकर अपने स्नेहीजनों से मिलते समय उनके होंठों पर आ जाती है।

मैं उत्साहपूर्वक अपने ‘इंटरव्यूकार’ को ठकठकाता हूँ। इसलिए कि रामविलास के भीतर का यह रामविलास मुझे भा रहा है। मैं समय से प्रार्थना कर रहा हूँ कि वह थोड़ा रुक जाए, ताकि मैं रामविलासजी को इसी रूप में मैं थोड़ा और देखता रहूँ।

अचानक मैंने उनसे पूछ लिया, ‘अगर आप निराला से न मिले होते, तो क्या तब भी आप लेखक होते और कविताएं लिखते?’

रामविलासजी ने मुस्कराकर दृढ़ता से कहा, ‘हां, लेखक तो मैं तब भी होता!’ और झांसी में किशोरावस्था के दिनों को और चटर्जी मास्साब तथा अपने प्रिय अन्य अध्यापकों को याद करने लगे, जिन्होंने उनमें लेखकीय ऊर्जा का स्फुरण किया था। उन्होंने बताया कि उनके निबंध इतने अच्छे होते थे कि चटर्जी मास्साब क्लास में सभी को सुनवाते थे। उन्हीं दिनों एक नाटक के लिए उन्होंने थोड़ी तुकबंदी भी की थी। नाटकों में हिस्सा भी लिया।... यानी लेखन की जमीन तो पहले ही बन चुकी थी। निराला से मिलने के बाद बेशक वह और उर्वरा हुई।

अलबत्ता जब हम पार्क से घूम-घामकर कोई पौने घंटे बाद घर पहुंचे तो एक छोटा-मोटा अनौपचारिक इंटरव्यू तो हो ही चुका था। और मैं देहरी से कुछ आगे बढ़ आया था।

घर पहुंचकर रामविलासजी बाहर वाली बैठक में सोफे पर बैठ गए। बाईं तरफ मुझे बिठाया। कहा, ‘इधर मुझे साफ सुनाई पड़ता है। दूसरी तरफ दिक्कत होती है।’

कुछ देर बाद मेरे लिए चाय आई। रामविलासजी के लिए दूध। रामविलासजी ने दूध पीने के लिए उठाया तो मैंने देखा, उनके हाथ बुरी तरह कांप रहे हैं। बहुत-सा दूध उनके हाथों और मेज पर छलक गया।

देखकर मैं भीतर ही भीतर थरथरा गया। ओह, उन जैसे साहित्य के महाबलिष्ठ आदमी का यह क्या हाल!

मैं ऊहापोह में था, क्या मैं मदद करूँ? कुछ बुरा तो न मान जाएंगे? तब तक उन्होंने भीतर आवाज दी और दूध को गिलास में डालकर लाने के लिए कहा। गिलास में दूध आया तो उन्होंने उन्हीं कांपते हाथों से दूध पिया... और मैंने चाय और चाय के साथ-साथ आंसू पिए।

और फिर थोड़ा सिलसिलेवार इंटरव्यू शुरू हुआ। रामविलासजी पार्क में घूमते समय इतना बोलकर आए थे, पर अभी थके न थे। आवाज उनकी वैसी ही कड़क और बुलंद थी। हाथों में कंपन भले हो, आवाज में कंपन जरा भी न था! इस बात ने मुझे भी जरा जोश दिलाया। मैंने एक के बाद एक सवालियों की झड़ी लगा दी इनमें कुछ तो बेहद तीखे और अप्रिय सवाल थे और रामविलासजी गो कि दो-एक बार खासे उत्तेजित हुए, पर ज्यादातर उनका भाव ‘बड़े भाई’ वाला बना रहा, जो छोटे भाई के सवालियों और जिज्ञासाओं का बड़ी शांति और धैर्य के साथ खूब समझाकर जवाब देता है।

यह इंटरव्यू कोई बहुत लंबा तो नहीं है, पर यह एक ऐसा इंटरव्यू है जिसे मैं अपने जीवन की एक उपलब्धि मानता हूँ। इसलिए कि रामविलासजी ने इतने ठोस और सधे हुए ढंग से सवालियों के

जवाब दिए कि यह सघन इंटरव्यू रामविलासजी के काम और शिखिसयत को एक तरह की समग्रता के साथ उद्घाटित करता है। शायद यही वजह है कि इस इंटरव्यू को बाद में भी कई बार, कई जगह उद्धृत किया जाता रहा है।

इंटरव्यू पूरा होने पर अचानक मुझे याद आई सत्यार्थीजी की बात। जब इंटरव्यू के लिए दफ्तर से चला था, तो नीचे ही सत्यार्थीजी मिल गए थे। मेरे यह बताने पर कि मैं रामविलासजी से बातचीत करने जा रहा हूँ, उनके चेहरे पर चमक आ गई थी। आह! मस्ती में झूमती हुई उनकी वह दाढ़ीदार हँसी। कुछ देर बाद अचानक गंभीर होकर बोले थे, 'रामविलासजी महान हैं। यह उन्हीं के बस की बात थी कि इतने बड़े पुरस्कार को ठुकरा दिया। हम लोग बातें तो चाहे जितनी भी कर लें, पर मन में कहीं न कहीं एक लालसा तो रहती ही है पुरस्कार पाने की। रामविलासजी जैसा कोई बड़ा आदमी ही इससे ऊपर उठ पाता है। इस मामले में वे हममें सबसे बड़े हैं। आप वहां जाएं तो मेरा उनसे प्रणाम कहिएगा।'।

सुनकर मैं रोमांचित हो उठा था ओह, इतना सम्मान! हिंदी में रामविलास शर्मा के अलावा और कौन लेखक है जिसे इतना सम्मान, इतना प्यार मिल पाया है?

फिर अचानक सत्यार्थीजी को अपने कहानी संग्रह 'नए धान से पहले' के समर्पण की याद आई थी। यह संग्रह उन्होंने रामविलास शर्मा को समर्पित किया था। इस छेड़छाड़ भरी चुनौती के साथ कि, 'हां, तो उठाइए लाठी आलोचकजी...!'

जब मैंने रामविलासजी को सत्यार्थीजी का यह संदेश दिया और उनके उस अद्भुत समर्पण की याद दिलाई तो उनके पूरे चेहरे पर उसी मुलायम-मुलायम प्रसन्न हँसी की झलक नजर आई, जो आत्मीयजनों के स्मरण से आ जाती है। शिकायती अंदाज में खूब जोरों से हँसकर बोले, 'और उनसे कहिएगा, वह पुस्तक उन्होंने आज तक मुझे नहीं दी।'।

मैंने गौर से देखा, उस क्षण एकदम नटखट शरारती बच्चे जैसा हो रहा था उनका चेहरा। खूब-खूब-खूब चमकदार। और मैंने मन ही मन दोहराते पाया, 'आह! वह समय, वे लड़ाइयां, वे रिश्ते, वे दुश्मनियां! मगर इस सबके बीच कितना-कितना प्यार रहा होगा उनमें।'।

यह इंटरव्यू अगले हफ्ते 'दैनिक हिंदुस्तान' के 'रविवासरय' में काफी धज के साथ छपा था। लगभग पूरे पन्ने पर। कहना न होगा, उस इंटरव्यू की खासी धूम रही।

कुछ समय बाद साहित्य अकादेमी में डॉ. रणजीत साहा से मुलाकात हुई, तो उन्होंने भी उस इंटरव्यू की तारीफ की। फिर कहा, 'इधर रामविलासजी अपने इंटरव्यूज की किताब तैयार कर रहे हैं, जो शायद किताबघर से छपेगी।'।

सुनकर मुझे अच्छा लगा। इसके दूसरे-तीसरे रोज रामविलासजी से समय लेकर मैं उनके पास गया। बताया, 'पूरा इंटरव्यू जो मैंने लिया था, साथ लाया हूँ। अगर आप अपनी इंटरव्यू की किताब में देना चाहें, तो इसी को दें, यह अच्छा रहेगा। अगर आप एक बार स्वयं इसे देख लें, तो मुझे खुशी होगी।'।

रामविलासजी ने कहा, 'यह तो आपने अच्छा किया। मैंने आपको पत्र लिखा भी था 'दैनिक हिंदुस्तान' के पते पर।'।

मैंने कहा, 'मुझ पत्र तो मिला नहीं।'। फिर बताया, 'मैं 'दैनिक हिंदुस्तान' में नहीं हूँ, बाल

पत्रिका 'नंदन' के संपादकीय विभाग में हूँ।'

रामविलासजी ने कहा, 'अच्छा...मेरा अनुमान था कि आप 'दैनिक हिंदुस्तान' में हैं।'

फिर रुककर उन्होंने कहा, 'आप यह इंटरव्यू छोड़ जाइए, मैं इसे देख लेता हूँ। आप दो-तीन दिन बाद आकर ले लीजिए। मैं इसका जेरॉक्स कराकर एक प्रति अपने पास रख लूंगा।'

तीसरे दिन मैं सुबह-सुबह रामविलासजी के घर पहुंचा। वे भीतर से इंटरव्यू की सुधारी हुई प्रति लेकर मेरे पास आए। उसी तरह कांपते हुए हाथ, लेकिन चेहरे पर अपार दृढ़ता और गांभीर्य। बोले, 'मैंने पूरा इंटरव्यू देख लिया है। मेरे विचार आपने ठीक-ठीक लिखे हैं, पर भाषा में कहीं-कहीं अंतर है। उदाहरण के लिए आपने, 'बजाय', 'बावजूद', 'दीगर', 'इस्तेमाल' जैसे कुछ उर्दू शब्दों का प्रयोग किया है। मैं इनका ज्यादा प्रयोग नहीं करता। मैंने कहीं-कहीं ये शब्द बदल दिए हैं, कहीं रहने दिए हैं। एकाध जगह मुझे बात साफ करने के लिए एक-दो वाक्य जोड़ने पड़े।'

मैंने कृतज्ञ भाव से इंटरव्यू की वह प्रति ली और चलने लगा। अचानक मुझे न जाने क्या सूझा कि मैंने कहा, 'आप इस पर दस्तखत कर दीजिए और तारीख डाल दीजिए क्योंकि अब यह एक दस्तावेज है।'

रामविलासजी मुस्कुराए। उन्होंने कांपते हुए हाथों से उस पर दस्तखत किए और तारीख भी डाल दी।

चलते समय मैंने कहा, 'मेरी इच्छा है, आपका वह कमरा देखूं, जहां बैठकर आप लिखते हैं।'

'आइए, देख लीजिए।' कहकर वे मुझे भीतर ले गए। एक सादा-सा कमरा। चारपाई के किनारे एक छोटी-सी मेज पर मालकिन (पत्नी) की छोटी-सी तस्वीर। कुछ किताबें। कागज, पेन। फिर मुझे वे साथ वाले कमरे में ले गए, जहां उनकी किताबें थीं। पूरी दीवार में फैली किताबों की अलमारी।

'पहले यही मेरा पढ़ने का कमरा था लेकिन बसों और ट्रैफिक का इतना शोर यहां आता है कि अब मैं यहां नहीं पढ़ता।' रामविलासजी बता रहे थे। इतनी ऊंची अलमारी से वे किताबों को कैसे निकालते होंगे, कैसे अपने मतलब की किताब ढूंढ पाते होंगे? सोचकर मैं सिहर गया।

रामविलासजी खड़े थे और मैं चलते-चलते भी अटका था। श्रद्धा से ऊभ-चूभ हो रहा था।

'आपको क्या किसी सहयोगी की जरूरत नहीं होती, जो आपके काम में कुछ मदद करे?' मैं पूछ लेता हूँ।

'नहीं, मुझे अकेले काम करने की आदत है।' रामविलासजी ने कहा। कुछ देर बाद हँसकर बोले, 'और अगर सहयोगी मिले भी, तो दो-एक से मेरा काम नहीं चलेगा। फिर तो मुझे सैकड़ों लोग चाहिए जो मेरे अधूरे काम को पूरा करें और उसे लोगों तक पहुंचाएं।'

मैंने कुछ इस विश्वास से उनकी ओर देखा कि 'कभी जरूरत पड़े तो मुझे भूलिएगा नहीं' पर प्रकट में कुछ नहीं कहा।

पैर जमीन में जैसे जड़ गए थे। न आगे जा पा रहा था, न पीछे। अचानक भावाविष्ट होकर मैंने कहा, 'आपके पैर छू सकता हूँ?'

उन्होंने कुछ कहा नहीं, मुस्कुरा भर दिए। एक अजब तरह की प्रशांत मुद्रा उनकी थी, जैसे देखते ही देखते वे एक विशाल चट्टान में बदल गए हों, जिसके आसपास से कई नदियां हरहराती हुई निकल रही हों।

हिमालय! हिंदी साहित्य और आलोचना का विशाल हिमालय मेरे सामने खड़ा था। मैंने उनके पैर छुए, तो उनके मुंह से निकला, 'लिखो, खूब लिखो...खूब अच्छा लिखो।' उन्हें नमस्कार किया और मैं तेज चाल से बाहर आ गया। जैसे उनसे आंख बचाना चाहता होऊँ। मेरी आंखें गीली थीं।

वह इंटरव्यू पूरा का पूरा रामविलासजी की किताब 'मेरे साक्षात्कार' में छपा। उसमें रामविलासजी की आलोचना-पद्धति को लेकर कुछ सख्त और अप्रिय सवाल तथा परेशान करने वाले आक्षेप भी हैं लेकिन रामविलासजी ने पूरा इंटरव्यू ज्यों का त्यों दिया है, कहीं एक शब्द भी नहीं बदला।

आज हिंदी में 'विचारों के लोकतंत्र' की बात तो बहुत की जाती है, पर सही मायने में विचारों का यह लोकतंत्र कितने लेखकों के पास है? और कितने लेखक हैं जो अब भी अपने से छोटे या अगली पीढ़ी के लेखकों के आत्मसम्मान की चिंता करते हैं! रामविलासजी ऊपर से चाहे कुछ रुक्ष और कठोर लगते हों, पर भीतर से कितने ममतालु हैं, यह मैंने प्रत्यक्ष देख लिया था।

इसके कोई ढाई-तीन वर्ष बाद रामविलासजी से एक और लंबी तन्मयतापूर्ण बातचीत हुई, निराला को लेकर, जब उनकी जन्मशती मनाई जा रही थी।

इस बार निराला के बारे में उनसे खुली बातचीत हुई। और फिर उसमें आप से आप तमाम मुद्दे जुड़ते चले गए... कि निराला को लेकर हिंदी में जो इतना विरोध हुआ, उसके मूल में क्या चीज थी? और निराला पर जब इतने प्रहार हो रहे थे, तो क्या उनके पक्ष में बोलने वाले लोग भी मौजूद थे और क्या उनकी बात भी सुनी जा रही थी?... निराला कविताएं लिखते कैसे थे, सुनाते कैसे थे! कविताओं पर बात करने का उनका ढंग कैसा था। और क्या अंतिम दिनों में वे ज्यादातर उत्तेजित और असामान्य अवस्था में ही रहते थे या...?

सवाल-दर-सवाल-दर-सवाल। मैंने सवालों का पूरा एक पहाड़ रामविलासजी के आगे खड़ा कर दिया था। और वे बड़ी शांति, तन्मयता और गंभीरता से सवालों के जवाब दे रहे थे। उन्होंने व्यथित होकर बताया कि हालत यह थी कि मैं आगरा से उनसे मिलने जाता था, तो इलाहाबाद के लेखक पूछते थे कि निरालाजी कैसे हैं? मैं कहता था, 'आप लोग तो इलाहाबाद में ही हैं। जाकर उनसे मिल क्यों नहीं लेते?' लेकिन शायद ही इलाहाबाद का कोई बड़ा साहित्यकार उनसे कभी मिलने गया हो। हां, ज्यादातर यश : प्रार्थी नए लेखक ही उन्हें घेरे रहते थे।

निराला के मानसिक विक्षेप का एक कारण उन्होंने यह बताया कि निराला के सामने बात करने या बहस में टिकने की सामर्थ्य निराला के विरोधियों में से किसी के पास नहीं थी लिहाजा निराला के सामने तो उनकी कुछ चलती नहीं थी, पीछे-पीछे वे षड्यंत्र करते थे। इसी चीज ने निराला को तोड़ा। उन्हें लगने लगा था कि लोग पीठ पीछे उनका उपहास करते हैं या उनकी उपेक्षा करते हैं। यह चीज उनके लिए असह्य थी और उन्हें कष्ट देती थी।

फिर मौजूदा समय पर आते हुए रामविलासजी ने एक बात बहुत दुःख और चिंता के साथ कही कि आज निराला का नाम लेने वाले तो बहुत हैं, पर सच यह है कि लोगों ने निराला को पढ़ना बंद कर दिया है। उन्होंने कहा कि निराला की कविताएं ही नहीं, उनका गद्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, पर उनका गद्य तो और भी कम लोगों ने पढ़ा है।

बातों-बातों में निरालाजी से अपनी पहली भेंट का रामविलासजी ने बहुत दिलचस्प वर्णन किया है। मैं एक बार पहले भी उनसे यह सुन चुका था। पर इस बार ज्यादा रसपूर्ण ढंग से और तरतीबवार

उन्होंने इस मुलाकात के बारे में बताया।

हुआ यह कि रामविलासजी लखनऊ के किसी प्रकाशक के लिए चार आने प्रति पेज के हिसाब से विवेकानंद के व्याख्यानों की एक किताब का अनुवाद कर रहे थे। वहां निरालाजी भी आते थे। उन्होंने अनुवाद की तारीफ करते हुए प्रकाशक से कहा, 'अनुवाद बहुत बढ़िया है।'

एक दिन रामविलासजी उस प्रकाशक से मिलने गए तो थोड़ी देर में निराला भी आ गए। रामविलासजी ने उस प्रकाशक से निराला की कविताओं की किताब 'परिमल' खरीदी थी जो उस समय भी उनके हाथ में थी। प्रकाशक ने रामविलासजी से निराला का परिचय कराते हुए कहा, 'निरालाजी, यही रामविलास शर्मा हैं, जिन्होंने विवेकानंद की किताबों का अनुवाद किया है।'

निराला बहुत प्रसन्नता से रामविलास से मिले। फिर उनके हाथ में अपनी कविताओं की किताब देखकर बोले, 'इसमें कुछ मुक्तछंद कविताएं हैं। वे शायद आपको ज्यादा पसंद न आएंगे।'

रामविलासजी ने मुस्कुराकर कहा, 'वही तो मुझे ज्यादा पसंद हैं।'

निराला ने चकित होकर रामविलास की ओर देखा। उनके चेहरे पर संतोष झलकने लगा। शायद इसलिए कि उन दिनों निराला की मुक्तछंद कविताओं की आलोचना ज्यादा हो रही थी। उन्हें पसंद करने वाले लोग कम थे।

अलबत्ता यही वह क्षण था, जब निराला और रामविलास में मैत्री की शुरुआत हुई और वह लंबी, बहुत लंबी चली। निराला रामविलास शर्मा को जितना प्यार करते थे, उतना बहुत कम लोगों से। वे समझ गए थे कि उन्हें समझने वाला कम से कम एक ऐसा शख्स है जिसका कद बड़ा है और जो भीतर से एकदम खरा है।

कुछ दिनों बाद रामविलास शर्मा को रहने के लिए कमरे की जरूरत पड़ी, तो निराला ने कहा, 'तुम अपना सामान उठा लाओ। मेरे साथ ही रहो।'

इस दौरान रामविलास शर्मा ने निराला को बहुत निकटता से देखा और उनका एक दुःख भरा इतिहास रामविलास के आगे खुला। यही वह दौर था जब निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' जैसी बड़ी कविता लिखी। 'सरोज-स्मृति' जैसी महान शोकांतिका लिखी, 'तुलसीदास' जैसा गंभीर और उदात्त प्रबंध-काव्य लिखा। निराला ने किन हालात में ये कविताएं लिखीं और उस समय उनकी मनःस्थिति क्या थी? खुद उनके जीवन में क्या कुछ अघट घट रहा था? रामविलासजी से यह सब सुनना एक रोमांचक अनुभव था। और शायद मैं जीवन-भर इसे भूल नहीं पाऊंगा। खासकर पुत्री सरोज की मृत्यु की सूचना पाकर निराला की अवसन्न हालत! उनका रात-रात-भर कमरे में चक्कर लगाना, बड़बड़ाना। फिर कागज की छोटी-छोटी पर्चियों पर 'सरोज-स्मृति' का लिखा जाना।... उन टुकड़ों को जोड़कर निराला द्वारा उसे एक पूरी कविता का रूप देना। निराला बुरी तरह टूट रहे थे, लेकिन भीतर उन्होंने कहीं अपने आपको बड़ी कठिनाई से साधा भी था। 'सरोज-स्मृति' की यह रचना-प्रक्रिया सुनकर मुझे याद है कि मैं भीतर तक थरथरा गया था।

इसी इंटरव्यू में रामविलासजी ने यह प्रसंग सुनाया कि निरालाजी 'साहित्यकार संसद' की आलीशान इमारत छोड़कर फिर एक छोटी-सी कुठरिया में कैसे आ गए? असल में हुआ यह कि साहित्यकार संसद में रहते हुए निराला ने एक दिन सर्दी से ठिठुरती हुई एक नौकरानी को देखा, तो दरवाजे पर लटकते हुए पर्दे को खींचकर उस नौकरानी को दे दिया कि, 'लो, इसे ओढ़ लो।'

महादेवी को यह पता चला तो उन्हें बुरा लगा। उन्होंने इस पर क्या कहा, यह तो पता नहीं चला लेकिन निराला उसी दिन साहित्यकार संसद की भव्य इमारत छोड़कर अपनी उसी पुरानी कुठरिया में आ गए। फिर कभी साहित्यकार संसद की उस भव्य और आलीशान इमारत में झांकने नहीं गए।

बहरहाल, निराला से जुड़े ये तमाम जानदार प्रसंग जो रामविलासजी ने मुझे सुनाए, आज भी भीतर ज्यों के त्यों गूँज रहे हैं। उस दिन रामविलासजी इस कदर 'निरालामय' थे कि उनसे मिलना एक तरह से निराला से ही मिलना था। और मेरे जीवन के सबसे बड़े सुखों में से एक सुख यह भी है कि मैंने रामविलासजी से निराला पर इतनी देर तक बातें की हैं।

लगभग इसी समय का एक प्रसंग है, सत्यार्थीजी पर कुछ युवा फिल्मकारों द्वारा एक फिल्म का निर्माण आरंभ हुआ। वे लोग सहयोग के लिए मेरे पास आए तो मैंने कहा, 'सत्यार्थीजी पर फिल्म बने, इससे ज्यादा खुशी की बात और क्या हो सकती है? इसके लिए जो कुछ मुझसे हो सकेगा, मैं जरूर करूंगा।'।

इसी फिल्म के सिलसिले में सत्यार्थीजी और उनके कामों के बारे में रामविलास शर्मा के विचार जानने के लिए हम सभी उनके घर गए थे। स्वयं सरलमना सत्यार्थीजी भी रामविलासजी से भेंट के लिए उत्सुक होकर हमारे साथ चल पड़े थे। साथ में फिल्म के युवा, उत्साही निर्देशक केवल कपूर और फोटोग्राफर तारिक भी थे।

वह इतवार का दिन था और हम सुबह-सुबह रामविलासजी के घर पहुंच गए थे। यही कोई दस बजे होंगे। रामविलासजी तैयार थे, बल्कि शायद हमारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। इसलिए कि जो समय हमने उन्हें दिया था, उसमें कोई आधा-पौन घंटे की देरी हो गई थी लेकिन हमारे पहुंचने पर वे भीतर से मुस्कराते हुए निकले। सत्यार्थीजी को देखकर चौंके, 'अरे! आपने इन्हें क्यों कष्ट दिया?'

उस दिन सत्यार्थीजी और रामविलासजी का वह परस्पर अभिवादन देखने लायक था। दोनों जैसे एक-दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए लालायित हों।

फिर शूटिंग के लिए जो थोड़ी-बहुत तकनीकी किस्म की तैयारी और खींचतान हुई, कैमरे के उत्पात और लाइट्स वगैरह की जो चकाचौंध थी, रामविलासजी मुस्कराकर इस सारी असुविधा का आनंद लेते रहे। फिर बोलने के लिए कहा गया, तो इतना खुलकर और प्रसन्न मूड में बोले कि हमें लगा, हमारा वहां आना खुद मैं एक सार्थक उपलब्धि जैसा है।

शूटिंग पूरी हुई तो हमने रामविलासजी और सत्यार्थीजी के साथ-साथ फोटो लिए। रामविलासजी आदरपूर्वक सत्यार्थीजी को छोड़ने बाहर तक आए। चलते समय सत्यार्थीजी ने भावाकुल होकर उन्हें छाती से लगा लिया।

यह एक अनमोल दृश्य था, जो अब तक मेरी स्मृति के कैमरे में ज्यों का त्यों 'फ्रीज' है।

लौटते समय सत्यार्थीजी बार-बार रामविलासजी की चर्चा करते रहे थे और मैं सोच रहा था, इतना प्रेम हमारी पीढ़ी के लेखकों में क्यों नहीं होता?

फिर इसे एक संयोग ही कहना चाहिए कि रामविलासजी से दो लंबे और कुछ अलग तरह के इंटरव्यू सन् 1999 में हुए उनके निधन से कोई साल भर पहले। इनमें पहला इंटरव्यू अगस्त के आखिरी हफ्ते में हुआ। असल में इंग्लैंड में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर 'गगनांचल' का हिंदी विशेषांक निकल रहा था। राजकुमार गौतम का आग्रह था कि इस विशेषांक के लिए मैं

‘हिंदी और आने वाली पीढ़ियां’ विषय पर रामविलासजी से एक लंबी बातचीत करूं।

विषय मेरी पसंद का था, रोचक भी, उत्तेजक भी। और इससे भी बढ़कर उत्तेजना मेरे लिए यह थी कि इस बहाने रामविलासजी से फिर से मिलने और बात करने का मौका मिलेगा। उनका स्वास्थ्य और हालचाल जान लूंगा और यह भी कि वे आजकल किस विषय पर काम कर रहे हैं? लिहाजा समय की बहुत कम सीमा होने पर भी मैंने यह मंजूर कर लिया। हां, यह जरूर कहा कि बातचीत खुली और अनौपचारिक होगी और उसमें हिंदी को लेकर अपनी ओर से बहुत-से मुद्दे और सवाल मैं शामिल करना चाहूंगा।

रामविलासजी से फोन पर बातचीत हुई। मैंने उनसे कहा, “गगनांचल’ पत्रिका के लिए मैं हिंदी की आज की हालत और उसकी मुश्किलों को लेकर बात करना चाहता हूँ।’ वे फौरन तैयार हो गए। बोले, ‘ठीक है, आप शाम को आ जाइए।’

जब मैं शाम को रामविलासजी के घर पहुंचा, तो वे बातचीत के लिए एकदम तैयार थे। उन्होंने छूटते ही पहला सवाल यह किया, ‘यह वही ‘गगनांचल’ है न, जिसके संपादक गिरिजाकुमार माथुर थे?’

मैंने कहा, ‘हां, आजकल कन्हैयालाल नंदन इसके संपादक हैं।’

फिर बातचीत शुरू हुई। पहले के इंटरव्यू की तुलना में कुछ अधिक त्वरा के साथ। शायद इसलिए कि रामविलासजी हिंदी के बारे में बहुत कुछ बोलने को उत्सुक थे। मैंने ‘हा-हा, हिंदी दुर्दशा न देखी जाई’ की तर्ज पर हिंदी के मौजूदा हाल का बखान किया, जिसमें एक ओर वह अंग्रेजी से हर जगह मार खा रही है, दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाएं भी उसे डांटती-डपटती और आँखें तरेरती नजर आती हैं। ‘आपके खयाल से हिंदी की इस दारुण दशा के लिए कौन जिम्मेदार है?’ मैंने उनसे पूछा।

रामविलासजी ने बहुत शांति से मेरी बातें सुनी। फिर उन्होंने एक-एक मुद्दा लेकर हिंदी की दुर्दशा के कारणों की विस्तार से व्याख्या की। हिंदी के विरुद्ध सब ओर जो भयानक षड्यंत्र चल रहा है, उसके लिए उन्होंने विश्व पूंजीवाद, पश्चिमीकरण की आंधी वगैरह को एक साथ जिम्मेदार ठहराया। यानी वे ही सारी चीजें, जो ग्लोबलाइजेशन के चिकने आवरण में आज हमारे सामने आ रही हैं। लेकिन इसके लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार उन्होंने हिंदी वालों की मनोवृत्ति को बताया कि हिंदी वालों में जातीय चेतना और स्वाभिमान का भाव नहीं है। वे अपनी भाषा, साहित्य और साहित्यकारों का सम्मान नहीं करते, अपनी संस्कृति का सम्मान नहीं करते। इसी कारण प्रादेशिक भाषाओं के बोलने वाले भी हिंदी का सम्मान नहीं करते। उन्होंने कहा कि मराठी और बांग्ला-भाषी जनता में यह जातीय चेतना कहीं ज्यादा है, इसीलिए अपनी भाषा और लेखकों के प्रति उनमें गौरव का भाव है।...हिंदी वालों को इससे सीख लेनी चाहिए।

हिंदी और उर्दू के विवाद के मुतल्लिक मैंने पूछा तो रामविलासजी ने बताया कि हिंदी-उर्दू समस्या तो अंग्रेजों द्वारा पैदा की गई है। उनका कहना था कि सन् 1800 से पहले ‘उर्दू’ शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं होता था। भाषा के अर्थ में इसका प्रयोग अंग्रेजों की साजिश के तहत हुआ। सन् 1800 के आसपास लल्लूलाल की किताब ‘बैताल पचीसी’ को उन्होंने छापने का प्रस्ताव रखा। बस, उसकी शर्त थी कि इसकी भाषा ‘उर्दू’ कर दी जाए। यानी इसमें अरबी-फारसी के शब्द जोड़ दिए जाएं। लल्लूलाल ने अपने एक मुसलमान साहित्यकार मित्र काजिम अली से कहा कि

वे इसमें अरबी-फारसी के शब्द डाल दें। उन्होंने थोड़े-बहुत शब्द बदले। फिर यह सोचकर कि इससे किताब का मिजाज और भाषा बिगड़ेगी, रहने दिया। बाद में अंग्रेजों ने एक बंगाली सज्जन तारिणीचरण मित्र को यह काम सौंपा कि इसमें अरबी-फारसी के और शब्द ठूंसे जाएं। उन्होंने यह काम किया। इसके बाद यह किताब इंग्लैंड से धूमधाम से छपी और इसे बाकायदा उर्दू की पहली किताब के रूप में प्रचारित किया गया। इसके पीछे अंग्रेजों की यह चाल थी कि हिंदू और मुसलमानों में हमेशा के लिए भाषा के स्तर पर एक दीवार खिंच जाए।...यानी उन्होंने यह बात प्रचारित की कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है, उर्दू मुसलमानों की!

रामविलासजी गहरे दुःख और पीड़ा के साथ बता रहे थे कि आज के हिंदी-उर्दू झगड़ों को देखकर लगता है, अंग्रेज अपनी चाल में कामयाब रहे वरना हिंदी और उर्दू दो भाषाएं नहीं, एक ही भाषा है उनमें नब्बे प्रतिशत शब्द आपस में मिलते हैं। व्याकरण के नियम तक मिलते हैं। सिर्फ लिपि का फर्क है। लिपि की दीवार हटा दी जाए तो दोनों में कोई फर्क ही नहीं है। आम जनता जिस भाषा को बोलती है, उसे देखकर आप नहीं बता सकते कि वह हिंदी है या उर्दू? इसलिए कि आम जनता के लिए हिंदी-उर्दू में कोई फर्क नहीं है। यह तो राजनीतिज्ञों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए बनाया गया फर्क है।

दक्षिण भारत में हिंदी विरोध की राजनीति का जिक्र आने पर उन्होंने एक बार फिर अंग्रेजों की कपट-नीति का खुलासा किया। उन्होंने कहा, अंग्रेजों ने जान-बूझकर आर्यों के बाहर से आने का सिद्धांत गढ़ा, जिससे हमेशा के लिए आर्य और द्रविड़ जातियों के बीच एक दीवार खिंच जाए। आर्य बाहर से आए थे, उन्होंने द्रविड़ों को, जो यहां के मूल निवासी थे, मारा यह सब एक झूठ के पुलिंदे के सिवा कुछ नहीं है। पर अंग्रेजों को इससे फायदा था, ताकि भारत हमेशा के लिए आर्य और द्रविड़ के सवाल पर बंटा रहे और अंग्रेजों को मिलकर उनके प्रतिरोध का सामना न करना पड़े।

प्रसंगवश उन्होंने के.एम. मुंशी विद्यापीठ के दिनों का जिक्र किया, जब वे उसके निदेशक थे। तभी भाषावैज्ञानिक शोध में उनकी रुचि उत्पन्न हुई। उन्होंने देखा कि आर्य और द्रविड़ भाषाओं में बहुत-से शब्द और शब्द-रूप मिलते हैं। यह उनके लिए विस्मयकारी था। इसी सिलसिले में ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की खोजों से यह उनके आगे साफ होता गया कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आए। उन्होंने बहुत विस्तार से इन भाषावैज्ञानिक प्रमाणों की चर्चा की, जिनसे सिद्ध होता है कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आए, वे यहीं के थे।

इसी सिलसिले में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई की चर्चा हुई। मैंने कहा, 'इसके बाद तो लोग यह मानने लगे होंगे कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आए थे?' उन्होंने कहा, 'नहीं, बल्कि इससे उलटा हुआ। लोगों ने और ज्यादा जोर-शोर से कहना शुरू कर दिया कि देखिए, आर्य बाहर से आए, आक्रमणकारी थे और कैसे उन्होंने यहां की मूल सभ्यता को उजाड़ दिया। जबकि मैंने अपनी किताब में सप्रमाण सिद्ध किया है कि मोहनजोदड़ो में जिस सभ्यता के ध्वंसावशेष मिलते हैं, वे असल में ऋग्वेदकालीन सभ्यता के ही अवशेष हैं और यह सभ्यता किसी आक्रमणकारी के कारण नष्ट नहीं हुई थी, बल्कि सरस्वती के मार्ग बदलने या किन्हीं अन्य प्राकृतिक आपदाओं के कारण ऐसा हुआ होगा।'

हिंदी भाषा से जुड़ा एक बड़ा सवाल यह है कि हिंदी की मौजूदा हालत को बदलने और उसे

सम्मानजनक स्थिति में लाने का रास्ता क्या हो? इस संदर्भ में रामविलासजी ने बहुत विस्तार से अपनी 'बृहद् हिंदी प्रदेश' की धारणा की चर्चा की, जिस पर इधर वे काफी जोर दे रहे थे। उनका कहना था कि हिंदी-भाषी सभी राज्यों को मिलाकर एक बृहद् हिंदी प्रदेश बनाए जाने पर ही हिंदी को सम्मान मिल सकता है। तभी हिंदी वालों में जातीय चेतना पैदा होगी और वे अपनी भाषा और लेखकों का सम्मान करना सीखेंगे। अपने हालात को बदलने के लिए मिलकर आंदोलन करेंगे। अभी वे बंटे हुए हैं, इसलिए मिलकर एक बड़ी शक्ति के रूप में सामने नहीं आ पाते।

इस पूरी बातचीत में लग रहा था कि हिंदी की मौजूदा हालत को लेकर रामविलासजी बहुत अधिक विकल और व्यथित हैं। वे इतने अधिक भावावेगपूर्ण ढंग से बोल रहे थे, जैसे बरसों से संचित उनका दुःख बाहर आ रहा हो।

रामविलासजी से चौथी और कहीं ज्यादा अनौपचारिक तथा थोड़ी पर्सनल किस्म की बातचीत उनके निधन से कोई आठ महीने पहले हुई।

10 अक्टूबर रामविलासजी का जन्मदिन है। उससे कोई पंद्रह-बीस रोज पहले मैंने फोन पर उनसे कहा कि अपने पसंदीदा लेखक के बारे में पाठकों की जो हल्की-फुल्की जिज्ञासाएं होती हैं, उन्हें सामने रखते हुए मैं उनका एक अत्यंत निजी किस्म का इंटरव्यू करना चाहता हूं।

उन्होंने कहा, 'ठीक है, आ जाओ।'

और सचमुच मैं वहां गया तो एक बिलकुल अलग तरह की बातचीत शुरू हुई। यह रामविलास जैसे दिग्गज आलोचक का एक दिलचस्प इंटरव्यू था। सच कहूं तो मुझे अंदाजा नहीं था कि वे इतनी उत्फुल्लता से मेरे सवालों का सामना करेंगे और इतने खुले और अकुंठ ढंग से जवाब देंगे।

और सचमुच उनके कुछ जवाब तो इतने खिलंदड़े थे जो मेरे लिए अकल्पनीय थे। इस मानी में कि मैं सचमुच इससे पहले उनका अंदाजा नहीं लगा सकता था या कहूं कि रामविलासजी को मैंने पहले कभी इतना निकट से...ऐसी रेशा-रेशा बुनावट के साथ नहीं देखा था। मसलन उनकी रुचियों की चर्चा चली तो वे शास्त्रीय संगीत आदि की चर्चा के बाद सीधे क्रिकेट पर पहुंच गए। बोले, 'जिन दिनों क्रिकेट का मैच चलता है, उन दिनों मैं सारे काम छोड़कर मैच देखने में तल्लीन हो जाता हूं।'

'ऐं, ऐसा!' मैं चौंका। फिर पूछ लिया, 'आप जो अपने काम में जुटे होते हैं तो क्रिकेट मैच के दिनों में क्या वह बिलकुल ठप्प!'

इस पर रामविलासजी हँसे। फिर वही मुलायम-मुलायम हँसी। बोले, 'नहीं, इन दिनों लिखने-पढ़ने का क्रम और दिनचर्या थोड़ी बदल जाती है। जिन दिनों क्रिकेट मैच होता है, अपने लिखने-पढ़ने का काम या तो मैं थोड़ा पहले कर लेता हूं या फिर बाद में।'

'क्या टीवी देखना आपको पसंद है?' यह सवाल पूछने पर बोले, 'मैं बहुत कम समय ही टीवी देखता हूं। ज्यादातर राजनीतिक डिबेट्स देखने के लिए ही टीवी खोलता हूं। इसके अलावा मुझे शास्त्रीय संगीत सुनना प्रिय है। और वह मैं सुनता हूं अपने ट्रांजिस्टर से। मुझे मालूम है, कब कहां से शास्त्रीय संगीत सुना जा सकता है। फिर मेरे पास अपनी कैसेट्स भी हैं। उनसे भी मैं शास्त्रीय संगीत सुनता हूं। हिंदुस्तानी संगीत के अलावा पश्चिमी संगीत भी मुझे पसंद है और वह भी मैं अपनी कैसेट्स से सुनता हूं।'

फिर उन्होंने छात्रावास में हॉकी खेलने की अपनी 'हॉबी' के बारे में विस्तार से बताया और यह भी कि उनके बड़े भाई भी हॉकी के खासे शौकीन थे। बातों-बातों में उन्होंने यह भी बताया कि झांसी में यों भी उन दिनों हॉकी का खासा क्रेज था जो इधर कम ही नजर आता है।

इसी रौ में मैंने उनसे डरते-डरते सवाल किया, 'आपकी सबसे बड़ी शक्ति क्या है और सबसे बड़ी कमजोरी क्या है?'

मुझे लगता था, रामविलासजी शायद बुरा मान जाएंगे। पर उन्होंने इस सवाल का बहुत अच्छा जवाब दिया। बोले, 'मेरी सबसे बड़ी कमजोरी तो यह है कि मैं किसी की भी बात पर सहज ही भरोसा कर लेता हूँ।...और फिर धोखा खाता हूँ। इन दिनों मैंने अपनी यह आदत थोड़ी बदली है, फिर भी खुद को पूरी तरह बदल नहीं पाया।' कुछ रुककर बोले, 'मेरी एक और कमजोरी यह है कि जो भी मेरे मन में आता है, कह देता हूँ। यह परवाह नहीं करता कि कोई अच्छा मानेगा या बुरा जबकि सभ्यता तो यह कहती है कि मन में क्रोध हो, तो भी उसे प्रकट मत करो। इस लिहाज से आप मुझे अशिष्ट व्यक्ति कह सकते हैं।...'

प्रश्न का आधा जवाब रामविलासजी दे चुके थे। बाकी आधे की ओर उनका ध्यान खींचते हुए मैंने कहा, 'और आपकी सबसे बड़ी शक्ति?' इसका उत्तर भी रामविलासजी ने दो टूक लहजे में दिया। बोले, 'जो काम मैं ठान लेता हूँ, उसे करता हूँ और उसके लिए किसी बड़े से बड़े आदमी की नाराजगी या बड़े से बड़े विरोध की परवाह नहीं करता। यही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है। मैं तो अपने पास आने वाले लेखकों से भी कहता हूँ कि जो तुम्हें ठीक लगता है, वह करो और उसके आगे बड़े से बड़े विरोध की परवाह मत करो।'

कहते-कहते रामविलासजी का चेहरा आत्माभिमान से दिपदिपाने लगा। आँखों में वही चमक, जो रामविलास शर्मा को रामविलास शर्मा बनाती है।

इसी सिलसिले में एक अटपटा-सा सवाल मुझे सूझा और मैंने अनायास ही पूछ लिया, 'आप क्या चाहेंगे, आपके बाद आपको कैसे लेखक के रूप में याद किया जाए?'

इस पर रामविलासजी थोड़े उत्तेजित हो गए। क्षुब्ध स्वर में बोले, 'मैं चाहूँगा कि मेरे बाद मुझे बिलकुल याद न किया जाए।'

मैं स्तब्ध! क्या मेरे प्रश्न में कोई ऐसी अवज्ञा थी, जिससे वे आहत हुए। मैंने तो जिस हल्के-फुल्के अंदाज में बात हो रही थी, उसी में पूछ लिया था। पर एक क्षण बाद रामविलासजी खुद ही सहज हुए। अपना आशय स्पष्ट करते हुए बोले, 'इसके बजाय मैं चाहूँगा कि जिस काम में मैं जीवन-भर लगा रहा, कोई उसे पूरा करे और आगे बढ़ाए। किसी को याद करने का मतलब ही यही होता है। व्यक्ति का क्या है! व्यक्ति तो आता है, जाता है। उसके काम को याद करना चाहिए।'

मुझे याद आया, कोई सात-आठ बरस पहले जब सत्यार्थीजी पर मेरी पुस्तक 'देवेन्द्र सत्यार्थी : तीन पीढ़ियों का सफर' निकली थी तो उसकी प्रति भेंट करने मैं उनके घर गया था। तब मैंने उनसे कहा था, 'मेरी इच्छा है, आपके जीवन और संपूर्ण कृतियों को समेटती हुई एक बड़ी किताब में आप पर निकालूँ।'

रामविलासजी ने फौरन मुझे बरज दिया था, 'नहीं, मुझ पर किताब निकालने की जरूरत नहीं है। अपने बारे में ऐसी निःस्पृहता कितने लेखकों में होती है?'

अलबत्ता इसी तरह के हल्के-फुल्के सवालों के बीच ही मैंने पूछ लिया कि वे आजकल क्या लिख रहे हैं? क्या किसी विशेष योजना को लेकर काम कर रहे हैं? इसके उत्तर में रामविलासजी ने बताया कि वे तुलसीदास की कविता और उनके सौंदर्य-बोध को लेकर एक किताब लिख रहे हैं जिसका काफी हिस्सा पूरा हो चुका है।

फिर वे तल्लीन होकर तुलसीदास वाली अपनी किताब की परिकल्पना पर देर तक बोलते रहे। यह तो जानता था कि रामविलासजी तुलसीदास को हिंदी का सबसे बड़ा कवि मानते हैं लेकिन तुलसी पर बोलते हुए वे किस कदर भाव-विभोर हो जाते हैं, यह इसी क्षण जाना। आनंद मानो उनके शब्दों से ही नहीं, उनके चेहरे की हर भंगिमा से फूट रहा था। उन्होंने कहा कि 'मैं असल में यह दिखाना चाहता हूँ कि तुलसी अपने गंभीर और उदात्त जीवन-आदर्शों को लेकर ही नहीं, अपितु अपनी काव्य-कला और सौंदर्य-बोध के लिहाज से भी हिंदी के बहुत बड़े कवि हैं। हिंदी में ही नहीं, दुनिया भर में इस मामले में उनके आगे ठहर सकने वाले कवि बहुत कम हैं।'

रामविलासजी बताते हैं कि तुलसी का अध्ययन बहुत विस्तृत था। तुलसी की कविता पढ़कर लगता है कि उन्हें अपनी काव्य-परंपरा की गहरी जानकारी थी। फिर चाहे व्यास हों, भवभूति या कालिदास सभी को तुलसीदास ने हृदयंगम कर रखा है। इसी तरह उन्हें अपने समय के यथार्थ की बहुत गहरी जानकारी थी। साथ ही विशाल भवनों और राजमहलों का स्थापत्य हो या अपने समय की राजनीतिक-सामाजिक चिंताएं, इतिहास हो या पुरातत्व या अभाव और दरिद्रता का दुःख, सब कुछ उन्होंने पास से देखा था या फिर अपने गहरे अध्ययन से उन्हें जाना था। यानी 'रामचरितमानस' लिखने के पीछे उनकी बहुत बड़ी तैयारी थी। यही चीज उन्हें अपने समय का ही नहीं, हिंदी का सबसे बड़ा कवि बनाती है।

इस इंटरव्यू का आखिरी सवाल नितान्त अनौपचारिक था और दिल्ली शहर के बारे में था। रामविलासजी को यहां रहते कोई 10-15 साल तो हो ही गए थे। मैंने पूछा, 'आपने 'तारसप्तक' के अपने लेखकीय व्यक्तित्व के बारे में कहा है कि अगर आपको अपने गांव के खेतों के बीच काम करने का मौका मिले, तो आप डयोढ़ा-दूना काम कर सकते हैं। लेकिन आप तो इधर कई वर्षों से दिल्ली में हैं और खास काम कर पा रहे हैं। तो ऐसा कैसे हो पाता है?'

इस पर गांव मानो अभाव की एक गहरी कचोट के रूप में रामविलासजी के चेहरे पर नजर आया। उन्होंने कहा, 'सचमुच गांव मुझे बेहद याद आता है और अब भी गांव में रहने और वहां काम करने का मौका मिले तो इससे अच्छा कुछ नहीं है। लेकिन अब गांव में परिवार का कोई व्यक्ति नहीं है। मेरे लिए अकेले रहकर काम कर पाना मुश्किल है। इसलिए मजबूरी में दिल्ली में रहना पड़ रहा है। पर मुझे यह शहर पसंद नहीं है। यह बहुत प्रदूषित और शोर-शराबे वाला शहर है और रहने योग्य रह नहीं गया है। मेरे पास तो जो भी लेखक आते हैं, उनसे मैं कहता हूँ कि अगर दिल्ली में रहने की मजबूरी नहीं है तो यहां मत रहो। दिल्ली रहने लायक शहर नहीं है।'

इस दफा की बातचीत में जो एक और याद रखने लायक बात मुझे लगी, वह यह कि रामविलासजी ने स्वामी दयानंद और गांधीजी के प्रति बहुत सम्मान प्रकट किया था। स्वामी दयानंद के बारे में उन्होंने कहा कि, 'मैं उनके नब्बे प्रतिशत विचारों से सहमत हूँ।' मैं समझता हूँ, यह बहुत महत्वपूर्ण कथन है। बाद में इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि स्वामी दयानंद का रास्ता

भावना नहीं, विचार का रास्ता था। इसलिए वह कम्युनिज्म के निकट पड़ता था। ऐसे बहुत-से लोग हैं जो आर्य समाज से होकर मार्क्सवाद तक आए।

इसी तरह गांधीजी के बारे में रामविलासजी ने कहा कि उस समय के पूंजीवादी चरित्र की जितनी अच्छी समझ गांधीजी को थी, उतनी तो आज के बहुत-से कम्युनिस्टों को भी नहीं होगी। इसी संदर्भ में गांधीजी के स्वदेशी आंदोलन की चर्चा हुई और दक्षिण अफ्रीका में उनके लंबे प्रवास और सत्याग्रह की भी। रामविलासजी मुक्त भाव से इसकी तारीफ कर रहे थे। इसी सिलसिले में उन्होंने गांधीजी के 'संपूर्ण वाङ्मय' की चर्चा की जिसे प्रकाशन विभाग ने छपा है। रामविलासजी ने बताया कि 'संपूर्ण वाङ्मय' के दो खंडों में दक्षिण अफ्रीका में दिए गए गांधीजी के भाषण, विचार और प्रस्ताव आदि शामिल हैं। ये खंड बहुत महत्वपूर्ण हैं। इन्हें जरूर पढ़ना चाहिए। इसी तरह उन्होंने कहा कि दक्षिण अफ्रीका के इतिहास पर गांधीजी ने वहां रहते हुए जो पुस्तक लिखी थी, वह आज भी हमें वहां के इतिहास की सबसे ज्यादा प्रामाणिक किताब लगती है। प्रसंगवश दक्षिण अफ्रीका में गिरमिटिया मजदूरों की हालत और आंदोलन की भी चर्चा चली।

मैं रामविलासजी के विपुल अध्ययन को लेकर चकित था।...और फिर ऐसी गजब की याददाश्त!

रामविलासजी को प्रणाम करके उनके घर से निकला तो यह बात जैसे किसी फ्लैश की तरह भीतर कौंध गई...कि अच्छा, तो क्या यही कारण है कि रामविलासजी मुझे इतना फेसिनेट करते हैं और हर बार इंटरव्यू के बहाने ही सही, मौका मिलते ही मैं उनके घर की ओर दौड़ पड़ता हूं।

आज भी रामविलासजी की स्मृतियों का गलियारा खुलता है तो लगता है, इसका कोई ओर-छोर ही नहीं। याद पड़ता है कि एक बार खुली बातचीत में, जब मैं उन पर लगाए गए कुछ अनर्गल आरोपों की बात कर रहा था, तो उन्होंने बेहद तकलीफ के साथ कहा था, 'मेरे आलोचकों ने मुझे पढ़ा ही नहीं है। पहले वे पढ़कर मेरे तर्कों का जवाब तो दें!'

इसी तरह अंतिम दिनों की उनकी सबसे बड़ी चिंता यह थी कि मार्क्सवाद को भारतीय संदर्भों में यानी हिंदुस्तान की जमीन के हिसाब से व्याख्यायित करने की ईमानदार कोशिशें नहीं हुईं। और शायद इसी चुनौती का जवाब देने के लिए उन्होंने उम्र के नवें दशक में भी, अथक श्रम करते हुए 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' जैसी बड़ी किताब लिखी। और कहना न होगा कि यह पुस्तक बीसवीं सदी के सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक दस्तावेजों में से है।



चेला खरा निरंध

प्रेम जनमेजय

कक्षा सात में कबीर का दोहा, गुरु गोविंद दोउ खड़े, पढ़ा तो बस पढ़ा क्योंकि गुरु के बारे में इतना ही जानते थे कि गुरु काम न करने पर कान उमेठता है, मुर्गा बनाता है और अधिक क्रोधित हो तो बेंत से भी पीटता है। इस बात का बिलकुल ज्ञान न था कि वह किस गोविंद से मिलता है और गोविंद से मिलने के क्या लाभ होते हैं। हम तो उस गोविंद को ही जानते भर थे जिसके सामने मां सर नवाने को कहती और और परीक्षा में पास होने पर जिसके नाम से प्रसाद बांटना होता था। युवावस्था में शिक्षा के महत्व ने जब परिश्रम करवाया और बार-बार अपनी जिज्ञासा शांत करने के लिए गुरु के समक्ष जाने को विवश किया तो गुरु का महत्व समझ आया। जीवन की कठिन राह पर अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए गुरु का महत्व निरंतर आवश्यक लगने लगा। यह समझ आया कि कबीर का यह दोहा विद्यालयी परीक्षा के लिए रटने की वस्तु नहीं है अपितु जीवन की परीक्षा में सफल होने की कुंजी है। यह भी समझ आया कि गुरु ने क्यों सतगुरु के पांय लगने को कहा है। आप तो जानते ही हैं गुरु दो प्रकार के होते हैं- एक 'गुरु गोविंद दोउ खड़े' जैसा और दूसरा 'जाका गुरु भी आंधला चेला खरा निरंध' जैसा। दोनों गुरु मार्ग पर डालते हैं। अंध गुरु अपने मार्ग पर डालता है जो गुरु तक पहुंचकर खत्म हो जाता है। बलिहारी गुरु गोविंद के सत्य मार्ग पर डालता है। सतगुरु मिल जाए तो शिष्य का जीवन सुधर जाता है, उसे सही मार्ग मिल जाता है। अन्यथा सत शिष्यों के कंधे पर चढ़े गुरु से गोविंद बने अपना जीवन सुधारते हैं और उन्हें विलासिता का सच्चा मार्ग मिल जाता है।

नरेंद्र कोहली मेरे लिए सतगुरु हैं जो न तो स्वयं अंधत्व धारण करते हैं और न ही शिष्य को अंधत्व धारण करने की राह में धकेलते हैं। यह नरेंद्र कोहली की कृपा है कि उन्होंने मुझे जैसे नालायक शिष्य को अपने आसपास फटकने का अधिकार दिया हुआ है। गुरु तो सतगुरु हैं और मैं चेला खरा निरंध था/ हूँ। उन्होंने इस निरंध चेले पर कृपा की और अपने जीवन का कुछ हिस्सा मुझे भी दिया।

लेखन नरेंद्र कोहली के जीवन की प्राथमिकता है जिसके लिए वे किसी भी प्रकार का मोह त्याग सकते हैं। इस प्राथमिकता के चलते ही उन्होंने सन् 2008 में उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय की लगी लगाई सुविधाजनक एसोसिएट प्रोफेसर की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। डॉ. नरेंद्र ने उनकी पत्नी से सक्रोध कहा- 'नरेंद्र का दिमाग खराब हो गया है। पढ़ाते हुए भी लेखन किया जा सकता है। मैंने किया है। उसे कहो, त्यागपत्र वापिस ले।' पर इस अर्थ में नरेंद्र कोहली जिद्दी हैं। लेखन के

बिन अन्य सब कुछ सून है। लेखन उनके लिए तपस्या और साधना है और वे सहन नहीं कर सकते कि इसमें कोई राक्षस वृत्ति बाधा पहुंचाए।

मुझे प्रसन्नता है कि मेरे जीवन को एक लक्ष्य देने एवं उसे सार्थक दिशा प्रदान करने का शुभारंभ नरेंद्र कोहली जैसे व्यक्तित्व के द्वारा हुआ। अपने लक्ष्य तो पहुंचने के लिए मैंने जिस पगडंडी को चुना, वह सही लक्ष्य तक पहुंच गई। यहां से मुझे अनेक पगडंडिया मिली- लेखक मंडल, अतिमर्श, माधुरी, धर्मयुग, गोष्ठी, सार्थक, पीएचडी, विवाह, लेक्चररशिप, साहित्यिक गोष्ठियों, पुस्तकों के प्रकाशन आदि की पगडंडियां। नरेंद्र कोहली मेरे लिए एक सक्रिय पाठशाला हैं। मैंने इस पाठशाला में निरंतर बहुत कुछ सीखा है। इस सीखने और नालायक छात्र के रूप में त्रुटियों पर त्रुटियां करने की अनेक स्मृतियां हैं जो 'क्षमा बढ़ाने को सोहत है छोटन को उत्पात' जैसे कथन को उचित सिद्ध करती हैं।

मैं अपने गुरु नरेंद्र कोहली का बहुत ही नालायक शिष्य हूँ। नरेन्द्र कोहली की एक ही शृंखला मेरे पूरे लेखन को अपने में समा सकती है। नरेन्द्र कोहली में विविधमुखी प्रतिभा है और श्रेष्ठ है, मुझमें एक मुखी रुद्राक्ष की प्रतिभा तक नहीं है। जिस अनुशासन एवं निष्ठा के साथ मेरे गुरु अपने लेखन को प्रथमिकता देते हैं उसका एक प्रतिशत भी मुझमें नहीं है। मैंने स्वयं को अनेक रूपों में बिखेरा हुआ है। जहां लेखकीय प्रतिभा नरेन्द्र कोहली में कूट-कूट कर भरी हुई है मुझमें खोजने पर ही मिल सकती है। प्रकाशक घास की लालसा में उनके इर्द गिर्द तृषित से घूमते हैं और मैं...।

सन् 1966 में आज के दिल्ली विश्वविद्यालय के मोतीलाल कॉलेज और तबके हस्तिनापुर कॉलेज में मैथ्स आनर्स छोड़कर हिंदी आनर्स लेना मेरे जीवन का वह महत्वपूर्ण मोड़ है जिस मोड़ पर गुरुवर नरेंद्र कोहली मिले। अपने मित्र अखिलेश के संसर्ग में मैंने यूँही एक कहानी 'कल आज और कल' लिखी थी, जो 'खिलते फूल' के प्रवेशांक में प्रकाशित हो गई और मैथ्स आनर्स के विद्यार्थी के रूप में जब मैंने उसे हिंदी के विभागाध्यक्ष डॉ. महेंद्र कुमार को दिखाया तो उन्होंने हिंदी आनर्स में प्रवेश लेने के दबाव के साथ मुझे नरेंद्र कोहली का सौंप दिया। मुझे आज भी याद है कि कॉलेज में मुझे कोई जानता नहीं था और मैं पहली कहानी के प्रकाशित होने के सुख को बांटना चाह रहा था। मैंने सोचा कि मैथ्स के प्राध्यापक को क्या दिखाऊं, तो मैं हिंदी के अध्यापकों को ढूंढने लगा। ऐसे में किसी ने डॉ. महेंद्र कुमार की ओर संकेत करते हुए कहा कि वे हिंदी के प्राध्यापक हैं और हेड ऑफ डिपार्टमेंट भी।

मैंने उनसे कहा- सर! देखिए ये मेरी कहानी छपी है।'

मेरी ओर उन्होंने ध्यान से देखा और कहा- 'तुमने क्या अभी हिंदी ऑनर्स में प्रवेश लिया है? इससे पहले तो तुम्हें क्लास में कभी देखा नहीं।'

मैंने कहा- 'सर! मैं मैथ्स ऑनर्स का स्टूडेंट हूँ।'

अपने हाथ में ली पत्रिका को उन्होंने एक बार और देखा और कहा - 'हिंदी की कहानी लिखते हो। तुम्हारी हिंदी इतनी अच्छी है, तुम हिंदी ऑनर्स क्यों नहीं लेते?'

बहुत कम लोग हिंदी ऑनर्स अपनी रुचि से लेते थे। इस विषय को या तो लड़कियां लेती थीं या फिर वे जिनके अंक कम आते थे और उन्हें किसी अन्य ऑनर्स में प्रवेश नहीं मिलता था। डॉ. महेंद्र कुमार हिंदी ऑनर्स का पहला बैच बना रहे थे और एक अध्यक्ष के रूप में एक शिकारी की तरह अच्छे विद्यार्थियों का हिंदी ऑनर्स में प्रविष्ट कराने के लिए बाड़ा तैयार कर रहे थे, शिकार कर रहे थे।

मैंने कहा- 'सर! मैंने तीन साल तक हिंदी बिलकुल नहीं पढ़ी है।'

तो क्या हुआ, 'मैंने भी बी.एस.सी. के हिंदी में एम.ए. किया है।' उसी समय हाथ में रजिस्टर पकड़े नरेन्द्र कोहली वहां आए। उन्होंने उनसे कहा, 'देखो इस लड़के की कितनी अच्छी कहानी छपी है। साईंस स्टूडेंट होकर इसने कहानी लिखी है। मैथ्स ऑनर्स में है। मैं इसे कह रहा हूं कि तुम्हारी हिंदी इतनी अच्छी है, हिंदी ऑनर्स में एडमिशन ले लो पर कहता है कि मैंने हायर सेकेंडरी में हिंदी नहीं पढ़ी है। इसे समझाओ।' फिर मेरी ओर घूमकर डॉ. महेंद्र कुमार बोले- ये नरेंद्र है, इसने भी इंटर तक विज्ञान पढ़ा है। बाद में हिंदी में ऑनर्स और एमए फर्स्ट क्लास में किया है। लेक्चरर बन गया है। कहानियां लिख रहे हैं। तुम इनसे बात करो।'

नरेंद्र कोहली ने मेरी कहानी को बड़े ध्यान से पढ़ा और बोले- 'पहली कहानी की दृष्टि से ठीक है।' इसके बाद उन्होंने अपने उदाहरण और हिंदी के महत्व को लेकर जो कहा उसने मेरे मन को बदल दिया। मन ही नहीं बदला धीरे-धीरे मेरे जीवन की धारा ही बदल गई। उनके व्यक्तित्व, उनके विचार, उनकी जीवन शैली ने मेरे युवा मन को सम्मोहित करना आरंभ कर दिया। लगा कि जीवन में क्या बनने का आदर्श मेरे सामने है।

नरेंद्र कोहली के साहित्यिक रूप से पहले उनके ईमानदार शिक्षक ने बांधा फिर सत्यनिष्ठ संवेदनशील व्यक्ति ने। संभवतः 1967-68 की बात है। उस दिन मेरी क्लास कुछ विलंब से थी। जब मैं रामकृष्णपुरम के सेक्टर एक से अपनी साइकिल घसीटते कालेज पहुंचा तो पता चला कि कालेज बंद है। पता चला कि सुबह एक हंगामा हुआ है। एक लड़के ने दूसरे लड़के पर हत्या के इरादे से चाकू से तीन वार किए हैं। सबके जुबान पर एक साहसी नाम था- नरेंद्र कोहली। जब लड़का दूसरे लड़के को चाकू मार रहा था दो-ढाई सौ छात्र खड़े थे पर खड़े हुए छात्रों में हिम्मत न हुई कि वे बीच-बचाव करें। नरेंद्र कोहली बीच बचाव करने कूद पड़े। उन्हें देख चाकू मारने वाला लड़का भाग गया। मैं स्टाफ रूम में गया तो देखा नरेंद्र कोहली को लगभग सभी अध्यापकों ने घेरा हुआ है। नरेंद्र कोहली के चेहरे पर बदहवासी-सी थी। वे इस घटना के कारण हिले हुए थे। इस घटना ने उनके मन में कई सवाल खड़े कर दिए थे। उन्होंने इस घटना की चर्चा करते हुए कहीं लिखा भी है- 'पता चला कि चाकू मारने की योजना बनते ही पुलिस को उसकी सूचना दे दी गई थी और उनका शुल्क भिजवा दिया गया था। इसलिए यह पहले से तय था कि पुलिस वहां नहीं आएगी। मुझे लगा कि मैं समाज में हूं पर समाज कहीं नहीं है। कोई भी किसी व्यक्ति को सैंकड़ों लोगों की उपस्थिति में चाकू मार सकता है। पुलिस है किंतु पुलिस कहीं नहीं है। वह पैसा लेकर चाकू मारने वाले के गिरोह में मिल जाती है। उसकी पक्षधर हो जाती है। देश में सरकार है परंतु शासन कहीं नहीं है।' ऐसे सामाजिक सरोकारों से युक्त सोच एवं विसंगतियों पर तीखा प्रहार करने वाले निर्भीक नरेंद्र कोहली मेरी सोच का हिस्सा बन गए। युवा मन में जैसे कहीं गहरे प्रवेश कर गए।

मुझे साहित्यिक संस्कार देने में 'लेखक मंडल' का विशेष महत्व है। नरेंद्र कोहली लेखन के अपने आरंभिक काल में न केवल अपने लेखन के प्रति सजग रहे अपितु उन नवलेखकों के प्रति भी सजग- सहायक रहे जो घुटनों चलना सीख रहे थे। नए लेखकों की रचनाओं को गंभीरता से ठीक करना, उनके भाषा दोषों को सुधारना। सन् 1967 में कॉलेज में 'लेखक मंडल' की गोष्ठियां आरंभ हुईं। यह एक प्रकार की रचनात्मक लेखन की कार्यशाला थी। आरंभ में यह गोष्ठियां सप्ताह में एक

बार कॉलेज में ही होती थीं। लेखक-मंडल की गोष्ठी के स्थाई अध्यक्ष नरेंद्र कोहली होते थे। गोष्ठी में शामिल होने वाले रचनाकार के लिए शर्त थी कि वह अपनी नई रचना लेकर आएगा, उसका पाठ करेगा, तत्पश्चात सभी अपनी तरह से प्रतिक्रिया जाहिर करेंगे और हो सकेगा तो सुझाव देंगे तथा अंत में नरेंद्र कोहली रचना का 'छिद्रान्वेषण' करते।

आरंभ में कुछ गोष्ठियां कॉलेज में हुईं। परंतु नरेन्द्र कोहली इन गोष्ठियों में निरंतरता चाहते थे। वे चाहते थे कि इसमें आने वाले छात्र, केवल छात्र होने तक न आएँ अपितु कॉलेज छोड़ने के बाद भी उनका इससे संबंध जुड़ा रहे। जैसे लेखक कभी रिटायर नहीं होता, कुछ इसी अंदाज में उनकी सोच थी कि विद्यार्थी आए तो छात्र के रूप में पर एक लेखक के रूप में इसका हिस्सा बने रहे। कॉलेज में इसके आयोजन की व्यवस्था इसे सीमित कर रही थी। दूसरे 'लेखक मंडल' में अधिकांश संख्या लड़कियों की थी और नरेन्द्र कोहली को विश्वास नहीं था कि अपनी सीमाओं के चलते लड़कियां अधिक समय तक 'लेखक मंडल' से जुड़ नहीं पाएंगी। उनकी आशंका कुछ हद तक सही भी रही। बहुत बार ऐसा हुआ कि मैं, जोगेंद्र और नरेन्द्र कोहली ही उपस्थित हुआ करते थे। 'लेखक मंडल' की कॉलेज में कक्षाओं के बाद होने वाली गोष्ठियों में भाग लेने वाली लड़कियों के लिए घर जल्दी पहुंचने की चिंता होती अतः अनेक बार या तो वह आती नहीं, या फिर बीच में चली जातीं। दूसरे 'लेखक मंडल' में एक बड़ी शर्त यह थी कि आने वाला लेखक अपनी ताजा रचना लेकर आएगा। कवियों के लिए कविता लाना सरल था पर गद्यकारों के लिए नया कुछ लाना बहुत कठिन-सा था।

इस कारण नरेन्द्र कोहली ने तय किया कि 'लेखक मंडल' की गोष्ठियां रविवार को उनके तत्कालीन निवास-स्थान एस-362 ग्रेटर कैलाश पार्ट-1 दिल्ली में होंगी। गोष्ठी का समय सामान्यतः 9 बजे होता पर दस बजे के लगभग ही गोष्ठी आरंभ हो पाती। आरंभ में इन गोष्ठियों में हस्तिनापुर कॉलेज से जुड़े लेखक ही होते। कुछ के नाम मुझे याद हैं- वीणा, रंजना, सुमन, जोगेंद्र सिंह, कुसुम, सुरेश कांत, राजेश कुमार, हरिमोहन, दिनेश कपूर आदि। बाद में लोग जुड़ते और बिछुड़ते गए। इन गोष्ठियों में दिविक रमेश, सुधीश पचौरी, क्षमा शर्मा, रमेश बतरा, मीरा सीकरी, तेजेंद्र शर्मा, गीता विज, शैलेंद्र, आशा जोशी, रमेश ठगेला आदि भी आते-जाते रहे। मैं निरंतर इन गोष्ठियों में शामिल रहा। कई बार तो, किसी-किसी गोष्ठी में मैं नरेंद्र कोहली और उनकी पत्नी मधुरिमा कोहली ही होते। इन गोष्ठियों का लाभ ये हुआ कि गोष्ठी के लिए नई रचना लिखने का दबाव रहता, नरेंद्र कोहली के पास आने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं को पढ़ने का सुअवसर मिलता और रचनाएं प्रकाशनार्थ किन पत्रिकाओं में भेजी जा सकती हैं, इसका परामर्श मिलता। नरेंद्र कोहली ने चाहे अपने लेखन का आरंभ कविताओं से किया परंतु बहुत जल्दी उनका गद्यकार उनपर हावी हो गया और इतना कि नई कविता की इस हद तक कटु आलोचना करने लगा कि नए कवि 'लेखक मंडल' की गोष्ठी में आने से कतराने लगे। मैं कतराया तो नहीं पर गद्य की ओर प्रमुखता से मुड़ गया। नरेन्द्र कोहली से गोष्ठी में आए कवि अवश्य हतोत्साहित होते थे। यही नहीं उनकी स्पष्टवादिता, जैसे इस कहानी को फाड़ दो, या फिर रचना में संशोधन करते तो कॉपी लाल कर देते। नए रचनाकार में एक अनजाना-सा भय होता। इस भय को उनके विद्यार्थी तो सह जाते पर अन्य नहीं सह पाते। लेखक मंडल की गोष्ठियों का कभी-कभी वाला हिस्सा रमेश बतरा और हरीश नवल भी बने। 'लेखक मंडल' की एक गोष्ठी में दिविक के काव्य संकलन 'रास्ते के बीच' पर नरेंद्र कोहली के निवास पर हुई, जिसमें अज्ञेय आए

थे। अज्ञेय ने कहा कि क्षमा करें मैंने पुस्तक नहीं पढ़ी है। इस कारण दिविक का ही नहीं, हम सबका मूड उखड़ गया।

‘लेखक मंडल’ के अंतर्गत ही 9 मार्च 1980 को सुरेश कांत के व्यंग्य उपन्यास ‘ब से बैंक’ पर संगोष्ठी हुई थी। इस गोष्ठी के अध्यक्ष ख्वाजा बदीउज्जमां थे। विषय प्रवर्तन नरेंद्र कोहली ने किया था। इसमें हिमांशु जोशी, महीप सिंह, कन्हैयालाल नंदन, सुधीश पचौरी, द्रोणवीर कोहली, दिविक रमेश, रमेश बतरा, सुरेश उनियाल, बलराम, हरियश, राजेश कुमार, रमेश ठगेला ने भाग लिया था। ‘लेखक मंडल’ की गोष्ठियों में नागार्जुन भी आते थे।

निरंतर सक्रिय रहना और अपने आसपास के लोगों को सक्रिय रखना नरेंद्र कोहली के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग है। यदि काम सामने हो तो आलस्य उनको कोई चुनौती नहीं दे पाता है। लेखन एवं उससे जुड़े संदर्भों को साकार करने, नई साहित्यिक योजनाओं का निर्माण करने और उन्हें कार्यान्वित करने का पागलपन उनमें रहा है। आजकल वे अपने लेखन में इतने व्यस्त हैं कि इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ और नहीं सूझता है। पर एक दौर वो रहा जब उन्हें बहुत कुछ सूझता था। इसी बहुत कुछ सूझने के चलते उन्होंने ‘अतिमर्श’ की योजना बनाई, वैशाली पीतमपुरा में ‘रचना’ गोष्ठी आरंभ की, ‘गोष्ठी’ नामक अनियतकालीन लघु पत्रिका आरंभ की, घरघुस्सु नरेंद्र कोहली ने साहित्यिक यात्राएं कीं, आदि-आदि।

अक्टूबर 1972 में मेरी दयाल सिंह कॉलेज (सांध्य) में नौकरी लगी तो नरेंद्र कोहली को संतोष मिला कि मैं सेटल हो रहा हूं। उन्होंने अक्टूबर 1972 में त्रैमासिक पत्रिका ‘अतिमर्श’ की योजना बना डाली। इसके आर्थिक पक्ष पर जब मैंने पूछा तो बोले- ग्राहक बनाएंगे और जो शेष बचेगा, जब से डालेंगे।

सर, ‘अब तो मेरी नौकरी लग चुकी है, कुछ मैं भी सहयोग करूंगा।’

‘अभी तुम्हारी नौकरी स्थाई नहीं है। जो मिल रहा है, उसे परिवार को दो। उन्होंने तुम्हारे लिए अनेक सपने देखे हैं, कुछ तो पूरा करो।’

‘पर सर...’

नरेंद्र कोहली का वाक्य ब्रह्म-वाक्य सा होता है, कह दिया तो टस से मस नहीं होते। अड़ जाए तो कोई उन्हें अपने फैसले से डिगा नहीं सकता है, उनकी प्रिय पत्नी मधुरिमा भी नहीं। तो मैं क्या चीज था। हां मुझे पचास ग्राहक बनाने का दायित्व सौंपा गया।

पत्रिका निकालने का हमारा अनुभव न के बराबर था। पहला अंक हमने 1973 की गर्मियों में, नरेंद्र कोहली के लम्बरेटा स्कूटर में बैठकर ग्राहकों के घर उसी तरह बांटा था जैसे सुबह- सुबह कोई अखबार वाला बांटता है। हमने डाक के पैसे बचाए थे पर पेट्रोल पर पैसे बहुत खर्च किए थे। उस समय पेट्रोल चाहे कितना सस्ता रहा हो पर इतना सस्ता नहीं कि डाक का मुकाबला कर सके। नरेंद्र कोहली ने इस प्रसंग का वर्णन एक संस्मरण में इस प्रकार लिखा है- प्रेम कक्षा में ही नहीं, मेरी अन्य सारी गतिविधियों में भी मेरे साथ था। वह लेखक-मंडल में मेरे साथ था। कॉलेज की पत्रिका में साथ था। साहित्य परिषद् में साथ था। जब मैंने व्यक्तिगत रूप से ‘अतिमर्श’ का प्रकाशन आरंभ किया था, तब भी वह मेरे साथ था। कम खर्च में पत्रिका को डाक से भेजने की अनुमति न होने के कारण हमें उस पर लगाई जाने वाली डाक टिकट काफी खर्चीली लगती थी, इसलिए एक-एक अंक को दिल्ली के किसी कोने में उसके ग्राहक तक पहुंचाने के लिए मैं और प्रेम अपने स्कूटर पर

सारे नगर में घूमते फिरते थे। मैं स्कूटर चलाता था और वह पत्रिका के अंक लेकर पीछे बैठा था। हम जनकपुरी तक स्कूटर पर पत्रिका बांटने गए थे। समय बचाने के लिए हमने किसी को दस्ती पत्रिका नहीं पकड़ाई, उसके घर डाकिए की तरह डाल भर दी।

स्मृतियों का समुद्र मुझे ललचा रहा है पर संपादक की पृष्ठ सीमा मुझे सावधान कर रही है। मैं अपने प्रिय कवि प्रसाद की कविता की एक पंक्ति की पैरोडी कर कह सकता हूँ- इतने लंबे जीवन की कैसे बड़ी कथाएं आज कहूं। पर कुछ है जिसे कहने को अपने को रोक नहीं पा रहा हूँ। अपने पहले व्यंग्य संकलन 'राजधानी का गंवार' के प्रसंग। यही संकलन था जिसने मुझे हिंदी व्यंग्य का शिशु बनाया। इसके प्रकाशन से लेकर इसकी चर्चा तक मैं नरेंद्र कोहली का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पूरे संकलन के एक एक शब्द को संपादित किया उन्होंने। मुझ जैसे युवा रचनाकार की पहली पुस्तक बिना प्रकाशक का मूल्य चुकाए छप जाए, इससे बड़ी बात क्या होगी।

अपने आत्मीय संबंधों के बारे में मैं क्या कहूं। मेरे जीवन के महत्वपूर्ण मोड़, विवाह संबंधी संस्मरण को उनके शब्दों में कहता हूँ। 1974 में जब प्रेम का वैवाहिक संबंध तय हो रहा था, उसने एक दिन आकर मुझे चकित कर दिया। बोला, उसके माता-पिता ने एक लड़की पसंद कर ली है। अब पूर्ण स्वीकृति देने से पहले वह चाहता है कि मैं और मेरी पत्नी उस लड़की को देख लें और अपना निर्णय बताएं।

‘और यदि वह लड़की हमें पसंद न आई तो?’ मैंने पूछा।

‘तो यहां विवाह नहीं होगा।’ उसने कहा, ‘आपकी सहमति के बिना विवाह नहीं होगा।’

किसी के लिए लड़की या लड़का देखना मेरे लिए कोई बहुत कठिन काम नहीं था। अपनी राय भी मैं बड़ी सुविधा से दे सकता था। ऐसे काम मैं पहले अपने मित्रों के लिए भी कई बार कर चुका था। पर यहां, जहां प्रेम के माता-पिता लड़की को पसंद कर अपनी स्वीकृति दे चुके थे, मामला जटिल था। यदि हमें लड़की पसंद न आई तो? अच्छा खासा जुड़ता हुआ रिश्ता टूट जाएगा और फिर लगेगा कि प्रेम के माता-पिता के किए हुए संबंध को हमने तुड़वा दिया है। भांजी मारना किसी भी रूप में शोभनीय नहीं होता। हम दोनों पर्याप्त संकोच कर रहे थे, किंतु प्रेम नहीं माना। हमें जाना ही पड़ा। सौभाग्य से लड़की हमें भी पसंद आ गई, और किसी प्रकार का कोई संकट खड़ा नहीं हुआ। पर बात तो संबंधों के निर्वाह की थी। प्रेम ने अपने जीवन के इस महत्वपूर्ण मोड़ पर जो सम्मान हम दोनों को दिया था, उससे संबंधों को उनकी पूर्णता में ग्रहण करने और निभाने का प्रमाण मिला। अपने संबंधों के लिए मैं स्वयं को श्रेय नहीं देता। मैं नए संबंध बनाने और पुराने संबंधों के निर्वहण में बहुत पटु नहीं हूँ। इस संदर्भ में मेरी ओर से सक्रियता बहुत कम होती है। छात्र हों या शिष्य, उनके प्रति मेरा समान भाव ही रहता है। अब यह उनका ही गुण होता है कि कौन इस संबंध को कितनी दूर ले चलने को प्रस्तुत है। कॉलेज की पढ़ाई समाप्त होने पर प्रेम के सामने भी पारिवारिक और साहित्यिक संबंधों के लिए विस्तृत क्षेत्र था। अधिकांश छात्र कॉलेज छोड़ने के पश्चात अपने अध्यापकों को भी छोड़ जाते हैं। वे मानते हैं कि हमारा संबंध कॉलेज के माध्यम से था, और कॉलेज तक ही था। मैं मानता हूँ कि वास्तविक संबंध तो कॉलेज छोड़ देने के बाद ही विकसित होते हैं। प्रेम ने अपने संबंधों को न तो काल की दृष्टि से सीमित किया और न ही साहित्य की सीमाओं में बांधा। वह उसे पारिवारिक क्षेत्र में भी ले आया। मेरे परिवार के प्रत्येक सदस्य को पूरे स्नेह और

सम्मान के साथ स्वीकार किया और अपने परिवार में हम लोगों को पूरा अधिकार दिया।

लेखन, अध्ययन और मनन से अब वह मेरी मानसिकता और सोच को समझता है। फिर भी उसकी कठिनाई तो दूर नहीं हो जाती न। उसकी कठिनाई यह है कि उसके आसपास का सारा साहित्यिक जगत अपने आपको मार्क्सवादी मानता है। मैं जानता हूँ कि यह मार्क्सवाद नारा मात्र है पर वह एक कट्टरवादी बिरादरी तो है ही, जो अपने लेखन में से भारतीय मूल्य-मानकों को ही नहीं, भारतीय हितों को भी बाहर रखती है। उनके लिए नरेन्द्र कोहली की भारतीयता और हिंदुत्व, अस्पृश्य हैं। ऐसे में यदि प्रेम जनमेजय, नरेन्द्र कोहली के साथ खड़ा होगा तो वे उसको अपनी बिरादरी से बाहर कर देंगे और यह प्रेम ही क्या, कोई भी लेखक सहन नहीं कर सकता। मैं अपने अनेक प्रशंसकों को जानता हूँ, जो यह स्वीकार करते हैं कि रहना तो उसी लेखक- बिरादरी में है, जो गलत या सही स्वयं को मार्क्सवादी मानती है, तो उसकी प्रियता-अप्रियता के विरुद्ध वे कैसे जा सकते हैं? यह भी संभव है कि प्रेम के अपने मन में भी भारतीयता के कुछ तत्वों के प्रति परहेज हो। वह स्वयं भी उन्हें ग्रहण न कर पाता हो।

ऐसे में प्रेम, मेरे साथ व्यक्तिगत और पारिवारिक संबंधों का भी निर्वाह करता है, मेरे साहित्य के पक्ष में लिखना हो, तो वह लिखता भी है। प्रेम अब कुछ बदल ही नहीं गया है, पर्याप्त प्रौढ़ भी हो गया है। उसने अपने मन के अनेक जाले साफ कर लिए हैं। वह अब मुझे लेकर अपने साहित्यिक विरोधियों से आशंकित नहीं है। उसके अपने मन में भी मुझे लेकर आशंकाएं नहीं थीं। वह इतना सबल और परिपक्व हो चुका था कि विरोध की गर्म हवा के झोंकों को झेल सके और अपने पुष्ट पगों पर खड़ा हो कर कह सके कि 'यह सत्य है।'

उसने 'गगनांचल' के अंक के लिए मुझ से रचना मांगी। मैंने अपनी रचना तो दी ही, मार्क्सवादी रूसी प्रो. यूजीनिया वानिना का मेरे विषय में लिखा हुआ निबंध 'नरेन्द्र कोहली का पौराणिक आधुनिकतावाद।' भी पढ़ने को दे दिया। प्रेम ने उसे पढ़ा और मुझे सूचित किया कि 'वह उसे मेरी रचना के साथ ही 'गगनांचल' के अगले अंक में प्रकाशित कर रहा है। भ्रमित पाठकों और आलोचकों को भी सत्य का ज्ञान होना चाहिए।' मैं क्या कहता किंतु मेरा मन उस वृद्ध व्यक्ति का सा अनुभव कर रहा था, जिसका पुत्र युवा और शक्तिशाली हो गया हो। अपने पिता के विषय में अपनी धारणा बना चुका हो और उसके दुर्बल होते हुए शरीर को आश्वासन दे रहा हो कि उसे अपने क्षरण की चिंता नहीं करनी है। उसे उर्जा की कभी कमी नहीं रहेगी।'

व्यक्ति चाहे कितनी भी खुली किताब हो उसके अनेक अलिखित पन्ने बांचने से रह जाते हैं। नरेन्द्र कोहली के साहित्यिक व्यक्तित्व के विभिन्न कोण हैं। मुख्यतः तीन कोण हैं- पुराकथाओं के शीर्षस्थ चित्ते, सामाजिक संबंधों एवं सरोकारों के कथाकार तथा विसंगतियों पर निर्मम प्रहार करने वाले व्यंग्यकार। इन तीनों कोणों के अनेक स्मृति चित्र मेरे अंदर जिंदा हैं। उनसे आज भी मैं हर पल शिक्षित होता हूँ। संवादहीनता के इस दौर में उनसे माह में एक बार मिलना, लंबा फोन करना न हो पाए तो मुझे ही नहीं मेरी पत्नी को भी असहज लगने लगता है। मैं आभारी हूँ कि नियति ने मुझे साहित्य दिया, एक साहित्यिक परिवार दिया और उस परिवार में मेरे भविष्य को सुखद करने वाले गुरुवर नरेन्द्र कोहली दिए। तुलसी ने हरि के बारे में कहा कि 'हरि अनंत हरि कथा अनंता' और मैं अपने गुरु के बारे में भी यही कहता हूँ। इस संबंध में मेरी मति थोड़ी है, फिर भी मैंने कुछ कहा।



संस्कृति के व्याख्याता विद्यानिवास मिश्र

अरुणेश नीरन

पंडितजी को बात यही बहुत भाती थी। गांव में अलाव के किनारे बैठकर बतकही में डूबे बुजुर्गों की जैसी देश-दुनिया पर निर्मल चर्चाएं होती थीं और उसमें गांव से लेकर ईश्वर तक जिस प्रकार चर्चा में आते थे वैसे-ही पंडितजी के पास बैठकर लगता था कि लोक-शास्त्र-मनुष्य-संस्कृति-जीवन-संगत सभी उपस्थित होकर संवाद कर रहे हों। इसमें पंडितजी स्वयं अलाव बन जाते थे और उसमें उठने वाली लपटें विषय। उसके प्रकाश में वह सबकुछ दिखने लगता था जो दृश्य के पीछे का अदृश्य था, जो जो प्रत्यक्ष होते हुए भी पकड़ में नहीं आता था। जिसमें हम रहते थे लेकिन जो उपस्थित होते हुए भी अनुपस्थित था।

वे वैसे मंगलभवन थे जिसमें अनेक खिड़कियां खुलती थीं; शब्द की अर्थ की, राजनीति, पुराण, इतिहास, संस्कृति की व्याख्या वे इस तरह करते थे जैसे कोई नदी बह रही हो- धूप में सोची हुई नदी नहीं, बल्कि आलोचक से भरी हुई नदी। घाट के किनारे बैठकर जिसके पास जितना बड़ा पात्र था वह उतना ही जल ले पाया। इसमें दोष नदी का नहीं, हमारी पात्रता का था। वे साहित्य को समन्वय की साधना मानते थे। कहते थे, साहित्य का काम है सबको जोड़े, जोड़ते समय तोड़ने वालों को चुनौती दे, बिना तोड़े सबको जोड़ दे। एक साक्षात्कार में उनसे पूछा गया कि आज साहित्य क्यों घटता जा रहा है? जब हमारे पास साधन नहीं थे तब सभी क्षेत्रों में साहित्य का सृजन अधिक परिमाण में और अधिक प्रभावशाली होता था। आज न वैसी सर्जना है न वैसा प्रभाव? पंडितजी का मानना था कि तब कार्य की संस्कृति थी। लोग साहित्य लिखते ही नहीं, जीते भी थे। परस्पर विश्वास था। आचरण और कार्य में एकता थी। सर्वहित की कामना थी। इसी मंगल भावना के कारण रचनाकार और पाठक का तादात्म्य होता था। रचना का स्वर निर्मल और व्यापक होता था।

आज इस तरह की कालजयी रचनाएं, जो भाषा-क्षेत्र समय का अतिक्रमण कर पूरे काल चक्र का अतिक्रमण करके मनुष्य की शक्ति और स्वभाव बन जाती हैं, का अभाव होता जा रहा है। एक सन्नाटा-सा छाया हुआ है। पंडितजी कहते हैं इसका कारण है रचनाकार में आत्मबल का अभाव। आज अर्थ की प्रधानता के कारण नैतिकता और आत्मसम्मान से हटकर लोग वैभव के प्रति लालायित और सत्ता-समर्थों की कृपा और लाभ के प्रति अधिक सजग हैं। साहित्य की प्रकृति समाज-केंद्रित होने के बजाय आत्मकेंद्रित हो रही है। जब रचनाकार में आत्मबल न होगा तो शक्तिशाली और कालजयी सर्वव्यापी रचनाओं का सृजन कैसे होगा? समूह-मन का अभाव और ज्ञान खंडित महत्व

इसका कारण है। प्रभुता की लालसा के पतन के गर्त तैयार होते जा रहे हैं।

आकाशवाणी के अभिलेखागार के लिए पंडितजी की रेडियो-जीवनी तैयार करने का काम मुझे और डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी को सौंपा गया था। दस घंटे का मैराथन इंटरव्यू दो दिनों तक चलता रहा। 'जीवन और साहित्य' पर मुझे बात करनी थी और शास्त्रीय विषयों पर कमलेशदत्तजी की 'लोक' और 'शास्त्र' पर सबसे ज्यादा चर्चा हुई। पंडितजी बार-बार 'समूह-मन' की बात उठाते रहे 'लोक' के संदर्भ में तो यह ठीक था पर शास्त्र के संदर्भ में जब व्यक्ति-मन की मैंने बात की तो पंडितजी डांटने लगे। कहने लगे, देखो कला की जितनी शास्त्रीय विधाएं हैं, साहित्य, कला-संगीत रचता तो व्यक्ति है पर सबमें स्वयं को, अपने निज को विसर्जित करना पहली शर्त है। साथ ही इस विसर्जन का अर्थ यह नहीं है कि अनुभव छूट जाए। अनुभव करने वाला भले ही छूट जाए। अनुभव विसर्जन के क्षण में रूपांतरित हो जाता है और सही कहें तो परिशोधित हो जाता है। शुद्ध सत्व बनकर रह जाता है। नर्मदा प्रसाद उपाध्याय को दिए गए साक्षात्कार में उन्होंने इसे स्पष्ट किया है, 'भारतीय कला-दृष्टि जिस नवीनता की बात करती है वह न वस्तु में होती है, न वस्तु की बाहरी प्रस्तुति में होती है। वह नूतनता उस प्रस्तुति की उस सघनता में होती है जिसमें कलाकार व्यक्ति के रूप में गायब हो जाता है।'

लोक, शास्त्र और उसकी अन्विति पर पंडितजी ने बहुत लिखा है और कहा भी है। वे बार-बार लोक-परंपरा की तीन विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं। एक, लोक परंपरा पूर्वविस्मृत, पुरानी, आदिम परंपरा नहीं है। यह परंपरा जीवंत है, अभी तक व्याप्त है व्यतीत नहीं हुई है। निरंतर चल रही है और जीवन का अंग है। दो, यह मनुष्य और प्रकृति के बीच, व्यक्त और अव्यक्त के बीच में संबंध स्थापित करती है।

तीन, लोक-परंपरा भारतवर्ष में शास्त्र को समृद्ध करने वाली परंपरा रही। शास्त्र के विरोध में नहीं रही। यतींद्र मिश्र से बातचीत में पंडितजी भाद्रपद में करमा एकादशी का उदाहरण देते हैं और बताते हैं कि उसी से जुड़ी हुई परंपरा आदिवासी समाज में करमा महोत्सव तक जाती है। इसका अर्थ है कि यह अन्तःप्रक्रिया, शास्त्र और लोक के बीच हमेशा से होती रही है। शास्त्रीय परंपरा लोक से जुड़ी रही है और शास्त्र ने लोक को समृद्ध किया है। हमारे यहां बहुत से राग हैं जो लोक धुनों से बने हैं। राग काफ़ी होली की धुन से निकला है। सावन की धुन से राग मल्हार का जन्म हुआ है। लोकगीतों और लोकधुनों से शास्त्रीय संगीत का विकास हुआ है और इसी प्रकार शास्त्रीय रागों से लोकधुनों की रचना हुई है।

'शास्त्रों में लोक का भरपूर उपयोग हुआ है।' पंडितजी उदाहरण देते हैं- शास्त्र कहता है, 'यथा लोक' अर्थात् प्रमाण लोक है। पतंजलि का महाभाष्य हो, न्यायभाष्य देखें तो उदाहरण लोकजीवन से मिलेंगे। शास्त्र लोक को साथ लेकर चलता है, उसकी उपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार लोक भी शास्त्र को एक सरलीकृत रूप में अपने को समाहित किए हुए हैं।

पंडितजी के पहनावे, खान-पान, छुआछूत को लेकर बहुत आलोचनाएं होती थीं। लोक और शास्त्र का व्याख्या, विश्व नागरिक अत्याधुनिक विश्व साहित्य और चिंतन का अनुवादक और भाष्यकार अपने गिलास में पानी पीता है, स्वपाकी है, शिखा-सूत्र धारी है तो वह पोंगापंथी है, परंपरावादी है, आधुनिक कैसे है? इसीलिए संवादियों ने उनसे परंपरा और आधुनिकता पर बहुत सारे

सवाल किए। आधुनिकतावादी मानते थे कि श्रद्धा खोना, विश्वास खोना, सारे मूल्यों को अस्वीकार करना और उन सभी से छुटकारा पाना, जो हमें किसी परंपरा से जोड़े हुए हैं- आधुनिकता है। एक बार इसी संदर्भ में मेरी बात हो रही थी तो पंडितजी ने कहा 'तुम्हारी उम्र जितनी है क्या उसी अवधि तक तुम्हारा जीवन फैला हुआ है?' मैं कुछ उत्तर देता उसके पहले ही वे बोल उठे, नहीं। तुम्हारा जीवन वहां से शुरू होता है जहां से मनुष्य की यात्रा शुरू होती है। एक अविच्छिन्न जीवन-धारा तुमको जब अपने से जोड़ती है तब तुम होते हो। सुनीता शर्मा से पंडितजी कहते हैं, 'आधुनिकता केवल नकार नहीं है। स्वीकार करके आगे जाने वाली आधुनिकता ही सही आधुनिकता है।' और 'परंपरा रूढ़ि नहीं है। परंपरा रूढ़ि तोड़ते हुए बनती है। आगे जाना ही परंपरा है। मैं परंपरा में जन्मा, बढ़ा और आगे बढ़ना चाहता हूं। उसी से अपने को पूर्ण बनाना चाहता हूं। मैं परंपरावादी नहीं हूं।'

पुष्पा भारती ने 'धर्मयुग' की एक परिचर्चा में एक प्रश्न पूछा था, 'आपको अंधकारमय क्षणों में प्रकाश कहां से मिलता है।' पंडितजी ने एक कोरियाई कहानी 'कंटीले तारों के आर-पार' का संदर्भ देते हुए लिखा था, 'मेरे जैसे आदमी को, जिसके लिए विभाजन-रेखाएं कोई अस्तित्व नहीं रखतीं, चाहे वह परंपरा और आधुनिकता के बीच हो, चाहे देवता और आदमी के बीच हो, चाहे प्रेम और कर्तव्य और अधिकार के बीच। अपनी परंपरा में मैंने रस लिया है, पर जब उस परंपरा के नाम पर एक अलग खेमा बना देखता हूं, तो मेरा मन आधुनिक हो जाता है, आधुनिक मनुष्य की संवेदना में भीगा हूं, पर जब उसे परंपरा के विरोध में तना देखता हूं, तो मन परंपरा की ओर झुक जाता है।'

'शाश्वत' और 'सनातन : समकालीन' और 'आधुनिक' की व्याख्या पंडितजी विद्याबिंदु सिंह और गोविन्द रजनीश के साथ संवाद में करते हैं। 'शाश्वत के आचरण में परिवर्तन नहीं होता जबकि सनातन की धारणा आचरण को देशकाल के अनुसार परिवर्तन देखना चाहती है।' आधुनिकता और समकालीनता में अंतर है।' आधुनिकता में वेधक दृष्टि रहती है, समकालीनता तो समय के प्रति पूर्ण समर्पण है। परंपरा में सनातन का आग्रह नहीं, सनातन की खोज रहती है।'

व्यक्तिव्यंजक निबंध पंडितजी की सजातीय विद्या थी। उन्होंने भाषा-चिंतन किया, शास्त्र-चिंतन किया, व्याकरण की सरणियों में घूमे, पाणिनि के अंतर्लोक में प्रवेश किया, महाभारत के काव्यार्थ की खोज की, रामायण के काव्य-मर्म में प्रवेश किया लेकिन रमे अपने निबंधों में। सुर्ती ठोंक मुद्रा में लहालोट होते हुए उन्होंने रस पाया गांव के कछार में, पर्वों और त्यौहारों में, गंवई बतरस में, ऋतुओं की बदतली रंग-भंगिमाओं में, नव-नव जायमाना उषा, गोधूलि में, गांव की पगडंडी पर उत्तरदायी सांझ में, छितवन की छांह में, साथी संघातियों के संवाद में, किसिम किसिम की गूंजों-अनुगूंजों में, गांव के कंठ से फूटते लोकराग में। कविता में अकेले संवाद होता है- एक प्रकार का आत्मसंवाद। कहानी में पात्र संवाद करते हैं। सीधा संवाद तो निबंध में होता है। जन से संवाद, प्रकृति से संवाद, समय से संवाद, लोक से संवाद, अंधकार और आलोक से संवाद।

अग्रज निबंधकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस रम्य विधा को नाम दिया, ललित निबंध। पंडितजी ने कहा, व्यक्तिव्यंजक निबंध। ललित और व्यक्तिव्यंजक निबंध में अंतर, 'नाम का ही नहीं, अंतर मनोभाव और शैली का भी है। ललित निबंध में मोहकता स्मृतियों के ताने-बाने से उतनी नहीं आती, जितनी आती है शब्दों की चित्रमयता से और भावों की सरसता से, आरोही-अवरोही सरसता से, जबकि व्यक्ति व्यंजक निबंध में स्मृतियों का ताना-बाना विशेष महत्व रखता है और

ये स्मृतियां अपनी होती हुई भी दूसरों में घुले हुए अपनेपन की होती हैं। यही नहीं व्यक्तिव्यंजक निबंध में भाव विचारमय होने के लिए प्रस्तुत होते हैं और शब्द आत्मीय संवाद स्थापित करने के लिए' (कृष्णबिहारी मिश्र से संवाद) उनके निबंधों में 'व्यक्ति व्यंग्य नहीं है, व्यंजक है।' व्यंजक है उनकी समस्त संकल्पशील महाजाति का। व्यक्ति के रूप में तो वह बस टूटे दर्पण के कांच का टुकड़ा है।

पुष्पिता ने बहुत व्यवस्थित ढंग से संवाद किया है और पंडितजी के सृजन लोक, विचार-लोक, अनुभव-लोक और स्मृति लोक के ताले खोलने की कोशिश की है। भारतीयता क्या है? पंडितजी कहते हैं; 'भारतीयता, भारतीय का स्वभाव है।... विशाल अस्तिभव और उसमें गहरा विश्वास।' आजकल भारतीयता की खोज में एक व्याकुलता दीख रही है। पंडितजी विदेशों में रहे, वहां के विश्वविख्यात बुद्धिजीवियों से संवाद किया और इस बौद्धिक व्याकुलता का अनुभव किया। बौद्धिकता के नाम पर जो व्याख्या होती है वह प्रायः भाव की उपेक्षा होती है। वे विदेश में भारत विचारक की नहीं भारत भावित की भूमिका में रहे हैं। भारत भावित व्यक्ति दूसरों के भावों की उपेक्षा नहीं करता, उन भावों में घुलता नहीं, उनसे टकराता भी नहीं है, पर उसमें मिलन-बिंदु तलाशता है, इस तलाश में जो सुख मिला है, पंडितजी के लिए वही भारतीयता की अनुभूति है।

धर्म और संस्कृति पर पंडितजी ने बहुत विमर्श दिया है। भारतीय संस्कृति और जनजीवन में धर्म एक ऐसे सांस्कृतिक प्रत्यय के रूप में आता है जो हमारे अवचेतन में बहुत गहरे अनुभूति है। पंडितजी मानते हैं कि संस्कृति में जो अवधारणाएं हैं, उनके अतिरिक्त धर्म में कुछ और भी आता है। धर्म पर पड़े सहज स्वभाव का आवरण भी है और आवरण का अनावरण भी है। धर्म कारक है, क्रिया भी है। संस्कृति केवल क्रिया है। लेकिन सकर्मक क्रिया है। धर्म सकर्मक भी है, अकर्मक भी है।' धर्म उनके यहां व्यापक अर्थ में गृहीत है। 'वह न कोई विश्वास है, न एक निश्चित आचरण संहिता, वह दोनों को अर्थ प्रदान करने वाला स्वभाव सिद्ध व्यापार है।'

पंडितजी की खान-पान संबंधी कट्टरता को लेकर बहुत आलोचना होती थी। इसी कारण एक बड़ा वर्ग उनका प्रबल विरोधी हो गया था और उन्हें 'दोषी पंडित' मानता था। पुष्पिता ने एक प्रश्न किया कि क्या एक सहिष्णु, धर्मप्रवण भारतीय मन से, वैचारिक छुआछूत, सांप्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता की कोई संगत बैठती है?

पंडितजी ने उत्तर दिया कि, 'मैं अपने आचार-विचार में भरसक कोशिश करता हूं, जिसका निर्वाह मेरे बाप-दादों ने किया, उसका पालन मैं करूंगा। लेकिन यह कट्टरता को दरकिनार करके मेरे संबंध, मेरे आचार से, अत्यंत भिन्न मुझसे बिलकुल अलग जीवन-शैली अपनाने वाले लोग हैं, और रहेंगे। मनुष्य से या किसी दूसरे जीव से संबंध कुछ भी जोड़ेंगे और अपने को आरोपित करेंगे तो संबंध टूट जाएंगे। कोई न टूटे, केवल जुड़ना हो, यही मेरा उद्देश्य है। यही कट्टर आचार से उद्भूत है जो निरंतर सर्वात्मा का स्मरण करता है और उसी को सब कुछ सौंपना चाहता है उसी को पाना चाहता है।'

भारत में आजकल सांप्रदायिकता की चर्चा कुछ ज्यादा होने लगी है। 'धर्मनिरपेक्ष' और 'सांप्रदायिक' में पूरा देश बंट गया है। साहित्य, राजनति, समाज सबमें बंटवारे की कोशिशें हो रही हैं। हालांकि इन शब्दों का प्रयोग करने वाले लोग इनका मूल अर्थ भी नहीं जानते। क्या कोई धर्म से निरपेक्ष हो सकता है? मनुष्य के धर्म से? सर्वभूत हित मैत्री में रहने वाला, जाने वाला व्यक्ति

धार्मिक होता है। महाभारत में युधिष्ठिर धर्म की परिभाषा देते हैं- 'सौंपी हुई धरोहर' और 'अच्छी तरह सौंपी हुई धरोहर'। विचार में, दर्शन में संप्रदाय होते हैं। आचार्यों के संप्रदाय होते हैं, कला के संप्रदाय होते हैं। अंग्रेजी में इसी अर्थ में 'स्कूल' शब्द का प्रयोग होता है। आज संप्रदाय का अर्थ अवश्यंभावी विरोधी समुदाय हो गया है और तभी से सांप्रदायिकता का अर्थ भी विकृत हो गया है। 'पहले संप्रदाय का अर्थ था अमुक प्रकार की आचार्य परंपरा में रहने वाले लोग, जिनके आचरण में अपना वैशिष्ट्य था। पर वे दूसरे संप्रदाय के विरोधी नहीं थे। स्पष्ट रूप से कहते थे कि हमारे यहां चलता आया है कि आपके यहां यह चलता आया है।' अर्थ-भेद के बाद आज सांप्रदायिकता न कहकर उसे परस्पर द्वेष-भाव या परस्पर आशंका भाव कहना चाहिए। इसमें बराबरी में भी अधिक बराबरी की आवाज उठाकर और संग्रह के लोभ की भूमिका है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'मिथ के लिए हिंदी में शब्द बनाया था 'मिथक'। आधुनिक समीक्षा में इसका सबसे अधिक उपयोग और दुरुपयोग होने लगा। यह असत्य, सार्वजनिक भ्रांति, रहस्यवादी, स्वप्नकथा, आदिम विद्या का या किसी भी प्रकार की अचेतन धारणा का वाचक बन गया। पंडितजी ने एक आदिम अवस्था को पार किया था। धर्म के इस विकासात्मक रूप को मिथकों से न केवल गहरा संबंध था बल्कि काफी दूर तक दोनों ने अपनी विकास-यात्रा एक साथ मिलकर पूरी की है। पंडितजी का मानना है कि 'किसी अदृश्य दैनिक सत्ता के प्रति विश्वास भावना को यदि धर्म की व्यापक परिभाषा स्वीकार कर की जाए तो आदिम मनुष्य द्वारा रचित ये मिथक धर्म के सहयोगी तत्व माने जा सकते हैं।'

मिथक को सामान्यतः इतिहास का विरोधी मान लिया जाता है। मिथकों का जन्म ऐतिहासिक काल में होता है जबकि मिथकों का संबंध मिथकीय समय से है। लेकिन मिथक हमारे इतिहास की धारणा से दूर नहीं हैं। 'वर्तमान समय में प्रयुक्त इतिहास जब देश और काल से अलग कर दिया जाता है तब वह मिथक बन जाता है क्योंकि मिथक सनातन होता है और वह देश और काल से बंधा नहीं रहता' प्रतीक, बिंब, फैंटेसी और मिथक की पहचान अलग-अलग होती है।

'प्रतीक में, संस्कृति विशेष में एक विशेष भाव या विशेष आकार के लिए संकेत रचा जाता है और इसे सर्व-स्वीकृति मिलती है। मिथक एक वृहद नियंत्रक बिंब है जो सामान्य जीव से तथ्यों को दार्शनिक अर्थ प्रदान करता है। मिथक पूर्ण अधिकार के साथ-प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत वृत्त वर्णन है। जहां तक फैंटेसी का संबंध है वह उत्प्रेक्षा ही है। बिंब जब दो का साहचर्य होता है तब एक का वर्णन करने पर दूसरे का सहज स्मरण होता है।'

पंडितजी भारतीय संस्कृति के व्याख्याता थे। वह कहते थे भारतीय संस्कृति मठों, मंदिरों, संग्रहालयों, धर्मध्वजों की बड़ी-बड़ी दुकानों में नहीं मिलेगी, तो एक आभास के रूप में। वह पोथियों में भी पूरी तरह से नहीं मिलेगी क्योंकि उन पोथियों का अर्थ खुलेगा ही नहीं, जब तक उसे जीवन में जीने का अभ्यास न करेंगे। और अभ्यास जब तक नहीं है तो उस संस्कृति को तलाशना होगा। भारतीय संस्कृति की मूल शक्ति उसकी सर्वमयता में है।

भारतीयता किसी से कुछ छीनती नहीं, किसी से कुछ वसूलती नहीं, बस सुवास की तरह छा जाती है, जो उसमें एक बार शामिल हो जाता है। शामिल होने की और शर्त नहीं, सिवाय इसके कि जिस देश के पंचमहाभूतों के साथ संपर्क होता है उस देश की रमणीयता और उदारता, दूसरों

के लिए आतिथ्य में बिछ जाने की विनम्रता और दूसरों को प्रिय लगने के लिए सह मधुरता आ जाती है। वह अनेकांत नहीं हैं, न ही वह एकांत है। संस्कृति विभिन्न प्रकार के स्वभावों के लोगों को आपस में मिलने-जुलने के विचारों के लेन-देन से रचनात्मक क्रियाओं के तनाव की एक सतत प्रक्रिया है, जो तोड़ती-जोड़ती, एक दबाव के रूप में बराबर दिखाई देती है। उसकी एकता स्थिरता से नहीं पहचानी जाती, गतिशीलता में पहचानी जाती है।

वे अपने साहित्य के द्वारा संवाद करते हैं और इस 'बतकही' के द्वारा भी। साहित्य क्यों निर्विकल्प है? इसलिए कि संवाद का कोई विकल्प नहीं है। संवाद स्थापित करने वाली भाषा का विकल्प नहीं है, परिणामस्वरूप संवाद की उत्सुकता और उत्कंठा का कोई विकल्प नहीं है।

बहुवचन का एक और विशेषांक

बहुवचन का अगला अंक प्रेमचंद साहित्य के समर्पित अध्येता-शोधकर्ता एवं प्रेमचंद विशेषज्ञ के रूप में विख्यात डॉ. कमल किशोर गोयनका के शोधपरक अवदान पर केंद्रित होगा। अंक के अतिथि संपादक सुप्रसिद्ध भाषा विज्ञानी एवं केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के निदेशक प्रो. नंद किशोर पाण्डेय होंगे।

विशेषांक के लिए लेखकों से डॉ. गोयनका के योगदान को रेखांकित करने वाले संस्मरण उनके द्वारा संपादित पुस्तकों पर आलोचनात्मक लेख, साक्षात्कार एवं अन्य सामग्री आमंत्रित है।

अंक से संबंधित सामग्री भेजने का पता-

प्रो. नंद किशोर पाण्डेय
निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान
हिंदी संस्थान मार्ग
आगरा- 282005 (उ.प्र.)

अथवा-

संपादक बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)
मो. संपादक- 7888048765, 09422386554,
ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

जंगल पुत्रों की माँ

कृपाशंकर चौबे

बांग्ला की किंवदंती लेखिका महाश्वेता देवी का तीन दशकों तक स्नेहभाजन रहने का गौरव मुझे मिला। कोलकाता में प्रायः हर हफ्ते मैं उनके घर पर जाता। उनके साथ पुरुलिया, सिंगुर, नंदीग्राम, भुवनेश्वर, भोपाल, दिल्ली से लेकर वर्धा तक की मैंने यात्राएं भी कीं। उन यात्राओं की कई स्मृतियां हैं। ऐसी कोई स्मृति नहीं है जिसमें वे टेबुल पर बैठकर लिखती नहीं मिली हों। यात्रा पर रहें अथवा घर पर। लिखे बगैर वे रह नहीं पाती थीं। लिखने को बहुत कुछ उनके पास होता था। घर पर भी वे लैंप जलाकर टेबुल पर अक्सर लिखते हुए ही मिलतीं। तीन सौ से ज्यादा किताबों की एकांत स्रष्टा महाश्वेता देवी जो भी लिखतीं, उसकी कार्बन कापी बनाती जातीं और उसे अलग-अलग फाइलों में रखती जातीं। कहानी अलग फाइल में, उपन्यास अलग फाइल में, लेख अलग फाइल में, चिट्ठियों की कार्बन कापी अलग फाइल में। इस तरह की कई कई फाइलें घर में रखी थीं। उनमें से एक फाइल उन्होंने पहली बार मुझे 1989 में दिखाई। पश्चिम बंगाल के गृह सचिव को आदिवासियों के अत्याचार के संबंध में उन्होंने 24-06-1989 को छह पृष्ठों की चिट्ठी लिखी थी। आदिवासियों के सवाल पर अधिकारियों, मंत्रियों को पत्र लिखने का क्रम महाश्वेता देवी ने मृत्यु पर्यंत जारी रखा।

मैंने आदिवासियों के लिए महाश्वेता को झोली फैलाते हुए भी देखा। बांग्ला भाषा के लगभग सारे लेखक ठीक दो दशक पहले 1997 में जब विभिन्न पत्र पत्रिकाओं के पूजा विशेषांकों के लिए रचनाएं लिखने में व्यस्त थे, तो महाश्वेता देवी शबर आदिवासियों के लिए चावल, दाल और कपड़े जुटाने के लिए दिन-रात एक किए हुए थीं। लिखना प्रायः ठप था। चौबीसों घंटे उनके दिमाग में सिर्फ शबर मेला था। 1997 के सितंबर-अक्टूबर के दौरान महाश्वेता देवी से जो भी मिलता, उससे कहतीं, 'आठ-नौ नवंबर 1997 को पुरुलिया जिले के राजनवगढ़ में शबर मेला है। उस महान मेले में आने वाले शबर आदिवासियों के खाने-पीने की व्यवस्था करनी है। कपड़े भी चाहिए। आप यथा सामर्थ्य मदद कीजिए।' जब भी शबर मेला होता तो उसकी पूरी व्यवस्था संभालने का जिम्मा वे अपने ऊपर ले लेतीं। उसी के बहाने पुरुलिया के सभी 15 हजार खेड़िया शबर आदिवासी इकट्ठा होते। क्या बच्चे, क्या बूढ़े, क्या जवान, क्या पुरुष और क्या स्त्री। सभी की आत्मीय भागीदारी मेले में होती। उनके भोजन वगैरह की मुफ्त व्यवस्था मेले की आयोजक पश्चिम बंग खेड़िया शबर कल्याण समिति करती थी। महाश्वेता देवी उस समिति की कार्यकारी अध्यक्ष थीं। पुरुलिया में तो मेले के संयोजकगण ट्रकों में सामग्री प्राप्त कर लेते थे, उन्हें क्या पता महाश्वेता उसके पीछे कितना खटती थीं। उसके

लिए वे पत्र-पत्रिकाओं में अपील जारी करती थीं। सहयोग मांगने पर महाश्वेता को कभी निराश नहीं होना पड़ा। 1997 के शबर मेले के लिए सहयोग मांगने वे कोलकाता के जगबंधु स्कूल गईं। वहां छात्रों ने आपस में चंदा इकट्ठा कर उन्हें एक हजार एक रुपए दिए। छोटे बच्चों ने तो अवाक कर दिया। प्लास्टिक, पोलिथीन के कई-कई पैकेटों में थोड़ा-थोड़ा चावल-दाल इकट्ठा कर दो क्विंटल खाद्य सामग्री और कपड़े उन्होंने दिए। जगबंधु स्कूल से आई सामग्री जब महाश्वेता देवी खोलने लगीं तो सैकड़ों पैकेट। हुगली के उत्तरपाड़ा कालीबाटी मूक बधिर छात्रों ने भी एक सौ रुपए महाश्वेता को दिए। एपीजे स्कूल के छात्र तो परेड करते हुए महाश्वेता के घर आए और आपस में एकत्र किए साबुन, व्यवहार योग्य कपड़े, जूते और दवाइयां दीं। कोलकाता के कई अन्य स्कूल-कालेजों के छात्र भी आए और आपस में संग्रह की हुई सामग्री श्रद्धापूर्वक महाश्वेता को दान की। सभी के मन में एक अच्छे काम में सहयोग करने का आनंद था। एफ.एम. चैनल पर डॉक्टर धरनीधर घोष ने जब बताया कि खेड़िया शबर आदिवासियों के लिए महाश्वेता देवी ने व्यवहार योग्य कपड़े दान करने की लोगों से अपील की है तो सुबह छह बजे से रात दस बजे तक महाश्वेता देवी के कोलकाता के बालीगंज स्टेशन रोड स्थित आवास पर कपड़े आने शुरू हुए तो आते ही रहे। विभिन्न पूजा मंडपों से भी सामग्री आई। जो भी लोग सामग्री लेकर आते, उन्हीं के सहयोग से महाश्वेता बोरे में सामग्री को अलग-अलग भरवाकर रखवातीं। चावल अलग बोरे में, दाल अलग बोरे में। बच्चों के कपड़े अलग बोरे में, महिलाओं के अलग और पुरुषों के कपड़े अलग बोरे में। बोरे भरकर वे सिलवातीं। फिर उस पर इस तरह लिखा जाता- बच्चों के कपड़े-शबर मेला-1997। शबर मेले के पांच रोज पहले पुरुलिया के कुछ शबर आए। ट्रक आया। महाश्वेता का घर जो गोदाम बन गया था, वह हल्का होने लगा। बोरे लादे गए ट्रकों पर। सारा सामान पुरुलिया चला गया। मेले में दो दिन रह गये तो महाश्वेता भी गईं। मैं, अरविंद चतुर्वेद भी मेला शुरू होने के एक दिन पहले ही वहां पहुंच गए। महाश्वेता देवी के भाई-बहन, पुत्र-पुत्रवधू, पौत्र भी वहां पहुंचे थे। मेले के लिए पुरुलिया के राजनवगढ़ में एक विशाल शामियाना बना था जिसमें मेला शुरू हुआ। बगल में शबर शिल्प मेला भी लगा था। उसमें खजूर के पत्ते, कांसी घास, पत्थर, लकड़ी से बनी दैनिक उपयोग और सजावट की चीजें सजी थीं जो शबर आदिवासियों के उन्नत हस्तशिल्प की साक्ष्य थीं। मेले के प्रवेशद्वार में शबरों की हर सांस्कृतिक टीम नाचते-गाते प्रवेश कर रही थी। समापन के समय भी उन्होंने नाचते- गाते ही मेले से विदा ली। दस नवंबर को तड़के शबर आदिवासियों के सामूहिक नृत्य-गीत-संगीत से मेले का समापन हुआ। सभी उम्र के शबर आदिवासी एक संग नाच-गा रहे थे। उसके सारे वाद्य भी एक साथ बज रहे थे। उनमें प्रकृति की समूची आवाजें अपने मूल स्वरूप और आदिम राग के साथ मौजूद थीं। सहस्त्रों वर्षों से शबरों के गीत-नृत्य-संगीत की नैसर्गिक मुद्रा जस की तस है। हर काल-परिस्थिति में शबर आदिवासियों ने अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण रखा है। पराधीनता में भी। स्वाधीनता में भी। शोषण-दोहन-उत्पीड़न में भी। दुःख और संताप में भी। मेले के समापन के वक्त शबरों के साथ महाश्वेता भी मुक्त होकर आनंदपूर्वक नृत्य कर रही थीं। उनका मुक्त नृत्य प्रमाण था कि शबर आदिवासियों के साथ उनका जुड़ाव कितना गहरा था। शबर आदिवासियों के बीच महाश्वेता उन्हीं जैसा रहती थीं। उनके साथ रहते हुए जो वे खाते-पीते, वही खाती-पीतीं। वहां महाश्वेता टूथपेस्ट से नहीं, चाक से मंजन करती थीं। नहाते वक्त सिर में साबुन या शैंपू नहीं, मिट्टी लगाती थीं। ताल में नहाती थीं और तौलिए का

नहीं, गमछे का इस्तेमाल करती थीं जैसा कि शबर आदिवासी करते हैं।

आदिवासियों की कोई समस्या महाश्वेता की कई रातों की नींद उड़ा ले जाती थी। एक बार उनसे मिलने नामवर सिंह समेत हिंदी के कुछ लेखक उनके घर आए। उनसे वे बात कर रही थीं कि कुछ आदिवासी अपनी समस्या लेकर आए। महाश्वेता दी हिंदी लेखकों को छोड़कर आदिवासियों की समस्या सुनने चली गई। इसका यह आशय नहीं कि हिंदी या हिंदी लेखकों के प्रति उनके हृदय में कम स्नेह था। वे हिंदी की इतनी बड़ी समर्थक थीं कि अकसर कहतीं कि हिंदी में छपकर ही वे भारतीय लेखिका हुईं। 'जनसत्ता' में जब राहुल देव संपादक बने और अच्युतानंद मिश्र वरिष्ठ संपादक तो उन्होंने मुझसे 'जनसत्ता' के लिए महाश्वेता देवी को स्तंभ लिखने के लिए राजी होने को कहा। उस समय मैं 'जनसत्ता' के कोलकाता संस्करण में काम करता था। महाश्वेताजी कई वर्षों तक 'मैं जो देखती हूँ' कालम 'जनसत्ता' में लिखती रहीं। बाद में मैं कोलकाता में 'हिंदुस्तान' का जब विशेष संवाददाता बना तो अरुण कुमार त्रिपाठी और अखबार की संपादक मृणाल पांडे ने इच्छा जाहिर की कि महाश्वेता देवी को हर हफ्ते अखबार के लिए कालम लिखने के लिए मैं राजी करवाऊँ। मैंने महाश्वेता दी से कहा और वे तैयार हो गईं। वे मूलतः बांग्ला में लिखती थीं। अनुवाद का जिम्मा मुझ पर था। 'हिंदुस्तान' में दीदी के स्तंभ 'परख' से अखबार की प्रतिष्ठा बढ़ी थी। हिंदी साहित्य के प्रति उनका वह स्नेह ही था कि कोलकाता में आयोजित नामवर सिंह के अमृत महोत्सव समारोह में महाश्वेता देवी ने गाना गाया था। हिंदी लेखकों से वे पत्र व्यवहार भी करती थीं। भोपाल में महाश्वेता दी एक व्याख्यान देने गई थीं। उनके साथ मैं भी था। कमला प्रसाद, भगवत रावत, राजेश जोशी, सुदीप बनर्जी, चंद्रकांत देवताले और हबीब तनवीर के साथ खूब अड्डा जमता। भोपाल में चंद्रकांत देवताले महाश्वेता देवी को रोज सुबह एक फूल देते थे। भोपाल की तीन दिन की यात्रा के बाद कोलकाता लौटकर उन्होंने चंद्रकांत देवताले को पत्र लिखा: डियर देवताले, दिस मार्निंग नो फ्लावर। महाश्वेता बहुत आत्मीय थीं। अपने घर नामवर व अन्य हिंदी लेखकों को छोड़कर वे आदिवासियों से मिलने सिर्फ इसलिए गईं क्योंकि उन्हें लगा कि लेखकों से मुलाकात से अधिक जरूरी घर आए आदिवासियों की समस्या सुनना है। वे किसी समस्या को कल पर नहीं छोड़ती थीं। तुरंत फोन करतीं या पत्र लिखतीं। आदिवासियों के बीच उन्होंने 1965 में काम शुरू किया था और मृत्यु पर्यंत उनके कल्याण के लिए संघर्षरत रहीं। उनकी लड़ाई मैकलुस्कीगंज से आरंभ हुई थी। 1965 से 1975 तक हर वर्ष दो-तीन बार वे मैकलुस्कीगंज जाती थीं। महाश्वेता आदिवासियों की पीड़ा देखतीं तो उनके जंग में शामिल हो जातीं। 1981 में रामेश्वरम और दूसरे साथियों के साथ मिलकर पलामू के सेमरा गांव में बंधुआ मजदूरों को मुक्त कराने के लिए महाश्वेता ने बंधुआ मुक्ति समिति बनाई थी। मजदूरों का उसी वर्ष सम्मेलन आयोजित किया था। समिति ने तभी से काम शुरू किया। एक बार मैंने महाश्वेता दी से पूछा-पलामू में आप लोग कैसे काम करते थे? उनका जवाब था: समिति के कार्यकर्ता घूम-घूमकर बंधुआ मजदूरों से मिलते। समिति की तरफ से हजार से ज्यादा मुकदमे किए गए।

1983 में पलामू के शिवाजी मैदान में राष्ट्रीय मैदान में राष्ट्रीय बंधुआ संघर्ष मोर्चा के अध्यक्ष स्वामी अग्निवेश की मौजूदगी में विराट सम्मेलन हुआ था। हमने जुलूस भी निकाला था। अप्रैल 1984 में पलामू के पनेरी बांध गांव में बंधुआ मजदूरों की चौपाल में भी मैं शरीक हुई थी। जब भी मैं उनके

बीच जाती हूँ तो पाती हूँ कि चारों तरफ आधुनिक हिंदुस्तान है और बीच में मध्ययुगीन पलामू, जहाँ आदिवासियों पर अकथ्य अत्याचार होते हैं। बाप का कर्ज चुकाने के लिए बच्चों के श्रमदान की परंपरा क्यों जारी है? आजाद भारत में आदिवासी बच्चों की किस्मत में बंधुआ मजदूरी कब तक लिखी जाती रहेगी? आदिवासियों के पास जमीन क्यों नहीं है? जमीन नहीं होने पर चूल्हा कैसे जले-इसीलिए तो वे अपने बच्चों को बाबुओं के यहां मजदूरी के लिए भेजते हैं। आदिवासी अंचलों के अमानुषिक शोषण का प्रत्यक्ष अनुभव करने के बाद भी सभ्य समाज को लज्जा क्यों नहीं आती? लज्जा नहीं आती, तभी तो पलामू आज भी मध्ययुग में जी रहा है। महाश्वेता ने कहा: अत्याचार के मामले में बिहार के पलामू और बंगाल के पुरुलिया में कोई अंतर नहीं है। 1973 से ही पुरुलिया के शबर आदिवासियों के बीच काम कर रही हूँ स्वास्थ्य कारणों से पुरुलिया के शबरों के बीच स्थिर हो जाने के कारण पलामू आना-जाना कम हुआ। डाल्टनगंज के कर्तव्य अधिकार मंच के न्यौते पर मैंने 1999 में चार दिनों की पलामू यात्रा की थी। उसके पहले 1984 के अप्रैल में पलामू गई थी। 1999 में भी मुझे पलामू की दशा थोड़ी भी सुधरी नहीं दिखी। इससे मेरा मन विषाद से भर गया। गुजरात में आदिवासियों के लिए जब गणेश देवी या महाराष्ट्र में लक्ष्मण गायकवाड आगे जाते हैं तो उन दो प्रदेशों का प्रशासन भी सक्रिय हो जाता है, काम करता है। लेकिन झारखंड और बंगाल में तो अंधेरगर्दी की हद है। इन विषम परिस्थितियों के बावजूद साहित्य, संस्कृति, ज्ञान और संवेदना के मामले में आदिवासी आज भी बहुत समृद्ध हैं। संस्कृति असीम होती है। आकाश की तरह संस्कृति का भी कोई ओर-छोर नहीं होता। इस यात्रा में शिवाजी मैदान में बिरसा मुंडा के नाटक का मंचन पलामू की इष्टा ने किया। मन भर गया। मुझे याद आया सन् तिरासी जब शिवाजी मैदान के ही टाउन हॉल में पलामू की बोली मगही में बंधुआ जीवन पर आधारित नाटक दुर्जन सिंह हाय-हाय का मंचन हुआ था। तब भी मेरा मन भर आया था। सामने के सारे दर्शक नाटक के हिस्सेदार हो गए थे- इतना प्रभावशाली मंचन था।

एक बार मैंने महाश्वेता दी से पलामू के कुछ यादगार किस्से सुनाने का आग्रह किया तो उन्होंने कहा: एक बार आदिवासियों के यहां भोजन करने बैठी थी तो पत्तल पर सिर्फ भात परोसा गया। मैंने नमक मांगी तो एक अधेड़ आदिवासी ने जवाब दिया: नमक नहीं है। मैंने पूछा कि किससे सानकर खाऊँ? उसने जवाब दिया: भूख से सानकर इसे खा लो मां। उससे बड़ी बात मैंने आज तक नहीं सुनी। महाश्वेता ने कहा: पलामू की एक तारीख मुझे कभी नहीं भूलती। 01 मई, 1981। हम लोग कभी पैदल, तो कभी किसी सवारी से चौनपुर ब्लॉक के सेमरा गांव पहुंचे थे। सेमरा गांव काफी प्रसिद्ध है। पांडे लोग सेमरा में ही रहते हैं और उनके बंधुआ लोग रहते हैं- दूर के छोटे-मोटे टीलों पर बसी टोलियों में। इसी तरह की एक टोली में बंधुआ-समिति का जन्म हुआ था। करीब 400 बंधुआ लोग सम्मेलन में आए थे। यह असीम साहस का काम था। बंधुआ मजदूरों के वर्तमान और पहले के मालिक लोग काफी समर्थ हैं। किसी-किसी ग्राम सभा के सरपंच या मुखिया भी वे हैं। यह एक अद्भुत बात है और आश्चर्य की बात है कि बंधुआ कल्याण के जितने भी सरकारी कार्यक्रम हैं, सब इन्हीं पांडे लोगों के हाथों में हैं। समिति गठित करने का उद्देश्य था कि बंधुआ खुद लड़ सकें। यह बात सर्वविदित थी कि इस तरह की समिति का मतलब, ऊंची जाति के मालिकों के साथ संबंध खराब करना है। फिर भी बंधुआ लोग आगे आए। एक बंधुआ ने कहा- 'अगर मर जाएं, तो क्या

जाता है? हम तो कीड़े- मकोड़े की तरह मर ही रहे हैं। फिर भी संतोष रहेगा कि हमारे नाती-पोते बंधुआ होकर नहीं मरेंगे।' उसने निश्चय ही बंधुआ शब्द का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि पलामू में बंधुआ मजदूरों को सेवकिया, कामिया, हरवाहा, चरवाहा कहा जाता है, जिन्हें सबसे ज्यादा मेहनत के काम करने पड़ते हैं। 'बंधुआ' शब्द का अर्थ है 'बांडेड' या 'बंधा हुआ'। समिति ने 1981 से ही काम शुरू कर दिया। मंगल भुईयां, बिरजू, चेतन और मुंडा ने बंधुआओं से भेंट की और बातचीत की। बलराम तिवारी नामक एक तरुण वकील ने बंधुआओं की तरफ से सवाल किए। मालिक के खिलाफ ये सब मुकदमे बहुत दिनों से मजिस्ट्रेट की मेज पर दबे पड़े थे। बलराम के अनुसार ऐसे मुकदमों की संख्या हजार से भी ज्यादा है। समिति ने कितना काम किया है, इसका सबूत मुकदमों की यह संख्या है। जिन बंधुआओं ने भयानक अत्याचार के बावजूद, मीलों पैदल चल कर, डाल्टनगंज में मालिकों के खिलाफ मुकदमे दायर किए, उन्हें सलाम। राष्ट्रीय बंधुआ संघर्ष मोर्चा के सभापति स्वामी अग्निवेश और अल्मोड़ा के 'जंगल के दावेदार' पत्रिका के संपादक पी.सी. तिवारी 30 अप्रैल 1983 की रात ही पहुंच गए थे। पहली मई को भोर से ही बंधुआ लोग आने लगे, चौपाल का आयोजन शिवाजी मैदान में स्थित टाउन हॉल में हुआ। हॉल महात्मा गांधी को समर्पित है। और शायद पहली बार गांधीजी के हरिजनों ने उस हॉल में कदम रखने का सौभाग्य प्राप्त किया था। 10 बजते-बजते करीब 2000 बंधुआ वहां उपस्थित हो गए- स्त्री-पुरुष और बच्चे, सत्तू और नमक की पोटलियां बांधे। सम्मेलन शुरू हुआ। बंधुआ लोगों के प्रतिनिधि मंच पर बैठे। उनमें से ही कुछ ने सम्मेलन का संचालन किया। बंधुआ लोग एक के बाद एक मंच पर आए और मंच पर आकर उन्होंने अकथ्य अत्याचार की कहानियां सुनाईं। विशेष रूचि से महिलाओं की बातें सुनी गईं। पाथाल गरवा की तेतरी भुइयां ने एक बार चमरू साहू से 10 रुपये उधार लिए थे। अब 10 बरस से वह साहू के घर खट रही है। और साहू के हिसाब से अभी उधार चुका नहीं है। सेवकिया की व्यवस्था में सूद धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। आज के 10 रुपये कुछ ही सालों में हजार रुपये हो जाते हैं। चौपाल में भाग लेने के लिए मालिक ने तेतरी को पीटा है। फिर भी वह आई है। मंगरू ने चौनपुर धाने के कारसो गांव की कहानी सुनाई। वहां के मुखिया और सरपंच बंधुआओं के साथ खूब मनमानी कर रहे हैं। वहां के 22 बंधुआ मालिकों की धमकी के बावजूद चौपाल में आए हैं। इसके बाद बुजुर्ग मोहम्मद कासिम मंच पर आए। वह सोले गांव के रहने वाले हैं। जीवन में कभी मुंह खोलने का मौका नहीं मिला था। बहुत कोशिश करके, रुक-रुक कर उन्होंने कुछ बातें बताईं। जग्गासिंह से उनके बाप ने 10-15 रुपये कर्ज लिया था। 85 वर्ष तक सिंह के घर खट कर वे परलोक सिधारे। अब मोहम्मद उसके लड़के तारामणि के घर 32 वर्षों से काम कर रहे हैं। अभी भी कर्ज चुका नहीं है। सुना है, तारामणि सिंह विद्वान आदमी हैं। लाइब्रेरी की पुस्तकों के बीच ही बैठे रहते हैं। उनका बेटा पीतांबर ही जमींदारी की देखभाल करता है। तारामणि के पास 32 बंधुआ हैं।

पलामू में एक विशेष प्रकार के बंधुआ हैं जिन्हें धरमारू कहते हैं। इन्हें मालिक कोई कर्ज नहीं देता, सिर्फ ताकत के बल पर जोर जबर्दस्ती, किसी औरत या मर्द को मार पीटकर बंधुआ बना लेता है। भंडार गांव (थाना-विश्रामपुर) के पांडे लोग बड़े शक्तिशाली हैं। एक तो ब्राह्मण, दूसरे गांव के सरपंच। जैसे बदरी पांडे, इसी गांव के सचिता पांडे ने तेतरी भुइयां को बंधुआ बना रखा है। अमरेश पांडा का बंधुआ है विदेशी भुइयां। अमरेश ने विदेशी की जमीन पर भी अपना नाम चढ़वा रखा है।

आप सोच सकते हैं कि क्या मालिक लोग बंधुआ उन्मूलन कानून (1976) के बारे में कुछ नहीं जानते? पर वे बंधुआओं से कहते हैं- 'पैसे वापिस दो और घर जाओ।' मगर कितने पैसे? ननकू भुइयां की कहानी यों है- उसके पुरखों ने बदरी पांडे के पुरकों से 180 रुपये कर्ज लिया था, ननकू 30 वर्षों से बदरी के घर खटकर वह रुपए उतार रहा है। उसके बाप-दादा कितने वर्षों तक खटे थे, उसे पता नहीं। बदरी ने उससे कहा है- 400 रुपये दे दो तो तुम्हें छोड़ दूंगा। इस तरह की और भी कितनी ही कहानियां हैं। इनकी तालिका बनाई जाए तो मीलों लंबी होगी। 1976 के कानून पास होने के बाद भी पिछले सात वर्षों में कोई सौ लोग बंधुआ हुए हैं। क्या वास्तव में भारत सरकार सेवकिया और कामिया लोगों को मुक्त करना चाहती है? यदि सचमुच ऐसा है, तो वह कैसे यह काम करना चाहती है? मालिक का मतलब है ऊंची जाति के धनी लोग। क्या सरकार सचमुच उनको हाथ लगाना चाहती है? रास्ते में ऐसा एक भी पोस्टर तो नहीं देखा मैंने। रेडियो पर बंधुआ मुक्ति के संबंध में कोई कार्यक्रम हुआ था- ऐसा तो सुना नहीं। पलामू में बंधुआ मजदूर व्यवस्था इतनी नग्न है कि जो बंधुआ नहीं है, ऐसे गरीब किसान भी बंधुआ मजदूरों से घृणा करते हैं। कारण? कारण यह कि सेवकिया को कम से कम दिन में एक बार मालिक के घर नाश्ता मिलता है।

महाश्वेता देवी भाषा शोध और प्रकाशन केंद्र के न्यूते पर वेरियर एल्विन स्मृति व्याख्यान देने 14 मार्च 1998 को बड़ौदा गई थी। वहां से लौटकर इन पंक्तियों के लेखक को वहां का वृतांत सुनाया: वहां व्याख्यान का विषय था 'भारत में अपराधी आदिवासी'। अधिसूचित आदिवासियों के बीच मैं 1978 से ही काम कर रही हूं। इसीलिए व्याख्यान देने का न्यूता कबूल किया। यह भी सही है कि जन आदिवासियों को 1871 में ब्रिटिश सरकार ने अपराधी आदिवासियों के रूप में अधिसूचित किया और जिन्हें 1952 में भारत सरकार ने गैर अधिसूचित किया उन पर मैं अधिकारपूर्वक कुछ कह सकती हूं। पश्चिम बंगाल के लोधा शबर, खेड़िया शबर कभी अपराधी आदिवासी के रूप में अधिसूचित हुए थे, उसी कारण आज वे न्यूनतम मानवाधिकारों से वंचित हैं। पश्चिम बंगाल के आदिवासियों के साथ सरकारी सलूक देख मैं बहुत निराश हूं। राज्य सरकार शबर आदिवासियों को सम्मानपूर्वक जीने नहीं देती। पुलिस और राजनीतिक पार्टियां नहीं चाहती कि शबर जिंदा रहें। अपराधी आदिवासी अधिनियम के तहत एक जिले में जिस समूह को अपराधी आदिवासी घोषित किया गया, उसे पड़ोस के जिले में किंतु अपराधी नहीं घोषित किया गया। कहीं कहीं तो उन्हें जाति ही माना गया। पुरुलिया के खेड़िया शबर जन्मोपराधी हैं पर पास के सिंहभूम और रांची के शबर जन्मजात अपराधी आदिवासी नहीं हैं। 1952 में अपराधी आदिवासी अधिनियम को भारत सरकार ने 'डिनोटिफाइड' किया फिर भी आईपीएस के प्रशिक्षुओं से कहा जाता है कि वे इन्हें अपराधी आदिवासी ही मानें। इसीलिए बड़ौदा में मैंने कुछ सवाल उठाए। हमारी तरह जो भी सोचने वाले लोग हैं, सबने हमारी मांग का समर्थन किया। इस मांग को पूरा कर ही आदिवासियों के बारे में भारत की स्थाई रूप से बन गई विकृत छवि दूर होगी। बड़ौदा सम्मेलन में यह समवेत मांग हुई कि भारत सरकार बताए कि 1952 में 1871 के अधिनियम को कागज पर खत्म करने का कारण क्या था? और उसी अधिनियम को व्यवहार में जिंदा रखने का कारण क्या है? वह व्यवहार में जिंदा है तभी तो पुलिस को हिटलर की तरह शक्तियां प्राप्त हैं जिससे वह डिनोटिफाइड और नोमेडिक ट्राइब्स को मारती रहती है। बड़ौदा सम्मेलन ने इस बर्बर व्यवहार को फौरन खत्म करने और भारत में सभी

गैर अधिसूचित आदिवासियों की सभी मौतों और उनके लापता होने के मामलों की व्यापक जांच सुनिश्चित करने के लिए नया कानून बनाने की मांग की। आदिवासियों पर जुल्म ढाने के अपराध में पुलिस को यथोचित दंड देने की मांग भी की गई। इस तरह के मामलों की जांच के लिए राष्ट्रीय जांच आयोग बनाने की मांग भी हुई। ये मांगें पूरी नहीं हुईं तो क्या हम-आप अगली सदी में आदिवासियों की इसी दशा के साथ प्रवेश करेंगे? देश की सर्वोच्च अदालत के सामने यह अहम सवाल है। गैर अधिसूचित आदिवासी आपको एक जिम्मेदार भारतीय के रूप में अगली सदी में प्रवेश करने का अवसर दे रहे हैं? आदिवासियों के साथ न्याय कर ही हम जागरूक भारतीय होने का प्रमाण दे सकते हैं। भारत के विभिन्न हिस्सों में फैले गैर अधिसूचित आदिवासियों के कल्याण के लिए बड़ौदा में हमने एक संस्था बनाई डिनोटिफाइड एंड नोमेडिक ट्राइब्स राइट एक्शन ग्रुप (डीएनटी रैग)। इसमें मैं तो हूँ ही। मुंबई के लक्ष्मण गायकवाड, बड़ौदा के जीएन देवी और तुलसी बोदा भी हैं। डीएनटी रैग के बैनर तले महाश्वेता देवी, जीएन देवी और लक्ष्मण गायकवाड ने महाराष्ट्र और गुजरात का व्यापक दौरा किया। पहली बार इस संस्था ने डिनोटिफाइड ट्राइब्स का सवाल उठाया। उसी समय पुरुलिया के पुलिस हिरासत में बुधन शबर की हत्या हुई तो महाश्वेता देवी ने कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को एक पत्र लिखा। उस पत्र को अदालत ने याचिका मान लिया और बुधन की हत्या के लिए राज्य सरकार को फटकार लगाई और बुधन के परिजनों को मुआवजा देने का आदेश दिया। कब्र से बुधन की लाश निकालकर उसका फिर से पोस्टमार्टम किया गया। बुधन आदिवासी संग्राम का प्रतीक बन गया। बाद में डीएनटी रैग की पत्रिका का नाम 'बुधन' ही रखा गया।

सदियों से मुख्यधारा से बाहर धकेली गई आदिवासी अस्मिता के प्रश्न को अपने साहित्य में शिद्दत से उठानेवाली महाश्वेता देवी ने सड़क पर उतरकर उनके लिए संघर्ष भी किया और मैगसेसे, ज्ञानपीठ आदि से मिली पुरस्कारों की राशि पुरुलिया के आदिवासियों को दान कर दी। मैगसेसे पुरस्कार की राशि से पुरुलिया के खेड़िया इलाके में कई विकास कार्य हुए। उन कार्यों की देख-रेख पश्चिम बंगाल खेड़िया शबर कल्याण समिति करती थी। ज्ञानपीठ पुरस्कार की राशि भी पुरुलिया के खेड़िया शबर कल्याण समिति को देने का ऐलान उन्होंने किया था।

महाश्वेता ने 1980 में 'वर्तिका' पत्रिका का संपादन शुरू किया था। उसके पहले उनके पिता मनीष घटक उसे संपादित करते थे। पिता का 1979 में निधन हो गया तो महाश्वेता ने पत्रिका का चरित्र ही बदल डाला। 'वर्तिका' एक ऐसा मंच बन गया जिसमें छोटे किसान, खेत मजदूर, आदिवासी, कारखानों में काम करने वाले मजदूर, रिक्शा चालक अपनी समस्याओं और जीवन के बारे में लिखते। 'वर्तिका' में मेदिनीपुर के लोधा और पुरुलिया के खेड़िया शबर आदिवासियों ने बहुत कुछ लिखा। इसके जरिए आदिवासियों ने जीवन में पहली बार किसी प्रकाशन में लिखा। पहली लोधा स्नातक लड़की चुनी कोटाल ने भी 1982 में वर्तिका में लिखा था अपने जीवन संघर्ष के बारे में। इस तरह वर्तिका के जरिए महाश्वेता ने बांग्ला में वैकल्पिक साहित्यिक पत्रकारिता की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किए। महाश्वेता ने बंधुआ मजदूर, किसान, फैक्टरी मजदूर, ईंट भट्टा मजदूर, आदिवासियों को जमीन से बेदखल किए जाने और बंगाल के हरेक आदिवासी समुदाय पर वर्तिका के विशेष अंक निकाले। उन्होंने बांग्लादेश और अमेरिका के आदिवासियों पर भी विशेष अंक निकाले। 'वर्तिका' और महाश्वेता देवी ने कई लेखक पैदा किए। उदाहरण के लिए मनोरंजन व्यापारी

का नाम ले सकते हैं। वे पहले यादवपुर में रिक्शा खींचते थे। महाश्वेता देवी की प्रेरणा से वे लेखक बन गए। उनकी आत्मकथा 'इतिवृत्ते चांडाल जीवन' दो खंडों में छपी है। इसकी बांग्ला साहित्य जगत में यथेष्ट चर्चा हुई है।

महाश्वेता देवी लेखक के सक्रिय सामाजिक हस्तक्षेप में विश्वास करती थीं। जहां भी अनौचित्य दिखता, वे टोकतीं। पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य ने 2006 में टाटा मोटर्स को नैनो कार परियोजना के लिए सिंगुर की बहुफसली 997.11 एकड़ जमीन दे दी तो वहां के किसानों ने आंदोलन शुरू कर दिया। किसानों को सरकार पुलिस बल से दबाने लगी तो ममता बनर्जी ने आंदोलन आरंभ कर दिया। वे 26 दिनों तक अनशन पर बैठी रहीं। महाश्वेता भी चुप न रह सकीं। हम लोगों को साथ लेकर वे सिंगुर पहुंचीं और वहां रैली की। सिंगुर की तरह नंदीग्राम में भी 2007 में जमीन अधिग्रहण के विरोध में किसान आंदोलन शुरू हुआ तो वहां भी हम लोगों को साथ लेकर महाश्वेता पहुंची। एक बार नहीं, कई बार। वहां पुलिस फायरिंग में मरने वाले किसानों की याद में महाश्वेता ने डा. देवप्रिय मल्लिक के साथ मिलकर शहीद अस्पताल बनवाया। महाश्वेता दी ने बंगाल के बुद्धिजीवियों को साथ लेकर कोलकाता की सड़कों पर रैली निकाली। ममता बनर्जी के परिवर्तन के नारे का समर्थन किया। पश्चिम बंगाल में सत्ता परिवर्तन लाने में महाश्वेता दी की भूमिका को सभी स्वीकार करते हैं। बाद में मानवाधिकार संगठनों पर ममता सरकार द्वारा शिकंजा कसे जाने पर उन्होंने ममता का भी विरोध किया।

महाश्वेता देवी के जीवन के आखिरी वर्ष बहुत उथल-पुथल वाले रहे। इतने उथल-पुथलवाले कि उन्हें थाने की शरण लेनी पड़ी थी। महाश्वेता देवी ने उनतीस अक्टूबर 2014 को कोलकाता के यादवपुर थाने में जय भद्र नामक युवक के खिलाफ प्राथमिकी दायर कराई जिसमें लेखिका ने उस पर धोखाधड़ी का गंभीर आरोप लगाया था। प्राथमिकी दायर करने के चार दिन पहले पचीस अक्टूबर 2014 को महाश्वेता देवी ने चार पृष्ठों का बांग्ला में हस्तलिखित वक्तव्य इन पंक्तियों के लेखक को भेजा था। उसमें महाश्वेता देवी ने आरोप लगाया था, 'मेरे चाहने वाले राजडांगावाले फ्लैट में आते थे तो जयभद्र उन्हें मुझसे मिलने नहीं देता था। वह जिसे चाहता था, उसे ही मुझसे मिलने देता था। मुझसे मिलने देने या किसी कार्यक्रम में ले जाने के लिए वह आयोजकों से पैसे भी लेता था। मई 2010 से 18 अक्टूबर 2014 तक उसने मुझे अपने परिजनों, संबंधियों और पुराने परिचितों से काटे रखा। अपने लोगों से मुझे काटकर रखने का उसका उद्देश्य मेरी संपत्ति हड़पना था। इस नापाक मकसद में उसे कामयाबी भी मिली। मुझे उसने कोलकाता के राजडांगावाले फ्लैट में प्रायः बंदी बनाकर रखा था। उसने बीते कुछ वर्षों में मुझे गहरी नींद की दवाइयां खिलाकर बहुत सारे गलत काम मुझसे कराए।' कोलकाता के राजडांगावाली फ्लैट समेत जमीन सरकार को लौटाने का फैसला कर और पुत्रवधू तथा पौत्र के घर लौटकर 25 अक्टूबर 2014 को महाश्वेता देवी ने कहा था: अब मैं मुक्त हूँ कृपा। एक ही दुःख है, जब यहां आई तो बाप्पा नहीं है। बाप्पा यानी नवारुण भट्टाचार्य। महाश्वेता के एकलौते पुत्र। पुत्र के निधन के बाद वे टूट गई थीं। बाप्पा की तस्वीर देखते ही असहाय हो जाती थीं। जिनसे साहित्य समर्थ हुआ, उनकी वह असहाय अवस्था देखकर कोई भी विचलित हो जाता।



साहित्यिक कर्मठता का दीप्त प्रतीक

आरसु

राष्ट्रीय आंदोलन के जोशीले दिनों में उसके कर्णधार महात्मा गांधी ने राष्ट्र के सम्मुख एक रचनात्मक कार्यक्रम पेश किया था। उसमें 18 प्रविष्टियां थीं। धार्मिक मैत्री का प्रचार, हिंदी प्रचार, खादी प्रचार, अछूतोंद्वारा जैसे सामाजिक मंगल पर केंद्रित कई मुद्दे भी उनमें शामिल थे। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की गांधीजी की कामना प्रबल थी। इंदौर में आयोजित हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में (1918) गांधीजी ने अध्यक्षता की थी। उन्होंने अपने भाषण में हिंदी का अखिल भारतीय स्वरूप देने की अनिवार्यता पर बल दिया था। इस आह्वान को व्यापक समर्थन मिला था। गांधीजी का हौसला भी बढ़ा।

इसका एक सद्परिणाम निकला। मद्रास में उसी वर्ष में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना भी कर सके। आरंभिक सुविधाओं पर उनका ध्यान पड़ा। अध्यापकों की नियुक्ति मकान, पुस्तकों आदि के खर्च के लिए आवश्यक राशि उन्होंने सभा को दी थी। आरंभिक लागत के रूप में इसका इस्तेमाल किया था। पुत्र देवदास को दायित्व भी सौंपा था।

दक्षिण भारत के राज्यों में (केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक और आंध्र में) के लोगों हिंदी सीखने का अवसर यों मिला था। सभा की परीक्षाओं के विजेताओं के प्रमाणपत्र में उसके अध्यक्ष महात्मा गांधी का हस्ताक्षर था। वह उत्साह प्रेरणा और राष्ट्रीय चेतना का वातावरण था। गौरतलब है कि 2018 यह सभा का शताब्दी वर्ष है।

आरंभकालीन हिंदी प्रचारकों का दायित्व देशप्रेमी उदीयमान पीढ़ी को तैयार करना था। प्रचार के दौर में हिंदी सीखना और सिखाना ही मुख्य लक्ष्य था। अध्ययन और अध्यापन के सोपान तक पहुंचकर कुछ लोग संतुष्ट नहीं हुए। अभिव्यक्ति की कामना भी उनके मन में उठने लगी। उस धारा के प्रचारकों के शिष्यों ने अभिव्यक्ति के मार्ग भी तलाश लिए। कुछ शिष्य हिंदी प्रदेश जाकर हिंदी में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तुले हुए थे।

बनारस और सागर विश्वविद्यालयों के दरवाजे भी केरल के छात्र खखटाने लगे थे। ऐसे छात्रों की अग्रिम पंक्ति में स्थान प्राप्त एक युवक विश्वनाथ अय्यर (1920-2014) था। उत्सुक और उत्साही छात्र के रूप में अध्यापकों के मन में उनको विशिष्ट स्थान भी मिला। अय्यर के घर की भाषा तमिल थी। उच्च शिक्षा पहले उन्होंने संस्कृत में प्राप्त की थी। संस्कृत के अध्यापक के रूप में उन्हें नियुक्ति भी मिली। कोल्लम के श्रीनारायण कॉलेज में उन्होंने पहले काम किया। हिंदी में भी उच्च उपाधियां प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय उन्होंने किया। एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद उन्होंने शोध

के बारे में सोचा। वे आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के वत्सल शोध छात्र बन गए। हिंदी और मलयालम के आधुनिक काव्य का तुलनात्मक अध्ययन उनका विषय था। हिंदी प्रदेश में कदम रखते ही उनकी सोच और व्यवहार का क्षितिज विशाल बन गया। चंदन पेड़ से सटे खड़े आदमी के तन से चंदन की सुगंध निकलेगी। सागर पहुंचकर विश्वनाथ अय्यर की ज्ञानसंपदा बढ़ती रही। भाषा पर जबरदस्त अधिकार प्राप्त करने का मौका मिला। उसका उचित उपयोग भी वे कर सके।

जिला पालक्काड से स्कूली शिक्षा प्राप्त इस छात्र का कार्यक्षेत्र विशाल बन गया। केरल में हिंदी की उच्च शिक्षा के लिए मार्ग धीरे-धीरे सुगम बन गए। तिरुवनंतपुरम के यूनिवर्सिटी कॉलेज के हिंदी विभाग में विश्वनाथ अय्यर को प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति मिली। उस समय के वरिष्ठ प्राध्यापक चंद्रहासन के संपर्क में आने पर अधिकाधिक अवसर मिलने लगे। केरल विश्वविद्यालय का एक केंद्र कोच्ची में खोला गया। आरंभ में वह महाराजास कॉलेज के एक मकान में चलता था। वह हिंदी में स्नातकोत्तर अध्ययन का उषा काल था। अध्वसायी अध्यापक ही होनहार छात्रों को पैदा कर सकते हैं। उस समय के विद्यार्थियों की आपबीती में ऐसे कई प्रकरण आए हैं।

केरल को हिंदी की उपजाऊ भूमि बनाने के लिए अय्यर कटिबद्ध थे। हिंदी प्रदेश के प्रतिष्ठित लेखकों को केरल में निमंत्रित करके लाना बाएं हाथ का खेल नहीं है। इधर हिंदी का माहौल पैदा करना अय्यरजी का लक्ष्य था। हरिवंशराय बच्चन, दिनकर, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश जैसे दिग्गजों को वे ला सके। एरणाकुलम में एक शानदार संगोष्ठी चल रही थी। प्रथम ज्ञानपीठ पुरस्कार की घोषणा तब (1966) आई थी। पुरस्कार विजेता जी. शंकरकुरुप्प से सारे हिंदी साहित्यकार मिले। उनको बधाइयां मिलीं। डॉ. अय्यर ने इस प्रकार का एक भाषाई सद्भाव पैदा किया था।

1970 तक आते-आते कोच्ची विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस विश्वविद्यालय में हिंदी को भी जगह मिली। नवजात विश्वविद्यालय के प्रथम विभागाध्यक्ष के रूप में उन्होंने कई विराट योजनाएं बनाईं। अनुवाद प्रायोजनमूलक हिंदी, पत्रकारिता तुलनात्मक अध्ययन जैसे विषयों को भी हिंदी विभाग में अंगीकार मिला। प्रमुख साहित्यकार तथा अनुवादकों को अतिथि के रूप में निमंत्रित करके वे संगोष्ठियां तथा कार्यशालाओं का आयोजन कर सके। डॉ. रामन नायर, डॉ. रामचंद्र देव, डॉ. पी.वी. विजयन, डॉ. ईश्वरी उनके सहयोगी प्राध्यापक थे।

मैं 1972-1974 अध्ययन वर्ष में कालिकट विश्वविद्यालय में एम.ए. का विद्यार्थी था। हमारे दो वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ. मलिक मुहम्मद तथा डॉ. जी. गोपीनाथन थे। वे दोनों डॉ. अय्यर के पूर्व छात्र और पूर्व सहयोगी थे। हमारा विभाग सतत् सक्रिय था। डॉ. मलिक मुहम्मद एक कुशल आयोजक थे। दक्षिण भारत के हिंदी विभागों के कई आचार्य समय-समय पर हमारे विभाग में अतिथि के रूप में आए थे। डॉ. शंकर राजनायडु, डॉ. गणेशन (मद्रास), डॉ. सुंदर रेड्डी, डॉ. नरसिंहाचारी, डॉ. विजयपाल सिंह (आंध्र), डॉ. हिरणमय, डॉ. राजेश्वरय्या और डॉ. सरगु कृष्णमूर्ति (कर्नाटक) के हिंदी विभागों के वरिष्ठ प्रोफेसर थे उनके टक्कर के विद्वान के रूप में हम छात्रों ने डॉ. विश्वनाथ अय्यर को देखा था। हमारे पाठ्यक्रम में 'रामचंद्रिका' महाकाव्य निर्धारित था। केशवदास का मूल्यांकन रामचंद्र शुक्ल ने 'कठिन काव्य का प्रेत' के रूप में किया था। हम छात्र उस अभिमत से पूरे सहमत भी थे। डॉ. अय्यर ने एक बार व्याख्यान दिया। उन्होंने केशवदास को सहृदय कवि मानकर कई उदाहरण हमारे सामने पेश किए थे। डॉ. विजयपाल सिंह की राय भी इसके पक्ष में थी। हम छात्र असमंजस में पड़े। डॉ. अय्यर की विद्वत्ता का आरंभिक संकेत इस व्याख्यान से हम छात्रों

को मिला था।

1975 में कालिकट में भारतीय हिंदी परिषद का एक विराट अधिवेशन हुआ था। विजयेन्द्र स्नातक, गोपाल राय, जगदीश गुप्त, लक्ष्मी सागर, वाष्ण्य, प्रभात, नामवर सिंह जैसे समीक्षकों के व्याख्यान उसमें हुए थे। केरल के प्रतिनिधि के रूप में डॉ. अय्यर की भी आलेख प्रस्तुति हुई। मलयालम अखबारों को समाचार उसी भाषा में देना था। सारे कार्यक्रम हिंदी में हैं। आशु अनुवाद ही एकमात्र तरीका था। दुर्भाग्यवश यह दायित्व मेरे कंधे पर पड़ा था। सारे भाषण मैंने मनोयोग से सुने। मैंने अपने ढंग से सारी प्रमुख बातें नोट कर ली थी। युवकोचित उत्साह में मैंने उसका अनुवाद मलयालम में जल्दी तैयार कर लिया था। मलयालम अखबारों के संवाददाता मेरे अनुवाद के मुंहताज थे। अगले दिन समाचार प्रथम पृष्ठ पर छपा था। मैंने जो समाचार तैयार किया था वही छपा था। डॉ. अय्यर से मेरी निकटता नहीं थी। अखबार लेकर वे मेरे समीप आए। शाबाश, बधाइयां- कहकर उन्होंने मेरी तारीफ की थी। तब मैं चौबीस साल का शोधार्थी था। यह बधाई मुझे हार्दिक लगी। साहित्यिक पत्रकारिता के पथ पर आगे बढ़ना, तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल होगा। उनका यह वाक्य उत्साहवर्धक लगा। बाद में साहित्यिक पत्रकारिता को मैंने प्रिय विधा के रूप में चुन लिया। उस विधा में मेरी रचनाएं कई पत्रिकाओं जैसे- 'सरस्वती', 'माध्यम', 'आजकल', 'कर्मयुग', 'नई धारा', 'सारिका', 'वीणा' आदि प्रकाशित हुईं। इनको पढ़कर अय्यरजी ने प्रशंसात्मक टिप्पणियां भेजीं। मेरी रुचि बढ़ती गई। साहित्यिक साक्षात्कार की विधा पर मैंने अपना ध्यान केंद्रित किया।

कोच्ची में आयोजित अनुवाद कार्यशाला में मुख्य अतिथि के रूप में डॉ. प्रभाकर माचवे आए थे। अय्यरजी ने मेरा परिचय उनको दिया था। संदर्भ भारती में लेख और अनुवाद प्रकाशित करने के लिए तब मार्ग सुगम बन गया। डॉ. गार्गी गुप्ता 'अनुवाद' का संपादन कर रही थीं। मेरे अनुवाद संबंधी मेरे कुछ लेख उस पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। डॉ. अय्यर के भी लेख उसमें मैं पढ़ सका। एक ही पत्रिका में हम दोनों के लेख प्रकाशित होकर आना युवा लेखक के लिए हर्ष और गौरव की बात थी।

लोक सेवा आयोग में हिंदी अध्यापकों की नियुक्ति के विशेषज्ञों के रूप में 1976 में डॉ. अय्यर और डॉ. गोविंद शेनाय आए थे। मैं एक प्रत्याशी था। इन वरिष्ठ प्रोफेसर्स के सामने बैठते समय मैं मन ही मन डर गया था। हिंदी की पत्रिकाएं, शब्दकोश आदि पर उनके प्रश्न केंद्रित थे। उत्तर उचित रूप से देते समय बहुत अच्छा कहकर उन्होंने प्रोत्साहन दिया था। चयन सूची में खुद का नाम और नंबर देखकर मैं फूला न समाया।

ललित निबंध डॉ. अय्यर की इष्ट विधा थी। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, विवेकी राय तथा डॉ. विद्यानिवास मिश्र की धारा को वे आगे बढ़ा सके। शैली की चारूता, व्यंग्य की सहजता, मृदु मुस्कान की मुग्धता, विषय प्रस्तुति की नाटकीयता और केरलीय छवि की सरलता उनके ललित निबंधों के गुण हैं। केरलीय मिट्टी की गंध, इधर की प्रकृति की सुषमा और रोज-बेरोज के व्यवहार की सादगी उनके रचना वैशिष्ट्य को नितांत रमणीय बनाती है।

यायावरी को डॉ. अय्यर ने बहुत पसंद किया था। कई यात्राओं में मैं उनका हमसफर था। उनके पास एक नोट बुक था। यात्रा के पहले ही कुछ शब्दों को वे नोट करते थे। उनका समकक्ष हिंदी शब्द मिलना है। सफर के बीच आम आदमियों से वे पूछेंगे इस फूल को, चिड़िया को, अनाज को, व्यंजन को, आप हिंदी में क्या कहते हैं? मजदूर, किसान, माली, कुली, दर्जी, घड़ीसाज सब तरह के

लोगों से वे संदेह निवारण करते थे। उनकी जिज्ञासा उनकी सफलता की बुनियाद थी।

मध्य प्रदेश सरकार की एक संस्था है- 'भारत भवन'। वह भोपाल में स्थित है। दया प्रकाश सिन्हा उसके निदेशक थे। हिंदी की कुछ कृतियों का चयन हुआ था। उसके रचनाकारों को निमंत्रित किया था। रचनाकार-अनुवाद, सहचिंतन शिविर था। केरल के 10 अनुवादकों की एक टोली बनानी थी। डॉ. अय्यर को अनुवादक चयन का दायित्व दिया था। अनुवादकों में वी.डी. कृष्णन नंपियार, पी. माधवन पिल्लै, तंकमणि अम्मा, वी.के. रवींद्रनाथ, एम.एस विश्वंभरन शामिल थे। वे सब वरिष्ठ अध्यापक, प्रोफेसर व्यापक युवा अनुवादक के रूप में उस शिष्टमंडल में मुझे भी उन्होंने मनोनीत किया था। एक हफ्ते तक उधर रहना था। एक रचनाकार एक अनुवादक के साथ बैठेंगे। आपसी सलाह मशविरा के बाद अनुवाद करना है। हम सदस्यों ने जो काम किया था उसी प्रकार टोली के अगुआ डॉ. अय्यर ने अनुवाद किया था। पीछे आने वाली पीढ़ी का ख्याल करना, उनको प्रोत्साहन देना यह उनकी जीवन शैली की विशेषता थी।

1993 में भारतीय अनुवाद परिषद ने 'अनुवाद' का एक मलयालम विशेषांक निकाला था। उसके अतिथि संपादक का दायित्व डॉ. गार्गी गुप्त ने मुझे सौंपा था। युवा जोश और उमंग के बलबूले मैंने उनकी आज्ञा को मान लिया था। छह महीने में सामग्री संकलन करने का सुझाव था। मैंने कहा कि छह महीने में आप विशेषांक निकालें। तीन महीने में तमाम सामग्रियां मैं संकलित करूंगा। अवसर को चुनौती के रूप में मानकर आगे बढ़ेंगे तो कामयाबी मिलेगी। मलयालम साहित्यकारों के अनुवाद दृष्टिकोण, इधर के अनुवादकों के अनुभव, अनूदित कृतियों के आरंभ में दिए गए आत्मकथ्य आदि का संकलन करना था। समयबद्ध होकर काम किया। लोग आते रहे, कारवां बनता गया, इस प्रकार की स्थिति आई। बुजुर्ग पीढ़ी के आचार्य तथा अनुवाद के सैद्धांतिक विधान के रूप में डॉ. अय्यर से मैंने सलाह मशविरा किया। उनके सुझाव मुझे मूल्यवान लगे। अनूदित कृतियों की समीक्षाएं जोड़नी है, 'अनुवाद' के पूर्व अंकों में प्रकाशित मलयालम भाषियों के लेख शामिल करें। ये उनके सुझाव थे। 'अनुवाद' के आरंभकाल में ही उनके लेख इस पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। तरुण पीढ़ी के अतिथि संपादक को सहयोग देने में उनको तनिक भी आनाकानी नहीं थी। वह अंक एक संदर्भ ग्रंथ बन गया। लोकार्पण समारोह दिल्ली में हुआ था। मेरा सम्मान भी किया गया था। डॉ. अय्यर ने तब पत्र भेजकर बधाइयां दी थीं।

हिंदी साहित्य सम्मेलन के पूना अधिवेशन में उनको पुरस्कार मिला था। उसी मंच पर एक पुरस्कार मुझे भी मिला था। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के पुरस्कार भी हम दोनों को एक साथ मिले थे। एक दफे उन्होंने मेरी याद दिलाते हुए कहा था कि पुरस्कार प्राप्त करने के बाद जिम्मेवारी बढ़ेगी। वह बात मुझे हमेशा याद करूंगा। हिंदी प्रदेश से प्रकाशित लगभग सारी प्रमुख और गौण पत्रिकाओं में उनके लेख और अनुवाद प्रकाशित हुए थे। केरल के हिंदी लेखकों के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में उनको अंगीकार मिला था। हिंदी निदेशालय, हिंदी संस्थान, साहित्य अकादेमी, यू.जी.सी., एन.एस.ई. आर.टी. और हिंदी सलाहकार समिति में भी केरल के प्रतिनिधि के रूप में वे मनोनीत हुए थे।

अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित कई संगोष्ठियों में उद्घाटक, अध्यक्ष, विशिष्ट अतिथि और बीज भाषण वक्ता के रूप में उनको निमंत्रण मिले थे। डॉ. नगेंद्र, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कल्याणमल लोढ़ा, भगीरथ मिश्र, प्रेमशंकर, आनंद प्रकाश दीक्षित आदि विद्वानों के निकट संपर्क में वे आए थे। आलेख की तैयारी के लिए लगातार मेहनत करते हुए मैंने उनको

देखा था। वे भाषण बाद में लेख के रूप में पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। किताबों में भी उनको जगह मिली थी।

केरल की हिंदी पत्रिकाओं को उनका हार्दिक सहयोग मिला था। 'युग प्रभात', 'केरल ज्योति', 'केरल भारती' और 'संग्रथन' में उनकी समीक्षाएं प्रकाशित हुई थीं। यात्रावृत्त, फीचर, संस्मरण और तुलनात्मक अध्ययन विधाओं में उनकी रचनाएं मिलती हैं। सारस्वत प्रदक्षिणा 'केरल ज्योति' का स्तंभ था। केरल हिंदी साहित्य मंडल के संस्थाओं में उनका नाम आदर से लिया जाता है। 'साहित्य मंडल' पत्रिका के संपादक के रूप में वे सेवारत थे। 'अनुशीलन' कोचीन विश्वविद्यालय की पत्रिका है। वे इसके संस्थापक संपादक थे। अनुसंधानपरक लेख प्रकाशित करना इस पत्रिका का मुख्य लक्ष्य रहा है।

विश्व हिंदी सम्मेलन में उनका सम्मान हुआ था। लंदन सम्मेलन से वापस आते समय उनका गला खराब हो गया था। आवाज स्पष्ट होकर बाहर नहीं आने के कारण उन्हें काफी तकलीफ हुई थी। हिंदी साहित्य की सेवा के लिए संस्थापित पचास से ज्यादा पुरस्कार उनकी तलाश में आए थे। हर पुरस्कार उनका उत्साहवर्धन करता रहा।

तिरुवंतपुरम के स्टैच्यु जंक्शन के नजदीक 'अनुषम' नामक घर धन्य है। उधर रहकर उन्होंने कई मूल्यवान कृतियां लिखी थीं। उनके पहले हिंदी प्रचार और लेखन के क्षेत्र में सेवारत व्यक्तियों के कर्मपथों को भी उन्होंने गहन अध्ययन का विषय बनाया था। केरल में हिंदी भाषा और साहित्य का विकास डॉ. अय्यर की कठिन मेहनत का परिणाम है। आरंभकालीन समितियां, संस्थाएं, सभाएं, पुस्तकालय, पत्रिकाओं आदि की बारीक से जानकारी आगामी पीढ़ियों को इस किताब से मिलेगी। पूर्ववर्ती लेखक, पत्रकार और संपादकों के संपर्क में आकर उन्होंने सामग्री संकलन किया था। अभय देव, देव करेलीय, के. रवि वर्मा जैसे संपादकों की सेवा पर उन्होंने विस्तार से प्रकाश डाला है। आराम कुर्सी पर बैठकर इस ढंग की कृतियां नहीं लिखी जा सकतीं। दूरदराज के गांवों में जाकर बूढ़े बुजुर्गों से बात करके विरल सामग्रियां वे बटोर सके थे। आराम उनके लिए हराम था इसलिए ही वे एक लेखक, अनुवादक, संपादक तथा अध्यापक बन सके थे।

उनकी पत्नी अलमेलु का व्यक्तित्व अनूठा था। पति की मेहनत की वे पारखी थीं। वे विदुषी नहीं थीं लेकिन विद्वान पति के लेखन के लिए हमेशा अनुकूल वातावरण तैयार करने में विशेष ध्यान रखती थीं। मौन रहकर वे पति की साहित्यिक साधना के लिए सारी चीजें कायदे से रखती थीं। बाहर की यात्राओं में साथ जाती थीं। अलमेलु की निष्ठा और अय्यर की सफलता की कुंजी रही- ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगी। मेहमानों का भव्य स्वागत करने में उनकी अपनी शैली थी। मृदुभाषी तथा सौम्यशील रहकर उन्होंने अपनी जिम्मेदारी निभाई थी। अतिथियों के परिवार के कुशल क्षेम के बारे में वे पूछती थीं।

उनका जीवन कठिनता का ज्वलंत उदारहण है। उत्साह उनका मार्ग था। केरल का परिचय अन्य भाषा के पाठकों को हिंदी के माध्यम से देना उनका लक्ष्य था। मौलिक लेखन और अनुवाद के जरिए वे इस दायित्व का सफलतापूर्वक निभा सके। ललित निबंध में उन्होंने अपनी मुहर लगाई थी। उनकी प्रतिभा और भावना का मणिकांचन संयोग उस विधा की रचनाओं में हम तलाश सकते हैं। 'हिंदी ललित निबंध का दक्षिणीजी धुव्र' कहकर विवेकी राय ने उनका मूल्यांकन किया था। 'शहर सो रहा है', 'उठता चांद डूबता चांद', 'फूल और कांटे', 'सीढ़ी और सांप', 'घनेकेर तरु तले' आदि

कृतियां उनकी निबंध यात्रा के दीप्त सोपान हैं। सी.वी. रामनपिल्लै, मलयाट्टूर रामकृष्णन आनंद, पारप्पुरत्तु और कुसमब्दुल्ला के उपन्यासों के हिंदी अनुवाद उनकी अनुवाद साधना के प्रमाण हैं। ज्ञानपीठ पुरस्कृत कवि ओ.एन.वी. कुरुप्प का आख्यान काव्य 'उज्जयिनी' का अनुवाद भी एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। केरल की हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता को उन्होंने नई दिशा दी है। कई छात्रों में वे लेखकीय अभिरुचि अंकुरित कर सके। शोध निर्देशक के रूप में उनकी भूमिका अतुलनीय रही है। अनुवाद विज्ञान की विधा में अनुवाद भाषाएं और समस्याएं एक मील का पत्थर है। शब्दकोश, प्रयोजनमूलक हिंदी आदि विधाओं को उन्होंने समृद्ध बनाया है।

क्लास रूम में संदर्भ में मैं उनका विद्यार्थी नहीं हूँ लेकिन लेखन, पत्रकारिता, अनुवाद आदि मेरी अभिरुचि की विधाओं में वे मेरे लिए गुरुतुल्य रहे हैं। मैं कई बार उनके घर गया था। मेरे परिवार को उनका आशीर्वाद मिला है। वे कई बार मेरे घर भी आए थे। उनका मेहमान और मेजबान बनना दोनों सौभाग्य के क्षण थे।

1985 में मैं कालिकट विश्वविद्यालय का प्राध्यापक बना था। 1998 में प्रोफेसर बना। 2008 में विभाग का अध्यक्ष बना। इन सारे अवसरों पर उनकी बधाइयां मुझे मिली थीं। 1985 में 'धर्मयुग' में मेरा एक लेख छपा था। उसमें मेरा पदनाम संपादक की गलती से आचार्य और अध्यक्ष- कालिकट विश्वविद्यालय छपकर आया था। मैं सिर्फ लेक्चरर था। यह पदनाम देखकर विभाग का कार्यवाहक अध्यक्ष आगबबूला हो उठे। उन्होंने कुलपति को शिकायत भेजी। मुझसे वास्तविकता नहीं पूछी थी। कुलपति ने 'धर्मयुग' के संपादक को यह शिकायत अग्रेषित की। मैंने ऐसा कोई पदनाम लेख में नहीं लिखा था लेकिन मुद्रित प्रमाण मेरे पक्ष में नहीं था। कार्यवाहक अध्यक्ष ने सोचा था कि नौकरी से मेरी तुरंत बर्खास्तगी होगी। मेरा मानसिक संघर्ष डॉ. अय्यर भांप सके। सांच को आंच नहीं- इतना ही कहकर उन्होंने मुझे सांत्वना दी। धर्मवीर भारती संपादक और गणेश मंत्री सहसंपादक थे। 'धर्मयुग' का विधिवत् उत्तर कुलपति को मिला। लेखक ने कोई पदनाम नहीं लिखा था। यह संपादकीय गलती है। मेरे लेख की हस्तलिखित प्रति भी संपादक ने कुलपति को भेजी थी। मामला साफ हो गया। डॉ. अय्यर का आश्वासन वचन सही निकला। लेखक से पहले स्पष्टीकरण न मांगकर सीधे कुलपति को बेबुनियाद शिकायत पेश करना ठीक तरीका नहीं है- यही कुलपति का निर्णय था। इसी बीच मूल अध्यक्ष ने लंबी छुट्टी के बाद पुनः कार्यभार संभाला। कार्यवाहक अध्यक्ष का वह पद रद्द हो गया। लेखन के पथ पर आगे बढ़ने का मार्गदर्शन मुझे अय्यरजी से मिला था। धनहीन को धन मिले तो आधी रात को भी वह छतरी पकड़ेगा इस मलयालम लोकोक्ति का गुणार्थ मैं तब समझ गया। डॉ. अय्यर का यश पदनाम पर नहीं टिका है। उनकी कर्मठता ही उसका आधार है। उदीयमान पीढ़ी के लेखक तथा अनुवादकों के लिए वे एक प्रेरणा पुरुष हैं।



सबके आपन जन

महेश दर्पण

गांधी टोपी। खद्दर का कुर्ता-पाजामा। हाथ में छड़ी, घूमे हुए हथ्ये वाली और सधी हुई चाल में हर रोज काफी हाउस, यानी मोहन सिंह पैलेस की ओर बढ़ते हुए कदम। जी हां, चौड़े चश्मे के भीतर से झांकती आत्मीय नजर वाली आंखों और सौम्य मुस्कान लिए यह विष्णु प्रभाकर ही थे जिन्होंने अपने प्रिय लेखक शरत् की खोज 'आवारा मसीहा' के रूप में कर एक ऐसी जीवनी लिखी थी जो हिंदी साहित्य में एक प्रतिमान ही बन गई।

छात्र जीवन से ही हम उनकी रचनाओं को पढ़ते चले आ रहे थे। उन दिनों मैं लाजपतराय कॉलेज, साहिबाबाद की हिंदी साहित्य परिषद का सचिव था। एक दिन हिंदी विभाग में यह तय हुआ कि प्रति वर्ष राष्ट्रीय स्तर का एक लेखक सम्मेलन कॉलेज में कराया जाए। देशभर के लेखकों को पत्र लिखे गए और कुछ वरिष्ठ लेखकों से मिलकर उन्हें व्यक्तिगत रूप से आमंत्रित करने का काम जिन लोगों को सौंपा गया, उनमें से एक मैं भी था।

उनसे पहली बार मिलने के लिए जाते वक्त मुझे 818, कुंडेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-6 का वह उनका घर खोजने में थोड़ी मशक्कत जरूर करनी पड़ी, लेकिन जैसे ही उनका नाम लेकर रास्ता पूछा, कचौरी वाले ने झट से हाथ का इशारा कर समझा दिया।

घर सामने था और एक सज्जन नीचे टहल रहे थे। वह विष्णुजी के भाई थे। उन्होंने सीढ़ियां चढ़ जाने का संकेत किया। लकड़ी की चौड़ी रेलिंग वाली सीढ़ियां चढ़ते हुए मैं अब बंद दरवाजे के ठीक सामने था। कुंडी खड़काते ही एक महिला ने स्वागत भरी मुस्कान के साथ दरवाजा खोल दिया। मैं अभी 'विष्णुजी...' ही कह पाया था कि उन्होंने 'आइए, आ जाइए।' कहा और भीतर की तरफ चली गई।

कमरे में प्रवेश करते ही देखा, विष्णु प्रभाकर अपनी चौकी के सामने आसन जमाए बैठे थे। मेरे नमस्कार के साथ कुछ संकोच भरे शब्द सुनकर कि 'क्षमा कीजिएगा, मुझे यह नहीं पता था कि यह आपके लिखने का समय है' वह बीच में ही बोल पड़े- 'बैठिए- बैठिए। कैसे आना हुआ...?' मुझसे आने का आशय सुनते-सुनते वह अपना लिखना स्थगित कर चुके थे और यह जान चुके थे कि मैं हिंदी में बी.ए. ऑनर्स कर रहा हूं। पहली मुलाकात का संकोच इतनी जल्द खत्म हो सकता है, यह देखकर मैं चकित था। वह यह जानकर खुश थे कि मैं 'धरती अब भी घूम रही है' समेत उनकी अनेक कहानियां, नाटक और 'आवारा मसीहा' पढ़ चुका हूं। चाय-नाश्ता के साथ-साथ मैं

सम्मेलन में विष्णुजी के आने की स्वीकृति ले चुका था।

आधे घंटे की इस छोटी-सी मुलाकात में ही विष्णुजी ने मुझे अपना बना लिया था। सीढ़ियां उतरते वक्त मेरे जेहन में उनका वह सादा-सा कमरा घूम रहा था जिसमें तीन ओर किताबें शेल्फों में लगी थीं और एक कोने में वह तख्त विराजमान था जिस पर रखी चौकी पर वह रोज जाने कितने पत्र, लेख और अन्य चीजें लिखते होंगे। कहीं कोई दिखावा नहीं, सरल-सहज और स्नेह भरा वह परिवेश मुझे प्रभावित कर गया। यह सन् 1975 की बात है।

एम.ए. हिंदी करते हुए गाजियाबाद के एक साहित्यप्रेमी जगदीश बत्रा के साथ एक पत्रिका निकालने की योजना बनी, तो पहला पत्र मैंने विष्णु प्रभाकर को ही लिखा। उन्होंने 'विश्व वाणी' नाम की हमारी छोटी-सी पत्रिका के पहले ही अंक के लिए अपना लेख भेज दिया। साथ में शुभकामनाओं भरा एक सुंदर-सा पत्र भी। उनसे मिलने का अर्थ ही यह था कि आप उनके आपन जन में शामिल हो गए।

थॉम्सन रोड के वे दिन

कॉन्ट प्लेस के बारहखंभा रोड स्थित हिंदी 'सूर्या' में काम करना शुरू किया तो मैं मिंटो ब्रिज के पास ही थॉम्सन रोड पर अपनी मौसेरी बहन के साथ रहने लगा। यह वही मार्ग था, जिससे होकर रोज ही विष्णुजी शाम के वक्त मोहन सिंह पैलेस जाया करते थे। वहां काफी हाउस के खुले प्रांगण में वे देर तक बैठते, गप-शप करते और फिर धीरे-धीरे अजमेरी गेट की तरफ चल देते। इस बीच वह अपने मित्रों-भीष्म साहनी, रमाकांत, धर्मद्र गुप्त, हरदयाल, महीप सिंह, पंकज बिष्ट, विष्णुचंद्र शर्मा, विनय, जगदीश चतुर्वेदी, गंगा प्रसाद विमल, आनंद प्रकाश, राजीव सक्सेना, रामकिशोर द्विवेदी आदि से खूब बतिया चुके होते।

एक बार कुछ दिन बानक ऐसा बना कि मैं थॉम्सन रोड पर उनका इंतजार करता। वे रोज नियत समय पर वहां पहुंच जाते और फिर हम काफी हाउस की तरफ बढ़ जाते। लौटते वक्त मैं कभी-कभी उन्हें उनकी गली तक छोड़कर आता।

इन दिनों मैं उनसे जब-तब कुछ प्रश्न करता तो वे बड़े उत्साह से बताते कि 'मैं' सात बरस का रहा होऊंगा जब कांग्रेस मूवमेंट चल रहा था। अब इतने दिनों बाद लगता है, कितना अच्छा का वह समय और वे लोग, आज का समय कितना बदल गया है। ऐसा नहीं कि आज जैसे ऐब वाले लोग तब नहीं थे, लेकिन आज ऐसे लोग नहीं होते जो दूसरे के कष्ट बगैर कहे समझ लेते हैं जिन्हें हम इनसान कहते हैं।'

काफी हाउस पहुंचकर भी शुरुआती बात आगे बढ़ जाती। मैं जिज्ञासा रखता- 'आपका तात्पर्य परस्पर सहयोग से ही रहा होगा विष्णुजी!'

वे कहते- 'हां। एक मर्तबा, लड़के की शादी थी। एक सज्जन कहने लगे, आठ एकांकी इकट्ठे कर के दो। यह रहा सौ का नोट। नाटक लाओ। तब लोग वक्त पर एक-दूसरे के काम आते थे।' काफी ऑर्डर कर अचानक उन्हें सीताराम सेक्सरिया की याद हो आई। बताने लगे- 'सेक्सरियाजी की पत्नी का निधन हुआ तो मैं उनसे मिलने गया। कहने लगे- 'आप कष्ट में हैं आजकल आपके लिए कुछ पैसे रखे हुए हैं मैंने।' मैंने कहा- 'पैसा' तो इस तरह मैंने कभी लिया नहीं।' बोले- 'फिर क्या करें?' मैंने कहा- 'किसी संस्था को दान कर देता हूं।' वह पैसा मैंने पत्नी के नाम से दान कर

दिया। तब दिया, तो फिर नियम से आज तक निभा रहा हूँ। बात महानता की नहीं है, लेकिन ऐसे लोग अब हैं कहां! अब तो हरदम छीनने को ही दिखाई देते हैं।’

विष्णुजी जिस मेज पर होंगे, धीरे-धीरे उससे अनेक मेजें जुड़ती चली जाएंगी। पच्चीस-तीस लोग तक, हर उम्र और विचार के वहां आ जुटेंगे। विष्णुजी हों, और मूल्यों की बात न हो, यह कैसे संभव है! कोई न कोई युवा उनसे शुरुआती दिनों की बात पूछता तो वह सहज भाव से बताने लगते- ‘कलम जिन दिनों थामी थी, राष्ट्रीय आंदोलन में गांधी छापे हुए थे। तब देशभक्ति, समर्पण, त्याग, बलिदान, अन्याय का प्रतिरोध सरीखे मूल्यों पर जोर रहता था। मैं भी धीरे-धीरे इन्हीं मूल्यों में उतरता गया।’

उस पीढ़ी की बातें अनंत थीं उनके पास। लेकिन वे लोग धीरे-धीरे खत्म होते जा रहे थे। एक बार मैंने उनसे पूछा था- ‘भरी-पूरी आपकी पीढ़ी में से तो अब बहुत कम लोग ही रह गए होंगे।’ उन्होंने बताया- ‘बताते हैं, एक सज्जन हैं, देवीदयाल चतुर्वेदी। वह कभी ‘सरस्वती’ के संपादक भी रहे। कहानियां भी लिखते थे कभी। पिछले दिनों मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वे अभी जीवित हैं और मेरे बराबर हैं। मैंने उन्हें एक पत्र भी लिखा था, लेकिन जवाब नहीं आया। अब वे अपने कमरे में ही बंद रह गए हैं। सत्यार्थीजी मुझसे तीन साल बड़े थे। बच्चन छह साल बड़े थे। सब चले गए। अब अगली पीढ़ी है।’

छुट्टी वाले दिन मैं पहले से बताकर विष्णुजी से मिलने पहुंच जाता। अब करीबी कुछ बढ़ गई तो वह पहुंचते ही कहते, ‘आइए महाराज!’ ऐसी निश्चल अगवानी दिल्ली शहर में उन दिनों बहुत कम नजर आती थी जिसमें पीढ़ियों का अंतराल देखते-देखते उड़न-छू हो जाए। पुराने दिनों के अक्स जैसे हरदम उनकी आँखों में उतर आते।

एक दिन बातें चल निकलीं, तो बताने लगे, ‘मैं सात साल का था। 1919 में जलियांवाला कांड हुआ। इसकी गूंज सारे हिंदुस्तान में थी। मेरे कस्बे में भी तूफान आ गया।’

हम तो बच्चे थे, लेकिन जिज्ञासा थी कि भई क्या हो गया! एक खिलाफ मूवमेंट चल रहा था तब। एक गीत ब्रिटिश सरकार के खिलाफ गाया जाता था- ‘नहीं रखनी, नहीं रखनी। जालिम सरकार नहीं रखनी।’ जुलूस निकलता था- ‘डायर को हमें दे दो।’ एक घटना ऐसी घटी जिसने फिर हमें बदल कर ही रख दिया। हमारे कस्बे में एक मीटिंग हो रही थी। वहां कांग्रेस प्रेसिडेंट ने पांच साल के एक बच्चे को मंच पर खड़ा कर दिया। उस बच्चे ने मोटे खद्दर का कुर्ता और धोती पहन रखी थी। गले में दुपट्टा था उसके। उसे असल में कुछ वाक्य रटा दिए गए थे। वह बोला- ‘मैं आपका बच्चा हूँ। मैं खद्दर पहन रहा हूँ। आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप भी खद्दर पहनें।’ सभा में तालियां पिटने लगीं। लोगों ने बच्चे को उठा लिया।

‘हमारे चाचा भी वहीं बैठे थे। कहने लगे- देख बे, एक वो लमड़ा है, एक तू है। जिस लहजे में उन्होंने कहा, वह हमारे कलेजे में बैठ गया। बात चुभ गई। अगले दिन मंगल की पैठ थी। हम वहां गए। एक धोती दिखाई दी। मोटा खद्दर। हाथ का कता और भारी होता था। हमने धोती देखी और पिताजी के पास जा पहुंचे- हमें यह धोती ले दो। उन्होंने धोती देखी तो हमारे कान पे एक दिया। और बोले- ‘स्साला, ये धोती पहनेगा। तुझमें इतना वजन नहीं जितना इसमें है। हम रोने लगे। लेकिन हमारे चाचा वहीं थे। वे बोले- ‘जाओ, पहन लो।’ तब से आज तक खद्दर ही पहनता आ रहा हूँ। गवर्नमेंट सर्विस में भी खादी नहीं छूटी। एक अंग्रेज सुपरिंटेंडेंट मि. स्मिथ बहुत अच्छा था। मैं उसका

पी.ए. हुआ करता था। अंग्रेज होम मिनिस्टर उसका दोस्त था। वह उसके पास आया। मेरा चेहरा तब एकदम लाल हुआ करता था। मुझे देख, उसने स्मिथ से कहा- 'ये तुमने कौन लाल बंदर, क्रांतिकारी पाल लिया है।' स्मिथ हँसकर उससे बोला- 'ये गांधीजी का भक्त है, क्रांतिकारी नहीं।

लगभग चार दशक से भी अधिक तो मैंने खुद देखा कि विष्णुजी ने खादी नहीं छोड़ी, तो नहीं ही छोड़ी। खादी एक विचार के रूप में भले ही तिरोहित होने लगा हो, लेकिन वह उस पर अडिग रहे।

हिसार में लेखन

एक दिन मैं दरियागंज स्थित जैनेंद्र कुमारजी के घर से निकलकर एक परिचर्चा के लिए विष्णुजी के यहां पहुंचा। परिचर्चा का विषय तो धरा रह गया और विष्णुजी पुरानी यादों में खोकर बताने लगे- 'लेखन के शुरुआती दिनों में मैं हिसार में था। उन दिनों नया कोई कुछ लिखे तो सुगबुगाहट होती थी। सियारामशरण गुप्त ने जैनेंद्र से पूछा 'यह विष्णु प्रभाकर कौन है? इसके बाद, एक दिन देखा कि जैनेंद्र हमारे ही घर के नीचे खड़े किसी से पूछ रहे थे कि विष्णु प्रभाकर कहाँ रहते हैं? मेरे तो प्राण ही सूख गए यह देखकर कि इतना बड़ा लेखक मुझसे मिलने चला आया। वे भीतर आए तो कमरे में दयानंद और गांधी की तस्वीरें टंगी थीं। कहने लगे- 'मैं इनकी स्थिति में पहुंचना चाहता हूँ। जहां वाक्य काम नहीं करता। मौन बोलता है।' विष्णुजी इस बात से रुष्ट थे कि आज तो हालत ये हैं कि हिंदी के साहित्यकार ही प्रेमचंद को लेखक नहीं मानते। आलोचना का क्या स्तर है आज?'

मुझे याद है, उस रोज विष्णुजी इनसान के 'डिके' को लेकर बहुत चिंतित थे। उनका कहना था कि आज मुझे वह प्यार नहीं मिलता जो अपने बड़ों से मिला। बाबू गुलाबराय और भगवती प्रसाद बाजपेई जैसे लोगों ने मुझे डिस्कवर किया था। प्रेमचंद ने मुझे बताया कि कहानी में वर्णन ही नहीं, संवाद भी आवश्यक है। प्रसादजी ने मुझे पत्र लिखा। शिवपूजन सहाय उन दिनों 'हिमालय' के संपादक थे। मेरी एक प्रेम कहानी का बड़ा अच्छा विश्लेषण किया उन्होंने चंद्रगुप्त विद्यालंकर पंजाब में रहते थे। एक पत्र में कहा मुझसे कि आज का युग मनोविज्ञान का है।

जैनेंद्र कुमार से फिर विष्णु प्रभाकर का संबंध अंत तक रहा। जैनेंद्र कुमार के बेटे उन्हें चाचाजी कहा करते। यही नहीं, जैनेंद्रजी के निधन के उपरांत एक पुस्तक प्रकाशित हुई- 'जैनेंद्र : साक्षी हैं पीढ़ियाँ'। इसका संपादन विष्णु प्रभाकर ने किया और सहयोगी थे प्रदीप कुमार और मैं।

इन दिनों मैंने देखा कि विष्णुजी ने कितनी संलग्नता से संस्मरणकारों की सूची बनाई। स्वयं उन्हें पत्र लिखे। हम लोगों से लिखवाए। यह वह समय था, जब मैं 'सारिका' में आ चुका था। इन दिनों मैंने विष्णुजी के संपादक रूप को निकट से देखा जाना। इस दौरान वे अनेक बार फोन पर तो बात करते ही थे, जब-तब पत्र भी लिख देते थे। 18.08.1989 के एक पत्र में उन्होंने लिखा-

प्रिय भाई,

आशा करता हूँ कि आप सानंद हैं। दिल्ली में फोन पर बात तो हुई पर चाहकर भी भेंट न हो सकी। अभी एक दिन मैंने और प्रदीप ने बहुत देर राह देखी, पर आप नहीं आ सके। जैनेंद्रजी के ग्रंथों का काम-काज अटक गया है। मित्र और बंधु बार-बार पूछते हैं। मैं 14 को दिल्ली पहुंच रहा हूँ। आप निश्चित करके एक दिन अवश्य मीटिंग कर लें और ग्रंथ को अंतिम रूप देने का प्रयास

करें।’

और सब पूर्ववत्। सबको स्नेह स्मरण।

-स्नेही

विष्णु प्रभाकर

जब-जब हम लोग ढीले पड़ते, विष्णुजी हमें कस देते। मैं यह देखकर हतप्रभ था कि वे न सिर्फ लेखकों अपितु पाठकों के पत्रों के भी गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया करते थे। एक दिन पहुंचा तो बताने लगे जम्मू के एक गांव से किसी लड़की का पत्र आया है। उसने लिखा- ‘मेरी शादी एक लड़के से तय हो गई थी, लेकिन जब उसे कहीं और से दो लाख का दहेज मिला तो उसने शादी तोड़ दी। लेकिन मैं भी छोड़ूंगी नहीं उसे। आपके नाटक ‘डॉक्टर’ की अनिला बनकर दिखाऊंगी।’

पाठक प्रायः उनके कथानकों में अपने आस-पास की जिंदगी खोज लेते थे। एक बार डिब्रूगढ़ से एक युवती का पत्र आया कि ‘अब और नहीं’ तो हू-ब-हू मेरी मां की जिंदगी की दास्तान है।’ बाद में उसी ने इस रचना का असमिया अनुवाद भी किया।

एक बार, जब मैं रमाकांतजी के निधन के बाद बहुत दुःखी था, तब मैंने उन्हें पत्र लिखा। उत्तर में उनका जो पत्र मिला, वह इस प्रकार है :

‘प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। आपका प्रस्ताव बहुत अच्छा है। रमाकांतजी के संबंध में निश्चय ही हमें कुछ करना चाहिए। मैंने तो उनके लड़कों से भी कहा कि उनकी जो रचनाएं पड़ी हैं, उनको भी प्रकाशित करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

मैंने उनके संबंध में एक लेख लिख चुका हूँ। और नया क्या लिखूँ, यह समझ में नहीं आ रहा। दूसरे आँखों में कष्ट और साइनेसिस के दर्द के कारण लिखना-पढ़ना बहुत कठिन हो रहा है। उस पर मित्र और परिचित लोग नित्य कोई न कोई आग्रह लेकर आते हैं और मेरी बात सुनते ही नहीं। इससे मुझे बहुत दुःख होता है क्योंकि डॉक्टर ने बोलने और भाषण देने के लिए मना कर दिया है। इसलिए बोलकर लिखाने पर भी दर्द बढ़ जाता है। फिर भी आप जैसा कहें, मैं उसी लेख को कुछ परिवर्तन के साथ लिखूँ। आपको कब तक चाहिए? जल्दी तो नहीं लिख सकता। अभी मुझे दो लेख और लिखवाने हैं। उनमें देर लगेगी। क्योंकि मेरी आत्मकथा वाले लेख के लिए मुझे जो सामग्री चाहिए, वह तलाश करनी होगी। और सब तो चल ही रहा है। आपके उत्तर आने पर निश्चय करूँगा।’

शेष शुभ।

स्नेही

विष्णु प्रभाकर

ये वे दिन थे जब विष्णुजी बोलकर पत्र लिखवाने लगे थे। निशा निशांत नाम की उनकी सहयोगी पत्र लिखा करती थीं। जब विष्णुजी से मिलने जाता, अपनी कोई न कोई पुस्तक भेंट करते। मुझे इस बात का संतोष है कि अब हम लोगों ने ‘रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार’ प्रारंभ किया तो वे बड़े खुश हुए। जब तक उनसे बना, वे बराबर इस समारोह में आते रहे। मैंने जब ‘स्मृतियों में रमाकांत’ पुस्तक संपादित की, तब विष्णु प्रभाकर का लेख भी उसमें संकलित हुआ। वही नहीं

कहानियों के जितने कोश व संकलन मैंने तैयार किए, उनमें विष्णुजी की कहानियां बराबर शामिल रहीं।

काफी हाउस में बतकही

वर्तमान की विसंगतियों से ऊबे विष्णु प्रभाकर अकसर अतीत की गाथा में जा पहुंचते थे। उनका यह रूप काफी हाउस में नियमित जाने वाले अच्छी तरह से जानते हैं। प्रथम राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद की सरलता और उनसे अपनापे को वह खूब याद किया करते थे। एक दिन बताने लगे, 'राजेंद्र बाबू के राष्ट्रपति बनने की बात हवा में थी। मैंने उनसे पूछा- 'आप राष्ट्रपति बनेंगे?' बोले- 'पटेल और नेहरू, दोनों प्रार्थना करेंगे तभी।' राधाकृष्णन के पास भी हम लोग ऐसे ही जाया करते थे लेकिन वह नेहरू के प्रशंसक थे। राजेंद्र बाबू के पास इक्के में बैठकर जाने वाला मैं पहला व्यक्ति था। बाद में तो वह बैन ही हो गया। एक बार हेलन केलर से मिलने को राजेंद्र बाबू ने बुलवाया था। पहुंचे, तो देखा कि राजेंद्र बाबू, पंडितजी, राधाकृष्णन और हुमायूं कबीर बैठे हैं। कुछ देर बाद आई हेलर केलर। पूरे दो घंटे उनसे हाथों की भाषा में बातें हुईं। जीवन का वह अद्भुत अनुभव था।'

लोग विष्णुजी के ये अनुभव रस लेकर सुनते। बातें होती रहतीं, लेकिन उठने का वक्त हो जाता तो विष्णुजी कहते- 'अब चलें महाराज।' सीढ़ियों पर वह खामोश हो जाते, सोच-मग्न। लौटते वक्त, एक दिन मैंने उनसे पूछा- 'विष्णुजी, आप जिस समय को पार करके यहां तक पहुंचे हैं, उसमें अनेक महापुरुष आपको मिले होंगे, लेकिन कुछ ऐसे होंगे जो बेतरह याद आते रहेंगे। बोले- 'हां, तब तो थे। आज ऐसा एक भी नजर नहीं आता। क्या आदमी थे साहब रफी अहमद किदवई। मैं जीवित रहा तो उन पर एक उपन्यास जरूर लिखूंगा। उन्होंने अपने घर का छप्पर तक नहीं बदला और जमाने भर की मदद करते रहे। उन दिनों कनॉट प्लेस में एक सज्जन अंग्रेजी का अखबार निकालते थे। उन्हें घाटे पर घाटा हुआ जा रहा था। किसी ने सलाह दी- किदवई साहब से मिलकर देखो। वह उनसे मिले जाकर, तो किदवई साहब ने अपने पी.ए. गोयल से कहा- 'इन्हें हर महीने 5000 रुपये दे दिया करो।' इसी तरह सस्ता साहित्य मंडल में फोन नहीं था, किदवई साहब ने लगवा दिया। एक दिन हरिभाऊ ने कहा- 'आश्रम के लिए बस चाहिए। बस, एक दिन उनके पास सूचना पहुंच गई कि जितना पैसा है, लेकर चले आएंगे। बस खड़ी हुई है।' तब एक दूसरे को आगे बढ़ाते थे लोग। जबर्दस्ती श्रेय कोई नहीं लेता था। एक आज का वक्त है, इनसान धीरे-धीरे मर रहा है।'

इसी विलुप्तप्राय जाति के इनसान स्वयं थे विष्णु प्रभाकर। और शायद इसलिए ऐसे बन सके कि उन्होंने द्रैजिक जीवन कम नहीं जिया। उनके परिवार में पहली पढ़ी-लिखी महिला उनकी मां ही थीं। वह हरदम बच्चों की पढ़ाई की फिक्र में लगी रहतीं। पढ़ाई के लिए मामा के यहां इन्हें भेजते वक्त उन्होंने कहा था- 'राम-लक्ष्मण को वनवास दे रही हूं ताकि जीवन में कुछ कर सकें।' विष्णुजी बताते थे कि प्लेग हमारे समूचे परिवार को खा गई। मामा ने कहा- परिवार तो चलाना है। उन्होंने मुझे क्लास फोर अफसर बना दिया।

विपरीत परिस्थितियों में ही उन जैसे इनसान खड़े होते हैं इसीलिए सादतपुर साहित्य समाज ने उनके जीवन के 84वें वर्ष पर उनका नागरिक अभिनंदन और सम्मान किया था।

एक समय काफी हाउस में बंदर बहुत आने लगे थे। विष्णुजी फिर भी बैठते मुक्ताकाश हिस्से में ही थे। इन्हीं दिनों फिल्मकार संजय जोशी उन पर फिल्म बनाने के उपक्रम में काफी हाउस आकर

शूटिंग करने लगे। उस रोज- चार-छह मेजें जोड़कर हम सभी विष्णुजी के साथ बैठे हुए थे। शूटिंग के बीच ही अनायास एक बंदर आकर ऐन विष्णुजी के पास मेज पर आ बैठा। शायद वह कहना चाहता था- हम भी हैं इनके प्रेमी। विष्णुजी शांत बैठे रहे। शूटिंग जारी रही। थोड़ी देर बाद बंदर उठकर चलता बना। किसी लेखक-मित्र ने टिप्पणी की- यह भी पूर्वजन्म का कोई राइटर रहा होगा।

गांधी को समझना

वार्ता में एक दिन मैंने उनसे जानना चाहा कि लोग उन्हें गांधीवादी कहते हैं, यह कितना सही है?

उनका उत्तर था- 'मैं गांधीजी की सारी खूबियां जानता थां उन्हें प्यार भी खूब करता था लेकिन उनकी हर बात मुझे पसंद आए, ऐसा नहीं था। बहुत सी बातें उनकी हमें अच्छी नहीं लगती थीं। जैसे बिहार में भूकंप आया तो उन्होंने कहा- 'तुम हरिजन के साथ दुर्व्यवहार करते हो। इसका यह दुष्परिणाम मिला।' ये बात हमको अच्छी नहीं लगी। रवींद्रनाथ ने भी इसका विरोध किया था। गांधीजी को समझना असल में बड़ा मुश्किल है। ईश्वर की व्याख्या करते थे वहीं एक दिन कहने लगे 'ईश्वर सत्य है' कहने के बजाए कहो 'सत्य ही ईश्वर है।' इससे बहुत फर्क पड़ गया। इसके बाद आ गए वह जैन धर्म के करीब कि 'मोक्ष को पहुंची हुई आत्मा ही ईश्वर हैं।' लोगों ने प्रश्न किया, तो बोले- 'मोक्ष किसको मिलता है? मोक्ष उसको मिलता है जो समाज में सबसे निचली पैड़ी पर खड़े आदमी की सेवा करता है।' ये खूबियां थीं गांधीजीकी। मेरी कहानी 'संघर्ष के बाद' पढ़कर उन्होंने कहा था कोई भी इतनी गहराई से नहीं देख सकता।'

विष्णुजी जब तक कुंडेवाला न वाले मकान में रहे उनसे अकसर मिलना होता रहा। घर पर वह बड़ी अंतरंगता से बतियाने लगते थे। उस दौरान 'वीणा' के संपादक के आग्रह पर वे आत्मकथा लिख रहे थे। यह सन् 1986 की बात है तभी 'वीणा' में इसका धारावाहिक प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। पत्नी का देहांत हुआ और विष्णुजी ने आत्मकथा लिखनी बंद कर दी। लंबे एसोसिएशन का टूट जाना, इनसान को तोड़कर रख देता है। तब विष्णुजी ने बताया था कि यह करीबन साढ़े छह सौ पृष्ठों की सामग्री है। वह इसे दो खंडों में देना चाहते थे, लेकिन पहले यह खोज करना उन्हें जरूरी लग रहा था कि अग्रवाल कहां से आए! राजा अग्रसेन कौन थे? वे पौराणिक थे या ऐतिहासिक। यानी एक खोज दृष्टि उनकी हरदम काम करती रहती थी। पत्नी को यह अपना बड़ा सहारा मानते थे और कहते- 'जब कभी निराशा मुझे परेशान करती तो वह चहक उठती- 'दूसरों से कहते हो, भागो नहीं, दौड़ो। और स्वयं निराश होते हो। अभी और आगे बढ़ना है आपको, मेरे प्राण।'

पत्नी के निधन के बाद विष्णुजी ने 'शुचि स्मिता' का प्रकाशन कराया था। इसका संपादन जवाहर चौधरी ने किया था। जिन लोगों ने सुशीलाजी को न देखा हो, वह उनके बारे में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। मुझे उनकी वह निर्मल मुस्कान और स्नेह देखने का अवसर मिला है। विष्णुजी मानते थे कि उनके जीवन पर सुशीलाजी का सर्वाधिक प्रभाव है। अच्छी बात यह थी कि वह भी जानती व मानती थीं कि उन्होंने एक लेखक से विवाह किया है लेकिन उनका अपना एक व्यक्तित्व था। अपने एक लेख में उन्होंने जिक्र किया था कि एक दिन वह बस से कहीं जा रही थीं। उनसे आगे की सीट पर दो लड़कियां बैठी हुई थीं। बातें शुरू हुईं तो उन्होंने पूछा आप कहां रहती हैं? सुशीलाजी ने बताया- '818, कुंडेवाला न में।' एक लड़की बोली- 'वहां तो विष्णु प्रभाकरजी

रहते हैं। आप उन्हें जानती हैं?’ सुशीलाजी ने कहा- ‘26 बरसों से जानने की कोशिश कर रही हूँ।’ लड़कियाँ समझ गईं कि वह श्रीमती प्रभाकर हैं।

ऐसी लोकप्रियता और पहचान थी विष्णुजी की। और इसे बनाने में सुशीलाजी का बड़ा हाथ था। उनके परिवार में आज भी जो संस्कार नजर आते हैं, वह सुशीलाजी की मेहनत का ही फल है। उनका एक दबा-ढका रूप यह भी था कि वह न केवल खुद लिखा करती थीं, रेडियो पर भी उनकी वार्ताएं प्रसारित होतीं। राजधानी में हौजकाजी के हिंदी साहित्य सम्मेलन की तो वह अध्यक्ष भी रहीं। पति-पत्नी जैसे एक-दूसरे के लिए ही बने थे।’

बीते बरसों के सफहे

यदि बात ‘बीते बरसों के सफहे’ की न की गई, तो कुछ अधूरा ही छूट जाएगा। विष्णुजी के निधन के कई बरस बाद एक दिन उनके सुपुत्र अतुल प्रभाकर का फोन आया। उन्होंने बताया कि ‘विष्णु प्रभाकर की एक पाठिका अपर्णा देवल का लंबा पत्र-व्यवहार लेखक के साथ रहा है। अब वह पुस्तक रूप में छपने को तैयार है। इससे पहले आपको भूमिका स्वरूप उस पर कुछ लिखना होगा।’ नाम सुनते ही मुझे लगा कि यह तो विष्णुजी से ही चर्चा में आया है। उनकी अनेक पाठिकाएं और पाठक उनसे ऐसा रिश्ता बना लेते थे कि फिर विष्णुजी उनके फ्रेंड, फिलॉसफर और गाइड बन जाते। अतुलजी मुझे पांडुलिपि दे गए तो मैंने उसे आद्योपांत पढ़ा।

विष्णुजी की यह विशेषता थी कि वह हर परिचित-अपरिचित को उसके पत्र का उत्तर स्वलिखित ही देते थे। ऐसी ही उनकी एक पाठिका कॉलेज में पढ़ रही थी। उसके हाथ लाइब्रेरी में लगा ‘अध नारीश्वर’। उपन्यास पढ़ते ही उसकी कुछ पंक्तियां उनके विचार के साथ चलने लगीं- ‘इच्छाएं हों पर आसक्तियां न हों। आवश्यकताएं हों पर अनिवार्यताएं न बनने पाएं।’ इसके बाद ही इस पाठिका- अपर्णा ने लेखक को एक पत्र लिखा। उसका उसे विष्णुजी से उत्तर मिला। वह उन्हें पत्र लिखती और लेखक उत्तर देते रहते। यह क्रम कुछ ऐसा चलता रहा कि दोनों के बीच गुरु-शिष्य सरीखे संबंध बन गए। अपर्णा के प्रश्न ही कुछ ऐसे होते कि विष्णुजी अपने पत्रों में उन्हें उत्तर देते और सुझाव, परामर्श या समाधान की दिशा खुलने लगती। यही प्रश्नोत्तर लेखक के निधन के उपरांत ‘बीते बरसों के सफहे’ में सामने आए। मैं नहीं जानता कि किसी अन्य पाठक-पाठिका को ऐसा सहज, अकृत्रिम और विश्वसनीय गुरु कभी मिला हो। वह भी उम्र के दसवें दशक में लेखनरत। यहां मतभेद भी है, श्रद्धा भी और मैत्री भाव भी, सबसे ऊपर है निश्चल उन्मुक्तता। जहां शिष्या अपने, गुरु से कोई भी प्रश्न पूछ सकती है। व्यक्तिगत से व्यक्तिगत। और उत्तर देने वाला भी मित्र, अभिभावक, निर्देशक का मिलाजुला रूप बनकर उसी खुलेमन से जवाब देता चला गया है। सबसे अच्छी बात यह है कि प्रश्नाकुलता से भरी अपर्णा अंत तक आते-आते विरेचन की स्थिति में नजर आती हैं। एक अच्छा इनसान बनने की कोशिश में लग जाने से बेहतर और क्या हो सकता है?

स्वयं एक प्रतिमान

मैं देखता था कि विष्णु प्रभाकर जितनी आत्मीय सहजता से डॉ. धर्मवीर से बात करते थे, उतनी ही हंसराज रहबर से भी। धर्मवीरजी ने तो उन पर अपनी पहली पुस्तक ही लिखी थी जिसमें उन्हें वैष्णव मन बताया था। कई बार विष्णुजी से उनके लेखन और उसकी प्रक्रिया पर अनौपचारिक चर्चा भी हुई। उनका कहना था कि ‘इधर के बरसों में शायद ही कोई रचना एक बैठक में पूरी कर पाया

होऊं। एक बार दो छोटे उपन्यास किसी को बोलकर लिखवाने चाहे। अब दिक्कत ये कि कभी तो वे दो दिन बाद आ जाते तो कभी दस दिन एक खबर न रहती। यदि मैं उन्हें स्वयं लिख पाता, तो उनका रूप कुछ और ही होता। मेरी आदत रचना में बार-बार संशोधन करने की रही है। मुझे रात का सन्नाटा और भोर की शांति रचना के लिए अच्छी लगती है।’

विष्णुजी प्रायः नोट्स लिखा करते थे। कोई विचार या वस्तु सूझी तो उसे कागज पर नोट कर लिया। उनका उपयोग वह ‘मैमोरी एड’ के रूप में करते थे। ‘आवारा मसीहा’ पर चर्चा चल निकले, तो विष्णुजी भावुक हो आते थे। बहुत धीमे बोलने लगते और बताते, ‘उसे लिखने में मेरे जैसे आदमी ने पूरे चौदह बरस लगा दिए। ऐसे में जबर्दस्त आर्थिक दबाव से गुजरा। कई लोगों ने तो यहां तक कह दिया कि अरे छोड़ो इसे, क्यों अपना वक्त बरबाद कर रहे हो। उपन्यास लिखो, नाटक लिखो। लेकिन चुनौतियों का सामना करने में मुझे आनंद मिलता था। ‘आवारा मसीहा’ पूरा होने पर मैंने वह पाया जिसके बारे में सोचा भी नहीं था।’

एक दिन एक सज्जन का पत्र विष्णुजी के पास आया कि शरत की कहानी ‘अंतर्यामी’ तो मिली, पर उसका मूल बांग्ला भी चाहिए। अब साहब, विष्णुजी लगे हैं उसे खोजने में। जब तक वह खोज न लिया, उन्हें चैन न पड़ा। शरत को लेकर प्रायः उनके पास जिज्ञासा भरे पत्र आते। कई पत्र तो उनमें बांग्ला के विद्वानों के भी होते। कोई पूछता कि उनकी प्रामाणिक जन्म व निधन तिथि क्या है तो कोई जीवन के किसी प्रसंग की प्रामाणिकता पर प्रश्न करता। विष्णुजी सबके उत्तर देते। हमारे लिए तो वह ऐनसाइक्लोपीडिया थे।

पाब्लो नेरूदा सम्मान उन्हें मुद्राराक्षसजी के प्रयत्नों से जब दिया गया था, तब यह पता चला कि हिंदी साहित्य समाज उनके प्रति कितना सम्मान रखता है। हम लोग स्वयं को उनको सबसे निकट समझते थे, लेकिन एक बात हमें उनके निधन के उपरांत ही पता चल सकी कि उन्होंने अपना देह-दान कर दिया था। मेरी जानकारी में हिंदी के वह ऐसे पहले लेखक थे जो जीवन भर तो देश के लिए सोचते ही रहे, निधन के बाद भी उनका शरीर देश के काम आया। इस अर्थ में वह अपना प्रतिमान स्वयं थे। उनके बेटे अतुल प्रभाकर में उनकी झांझ नजर आती है। सरल और स्पष्ट।



सहज, सरल परमानंदजी

रघुवंश मणि

परमानंद श्रीवास्तवजी से पहली मुलाकात कुछ ऐसी थी कि कभी भुलाई नहीं जा सकती। मैं मित्रवर सदानंद शाही के आमंत्रण पर प्रेमचंद संस्थान द्वारा महाप्राण निराला पर आयोजित एक सेमिनार में गोरखपुर पहुंचा था। उन दिनों मैंने लिखना प्रारंभ भर किया था। मेरे कुछ लेख और कविताएं इधर-उधर प्रकाशित हुए थे। मुझे नहीं लगता कि उस समय तक मेरे बारे में साहित्य समाज के लोगों को कुछ विशेष जानकारी रही होगी। मुझे ठीक से याद है कि संगोष्ठी का विषय था 'निराला और उत्तर औपनिवेशिकता'। यह विषय हिंदी जगत में लोगों के लिए उन दिनों थोड़ा अपरिचित ही था। उत्तर औपनिवेशिकता का प्रत्यय हिंदी के पाठकों के लिए बिलकुल नया था। अंग्रेजी साहित्य से परिचित होने के कारण यह मेरे लिए उतना अपरिचित विषय नहीं था लेकिन मेरे पास इस विषय पर कोई लिखित आलेख नहीं था। मैं कुछ नोट्स लेकर ही अपनी बात कहने आया था। अपने लेख के लिए मैंने एक शीर्षक जरूर तय कर लिया था- 'निराला के आत्मनिर्धारण'। उस सत्र में मंच पर केदारनाथ सिंह और मैनेजर पाण्डेय जैसी विभूतियां थीं जो सभी के लिए आदरणीय थीं। मैं मन ही मन थोड़ा संकोचग्रस्त था कि सिर्फ नोट्स के आधार पर इतने नामचीन लोगों के बीच कुछ बोलना कितना संभव हो सकेगा।

परमानंद श्रीवास्तव के बारे में मैं अपने शिवहर्ष किसान स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बस्ती के अध्यापक साथियों से काफी कुछ सुन और जान चुका था। महाविद्यालय के अधिकांश अध्यापकों के वे शिक्षक या गुरुतुल्य थे। उनके महत्वपूर्ण कार्यों के बारे में मुझे वैसे भी काफी जानकारी थी। उनकी कई पुस्तकें मैं पढ़ भी चुका था तथा उनकी विद्वता का कायल था। पहली बार उनसे मुलाकात में मैं अपने को पर्याप्त संकुचित अनुभव कर रहा था। वैसे भी वे प्रेमचंद संस्थान के इस कार्यक्रम को अत्यंत गंभीरता से देखभाल रहे थे। उन्होंने सफेद कुर्ता-पैजामा पहन रखा था। पैजामा की मोहरी अपेक्षाकृत पतली थी। उनके कंधे पर कपड़े का एक झोला था जिसमें उन्होंने कुछ जरूरी चीजें रखी रहीं होंगी, पैर में एक सामान्य सी चप्पल थी। हिंदी के वरिष्ठ लेखक के रूप में यह उनका सामान्य पहनावा था जिससे उनकी एक विशिष्ट पहचान बनती थी। वे अपने बालों को सर से चिपकाकर रखते थे। मैंने बाद में उन्हें हमेशा इसी वेश-विन्यास में देखा। उनकी चालढाल में एक खास तरह की तेजी थी जिसके चलते वे बेहद चुस्त-दुरूस्त लगते थे।

कार्यक्रम प्रारंभ होने पर मैंने पाया कि वे मंच के नीचे ही पहली पंक्ति में बैठे थे और व्यवस्था

से लेकर कार्यक्रम तक पर उनकी निगाह थी। बोलने के लिए मैं मंच पर गया और मैंने अपना व्याख्यान अपनी योजना के अनुसार ही प्रस्तुत किया। व्याख्यान खत्म होने पर कुछ आश्वस्त करने वाली तालियां भी बजीं और जब मैं नीचे आया तो परमानंदजी ने मुझे अपने पास बुलाया और बगल की कुर्सी पर बैठने के लिए कहा फिर उन्होंने मुझसे मुस्कराते हुए कहा कि मेरा व्याख्यान उन्हें बहुत अच्छा लगा। यह भी कहा कि उन्हें मेरा प्रस्तुत किया गया वह लेख चाहिए और यह कि उसे वे पत्रिका 'साखी' में छापना चाहेंगे।

मेरे लिए तो यह एक बड़ी बात थी कि मेरे व्याख्यान की प्रशंसा परमानंद श्रीवास्तवजी जैसे वरिष्ठ आलोचक ने की। वे हिंदी के शिखर आलोचकों में से थे और मैं एक नया लेखक जिसकी कोई विशेष पहचान ही नहीं बन पाई थी। मैं फूला नहीं समा रहा था मगर लेख तो था ही नहीं। मैंने थोड़ा लज्जित होते हुए बताया कि लेख तो है ही नहीं केवल नोट्स हैं। उन्होंने फिर पूछा कि क्या मैं यह लेख उन्हें जल्द पूरा करके दे सकता हूँ। मैंने 'हां' में जवाब दिया तो उन्होंने अपने झोले में से कलम और पैड निकाला और एक पन्ने पर अपना पता लिखकर मुझे थमा दिया। उन दिनों तक ईमेल बिलकुल फैशन में नहीं था और डाक से ही सारा पत्र व्यवहार होता था। भोजन के समय भी वे मेरी तारीफ करते रहे। मेरे लिए यह एक बहुत बड़ी बात थी। उस मंच से अन्य लोगों ने भी व्याख्यान दिए थे, मगर वे मेरी ही तारीफ कर रहे थे। डॉक्टर साहब के व्यवहार से मैं इतना प्रोत्साहित हुआ कि मैंने एक हफ्ते के भीतर ही लेख पूरा कर उन्हें पोस्ट कर दिया। उन्होंने भी लेख को 'साखी' के अगले ही अंक में प्रकाशित कर दिया।

परमानंद श्रीवास्तवजी से इस पहली मुलाकात का ही मुझ पर बहुत गहरा असर हुआ। खासकर उनकी सहजता और सौजन्य का। मेरे जैसे नए लेखक के साथ उन्होंने जिस प्रकार का सौजन्य दिखाया वह मेरे लिए अविस्मरणीय रहेगा। मैंने बाद में पाया कि वे नए लेखकों के प्रति बहुत अधिक स्नेह रखते थे। उनके पास नए लेखकों को पहचान लेने वाली एक अचूक दृष्टि थी। उन्होंने मेरे जैसे बहुत से लेखकों को आगे बढ़ाया। कभी नए लेखकों को अपने समीक्षा लेखन में स्थान देकर और कभी उनकी पुस्तकों को प्रकाशित कराकर। मेरी भी प्रारंभिक दो पुस्तकें डॉ. साहब की ही कोशिशों से सामने आ सकीं। मेरी पहली पुस्तक 'समय में हस्तक्षेप' जो अनुवादों की पुस्तक थी उन्हीं के प्रयास से सामने आई। उन्होंने व्यक्तिगत प्रयास कर प्रकाशक अशोक गुप्त से कहकर यह पुस्तक छपवायी थी। मेरी आलोचना की पुस्तक 'निर्वचन' के लिए भी उन्होंने शिल्पायन को प्रेरित किया था और कई-कई फोन भी किए थे।

परमानंद श्रीवास्तवजी को नए लेखन और नए लेखकों में विशेष रुचि थी। देखा जाय तो उन्होंने अपने समवयस्क लोगों के नए लेखन से लेकर बिलकुल नए लेखकों की रचनात्मकता को अपने ध्यान में रखा। कभी-कभी इस बात के लिए उनकी आलोचना भी होती थी कि वे नए लेखकों पर ज्यादा लिखते हैं और उन्हें अपनी आलोचना में आवश्यकता से अधिक महत्व देते हैं। यह बात सही भी थी कि वे नए लोगों में रहना भी ज्यादा पसंद करते थे। नए लेखकों को आगे बढ़ाने में वे संकोच नहीं करते थे। अकसर कार्यक्रमों में वे नए लेखकों से मिलकर उनके क्रियाकलापों के बारे में जानकारी लेते थे और अनुपस्थित नए लेखकों के बारे में भी पूछते थे। उन पर यह मिथ्या आरोप भी लगाया जाता था कि वे केवल युवा लेखिकाओं को महत्व देते थे। मगर यह वास्तव में हिंदी जगत

में व्याप्त पुरुष वर्चस्व के ही कारण था क्योंकि यदि हम उनके लेखन पर दृष्टि डालें तो पाएंगे कि उन्होंने बड़ी संख्या में लेखकों पर ही लिखा है। वे जिस स्वभाव के थे उसके चलते वे पुरुष और स्त्री के लैंगिक अंतर को बहुत महत्व नहीं देते थे। उनके लिए किसी लेखक का लिखा हुआ ही सबसे महत्वपूर्ण था। उनके दौर में शायद ही कोई ऐसा महत्वपूर्ण रचनाकार रहा हो जिसके विषय में उन्होंने कुछ न लिखा हो लेकिन पुरुष प्रधानता की सांस्कृतिक विकृतियां कुछ ऐसी हैं कि लोगों को लेखिकाएं ही दिखाई देती थीं। लोग भूल जाते थे कि ये वही परमानंदजी हैं जिन्होंने अरुण कमल, स्वप्निल श्रीवास्तव, राजेश जोशी, अखिलेश, अष्टभुजा शुक्ल से लेकर चंदन पांडेय तक पर कलम चलाई थी और ये सभी रचनाकार संयोग या दुर्योग से स्त्री नहीं थे।

यदि हम हिंदी आलोचना में साठ के दशक के दौर से उभरकर सामने आई आलोचना को विचार में रखें तो उसके दो पक्ष दिखाई देंगे। एक उस घनघोर वाद-विवाद का पक्ष जहां विचारधारा और अभिरुचि के प्रश्न थे। यह उस युद्धक्षेत्र वाली स्थिति थी जिसमें विचारों का संघर्ष चल रहा था। इस दौर में नामवर सिंह अपनी वाद-विवाद प्रतिभा के बल पर सबसे महत्वपूर्ण आलोचक के रूप में सामने आए। यदि परमानंद श्रीवास्तव की ही शब्दावली का प्रयोग करना हो तो यह साहित्य जगत में यथार्थ की स्थापना के लिए संघर्ष था। यहां युद्ध में विपक्षी सेना को पराजित करना ही सबसे जरूरी लगता था। परमानंदजी ने भी 'कविता में यथार्थ के लिए संघर्ष' जैसा लेख प्रस्तुत किया था। शास्त्रार्थ की इस निर्मम कार्रवाई के बीच परमानंदजी ने आलोचना का दूसरा काम भी संभाला। वह कार्यभार था अपने समय की सृजनात्मकता को दृष्टि में रखते हुए उन्हें रेखांकित करना और उनके गुणों को समीक्षा के माध्यम से सुरक्षित करते हुए संस्कृति में समाहित करना। यह कार्य वे अपने जीवन के अंतिम समय तक करते रहे। यह वास्तव में संस्कृति को सजाने का कार्य था, एक ऐसा विधेयात्मक कार्य जिसमें किसी प्रकार का नायकत्व नहीं जुड़ता था। साथ ही साथ यह एक बेहद श्रमसाध्य कार्य था। उनकी सामान्य जीवन संगिनी ने यह बात मुझे बताई कि वे बहुत अधिक श्रम करते थे। वे अपने दिन का एक लंबा समय लेखन को समर्पित करते थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था कि एक लेखक को दिन भर में कम से एक लेख भर का तो लिखना ही चाहिए। मेरे जैसे आलसी व्यक्ति के लिए इस मशविरे पर चलना संभव नहीं था लेकिन वे यह कार्य करते रहे। उनकी दृष्टि साहित्य में आ रहे नए पर सदा रहती थी। इसके लिए वे लगातार नई-नई पुस्तकें पढ़ते रहते थे। यह कार्य एक तरह से साहित्यिक बागवानी का था जहां चीजों को सजाना संवारना जरूरी होता है। परमानंदजी की आलोचना वास्तव में हिंदी में सृजनात्मकता की संस्कृति को सजाने का इतिहास है जिसे उनके जैसा सजग और तत्पर व्यक्ति ही कर सकता था। डॉ. साहब के अवसान के बाद साहित्य में आ रहे नए लेखन का बहुत हिसाब नहीं रखा जा पा रहा है। यह एक ऐसी रिक्ति है जिसे उनके जाने के बाद भरा नहीं जा पा रहा है क्योंकि इस कार्य के लिए कठिन श्रम, तत्परता और सन्नद्धता की आवश्यकता है।

पहली मुलाकात के बाद डाक्टर साहब से अनगणित बार मुलाकातें हुईं। कुछ सालों बाद तो ऐसा हो गया कि मैं किसी भी काम से गोरखपुर जाता था तो उनसे अवश्य मिलता था। वे भी बहुत उत्साह के साथ मिलते थे और साहित्य पर चर्चा करते थे। पूछते थे कि मैं क्या लिख रहा हूं और अपने लिखे हुए के बारे में भी बताते थे। यह सिलसिला तब तक चलता रहा जब वे अंतिम दिनों

में अस्पताल में भरती नहीं हो गए और बात करने की स्थिति में ही नहीं रह गए। वे काफी समय तक बीमार रहे थे। शरीर में खून की कमी का असर दिमाग पर था और लम्बे समय से उनका लेखन कार्य भी बंद हो गया था। उनकी स्मृति पर भी बीमारी का प्रभाव था। बाद के दिनों में हुई कुछ मुलाकातों में उनसे ठीक से बातचीत भी नहीं हो पाती थी। मगर 28 अक्टूबर 2013 से वे गंभीर रूप से बीमार हुए और उन्हें गोरखपुर के आनंदलोक अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा था। मैं जब अंतिम बार डॉ. साहब से मिलने अस्पताल गया था तो वे पूरी तरह से बेहोश थे। उन्हें वेंटिलेटर पर रखा गया था। तेज सांसे ले रहे थे और लगता था कि अब ज्यादा दिनों का साथ नहीं रहेगा। अंततः कई दिनों के संघर्ष के बाद 5 नवंबर 2013 को वे हमारे बीच से चले गए।

डॉ. साहब ने जब आलोचना पत्रिका का संपादन कार्य संभाला और सहस्राब्दी अंकों की शृंखला प्रारंभ हुई तो आलोचना का संपादन उनके लिए हर क्षण विचारणीय हो गया। मुझे याद है कि जब भी मैं मिलता था वे आलोचना की योजनाओं के विषय में चर्चा किया करते थे। उनकी जो योजनाएं होती थीं उनमें कभी-कभी मैं भी शामिल हो जाया करता था। वे जानते थे कि मैं अंग्रेजी का अध्यापक हूँ तो उन्होंने अनुवादों की जिम्मेदारी मुझे सौंपनी शुरू की। अनुवाद कार्य मेरी प्राथमिकता में कभी नहीं था, मगर एक संपादक के रूप में उनकी यह खूबी ही थी कि उन्होंने मुझसे ढेर सारे अनुवाद करवा लिए। संपादक के रूप में मैंने उन्हें बहुत श्रम करने वाला पाया। रचनाओं के लिए वे तमाम लेखकों को फोन करते थे और यथाशीघ्र रचनाएं मंगाने का प्रयास करते थे। कभी-कभी तो सप्ताह भर में ही वे कई फोन घनघना दिया करते थे। फिर रचनाओं को पढ़ते और संपादित करते थे। उनका यह मानना था कि संपादक को लेखक की रचना में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। वे कहा करते थे कि हर रचना का अपना एक व्यक्तित्व होता है जिसे उसका लेखक आकारित करता है। उसमें अधिक हस्तक्षेप करने से रचना का वह व्यक्तित्व खराब हो जाता है। मैं समझता हूँ कि उनके संपादन के दौर में आलोचना के अंक लगभग नियमित रहे। इस दौर में आलोचना ने अपने कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण और संग्रहणीय अंक प्रकाशित किए जिनमें सांप्रदायिकता विरोधी अंक, भीष्म साहनी पर केंद्रित अंक विशिष्ट थे। उस दौर में हिंदी साहित्य जगत में कुछ संपादक विवादप्रिय होते थे, आज भी होते ही हैं। उनकी पत्रिकाएं विवादों के चलते ही चर्चा में रहती थीं। ऐसे संपादक शरारतन ऐसी सामग्री प्रकाशित करते थे जिससे पत्रिका चर्चा में बनी रहे। मगर डॉ. परमानंद श्रीवास्तवजी विवादों के बजाय गुणवत्ता से भरी रचनाओं को छापने में विश्वास करते थे। परिणामस्वरूप वे एक साथ पत्रिका के कई-कई अंकों की तैयारी एक साथ किया करते थे ताकि अच्छे लेखकों से रचनाएं समय पर प्राप्त हो सकें।

परमानंदजी की सहजता और सज्जनता की चर्चा के बीच उस प्रतिरोध का भी जिक्र करना होगा जिसे उन्होंने अपने लेखन का हिस्सा बनाया था। जाहिर है कि परमानंदजी के पक्ष से किसी उग्र आंदोलन की तो कोई बात सोचना भी असंभव सा लगेगा। मगर वे लेखन और विचार के दायरे में एक प्राश्निक की तरह रहते थे। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था कि लेखकों को प्रश्न उठाना चाहिए। लेखक सामान्य रूप में यदि कुछ भी नहीं कर सकता तो प्रश्न तो उठा ही सकता है। उनका तात्पर्य यह था कि एक लेखक को सत्ता के वर्चस्व को स्वीकार नहीं करना चाहिए। सत्ता का प्रतिरोध वह अपने स्तर पर कम से कम प्रश्न उठाकर तो कर ही सकता है। सांप्रदायिकता के दौर में उन्होंने

सांप्रदायिकता का सदा विरोध किया। उनके लेखन में अकसर 'कठिन समय' प्रत्यय आता था। उन पर केंद्रित कृष्णचन्द्र लालजी द्वारा संपादित पुस्तक का शीर्षक भी है 'कठिन समय में शब्द।' उन्होंने मुझे यह बात भी बताई थी कि सांप्रदायिक उन्माद के दौर में उन्हें गोरखपुर में फोन पर परेशान करने का प्रयास किया गया लेकिन इस सब के बावजूद उनकी बाद की पुस्तक 'कविता का उत्तरजीवन' तक में सांप्रदायिकता का प्रतिरोध पढ़ा जा सकता है।

परमानंद श्रीवास्तव का जीवन साहित्य को पूर्णतः समर्पित था। मुझे नहीं लगता कि वे साहित्य के अलावा भी कुछ करते या सोचते रहे होंगे। उनकी बैठक में एक तख्ता हुआ करता था जिस पर पुस्तकें ही पुस्तकें हुआ करती थीं, ज्यादातर नई पुस्तकें और पत्रिकाएं जिनके बारे में वे अकसर चर्चाएं भी करते थे। फिर लकड़ी का एक पुराने किस्म का सोफा था जिस पर वे बैठते थे और उसी पर अतिथियों का स्वागत करते थे। उसके पीछे एक डायनिंग टेबिल थी। डायनिंग टेबिल के उपरांत ऊपर तक जाने वाली किताबों की आलमारी थी जिस पर किताबों को धूल-गर्द से बचाने के लिए शीशे चढ़े हुए थे। एक बार उनकी बीमारी के दौरान डॉक्टर साहब के सोने के कमरे में जाने का अवसर मिला तो मैंने पाया कि वहां भी एक छोटी सी मेज थी जिससे एक कुर्सी सटी पड़ी रहती थी। मुझे परिजनों द्वारा बताया गया कि वे यहां भी बैठकर लिखा-पढ़ा करते थे। डॉ. साहब से हुई सैकड़ों मुलाकातों में मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी साहित्य के अतिरिक्त कुछ इधर-उधर की बातें की हों। अपनी गंभीर बीमारी के दिनों में भी हालचाल पूछने पर वे सिर्फ एक दो पंक्तियों में अपनी बीमारी के बारे में बताते थे और फिर साहित्य चर्चा प्रारंभ कर देते थे। कहां क्या छप रहा है कौन क्या लिख रहा है, यही सब उनकी रुचि का विषय थे? मुझसे उन्होंने अपनी बीमारी के बारे में बहुत कम बातें की होंगी। डॉ. साहब के जीवन के अंतिम दिनों में जब मैं उनसे मिलने गया तो मेरे साथ सुपरिचित लेखक सुधाकर अदीब थे। उन दिनों उन्हें कुछ बातें भूलने भी लगी थीं। सुधाकर अदीब ने उनकी स्मृति को टेस्ट करने के लिए डॉ. साहब से पूछा कि क्या वे उन्हें पहचान रहे हैं। डॉ. साहब ने उन्हें तो पहचाना ही, उनके द्वारा आयोजित कार्यक्रमों का भी हवाला देना शुरू किया। स्मृतियों और विस्मृतियों के बीच अंतिम दिनों में भी उनके साथ साहित्य की यादें बनी रहीं। संभवतः साहित्य ही उनके जीवन का संबल और सा रतत्व था।

परमानंद श्रीवास्तव साहित्य के विषय में संतुलित दृष्टि रखते थे। उन्हें किसी भी प्रकार की अति स्वीकार नहीं थी। व्यक्तिरूप में भी वे सहजता के साथ ही साथ संबंधों के प्रति संवेदनशील थे। यह तत्व उनके व्यावहारिक जीवन को एक विशिष्ट प्रकार की मानवीयता प्रदान करता था। अपने जीवन में वे हमेशा बातचीत के लिए रिक्ति छोड़ते थे। इसके चलते वे उन लोगों से भी सौजन्य बनाए रखते थे जो परोक्षतः उन्हें भला-बुरा कहते रहते थे। अपने बारे में लोगों द्वारा फैलाए गए अपवादों से वे अपरिचित नहीं थे। अपवादों के विषय में जानते हुए भी वे चुप रहते थे और ऐसे लोगों के प्रति भी अपना सौजन्य बनाये रखते थे। डॉ. साहब के इस व्यवहार को लोग उनकी कमजोरी मानते थे। उनके कुछ शुभेच्छु उनकी इस सज्जनता और खुलेपन को लेकर नाराज भी रहते थे कि लोग उन्हें कुछ भी कहते रहते हैं और वे कोई प्रतिक्रिया ही नहीं व्यक्त करते। उन्होंने अपनी असंतुष्टि या नाराजगी को कभी मंचों से व्यक्त नहीं किया। एक बार मैंने उनसे यह बात थोड़ा संकोच से कही थी तो उन्होंने थोड़ा मुस्कराते हुए जवाब दिया था, 'कीचड़ उछालने से फैलता है।' उनके इस वाक्य

को सुनने के बाद मैं चुप हो गया और फिर मैंने डॉ. साहब से इस विषय पर कभी कोई बात नहीं की। सहजता, सौजन्य और सज्जनता के इस आदर्श वाक्य पर आखिर क्या टिप्पणी की जा सकती थी?

मुझे याद पड़ता है कि जब वे अयोध्या आए थे तो एक सम्मान कार्यक्रम में अशोक वाजपेयी ने उन्हें तुरंत आलोचक कहा था। सम्मान प्रदान करते समय कहे गए इस प्रकार के परपीड़क वक्तव्य से वाजपेयीजी को कुछ आनंदानुभूति अवश्य हुई होगी। बहुत से लोग उनकी निंदा के द्वारा इस प्रकार के परपीड़क आनंद की चर्वणा करते थे। इसी प्रकार परमानंदजी के जीवन के 75 वर्ष पूरे होने के अवसर पर आयोजित कार्यक्रम में बोलते हुए उनके परम मित्र डॉ. नामवर सिंह ने भी ऐसी बातें कहीं थीं जो अवसरानुकूल नहीं थीं। एक दूसरे कार्यक्रम में एक बिलकुल नए लेखक ने सुनी-सुनाई बातों को लेकर उन पर आक्षेप लगाया था जिसमें कोई सच्चाई नहीं थी। डॉ. साहब सारी बातों को चुपचाप सुनते जाते थे। वे कभी किसी के साथ अपने व्यवहार में अभद्रता की सीमा तक नहीं गए।

‘कीचड़ उछालने से फैलता है’, यह वाक्य हमेशा मेरे जेहन में अटका रहेगा। जीवन और साहित्य के प्रति विधेयात्मकता ही उनके क्रियाकलाप को संचालित करती रही। नकारात्मकता के लिए उनके जीवन में कहीं कोई स्थान नहीं था बल्कि दूसरों द्वारा फैलाए गए नकारात्मकता के जहर को वे चुपचाप पीते ही रहे।

बाद में मैंने पाया कि मुक्तिबोध का यह वाक्य डॉ. साहब अधूरा ही उद्धरित करते थे। पूरा वाक्य इस तरह से है:- ‘कीचड़ उछालने से फैलता है और जहर पचाने से।’

सूचना

बहुवचन का संस्मरण विशेषांक ₹ 100/- मूल्य का है। जो पाठक संस्मरण विशेषांक प्राप्त करना चाहते हैं वे रजिस्टर्ड डाक खर्च सहित ₹ 150/- का बैंक ड्राफ्ट भेजकर प्राप्त कर सकते हैं। यह अंक ₹ 300/- वार्षिक सदस्यता शुल्क भेज कर भी प्राप्त किया जा सकता है।

जिंदगी की कहानी

रेवती रमण

जानकीवल्लभ शास्त्री का जन्म 1916 ई. में हुआ था- माघ शुक्ल द्वितीय को 1 दिन था बुधवार अंग्रेजी तिथि 5 जनवरी। किंतु उनके जन्मोत्सव की तिथि हर साल बदल जाती थी। भारतीय समय के अनुसार माघ महीने में शुक्ल पक्ष की द्वितीया को निराला निकेतन, मुजफ्फरपुर में कवि मेला लगता था। यह उनके जन्मोत्सव का दिन होता था। रात भर कवि-सम्मेलन और संगीत-समारोह चलता था। जानकीवल्लभजी अपनी अंतिम सांस तक 'निराला-जयंती' धूमधाम से मनाते रहे। निराला ने लिखा है- 'मैं ही वसंत का अग्रदूत।' जानकीवल्लभजी भी लिखते हैं- 'अनुज है मेरा वसंत।' निराला-निकेतन में वसंतपंचमी को ही 'निराला जयंती' मनाई जाती थी। यह जानकीवल्लभजी के निरालामय होने का प्रमाण है। वह भी निराला की तरह ही प्रायः भाव-लोक में ही विचरण करते रहे।

कहना न होगा कि जानकीवल्लभजी की वजह से मुजफ्फरपुर को बिहार की संस्कारधानी समझा जाता था किंतु उनकी जन्मभूमि मैगरा थी, बिहार के गया जिले में। उनके पिता का नाम है विद्यावारिधि पं. रामानुग्रह शर्मा और मां का अनुपमा। 'हंसबलाका' में जानकीवल्लभजी के दादाजी का नाम लिखा है- पं. हरिवंश शर्मा। पंडिताई उन्हें पैतृक विरासत में मिली। आत्मकथा के प्रसंग में उन्होंने बड़े गर्व से लिखा है- 'हम हैं सामवेदी, माध्यन्दिनी शाखा, भारद्वाज गोत्र और त्रिप्रवरवाले शाक द्विपीय ब्राह्मण। पाठक हमारे कुल की उपाधि है, यों जाने क्यों, हम सब शर्मा कहलाए।

जानकीवल्लभजी के पिता- रामानुग्रहजी महज छह महीने के थे, जब पिता हरिवंशजी का साया उनके सर से सदा के लिए उठ गया और आठ वर्ष के हुए नहीं कि उनकी माताजी भी चल बसीं। ऐसे बालक को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, सहज बोधगम्य है। वैसे, रामानुग्रहजी थे अत्यंत प्रतिभाशाली। पांच-सात वर्षों के सतत् श्रम से उन्होंने 'सारस्वत चंद्रिका व्याकरण', 'अमरकोष', 'भट्टि काव्य', 'हनुमन्नाटक' और 'कृष्ण-कर्णामृत' कंठस्थ कर लिया। अल्पवय में ही भर्तृहरि का 'नीति शतक' उन्हें याद हो गया। पंद्रह की उम्र में ही और अधिक ज्ञानार्जन के लिए वे घर से निकल पड़े। रास्ते में उन्हें एक साधु मिले। साधु ने उन्हें एक जड़ी दी और एक मंत्राभिषिक्त यंत्र भी दिया। जड़ी खाने से उनमें एक अद्भुत स्फूर्ति आ गई और यंत्र जब तक उनकी कुहनी के पास बांह में बंधा रहा, वह कभी बीमार नहीं हुए।

साधु की प्रेरणा से रामानुग्रहजी गया के पं. चंद्रशेखर भट्ट के पास पहुंचे। भट्टजी तारा के

उग्र साधक थे। उन्होंने रामानुग्रहजी को भुवनेश्वरी-सिद्ध-सारस्वत स्तोत्र दिया, बीज मंत्र और अनुष्ठान की विधि भी बताई। मंत्र-जप और स्तोत्र-पाठ के प्रभाव से अगले बाहर वर्षों में रामनुग्रहजी ने 'सिद्धांत कौमुदी' से लेकर 'महाभाष्य' तक को हृदयंगम कर लिया। ज्योतिष, तंत्र और धर्मशास्त्र आदि के अध्ययन के सिलसिले में रामानुग्रहजी वर्षों वाराणसी से लेकर हरिद्वार तक की परिक्रमा करते रहे। तंत्र में उनकी गहरी पैठ थी। योगियों, तांत्रिकों और साधु-महात्माओं की संगति उन्हें प्रिय थी। नदिया जिले के पं. अक्षय कुमार भट्टाचार्य से दीक्षित होकर तंत्र-साधना के लिए वह हिमालय की तलहटी में भी खूब भटके। काशी, वैद्यनाथ धाम और जगन्नाथ पुरी के साधकों से प्रभावित रामानुग्रहजी देखने में श्री श्यामाचरण लाहिड़ी जैसे लगते थे। हरिद्वार में हर की पैडी के पास बदरीनाथ की यात्रा से लौट रहे गांव (मैगरा) के बाबा उन्हें अचानक मिल गए और वे उनको गांव लौटा लाए। अब रामानुग्रहजी गृहस्थाश्रम में दाखिल हुए। उनका विवाह अनुपमा से हुआ। अनुपमा जानकीवल्लभजी की मां, जल्दी ही चल बसीं। जानकीवल्लभजी सिर्फ चार साल की उम्र में ही मातृ-स्नेह से वंचित हो गए। अपनी मां की छवि का रेखांकन जानकीवल्लभजी ने किया है- 'खुलता गेहुआं रंग, मझोले से कुछ ऊंचा कद, चौड़ा भरा मुंह-मुंह पर शीतला के दो-चार चिह्न, धुले-धुले सपनों की सचाई की आंच दिखाने पर तुली, मन-मंदिर की खुली खिड़कियों-सी आँखें, भरे-पूरे शरीर पर अतिसाधारण वस्त्र और अल्पमूल्य दो एक आभूषण, प्रसन्न प्रकृति, निश्छल बोल'- यह जानकीवल्लभ शास्त्री की मां थीं।

जानकीवल्लभ के पृथ्वी पर पदार्पण के पहले उनकी दो बहनें और एक भाई स्वर्ग सिंघार चुके थे। इस बुरे अनुभव का खामियाजा उन्हें भुगतना पड़ा। मां को भी कठिन तप करना पड़ा। प्रसूति गृह में ही शिशु जानकीवल्लभ की नाक आर-पार छेद डाली गई और भी उपाय किए गए। सूतिका-गृह की स्वामिनी दलित स्त्री के हाथों उन्हें कौड़ियों के मोल बेच दिया गया।

आगे मातृ-स्नेह से वंचित चार वर्ष के बालक जानकीवल्लभ को तमाम तरह की यातनाओं से गुजरना पड़ा। पिता अतिशीघ्र पुत्र को पंडित बनाना चाहते थे। वे क्रोधी बहुत थे। पिता की प्रताड़ना के अनेक मार्मिक प्रसंग जानकीवल्लभजी के ग्रंथों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं लेकिन इस प्रताड़ना का उन्हें लाभ ही हुआ। तथापि, एक कसक हृदय में रही, पिता के प्रहार से बचानेवाली मां के न होने का।

बावजूद इसके जानकीवल्लभ अपने पिता पं. रामानुग्रह शर्मा को ही अपना दीक्षा-गुरु आजीवन मानते रहे। उन्हें अपने पिता से ही गायत्री और चिंतामणि दोनों मंत्र प्राप्त हुए। 'हंसबलाका' में उन्होंने लिखा- 'मैंने सात की उमर में पास किया था, नौ की उमर तक प्यारी चरण सरकार की बनाई अंग्रेजी की दो किताबें खतम कर, दसवें साल संस्कृत शुरू की थी और ग्यारह की उम्र (सन् 27) में प्रथम श्रेणी में प्रथम पास कर सरकारी स्कॉलरशिप पाई थी, सोलहवें साल ('32) शास्त्री और महज अट्ठारह की उम्र में ('34) बिहार-उड़ीसा भर में फर्स्ट होकर गोल्डमेडल के साहित्याचार्य हुआ था। फिर इंटर तक अंग्रेजी और बंगाली पढ़ी, सर्वोत्तमता के साथ साहित्यरत्न (1935), वेदांतशास्त्री और वेदांताचार्य (1940-41ई.) हुआ। दोनों में बहुमूल्य स्वर्णपदक प्राप्त किए। किंतु आह! इन सारी सफलताओं से घर में छलकने वाला कौन था?' (पृ.-60)

जानकीवल्लभजी के लिए जीने का अर्थ था विषम परिस्थितियों में जीना। उनके जीवन के कई

अभाव हैं जो रचना में महाभाव बने हैं। शैशव में ही मां की ममता से वंचित हो जाना असमय की वयस्कता का उपजीव्य बना। उनके पिता के पुनर्विवाह नहीं किया इसलिए विमाता के त्रास का सामना उन्हें नहीं करना पड़ा किंतु घर सूना लगता। विधुर पिता जीविकोपार्जन में व्यस्त रहते, अध्ययन-अध्यापन, निरीक्षण-परीक्षण के कार्य में लगे रहते। स्वयं उनका ही विवाह बारह वर्ष की उम्र में हो गया, सन् 1928 में। उनकी पहली पत्नी चंद्रकला थीं। तब, जानकीवल्लभजी अर्थाभावग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहे थे। 'अर्थाभाव से जूझते पति का साथ उन्होंने अपनी अंतिम सांस तक दिया। स्वयं जानकीवल्लभजी का लिखा है- 'मैं तब तक गरीबी की अँधेरी धुंध में ज्यों-ज्यों विद्या की किरण चुगता रहा, वह जिंदा रहीं। कॉलेज की नौकरी मिली और वह चल बसीं।'

जानकीवल्लभजी की मां महामारी का शिकार हुईं और पहली पत्नी चंद्रकला उनकी मुफलिसी का। इस बात को वे कभी भुला न सके। चंद्रकला को याद करते हुए, उन्होंने गहरी वेदना के साथ लिखा है- 'मेरे अर्थहीन शब्द उसे निर्जल जलाते रहे। जब आशा का आखिरी सिरा भी जल गया, वह मेरे ही सूखे उच्छ्वास से बुझ गई। कोई नहीं जानता कि पीछे चलकर मैंने अपने अश्रु-स्वेद-रक्त से सनी जिंदगी की गाड़ी कमाई क्यों कुत्ते-बिल्लियों को खिला दी।' (हंसबलाका, पृ.-60)

बहरहाल, पिता अपने इकलौते पुत्र जानकीवल्लभ को यथाशीघ्र पंडित बनाना चाहते थे। उन दिनों संस्कृत भाषा और साहित्य का ज्ञान ही पांडित्य का पर्याय होता था। अंग्रेजी लिखने-बोलनेवालों की धाक थी, पर लोग उनसे डरते ही थे, स्नेह नहीं करते थे। संस्कृत जानने-बोलनेवालों को समाज में विशेष सम्मान प्राप्त था। पर यह भाषा उच्चारण की शुद्धता की मांग करती है। जानकीवल्लभजी बाल्यकाल में बुरी तरह तुतलाते थे। संस्कृत के शिक्षक स्वभावतः क्रोधी होते थे। एक दिन क्लास में उनके एक मास्टर ने इतना पीटा कि उनकी पीठ फट गई, लहू के धब्बे कुर्ते पर उग आए।' पिता को ज्ञात हुआ तो वह क्रुद्ध हुए, किंतु मास्टर से मिले नहीं। रामानुग्रहजी पढ़ाते समय स्वयं भी पुत्र की पिटाई करने में कमजोरी नहीं दिखाते थे। एक बार उन्होंने ऐसा मारा कि जानकीवल्लभजी के सामने के दो दांत टूट गए। मुंह लहलुहान हो गया। 'हंसबलाका' में दर्ज है- 'उन्होंने (पिता ने) मुझे इतना पीटा है, इतनी बार पीटा है और इतनी उग्र निर्दयता से पीटा है कि वह अधिक से अधिक, मेरे लिए मान्य और श्रद्धेय ही बने रह गए हैं; लाख-लाख चेष्टाओं के बाद भी मैं उन्हें प्राणों का प्यार न अर्पित कर सका। उनका उद्देश्य अति पवित्र एवं महान था, किंतु मेरे दुर्भाग्य के कारण उसका साधन उन्होंने क्रूर और कुत्सित पसंद किया था। (हंसबलाका, पृ.-82)

गांव के वातावरण में गालियों की बड़ी भूमिका होती है। गाली बकने में जानकीवल्लभजी शैशव में ही निपुण हो गए थे। उनके गांव के दो-एक रईयों ने रामानुग्रहजी से अंग्रेजी शिक्षा के खर्चीली होने की बात कही। तब गरीब ब्राह्मण का बेटा अमूमन संस्कृत पढ़ने के लिए ही पैदा होता था। रामानुग्रहजी ने जानकीवल्लभ को इस वजह से भी संस्कृत पढ़ाना उचित समझा। पुत्र की विलक्षण प्रतिभा की झलक पिता को मिल चुकी थी लेकिन वे प्रकट में कठोर ही बने रहते। उस युग के अधिसंख्य पिताओं की तरह। नारियल के फल जैसे ऊपर से कठोर किंतु भीतर से मुलायम पुत्र के व्यक्तित्व-विकास के प्रति हर सांस से सजग। पिता अपने पुत्र और गुरु अपने शिष्य को आगे बढ़ता देख मुदित होता था।

जानकीवल्लभ की प्रारंभिक शिक्षा शारदा संस्कृत पाठशाला, मैगरा में हुई। 1926 ई. से 1931

ई. तक तो उनके पिता ही गुरु थे। उनके ही अनुशासन में वह व्याकरण में निष्णात हुए। इस दौरान वे कुछ समय तक दधपा, डाल्टेनगंज में रहे। प्रथमा की परीक्षा में विशिष्टता के साथ सफल हुए। साहित्यशास्त्री के द्वितीय खंड की तैयारी के लिए उन्हें शारदा निवास विद्यालय पीपरपांती, गया जाना पड़ा। पं. दामोदर मिश्र के बाद पं. रमाप्रसाद मिश्र सरीखे संस्कृतज्ञ उनके गुरु बने। इस दौरान अपने जीजा के साथ जानकीवल्लभ पहली बार बनारस गए 1928 ई. में। दूसरी बार 1930 ई. में बनारस गए, क्वीन्स कॉलेज में कोई परीक्षा देने। पं. लक्ष्मण मिश्र के साथ वहां वे महामना पं. मदनमोहन मालवीय से मिले। महामना ने उन्हें आचार्य और एम.ए. करने की प्रेरणा दी। पहले पं. रामावतार शर्मा यह कर चुके थे। महामना ने जानकीवल्लभ को जल्दी विवाह न करने की सलाह दी, किंतु विवाह तो उनका पांच बरस पहले ही हो चुका था।

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में साहित्य शास्त्री हेतु जानकीवल्लभ का नामांकन हो गया। उन्हें शास्त्री और आचार्य बनने में सात साल (1932-38) लगे। इस दौरान मैट्रिक (1935) और इंटर ('38) भी कर लिया। इसके अतिरिक्त साहित्याचार्य, साहित्य रत्न, वेदान्तशास्त्री, वेदांताचार्य (1941) की परीक्षाएं भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। गीता पर अलग से परीक्षाएं पास कीं। 'संगीत प्रभाकर' की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए। संगीत की सैद्धांतिकी में वह अब्बल आए और गायकी में भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। पढ़ाई के दौरान उन्हें कई स्वर्णपदक प्राप्त हुए। वे स्वरचित काव्य-पाठ के लिए भी पुरस्कृत हुए।

आचार्य मारुतिनंदन पाठक के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि 'अध्ययन-काल में जानकीवल्लभजी के वाराणसी-प्रवास के सात वर्ष बहुत महत्वपूर्ण हैं। वहां उन्हें जैसे गुरु मिले उनमें महामहोपाध्याय महादेव शास्त्री, महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र, गोस्वामी दामोदर शास्त्री आदि के नामोल्लेख से ही मन में श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है। वे संस्कृत के अगाध-विद्वान थे। जैसे विद्वानों की आज केवल कल्पना ही की जा सकती है। परीक्षाओं के चक्रव्यूह से बीच-बीच में बाहर निकलकर जानकीवल्लभ थोड़े-थोड़े समय के लिए नौकरी भी कर लेते थे। 1936 में लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज में उन्होंने चार महीने तक अध्यापन किया। उसी समय 1937-38 में वह रायगढ़ राज्य (वर्तमान छत्तीसगढ़) में राजकवि हुए।

रायगढ़ में राजकवि

रायगढ़ के राजा चक्रधर सिंह के आमंत्रण पर युवा जानकीवल्लभ रायगढ़ पहुंचे। वहां भी राजा ने उनकी परीक्षा ली। उत्तीर्ण होने पर वह राजकवि के पद पर प्रतिष्ठित हुए। वहां उड़िया के दासे पंडित और हिंदी के मुकुटधर पाण्डेय पहले से विराज रहे थे। राजा कवि-आचार्य की प्रतिभा से अभिभूत होकर उन्हें अधिक स्नेह देने लगे। बड़ी रानी को शेरों-शायरी से खास लगाव था। महाराज कवि के कंधे पर हाथ रखकर उन्हें रनिवास तक ले जाते। महल में रानी साहिबा अपनी कविताएं सुनातीं। उनके चहेते 'बाबू साहब' को जानकीवल्लभजी 'अभिज्ञान शाकुंतल' और 'मेघदूत' पढ़ाते।

'राजा चक्रधर सिंह अपूर्व प्रतिभाशाली थे।' वह जानकीवल्लभजी से अजीब-अजीब विषयों पर संस्कृत में श्लोक बनाने को कहते थे। भला एक राजकवि वह भी युवा-महाराज को कैसे नाराज कर सकता था? रचते थे जानकीवल्लभजी और दाद मिलती महाराज को। एक बार एक गज़ल की पंक्ति 'जब जरा गरदन झुकाई देख ली' गुणगुनाते हुए महाराज ने कहा- 'कविवर इसे संस्कृत में हू-ब-हू

उतारो। जानकीवल्लभजी ने कहा- 'प्रतिग्रीवा भंग नयन सुख संग जनयति।'

ऐसे ही दरबार में एक समय संगीत-नृत्य का आयोजन था। एक ठुमरी 'बांके नैना रसीले' ने जादू कर दिया। महाराज ने जानकीवल्लभजी को उसे संस्कृत में उतारने को कहा। उन्होंने तत्क्षण 'उतारा-बंक नयनेन मे मानसं मोहितम्।' जाहिर है संस्कृत पर जानकीवल्लभजी का वैसा ही अधिकार था जैसा आम तौर पर लोगों का अपनी मातृभाषाओं पर होता है। किंतु कविता में छंद और स्वतःस्फूर्त भाषा का उपार्जन तो एक जन्मना प्रतिभाशाली कवि ही कर पाता है। 'जानकीवल्लभजी आशु कवि थे, समर्थ अनुवादक भी, राजा की निकटता ने दासे पंडित और मुकुटधर पांडेय को उनके प्रति ईर्ष्यालु बना दिया। मुकुटधरजी अकसर उन्हें संस्कृत की सूक्ति सुनाते- 'राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा'? अर्थात् 'कोई किसी का दिली दोस्त हो यह कहां देखा गया? कहां सुना गया?'

'रायगढ़ में नरबलि होती थी। मेढ़ों की लड़ाई महाराज भले दिखायें, बलि अपने हाथों की चढ़ाते थे।' एक दिन मोती महल के सामने मेढ़ों की लड़ाई दिखाने महाराज जानकीवल्लभ को खींचकर ले गए। तीनों रानियों, राजकुमार-राजकुमारियों के साथ कोच के एक कोने में जानकीवल्लभजी ससंकोच बैठे थे। अपने स्वभाव के विपरीत वह मेढ़ों की लड़ाई का दृश्य देख और सराह रहे थे लेकिन एक सच्चा कवि अपनी अंतरात्मा की अवहेलना कब तक कर सकता है? जानकीवल्लभ आर्थिक कारणों से रायगढ़ में थे, पर मन उनका विद्रोह कर रहा था। राजकवि होकर भी वह प्रसन्न नहीं थे, लिखते हैं-

'रूप लागि आँखि झुरे गुणे मन मोर'- जैसी मनःस्थिति वहां कभी बनती ही न थी। मेरे मन में वन के वसंत बयार में भी चांदनी के फूल न खिले, फिर वह बिजली फँसी हँसी केवड़े और कदंब की डार-डार पर तैरती हुई मैं अपनी बदरायी आँखों कभी देख भी सकता था? हां, सबके साथ हँसकर ओर मन के सूनेपन में अकेले-अकेले रोकर मेढ़ों की लड़ाई देखने का गुनहगार रहता आया था मैं।' (कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे, पृ.-12) कई अन्य कारण भी थे। 'रचता मैं था, मुंह देखी करनेवालों को कहना पड़ता था, महाराज की गहरी सूझ-बूझ को दाद दीजिए और इस अनोखी उड़ान का क्या कहना?' फिर भी सुख-सुविधाओं का मोह भागने से मना करता था।

अंततः 18 जुलाई, 1939 ई. को जानकीवल्लभजी पहले मुजफ्फरपुर आए। उसी साल 26 अगस्त को सुभाषचंद्र बोस की पद-धूलि से यह शहर पवित्र हुआ। संस्कृत कॉलेज में उनके सम्मान में जो अभिनंदन पत्र पढ़ा गया, उसे जानकीवल्लभ ने ही लिखा था। इसके पहले वे महात्मा गांधी का अभिनंदन-पत्र लिख चुके थे, टैगोर और महामना का भी; सरल और स्वाभाविक संस्कृत भाषा में। रायगढ़ से चले तो जानकीवल्लभजी पहले बांदा गए, फिर चित्रकूट। माणिकपुर से इलाहाबाद तक की यात्रा संपन्न हुई। वहां भारती भंडार के पं. वाचस्पति पाठक से मिले। उन्होंने कवि की आवभगत में कमी नहीं की पर नौकरी छोड़ने पर नाराज हुए। नाराज तो पिता श्री रामानुग्रह शर्मा भी हुए। इतने नाराज कि जानकीवल्लभ को पिता का घर सदा के लिए छोड़ देना पड़ा। चल पड़े गंगा पार मुजफ्फरपुर परम धाम, जहां पहुंचकर कहीं लौटना नहीं हो सका।

जानकीवल्लभजी की बात जानकीवल्लभ की जबान से ही सुनें- 'कहने को तो गया का हूं। मुजफ्फरपुर आया तो आया, फिर कहीं गया नहीं।' स्टेशन पर उतरे तो सोचने लगे- 'जाऊं तो जाऊं कहां? अचानक जहन में गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज का नाम चमका.... चवन्नी में एक इक्का मिला।'

... ज्यों-त्यों संस्कृत कॉलेज के कैम्पस में दाखिल हुआ।' (कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे, पृ.-38)

मुजफ्फरपुर-अधिवास के आरंभिक आठ बरस

सन् 1939 ई. की 18 जुलाई को तेईस की उम्र में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री गंगा के इस पार मुजफ्फरपुर आए। आते ही दाखिला लिया अद्वैत वेदान्त में। दो कवि मित्र मिले रामनाथ पाठक 'प्रणयी' और महाशंकर मिश्र 'सुवास'। खर्च का इंतजाम कॉलेज की ओर से तेजस्वी छात्रों को मिलनेवाले वजीफे से हुआ। रायगढ़ में पेट भरा रहता था इसलिए स्वाध्याय क्षुधा बढ़ गई थी। स्मृति अच्छी थी। भोजन में घी खूब पीते। आते ही धाक जमा ली। उन दिनों पं. रामदयाल पांडेय मुजफ्फरपुर में ही टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल के विद्यार्थी थे। हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' और शिवपूजन सहाय जैसे साहित्यकारों से जानकीवल्लभजी की आत्मीयता बढ़ चली। उस युग में मुजफ्फरपुर को उत्तर बिहार का एक कलातीर्थ ही समझा जाता था। माहौल सभ्यताक्रांत न था। मुजफ्फरपुर को ही अपना कर्म-क्षेत्र बनाने के पीछे जानकीवल्लभजी जिन कारणों का उल्लेख करते हैं, उनमें एक बड़ा कारण उमाशंकर बाबू बने। उनके स्नेह ने ऐसा बांधा कि वे सदा के लिए यहीं के होकर रह गए। जानकीवल्लभजी को बाहर निकलने के मौके मिले थे। गया के एक कॉलेज ने आवेदन और इंटरव्यू लिए बिना ही उन्हें नियुक्ति-पत्र भेज दिया था। जानकीवल्लभजी को वहां सीधे जाकर ज्वाइन कर लेना था। नियुक्ति-पत्र देखकर बाबू उमाशंकर की आँखें डबडबा आईं। उन्होंने अश्रुपूरित नेत्रों से निवेदन किया, कहा- 'मेरे जीवनभर आप यहीं रहें।' (अष्टपदी, पृ.-107)

जानकीवल्लभजी ने उमाशंकर बाबू के स्नेह को सर्वोपरि मान दिया और संकल्प किया कि 'सुख छाए या दुःख घहराए, प्रिय आए कि अप्रिय मंडलाए; जो पधारे सबका स्वागत। मुजफ्फरपुर आने के पहले ही बी.एच.यू. के रुइया हॉस्टल में निराला और नंददुलारे वाजपेयी से उनकी भेंट हो चुकी थी। निराला और पृथ्वीराज कपूर दोनों से उनका स्नेह-संबंध आगे भी बना रहा। प्रसंगवश, जानकीवल्लभजी ने लिखा है-

'मेरे अब तक के घटना विहीन जीवन में बस दो ही बड़ी घटनाएं घटी हैं, एक का संबंध निराला से और दूसरी का पृथ्वीराज से है.... वस्तुतः उन्हीं दो बड़े पहाड़ों के अंतराल से मेरी साधना की सुरसरि ने अगम समुद्र की राह पाई है।' (नाट्य प्रसाद श्री पृथ्वीराज कपूर, पृ.-313)।

जानकीवल्लभजी निराला और पृथ्वीराज के बाद बाबू उमाशंकर प्रसाद को ही याद करते हैं। उनसे जानकीवल्लभजी की मैत्री के बारे में बड़ी-बड़ी बातें कही जाती हैं। उनका मिलना वस्तुतः महत् का महत् से और उदात्त का उदात्त से मिलना था। साहित्य, संगीत, कला और विज्ञान के जंगम-संगम से बाबू उमाशंकर प्रसाद के सुयश की पताका उन दिनों आकाश में फहरा रही थी। रमना (मुजफ्फरपुर का एक मुहल्ला) का भौगोलिक विस्तार उमाशंकर बाबू के उदार हृदय को प्रतिबिंबित करता था, उन्हें विद्वानों और कलाकारों को साहचर्य पसंद था। 'वह अपनी ही सुमति से संवारे हुए व्यक्ति थे। सौंदर्य और समृद्धि में इंद्र और शील में राम के समान।' उमाशंकर बाबू सिनेमा-थियेटर के भी बड़े शौकीन थे। उनकी आकांक्षा के अनुरूप ही जानकीवल्लभजी गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज में अध्यापन करने लगे। अपने घर में और नगर में भी उमाशंकरजी बच्चा बाबू के नाम से जाने जाते थे। उधर धर्म समाज संस्कृत कॉलेज के संस्थापक प्राचार्य पं. धर्मदत्त झा को भी बच्चा झा कहा जाता था। बच्चा झा तब के दौर के एक महान मैथिल विद्वान थे। मुजफ्फरपुर का धर्मसमाज संस्कृत कॉलेज उसी वर्ष स्थापित

हुआ, जिस वर्ष बी.एच.यू. की स्थापना हुई। उसी वर्ष (1916) जानकीवल्लभजी का जन्म हुआ था। बच्चा झा और जानकीवल्लभ शास्त्री तब उमाशंकर बाबू के यहां ही रहते थे। वे फिटन से कॉलेज आते-जाते थे। विद्यार्थियों के बीच बेपनाह खुशी के साथ जानकीवल्लभजी ने आठ साल व्यतीत किए, किंतु वहां का दकियानूस माहौल उनकी कलम से आलोचना का विषय बना है। उनका बंगाली कुर्ता और नागपुरी चप्पल प्राचार्य को अशोभन लगते थे और जरूरत से ज्यादा लंबे बाल रखना असह्य। वहां मैथिल और सरयूपारीण का भी भेद-भाव खटकता था।

‘तीन कनौजिए, तेरह चूल्हे’ क्या कहावत भर है? ब्राह्मण, सभी हांफते-हांफते एक दूजे पर दोनों हाथ लटपट करते देखे जा सकते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रवर्तक चाहे जो कोई भी रहे हों, क्रमशः उसके टूटते चले जाने की खास वजह ब्राह्मणों की लाल-पीली धर्मनति और भैंसा लोटन संकीर्णता ही है। ‘कृण्वन्तो विश्वमार्यम्’ और ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः’ का पौराणिक मंत्रोच्चार जमी हुई सभा में दिङ्नागों के स्थूल हस्तावलेप का तमाशबीन भर रह गया है।’ (अष्टपदी, पृ.-175)

जानकीवल्लभजी तप-त्याग की महिमा मानते थे। उन्हें सुख-सौभाग्य से परहेज नहीं था पर तप और त्याग ब्राह्मण के लिए सांस लेने और छोड़ने की तरह सहज हैं, उन्हें ज्ञात था। वे कॉलेज जाने लगे और आठवें साल में संस्कृत कॉलेज की नौकरी भी छोड़ दी। सन् 1944 से लेकर 1951 तक वे संस्कृत कॉलेज में रहे। 5 जनवरी, 1952 को स्थानीय रामदयालु सिंह कॉलेज में वह अध्यापक बने। उस कॉलेज के प्रबंधकों ने उनके सम्मान का सदैव ध्यान रखा। वहीं से साठ की उम्र में जानकीवल्लभजी ने आकाश-ग्रहण किया। 1977-79 में वह पटना विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर (हिंदी) बनाए गए।

चंद्रकला के असामयिक निधन के बाद छायाजी से जानकीवल्लभजी का दूसरा विवाह हुआ। 14 जून 1948 को उमाशंकर बाबू की बेटी चंदा ने छायाजी को कार से उतारा और मुंह देखाई की रस्म में सोने की एक अंगूठी भेंट की। विवाह के बाद बहू को देखने निरालाजी आए। जानकीवल्लभजी को संस्कृत से हिंदी में लाने का श्रेय निराला को ही दिया जाता है। वाराणसी में उन्होंने जानकीवल्लभजी को वैसे ही खोज निकाला जैसे एक जमाने में परमहंसदेव रामकृष्ण ने नरेंद्र (विवेकानंद) को खोज निकाला था। निरालाजी के भोजन की व्यवस्था बाबू साहब के यहां ही हुई। पिछले आठ वर्षों के प्रवास में जानकीवल्लभजी ने कभी नहीं देखा कि किसी अतिथि का उनके यहां सामिष भोजन से स्वागत हुआ हो किंतु निरालाजी के लिए वहां सामिष भोजन की व्यवस्था हुई। बाबू साहब किसी अंधजाल में फंसनेवाले व्यक्ति न थे। उन पर लक्ष्मी की असीम कृपा थी, पर सरस्वती के वरद पुत्रों- कवियों- कलाकारों के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। जानकीवल्लभजी उनकी शालीनता और विनम्रता से अभिभूत हुए। उन आठ वर्षों में उनकी आठ पुस्तकें आई- ‘अपर्णा’, ‘तीर तरंग’, ‘शिप्रा’, ‘गाथा’, ‘राधा’, ‘मेघगीत’, ‘अवन्तिका’ और ‘साहित्य दर्शन।’ 1955 ई. में जानकीवल्लभजी ने अपना मकान बनवाया। वहां वस्तुतः एक एकड़ की फुलवारी थी। वहां की प्राकृतिक सुषमा ने कवि का मन मोह लिया। उन्हें बज्जिकांचल की स्निग्धता भा गई। उन्होंने अपने आवासीय परिसर का नाम रखा ‘निराला निकेतन’। बाद में उनसे मिलने, उनके दर्शनार्थ राजनीति से लेकर साहित्य तक की तमाम विभूतियां आती रहीं। किंतु निराला और पृथ्वीराज कपूर की यादें शास्त्रीजी के साहित्य में विशेष रूप से दर्ज हैं।

1963 में जानकीवल्लभजी के पिता-श्री रामानुग्रहजी का स्वर्गवास हो गया। जानकीवल्लभजी की छोटी बहन सुमित्रा बहुत पहले ही (1940ई. में) चल बसीं। 'सुमित्रा की स्मृति' में उन्होंने एक कविता भी लिखी है- 'सुमित्रा की शेष स्मृति'। बड़ी ही मार्मिक कविता है। उनकी बड़ी बहन अल्पायु में ही विधवा हो गई। जानकीवल्लभजी ने अंत तक उनकी देख-भाल की। 1986 में उनका भी देहवसान हो गया।

1885 ई. में जानकीवल्लभजी का बायां पैर टूट गया। पटना मेडिकल कॉलेज ईलाज में हुआ। सारा इंतजाम बिहार सरकार ने किया। 1887 में वह पुनः गिर पड़े तो एम्स, नई दिल्ली में भर्ती हुए। वहां अटल बिहारी बाजपेयी उन्हें अकसर देखने आते। स्वस्थ होकर 'निराला निकेतन' में लौट आए अब वे कवि-सम्मेलनों में आने-जाने में असमर्थ हो गए। उनकी सामाजिक सांस्कृतिक गतिविधियों पर भी इन दुर्घटनाओं का गहरा असर हुआ। उनकी रचनाशीलता अविराम गति से चलती रही। अपनी जीवन-यात्रा में वह कई बार बीमार पड़े, किंतु जो भी लिखा, स्वस्थ मन से लिखा। विधि की विडम्बना है- 'जो भी आता है, उसे जाना ही पड़ता है।' 7 अप्रैल, 2011 को जानकीवल्लभजी की आत्मा ने जीर्ण देह को त्याग दिया। 95-96 की उम्र कम ही लोगों को मिल पाती है। जानकीवल्लभजी के दीर्घ आयुष्य का रहस्य उनकी संयमित जीवनचर्या में निहित है। आश्रम में वह ऋषि जैसा जीवन व्यतीत करते थे। उनके पिता जब 'निराला-निकेतन' में ही आकर रहने लगे तब उनके लिए दूध की व्यवस्था की गई। जानकीवल्लभजी ने एक गाय खरीदी जिसका नाम रखा 'कृष्णा'। कालांतर में कृष्णा का वंश-विस्तार हुआ, तब जो गोशाला बनी, उसका नाम रखा गया- 'कृष्णायतन'। गाय पालने की किसान-आकांक्षा 'गोदान' के होरी की त्रासदी का कारण बनी थी। जानकीवल्लभजी की त्रासदी की वजह भी उनकी गो-भक्ति ही सिद्ध हुई। गो-वंश की भक्ति के साथ जानकीवल्लभजी कुत्तों और बिल्लियों को भी आजीवन स्नेह देते रहे। उनका नाम रखते थे और मरणोपरांत उनकी समाधि भी बनाते थे। 'निराला-निकेतन' के परिसर में उनकी पक्की समाधियां आज भी देखी जा सकती हैं। मां के नाम पर उन्होंने 'अनुपमा कला मंच' का निर्माण कराया था और पितृदेव को मंदिर में प्रतिष्ठित किया था।

निराला से संवाद और आत्मीय संबंध

जानकीवल्लभजी ने संस्कृत में 'शास्त्री' और 'आचार्य' की उपाधियां प्राप्त की थीं किंतु यह बाद की बात है। निरालाजी उन्हें पहले से ही आचार्य कहते थे। निराला के संपर्क में वह 1935 ई. में आए। उन दिनों वे बी.एच.यू. के रुइया हॉस्टल में रहते थे। अब तक दोनों में सिर्फ पत्र-संवाद हुए थे। जानकीवल्लभजी की संस्कृत कविताओं का एक संग्रह सन् 1935 में ही 'काकली' नाम से प्रकाशित हुआ। 'उसमें परंपरा के श्लोक भी थे और परंपरा से हटकर लिखे गए गीत, सेटायर और मुक्त छंद भी।' संस्कृत क्या हिंदी में भी वह एक नई बात थी। निराला ने उन्हें पढ़ा तो पत्र लिखा- 'मैं इसमें अपने तारुण्य की नई पहचान पाकर चकित रह गया।' (मन की बात, पृ.-133)

सिर्फ अट्ठारह की उम्र में निराला प्रदत्त 'आचार्य' की उपाधि ने जानकीवल्लभजी को ज्ञानवृद्ध बना दिया। कम से कम निराला उन्हें ज्ञानवृद्ध ही समझते थे। निराला उनके लिए किसी विश्वविद्यालय से बड़े थे। निराला विश्वविद्यालय की उस 'आचार्य' उपाधि को जानकीवल्लभजी अपनी एक मात्र ढाल प्रचारित करते रहे। वैसे, निराला नाम से उनका परिचय सन् '30 में ही हो

गया था। 14 की उम्र में गांव की पाठशाला में ही। अपने गांव मैगरा में ही जानकीवल्लभजी ने 'सुधा' (वर्ष-3, अंक-1) में निराला की गद्य-पद्य रचनाएं पढ़ी। उनसे प्रभावित होकर जानकीवल्लभजी आगे ढूंढ-ढूंढकर निराला की नई प्रकाशित रचनाएं पढ़ने लगे। निराला की प्रतिभा उस वक्त शिखर पर थी, किंतु उनका विरोध भी बहुत हो रहा था। जानकीवल्लभजी के भी निराला-संबंधी लेखन की शुरुआत मुठभेड़ से ही हुई। उनका एक प्रबंधात्मक लेख 'निराला की काव्य-कला' माधुरी के तीन अंकों में प्रकाशित हुआ। निराला पर 'तुलसीदास' वाले छंद में जानकीवल्लभजी ने एक लंबी कविता भी लिखी। इससे कालांतर में एक-दूसरे को समझने का सिलसिला आगे बढ़ा। लगभग तीन दशकों तक जानकीवल्लभजी निराला से जुड़े रहे। लेकिन कालिदा और रवींद्रनाथ को लेकर दोनों में मतभेद बना रहा। जानकीवल्लभजी शुद्ध कविता की ओर झुके जान पड़ते हैं। निराला से उनका गहरा संबंध था, किंतु उनकी काव्यानुभूति की बनावट प्रसादजी के मेल में जानी पड़ती है। निरालाजी 'तुलसीदास' को विशेष महत्व देते थे। जानकीवल्लभजी को पंत काव्य की कोमलता और सौंदर्य से लगाव था। वे कालिदास और रवींद्रनाथ के पक्ष में अंत तक स्थिर रहे। 'निराला विनम्र थे, निरभिमानी नहीं पर उनका स्नेह-भाव निश्चल था।'

निरालाजी जानकीवल्लभजी को कितना स्नेह देते थे, इसका अनुमान करना मुश्किल है। उन्होंने अपनी पढ़ी 'शैली ग्रंथावली' जानकीवल्लभजी को भेंट कर दी। अपनी नज्मों और गज़लों की किताब 'बेला' भी उन्होंने जानकीवल्लभ को ही समर्पित की। 'निराला के पत्र' से जानकीवल्लभ के प्रति उनके अनुराग का आभास मिलता है। वे उन्हें अपने पुत्र रामकृष्ण के समकक्ष ही समझते थे। जानकीवल्लभजी के पांडित्य के प्रति उन्हें कोई संदेह नहीं था। किंतु संस्कृत में उन्हें कोई भविष्य नहीं दिखाई पड़ता था। इसीलिए उन्होंने जानकीवल्लभजी को हिंदी में लिखने की प्रेरणा दी। विभिन्न सभा-संगोष्ठियों में निराला उन्हें साथ ले जाते, बोलने का अवसर दिलाते। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' में गुप्तजी की स्वर्ण जयंती मनाई जा रही थी तो निराला जानकीवल्लभजी को साथ ले गए। वहां प्रसादजी और रायकृष्णदास पहली पंक्ति में विराज रहे थे। निराला के कहने पर जानकीवल्लभजी ने संस्कृत में अपना भाषण किया। इससे प्रसादजी प्रसन्न हुए। निराला की कई कविताओं के अनुवाद उन्होंने संस्कृत में किए। अपनी पहली काव्य-कृति (हिंदी में) 'रूप-अरूप' (1939) जानकीवल्लभजी ने 'कवि गुरु निराला के श्री चरणों में' समर्पित की थी, निरालाजी के एक अत्यंत आकर्षक चित्र के साथ।

निराला से भेंट के बाद जानकीवल्लभजी ने जो पहला गीत रचा, वह है-

'विश्व तुम्हारी माया! ज्योतिर्मय! यह अँधकार छाया कि तुम्हारी छाया? जलता नभ रवि की पी हाला, उगल रहे तरु पल्लव-ज्वाला, जग के सजग ताप में निखरी-कनक तुम्हारी काया! तोड़-तोड़कर प्रस्तर के स्तर, झरता जीवन-निर्झर झर-झर, मरण, यहां पाने को जीवन, शरण तुम्हारी आया!'
(रूप-अरूप, पृ.-11)

आगे जानकीवल्लभजी की निराला संबंधी कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'महाकवि निराला' (1963), 'निराला के पत्र' (1971) और 'अनकहा निराला' (2003)। 'साहित्य-दर्शन' (1942), 'स्मृति के वातायन' (1968), 'त्रयी' (1956), 'मन की बात' (1970) और 'हंसबलाका' सबमें निराला पर संस्मरण और लेख संकलित हैं। 'साहित्य-दर्शन' का अंतिम लेख 'निराला की

काव्य-कला' है। इसके लिखे जाने तक निराला का 'परिमल' (1929) ही प्रकाशित हुआ था। उनका एक प्रसिद्ध लेख 'भक्तकवि निराला' है। जानकीवल्लभजी कम से कम तीन निराला की बात करते हैं। उनमें मत में 'निराला' एक नहीं तीन थे और तीनों महान थे। 'एक निराला व्यंग्यों की आधुनिकता सिरजता है, दूसरा अनुराग सम्राट और विराग योगी है, तीसरा निराला 'भक्ति और ज्ञान के सहज समन्वय का महान कवि है।' (निराला के पत्र, पृ.-49)

'ये तीनों निराला अजेय हैं।'

जानकीवल्लभजी की प्रसिद्ध सूक्ति है- 'निराला बैरक में जन्मे और तंग कोठरी में मरे, उनकी सामाजिक चेतना जन्म से ही जागरूक थी किंतु, वे नास्तिक न थे, युक्तिवादी आधुनिक दार्शनिक भी न थे। वह आत्मा की अलग गहराइयों में एक भक्त जैसे थे, अनासक्त ज्ञानी भक्त जैसे जिसे त्रिविध तापों की अनुभूति हो और जो उनसे मुक्ति भी प्राप्त करना चाहता हो।' स्वयं निराला ने द्विवेदीजी को 1919 में लिखा था- 'जीवन का लक्ष्य निरे बाल्यकाल से है परमपद लाभ।'

जानकीवल्लभजी ने सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से 'अपने निराला' की खोज में सफलता प्राप्त की है।

पृथ्वीराज कपूर और जानकीवल्लभ शास्त्री

पृथ्वीराज कपूर पर जानकीवल्लभ शास्त्री की एक पूरी किताब ही है- 'नाट्य सम्राट श्री पृथ्वीराज कपूर' (1974)। इसमें सितंबर, 1959 से लेकर अप्रैल 1972 तक जानकीवल्लभजी के के नाम पृथ्वीराज कपूर के लिखे पत्र संकलित हैं। जानकीवल्लभजी उन दिनों 'राका' नाम की एक साहित्यिक-सांस्कृतिक पुस्तक-माला निकाल रहे थे। 'राका' में 'नाट्य सम्राट की आपबीती' धारावाहिक प्रकाशित हुई। 'राका' के सिर्फ बारह अंक ही निकल सके। 'नाट्य सम्राट' का पहला संस्करण अगस्त, 1974 में निकला, पृथ्वीराज की द्वितीय पुण्यतिथि पर। इसकी भूमिका (अंजलि) में जानकीवल्लभजी ने लिखा था- 'मैं प्रायः पच्चीस वर्ष पृथ्वी के निकट संपर्क में रहा। उनके जीवन और कला के अनेक रूपों से साक्षात्कार मेरा सौभाग्य रहा।'

जानकीवल्लभजी उन दिनों बाबू उमाशंकर प्रसाद की बेटी चंदा (श्रीमती चंद्रकला टंडन) को पढ़ाते थे। चंद्रकला के आग्रह पर ही उन्होंने पृथ्वीराज को एक पत्र लिख भेजा। 'उसका खूब लंबा-चौड़ा जवाब भी आ गया।' जानकीवल्लभजी के ही शब्द हैं- 'मैं अपनी प्रिय शिष्या श्रीमती चंद्रकला टंडन का कृतज्ञ हूँ जिनके मासूम बाल-हठ ने अनजाने ही मुझे पृथ्वी का प्यारा बना दिया। कौन जानता था कि कभी वह अंकुर विशाल वृक्ष में परिणत हो जाएगा।' (पृ.-21)

'वह थे तो ऐसा लगता था, जैसे मेरा कोई अपना सगा-संबंधी उठते-उठते उतनी ऊंची जगह पहुंच गया हो, अपनी ही आँखों का तारा सप्तर्षि-मंडल का सितारा बन गया हो।' 10 जून, 1972 को पृथ्वीराज की तेरही की रस्म पूरी हुई। उस मौके पर जानकीवल्लभजी ने 'गीता' और 'कठोपनिषद्' का पाठ किया। बाद में, शशि कपूर ने उनके चरण-स्पर्श किए। 'कल आजकल' फिल्म में पृथ्वीराज कपूर 'निराला के पत्र' पढ़ते हुए दिखाए गए हैं। पत्रों के पृथ्वीराजजी जानकीवल्लभजी को 'कवि' संबोधित करते हैं। उन्हें जानकीवल्लभजी की अछूती भावात्मक शैली बड़ी प्यारी लगती थी। उम्र में बड़े होने से वे जानकीवल्लभजी को तू-तड़ाक करते थे। पृथ्वीराजजी को यह भी ज्ञात था कि जानकीवल्लभ ने अपने विशाल हृदय में उन्हें उठा, एक ऊंचे आसन पर बिठा रखा है।'

इस किताब में मुजफ्फरपुर के श्री परमेश्वर केजरीवाल को भी जगह मिली है, जो जानकीवल्लभजी की आर्थिक मदद करते रहे। पृथ्वीराज ने मरते समय शशिकपूर को अपने कलेजे से चिपका लिया और ताबड़तोड़ उनका चुंबन लेने लगे। अचानक जैसे उनके बाहुपाश की जकड़ ढीली पड़ने लगी।

‘लगभग ऐसा ही वाकया एक दफा पहले भी हुआ था। ‘रामकृष्ण परमहंस जब स्वर्ग सिंधारने को हुए तो भक्त-मंडली के धूम-धड़ल्ले से अलग नरेंद्र (विवेकानंद) को एकांत में बुला ले गए और बगैर एक भी शब्द बोले, देर तक उन्हें एकटक देखते रहे। फिर वैसे ही देखते-देखते समाधि में डूब गए।’ इधर नरेंद्र भी अपनी सुध-बुध खो बैठे थे। अचानक उन्हें सिहरन-सी हुई। महसूस हुआ जैसे परमहंस देव के शरीर से बिजली के कंपन की तरह एक सूक्ष्म तेज निकलकर उनके शरीर में प्रवेश कर रहा हो।’

शशि कपूर को पिता पृथ्वीराज का अमोघ आशीर्वाद मिला तो उनके भीतर भी यह भाव-विचार जगा कि ‘नरेंद्र जैसा कुछ बनके दिखाना है।’ जानकीवल्लभजी की लेखनी से पृथ्वीराज का एक ऐसा व्यक्तित्व प्रकाशित हुआ है जो आध्यात्मिक शक्ति से संपन्न है। आध्यात्मिक पुरुषों के तन-मन-में मानवीय दुर्बलता और ईश्वरीयपूर्णता का एक अद्भुत संगम होता है- ‘यह एक लंबी प्रक्रिया है जब प्रकृति के स्थूल उपादान में तन, तन से सूक्ष्म मन और सूक्ष्म मन से अधिक सूक्ष्म आध्यात्मिक जीवन उपलब्ध होता है।’

जानकीवल्लभजी के पृथ्वीराज और निराला दोनों अध्यात्मोन्मुख हैं। निराला को उन्होंने ही ‘महाप्राण’ कहा था, बाद में ‘महाप्राण निराला’ नाम से गंगा प्रसाद पांडेय ने एक किताब लिखी। हिंदी कविता, रंगमंच और फिल्म की महान विभूतियों से जानकीवल्लभजी का स्नेह-संवाद वस्तुतः हिमालय का हिमालय से मिलना था, समुद्र का समुद्र से महामिलन था। जानकीवल्लभजी ने पृथ्वीराज की तमाम फिल्में देखीं, उनके नाटकों के वह अनिवार्य प्रेक्षक रहे। उन्होंने निराला की कविताओं पर जिस मनोयोग से आधिकारिक आलोचना लिखी उसी मनोयोग से पृथ्वीराज की फिल्मों और प्रदर्शित नाटकों पर पठनीय टिप्पणियां लिखी हैं। हम यह सकते हैं कि जानकीवल्लभ शास्त्री अपने समय के एक अनोखे फिल्म समीक्षक भी थे। उन्हें रंगमंच और तत्कालीन फिल्म तकनीक का गहरा ज्ञान था। उनकी नाट्य कृतियां रंगमंच की दृष्टि से भी अत्यंत उपयोगी हैं।



अपने सपनों को औरों से जोड़ते कामतानाथ

बलराम

यह संस्मरण कथा उस समय शुरू हुई, जब हम कानपुर में रहकर पढ़ाई कर रहे थे। रिजर्व बैंक की नौकरी करते हुए कामतानाथ न सिर्फ कथा लेखन में शिखर की ओर बढ़ रहे थे, बल्कि जन संघर्षों के बीच से ट्रेड यूनियन के बड़े नेता के रूप में भी उभर आए थे। उन्हीं दिनों उनके घर में कथा गोष्ठियों का सिलसिला शुरू हुआ, जिसमें आने वाले लोग अपनी कहानियां पढ़ते थे, जिन पर खुलकर विचार-विमर्श होता था, लेकिन कई साल तक गोष्ठियों में भाग लेने के बावजूद हमने कभी कहानी नहीं पढ़ी। जब भी नंबर आता, कोई न कोई बहाना कर हम गोल हो जाते। संतोष तिवारी और हम मित्र युगल के रूप में मशहूर हो चुके थे। अशोक नगर चौराहे के होटल में चाय की चुस्कियां लेते हुए संतोष ने बताया कि कामतानाथ ने कहा है कि कहानी-वहानी नहीं लिखनी तो गोष्ठियों में आकर बलराम अपना समय क्यों बरबाद कर रहा है? सुनकर लगा कि जैसे उन्होंने हमें थप्पड़ मार दिया। आपातकाल के ठीक बाद का समय था वह, जब उनके इस संदेश ने हमें सदमे में डाल दिया, जबकि वे हमारे आदर्श बन चुके थे। दरअसल समकालीन साहित्य के संपर्क में हम उन्हीं दिनों आए थे, अन्यथा साहित्य संपदा के नाम पर गांव के लोक गीत और कुछ किस्से ही हमारे कोश में थे या फिर थीं रामायण-महाभारत की कथाएं और गुलेरी, प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेंद्र तथा अज्ञेय की पाठ्यक्रम में पढ़ी कहानियां। उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं में ढूंढ-ढूंढकर कहानियां पढ़ते हुए खुद को हिंदी कथा साहित्य की मुख्य धारा से परिचित कराने की कोशिश कर रहे थे। धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो', भीष्म साहनी की 'वांग्चू', कामतानाथ की 'अंत्येष्टि' और राम अरोड़ा की 'विदा-अलविदा' पढ़कर सोचते कि कहानियां लिखें तो ऐसी, नहीं तो न लिखना ही बेहतर है। इसलिए कई कहानियां लिखने के बावजूद उन्हें सुनाने से लगातार बच रहे थे, पर संतोष के मुंह से कामतानाथ वह बात सुनकर हम परेशान हो उठे और उस रात सो नहीं सके। सबेरे-सबेरे चाय पीकर मेज पर बैठे तो गीत के कुछ बोल लिख गए- 'आ न पाई नींद मुझको, आज सारी रात'। बाद में तो जीवन में न जाने कितनी रातें ऐसी आईं, जब हम सारी रात सो नहीं सके। वे रातें भी गीत को आगे बढ़ाती रहीं- 'चौक पर बैठा रहा सोचता सुकरात, आज सारी रात'। उन दिनों दरअसल साथ के लोग धड़ाधड़ न सिर्फ कहानियां लिख रहे थे, बल्कि पत्र-पत्रिकाओं में छप भी रहे थे। एक हम थे, जिसे न तो लिखने की जल्दी थी, न ही छपने की, पर कामतानाथ की वह बात हमारे दिल को लग गई। फिर क्या था, उस बात को चुनौती की तरह लेकर कमरे पर आए और कागज-कलम लेकर

मेज पर बैठ गए। कई दिन की मेहनत के बाद अधूरी पड़ी कहानी 'कलम हुए हाथ' को फिनिशिंग टच दे दिया। बाहर अंधेरा बढ़ रहा था और भीतर दिल बल्लियों उछल रहा था। हमसे सुबह तक का भी इंतजार न हुआ। साइकिल उठाई और पहुंच गए कामतानाथ के घर। उतनी रात घर में मुझे सामने पाकर कामता सोच में पड़ गए, 'क्या बात है भई?' विस्मित होते हुए उन्होंने पूछा।

'कहानी पूरी कर ली है और सुनाने आया हूं।' कामतानाथ ने कुछ देर कुछ सोचा और बोले, 'अच्छा आओ और सुनाओ।' और मैंने एक सांस में उन्हें कहानी सुना दी। नहीं जानता कि वे पीकर खाने जा रहे थे या... बोटल सामने थी और गिलास भी। फिर भी उन्होंने धैर्य से कहानी सुनी और फिर देर तक चुप बैठे रहे। उनके कुछ भी कहने में जितनी देर लग रही थी, मेरी धडकनें उतनी ही बढ़ रही थीं यह सोचते हुए कि कहानी उन्हें अच्छी लगी भी या नहीं? काफी देर बाद उन्होंने सिर्फ एक शब्द कहा, 'मार्वलस'। क्रिसमस से एक दिन पहले की रात थी वह, जब कहानी के सांताक्लाज ने हमें इतना खूबसूरत तोहफा देकर मालामाल कर दिया। ड्राइंग रूम की घड़ी साढ़े दस बजा रही थी, पर मेरे जीवन की उस घड़ी ने उनसे मिले सदमे से मुझे उबार लिया था। अगले रविवार को उनके घर की गोष्ठी में वह कहानी पढ़ी और सराही गई। फिर फरवरी में 'कानपुर कथा समारोह' में भी, जहां 'सारिका' के संपादक और कथाकार कमलेश्वर मुख्य अतिथि के रूप में आए थे। समारोह के बाद उन्होंने एक बार फिर से पढ़ने के लिए कहानी हमसे मांगकर अपने कोट की जेब के हवाले कर ली। हफ्ता भर भी नहीं हुआ कि उनका पत्र आ गया कि कहानी उन्हें अच्छी लगी और वे उसे 'सारिका' में छाप रहे हैं। अपने समय की अत्यंत प्रतिष्ठित पत्रिका 'सारिका' के अप्रैल, 1976 के 'नवलेखन अंक' में छपी उस कहानी से ही हम बलराम हुए, क्योंकि उसके पहले अमलतास नाम से लिखा करते थे। इस तरह कामतानाथ मेरे जीवन में कथागुरु के रूप में दाखिल हुए।

कामतानाथ के गुरुत्व की कथा इतने पर ही रुकी नहीं, वह आगे भी बढ़ी। 'सारिका' में मेरे जैसे नए लेखक की कहानी पढकर 'धर्मयुग' के संपादक धर्मवीर भारती ने न सिर्फ बधाई दी, बल्कि ग्राम जीवन पर वैसी ही कोई कहानी उनके लिए भी भेजने का आग्रह किया, जिसका सम्मान करते हुए हमने अगली कहानी 'शिक्षाकाल' उन्हें भेज दी, जिसे उन्होंने अगस्त, 1976 में 'धर्मयुग' के 'स्वाधीनता दिवस विशेषांक' में अतिरिक्त महत्व देते हुए इस्मत चुगताई की कहानी से पहले छाप दिया। 'धर्मयुग' जैसे हिंदी के बड़े साप्ताहिक में 'शिक्षाकाल' कहानी के छपते ही जैसे चमत्कार हो गया। डीएवी कॉलेज से एमए करते हुए मेरे जैसे किसान पुत्र को बुलाकर बिना किसी अनुभव और प्रशिक्षण के हिंदी के राष्ट्रीय दैनिक 'आज' का फीचर संपादक बना दिया गया। वह एक अलग कहानी है, जिस पर फिर कभी। धर्मवीर भारती ने दो बरस बाद 'धर्मयुग' में लंबी कहानी 'पालनहारे' दो अंकों में छापकर नए लेखक के रूप में मिली प्रतिष्ठा में चार चांद लगा दिए, जिसकी बदौलत तीन साल बाद 'सारिका' के संपादक मंडल में चुन लिया गया और छह बरस बाद हिंदी के सबसे बड़े दैनिक 'नवभारत टाइम्स' का साहित्य प्रभारी हो गया। मेरे जीवन में कामतानाथ का यह योगदान बड़ा नहीं, बहुत बड़ा है, जिसने मेरे जीवन को नई दिशा दी, जिसे कभी भूला नहीं जा सकता। इसके पीछे कथाकार राजेंद्र राव का योगदान भी अविस्मरणीय है। उन्होंने ही इसे संभव किया और बड़े भाई की भूमिका भी निभाई, जैसे संतोष तिवारी ने छोटे भाई की, जो 'दिनमान', 'हिंदुस्तान', 'दैनिक जागरण' और 'इंडिया टीवी' से होते हुए 'दैनिक ट्रिब्यून' के संपादक बने थे, जिनका पिछले दिनों असामयिक निधन हो गया। बहरहाल, कानपुर के

दैनिक 'आज' से जुड़े तो कामतानाथ और गिरिराज किशोर के इंटरव्यू पहले छापे थे। राजीव शुक्ला, विजयकिशोर मानव, प्रियंवद, उद्भ्रांत, कृष्ण बिहारी, अमरीकसिंह दीप, सुमति अय्यर, प्रकाश बाथम, रामसुरेश, शंभुनाथ, चंद्रप्रकाश पांडेय, सुशील शुक्ल, अंबिका सिंह वर्मा, कमल मुसद्दी, शांतिप्रकाश निगम, प्रेम गुप्ता मानी, मनजीत, सोमेश भरत, श्यामनंदन वर्मा और कौशल पांडेय भी उन्हीं दिनों कानपुर की उर्वरा भूमि पर उगे, खिले और मह-मह महके थे।

कामतानाथ और गिरिराज किशोर संबंधी उन्हीं दिनों की एक पहेली लेकिन हम आज तक सुलझा नहीं सके। कानपुर के मोती झील पार्क में 'भूमिका' की ओर से अग्रज कथाकार विष्णु प्रभाकर को बुलाकर आयोजन किया था, जिसमें भाग लेने के लिए गिरिराज किशोर, कामतानाथ और राजेंद्र राव जैसे अग्रजों को भी आमंत्रित किया। दो दर्जन से अधिक युवा रचनाकार तो आयोजन में शामिल हुए, पर कामतानाथ और गिरिराज किशोर नहीं आए। गिरिराज किशोर तो सन 2013 में 'भाफ करना यार' के कानपुर में हुए लोकार्पण समारोह में भी नहीं आए, जबकि वह आयोजन उनको ध्यान में रखकर ही वहां रखा गया था, जबकि राजेंद्र राव दोनों ही आयोजनों में सहर्ष आ गए और बड़े भाई की भूमिका का निर्वाह किया। मोती झील पार्क की उस पहेली का हल सुझाते हुए विष्णु प्रभाकर ने तब मुस्कराते हुए कहा था कि इन दोनों में से किसी एक को बुलाते तो जरूर आता। तब ऐसी राजनीति के बारे में हमें कुछ पता न था। ऐसा ही वाक्या 'सारिका' ज्वाइन कर दिल्ली आ जाने पर भी हुआ। केशव के साथ 'शिखर' शुरू किया और शिमला में बड़ा सम्मेलन किया, जिसमें सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और राजेंद्र यादव को भी आमंत्रित किया, 'और कौन-कौन जा रहा है?' राजेंद्र यादव ने छूटते ही सवाल दागा, 'दिल्ली से जैनेंद्र, सर्वेश्वर, रवींद्र कालिया और कन्हैयालाल नंदन भी चल रहे हैं।' मैंने सोल्लास बता दिया, 'तो फिर उन्हीं लोगों को ले जाओ।' हमारे उल्लास पर पानी फेरते हुए राजेंद्र ने कहा था और सर्वेश्वर भी उनके नाम से बिदक गए तो 'शिखर' का वह सम्मेलन उनकी गरिमापूर्ण उपस्थिति से वंचित रह गया, लेकिन जैनेंद्र किसी के भी नाम से विचलित नहीं हुए और सम्मेलन की अध्यक्षता कर उसे गरिमा प्रदान की। सौ से अधिक रचनाकारों ने उस सम्मेलन में शिरकत कर हिमाचल के सांस्कृतिक इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया, लेकिन उसमें राजेंद्र यादव और सर्वेश्वर का न होना हमारे लिए घने-घने सवाल का सबब रहा, कानपुर में आयोजित 'भूमिका' के आयोजन में गिरिराज किशोर और कामतानाथ की अनुपस्थिति की तरह। यह और बात है कि इन दोनों को कई बरस बाद 'शिखर' के ही शिमला में हुए एक और बड़े समारोह में एक साथ एक मंच पर लाने में हम कामयाब हो गए!

पढ़ते-पढ़ते दैनिक 'आज' से बतौर फीचर संपादक जुड़ने पर भी कामतानाथ ने सदमा लगाने वाली एक और बात कही थी। वे इससे खुश नहीं हुए। वे चाहते थे कि पहले हिंदी और फिर अंग्रेजी में एमए करूं। टाइपिंग सीखूं और अस्थाई रूप से रिजर्व बैंक में लगने की कोशिश करूं, जहां उनकी तरह अपने लेखन को बचाए रखना संभव है, अन्यथा मेरा डूबना निश्चित है। कानपुर छोड़कर 'सारिका' में उपसंपादक होकर आने पर विदा लेते समय भी उन्होंने कहा था कि यह मत समझना कि तुमने कोई बड़ा तीर मार लिया है। लेखक के रूप में वहां भी तुम्हारा बचना मुश्किल होगा। तुम्हारे डूबने की वहां भी आशंका है। यह उनकी तीसरी बात थी, जिसने भी मुझे सदमा दिया। बाद के दो सदमों से भले ही हम उबर नहीं पाए, लेकिन आज पैंतीस बरस पीछे जाकर देखता हूं तो लगता

है कि उनकी आशंकाएं निराधार नहीं थीं। पिछले दिनों गिरिराज किशोर ने भी कहा था कि 'मैं तुम्हें संपादक तो बहुत बड़ा मानता हूं, पर उतना बड़ा कथाकार नहीं।' उन्होंने भी शायद ठीक ही कहा, क्योंकि वे भी तो बड़े भाई ही ठहरे। उन्होंने भी हमारे जीवन को संवारने में कम योगदान नहीं किया। उनके योगदान पर फिर कभी। 'नवभारत टाइम्स' से जुड़ने पर राजेंद्र माथुर, विद्यानिवास मिश्र और विष्णु खरे जैसे दिग्गजों के साथ काम करने के अवसर तो मिले, लेकिन अपने सृजन को बचाए रख पाना असंभव हो गया। 'नवभारत टाइम्स' छोड़कर 'लोकायत' आने पर ही थोड़ा-बहुत सृजन संभव हो सका, पर मित्र केशव को मेरे उपन्यास 'कारा' का ही इंतजार है। पत्नी को भी, जिनके प्रिय लेखक अज्ञेय और निर्मल वर्मा रहे। 'कारा' के अंश 'नया ज्ञानोदय' और 'पाखी' जैसी पत्रिकाओं में छपने शुरू हुए तो ही उन्हें कुछ सुकून हासिल हुआ। सो, घर और बाहर, दोनों तरफ की उम्मीदों को पंख देते हुए अब कामता की तरह पूरी तरह से सृजनरत होना चाहता हूं, लेकिन उम्र की लंबी होती परछाइयों का क्या करूं? बीस-पच्चीस बरस की उम्र में मनुष्य जब सफलता की सीढियां चढ़ना शुरू करता है तो नहीं जानता कि कितनी चढ़ पाएगा, लेकिन साठ-पैंसठ की उम्र तक वह सामर्थ्य भर चढ़ चुका होता है। उसके बाद उतरना होता है। लगता नहीं है, लेकिन चढ़ने की बजाय उतरना कहीं ज्यादा मुश्किल होता है, लेकिन कामतानाथ ने साठ बरस की उम्र तक रिजर्व बैंक में नौकरी करने के साथ जन संघर्षों में तो शिरकत की ही, जिंदगी की उतरती धूप में 'कालकथा' जैसा बड़ा उपन्यास लिखकर उदाहरण भी पेश किया, 'गोदान' के सर्जक प्रेमचंद की तरह। कामतानाथ का 'काल कथा' हिंदी का महानतम उपन्यास है, जिसके सृजन के साक्षी रहे हैं हम। इसके बीज उनकी लंबी कहानी 'रिश्ते-नाते' में बीस-पच्चीस बरस पहले कानपुर में ही पड़ गए थे, कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' की तरह, जिसे कमल गुप्त ने 'कहानीकार' में पहले पहल छपा था। कामता की तरह कमलेश्वर और मनोहरश्याम जोशी की भी आकांक्षा थी एक ठो 'वार एंड पीस' रचने की, लेकिन वे लोग अपना सपना साकार नहीं कर सके, पर दुनिया छोड़ने से पहले कामता वह काम कर गए 'काल कथा' के रूप में हिंदी को उसका अपना 'वार एंड पीस' सौंप कर, जिसका हिंदी में कोई सानी नहीं।

यहां याद आ रहा है पिछले दिनों फिर से पढ़े हेमिंग्वे के नोबेल विजेता उपन्यास 'दि ओल्ड मैन ऐंड द सी' का यह अंश : 'उसने बचपन के अफ्रीका का सपना देखा, जिसमें नजर आए लंबे समुद्र तट, झक्क सफेद, जो इतने सफेद थे कि आंखें चुंधिया जाएं और फिर उसने देखे ऊंचे अंतरीप और भूरे-भूरे पहाड़। अब वह हर रात समुद्र तट पर सोते हुए सपने में उसकी दहाड़ सुन आदिम अफ्रीकियों को उससे निकलते देखता है। सोते हुए ही उसने एक दिन डेक पर पुराने सन की महक में अफ्रीकी गंध महसूस की, जिसे वहां की माटी की महक से सराबोर हवा सुबह-सुबह उस तक ले आती है, लेकिन एक रात उसने समुद्र से उभरते द्वीपों की चोटियां देखीं और फिर उनकी सडकें और बंदरगाह भी। अब उसे तूफान, औरतें, बुरी घटनाएं और बड़ी मछलियों के सपने नहीं आते। सपने में अब वह सुबह के धुंधलके में समुद्र तट पर बिल्लियों की तरह खेलते बब्बर शेरों को देखता और उन्हें पहले की तरह ही दुलराने लगता है।' इसे पढ़ते हुए सहसा याद आ गया कामतानाथ का उपन्यास 'समुद्र तट पर खुलने वाली खिडकी'। 'तुम्हारे नाम', 'सुबह होने तक', 'एक और हिंदुस्तान' तथा 'पिघलेगी बर्फ' भी याद आए, जिन्हें पढ़ते हुए हमने अक्सर लक्ष्य किया कि कामता की भाषा

भी हेमिंग्वे की तरह ही सहज-सरल और एकदम पारदर्शी है, जिसके चलते वे प्रेमचंद, रेणु, अमरकांत और भीष्म साहनी की पांत में सहज ही जगह पा जाते हैं। 'काल कथा' के चारों खंड देख लेने के बाद तो कामतानाथ हमें हिंदी के तोल्स्तॉय लगने लगे हैं। जैसे तोल्स्तॉय को नोबेल पुरस्कार नहीं मिला, वैसे ही कामतानाथ को भी ज्ञानपीठ पुरस्कार और व्यास सम्मान तो दूर, साहित्य अकादेमी पुरस्कार तक नहीं मिल सका, उत्तर प्रदेश का लेखक होने के बावजूद उन्हें तो 'भारत भारती' तक नहीं मिला, लेकिन पाठकों के बीच वे बड़े लेखक और अच्छे मनुष्य के रूप में समादृत हैं, तोल्स्तॉय की तरह ही!

22 सितंबर, 1934 को लखनऊ में जन्मे कामतानाथ अंग्रेजी से एमए करने तक पढ़ाई-लिखाई के दौरान पाठ्यक्रम में दूसरी जवान के रूप में भी हिंदी न पढ़ सके। स्वाध्याय से उन्होंने न सिर्फ अच्छी हिंदी सीखी, बल्कि हिंदी में अच्छा सृजन करना भी जतन से सीख लिया। सीखा और अनेक कालजयी कहानियां और उपन्यास हिंदी को सौंप गए। अपने पाठ्यक्रम में उन्होंने उर्दू पढ़ी, फारसी का ज्ञान भी प्राप्त किया और जब चुनने की नौबत आई तो हिंदी की बजाय अंग्रेजी को चुन लिया, पर कामतानाथ की कहानियां पढ़ते हुए आभास तक नहीं होता कि उन्होंने हिंदी का विधिवत् अध्ययन नहीं किया है। प्रेमचंद को भी इसी तरह हिंदी सीखनी पड़ी थी, लेकिन अपनी पहली चर्चित कहानी 'छुट्टियां' से सृजन शिखर की ओर बढ़ते हुए कामतानाथ ने जब 'अंत्येष्टि' जैसी कहानी लिखी तो लोगों ने मान लिया था कि वे उच्च कोटि के कथाकार हैं। एनसीईआरटी के पाठ्यक्रम में हमने उनकी कहानी 'लाख की चूड़ियां' शामिल की, लेकिन वह कामतानाथ के संग्रहों में कहीं नहीं है, जो कुटीर उद्योग और शहरी कारखानों के बीच चलने वाली सनातन प्रतिद्वंद्विता का अविस्मरणीय आख्यान है। उनकी अन्य साठ कहानियां भी संग्रहों में कहीं न थीं, लेकिन अब उनकी 'संपूर्ण कहानियां' में वे सब भी उपलब्ध हैं, जिन्हें पढ़कर हम जान सकते हैं कि शहरी शोर-शराबे से दूर चुपचाप सृजनरत रहने वाले हिंदी के उस्ताद कथाकार कामतानाथ का रचना संसार कितना वैविध्यपूर्ण है, जिनमें एक तरफ गांव हैं तो दूसरी तरफ छोटे शहर से लेकर महानगर तक के लोग वहां मौजूद हैं। कामतानाथ जैसा विषय वैविध्य उनके समकालीनों में किसी के भी पास नहीं। विश्वंभरनाथ उपाध्याय का मानना है कि सामान्य चित्रण से पर्यावरण के समूचे सत्य को उभारने की कामतानाथ जैसी कला किसी दूसरे में नहीं। शायद इसीलिए कामतानाथ की कहानी 'संक्रमण' ने हजारों पाठकों को तो अपनी जद में लिया ही लिया, नसीरुद्दीन शाह जैसे अभिनेता तक उससे ऐसे अभिभूत हुए कि उन्होंने उसके सौ से अधिक मंचन कर उसकी महत्ता उजागर की। किसी लेखक की किसी कहानी का इस तरह थियेटरमय हो जाना अपने आपमें एक इतिहास है। 'संक्रमण' कामतानाथ की कुछ-कुछ वैसी ही कहानी है, जैसी गुलेरी की 'उसने कहा था', प्रसाद की 'पुरस्कार', प्रेमचंद की 'पूस की रात', रांगेय राघव की 'गदल', मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', रेणु की 'तीसरी कसम' और शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार'।

कामतानाथ ने एक बार बताया था कि उनके परिवार में साहित्यिक माहौल का पूर्णतः अभाव था। पिता अंग्रेजी और उर्दू जानते थे। हिंदी की कोई किताब उनके घर में नहीं थी, रामायण और महाभारत तक नहीं। वैसी धार्मिक किताबें उर्दू में थीं, जिन्हें पिता कपड़े में बांधकर रखते थे। अलिफ लैला, गुल सनोवर और किस्सा हातिमताई जैसी उर्दू पुस्तकें भी थीं, जिन्हें वे दूसरे बस्ते में बांधकर

रखते थे। कामतानाथ ने शुरू में उर्दू पढ़ी और चोरी-छिपे उन किताबों को उर्दू में ही पढ़ा। बहुत बाद में बुआ के घर जाने पर गर्मी की छुट्टियों में 'चंद्रकांता संतति' और 'भूतनाथ' जैसी किताबें हिंदी में पढ़ने को मिलीं। संकोच के चलते कामता ने अपनी कोई कहानी कभी छपने के लिए नहीं भेजी, हालांकि लिखने तभी लगे थे, जब हाईस्कूल में थे। उनकी पहली कहानी छपाकर उन्हें सामने लाने का श्रेय उनके मित्र गिरधारीलाल पाहवा को है, जिन्होंने उनकी कहानी 'मेहमान' टाइप करवाकर 'स्वतंत्र भारत' को भेज दी, जो सन 1961 में छप गई। प्रोत्साहित होकर उसी वर्ष 'देवी का आगमन' और 'स्वर्गवासी' जैसी कहानियां लिखीं, जो 'सारिका' और 'कहानी' जैसी तब की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में छप गईं। 'पहाड़' कहानी कामतानाथ का एक अलग ही रूप सामने रखती है, जिसमें नई चीजों के प्रति उनका एडवेंचरस रवैया दिखता है, जिसे उनके उपन्यास 'समुद्र तट पर खुलने वाली खिड़की' में भी देखा गया, लेकिन उनकी पहचान उनके पहले उपन्यास 'एक और हिंदुस्तान' से ही अच्छे उपन्यासकार की बनी तो फिर वृहद उपन्यास 'काल कथा' तक लगातार पुख्ता होती चली गई और उनका शुमार हिंदी के उस्ताद कथाकारों के साथ बड़े उपन्यासकारों में भी होने लगा, लेकिन तभी वह हो गया, जिसे अभी नहीं होना चाहिए था।

कानपुर से राजेंद्र राव का फोन आया था और फिर मुंबई से मित्र आर.के. पालीवाल का। खबर पाकर झन्न से कुछ टूट-सा गया। कामतानाथ का निधन हिंदी साहित्य के बड़े सितारे के टूटने जैसा रहा, जिसे रोक पाना असंभव हो गया था। लखनऊ जाने के इरादे से फोन किया तो टूटी-बिखरी आवाज में बोले, 'आ जाओ और मिल लो। मेरे पास अब ज्यादा समय नहीं है। गाल ब्लैडर का कैंसर जिस स्टेज में है, उसका इलाज संभव नहीं।' सुनकर सन्न रह गया, लेकिन लखनऊ पहुंचकर मिलने से पहले ही वे दुनिया से कूच कर गए। जाने से पहले उनकी बड़ी इच्छा थी कि किसी तरह 'काल कथा' चारों खंड एक साथ छप जाएं और उनकी 'संपूर्ण कहानियां' भी। उन्होंने कहा तो सतीशचंद्र मित्तल से कहकर भावना प्रकाशन से उनकी 'संपूर्ण कहानियां' छपा दीं, संतोषजनक अग्रिम के साथ, निधन से काफी पहले की बात है, तब वे दिल्ली आए और हमारे घर ही ठहरे थे। अगली सुबह अरुण महेश्वरी से मिलने गए, जहां उन्हें 'काल कथा' के शेष खंड फाइनल करने थे, लेकिन उन्होंने चारों खंड एक साथ छापने में असमर्थता जता दी। अंततः हरीशचंद्र शर्मा ने वह काम किया, लेकिन तब तक कामता जा चुके थे। हरीश ने कामता के उपन्यास 'तुम्हारे नाम', काशी के संग्रह 'आदमीनामा', केदारनाथ सिंह के कविता संग्रह 'जमीन पक रही है' और हमारे संग्रह 'कलम हुए हाथ' को सन 1980 में अपने प्रकाशन के पहले सेट के रूप में प्रकाशित किया था। तभी से कामतानाथ समेत हरीश हम सबके आत्मीयों में शुमार रहे हैं। 'कलम हुए हाथ' के बाद उन्होंने हमारी किताब 'लोक और इतिहास का मिलन' छापी, जिसमें कामतानाथ के लेखन पर लंबा आलेख है।

इतिहास को इतिहासकार अपनी नजर से देखता है और साहित्यकार अपनी, लेकिन यदि विवेकशील दृष्टि रखते हों तो दोनों ही अपने लेखन से पाठक का जीवनबोध विकसित कर सकते हैं। इतिहास को देखने के दोनों के तरीके बेशक भिन्न हो सकते हैं, लेकिन परिणाम लगभग एक जैसे हासिल होते हैं। भारत के स्वाधीनता संघर्ष पर लिखी गईं तमाम ऐतिहासिक किताबों से लेकिन एकदम भिन्न और बेहतर परिणाम देने वाला उपन्यास ठहरता है कामतानाथ का 'काल कथा', जहां एक निश्चित समय है और है उस समय की प्रामाणिक कथा। अंग्रेजों की सत्ता है और सत्ता से संघर्ष

करते योद्धा भी, जिनमें महात्मा गांधी, मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, चितरंजन दास, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, शिव वर्मा, अशफाकउल्ला, रामप्रसाद बिस्मिल, मोहनलाल सक्सेना, गणेशशंकर विद्यार्थी और जिन्ना जैसे सिद्ध-प्रसिद्ध लोग तो शामिल हैं ही, मुंशी रामप्रसाद का छोटा बेटा रतन, उसके चाचा बबउनु, सज्जन, मुनव्वर, बांके, बच्चल सिंह, ललई पंडित, बच्चन, हेमंत, असित, प्रीति, लक्ष्मी, अब्दुल गनी, जमना देवी, शारदा, रज्जो, मुन्नी बाई, छैलबिहारी, बासुदेव नारायण, तहफ्फुज, वाहिद, शम्भो, जसोदा, नजमा, सिल्लो, कुंती, मेवा लाल और कासिम जैसे तमाम अन्य लोगों का जीवन संघर्ष भी 'काल कथा' में है। सामान्य जनजीवन के बीच से उभरे समझदार युवक तेजशंकर के नजरिए से कामतानाथ ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद के उस 'काल' और उसकी 'कथा' को पकड़ने का प्रयास किया है। इतिहास हमें जीवन को समझने की तमीज सिखाता है, खासकर साहित्य के जरिये पुनर्सृजित इतिहास। कामतानाथ का 'काल कथा' यह काम बखूबी करता है। भारत के निकट अतीत और वर्तमान को देखने की ऐसी अंतर्दृष्टि देता कामतानाथ का 'काल कथा' जिसने नहीं पढ़ा, समझो उसने आधुनिक भारत को ऐतिहासिक दृष्टि से पेश करने वाले सही मायने में हिंदी के पहले महाकाव्यात्मक उपन्यास को नहीं पढ़ा। 'गोदान' के जरिये प्रेमचंद ने गांवों और शहरों के जीवन को एक साथ चित्रित कर महाकाव्यात्मक उपन्यास लेखन का जो पौधा लगाया था, कामतानाथ के 'काल कथा' में वह पूरा उठान पा गया है। 'काल कथा' के केंद्र में है उत्तर प्रदेश के उन्नाव जनपद के ग्रामीण जनजीवन के साथ लखनऊ-कानपुर और बनारस से लेकर कोलकाता और लाहौर-अमृतसर जैसे नगरों तक का जनजीवन और उसके बीच चल रहा भारत का स्वाधीनता संग्राम। तब हिंदू-मुसलमान के बीच इतना अलगाव नहीं था और देश बंटा भी नहीं था। लाहौर, रंगून और ढाका हमारे अपने ही शहर हुआ करते थे। हमारे बाप-दादे वहां नौकरियां और काम-धंधे करने बेरोकटोक आया-जाया करते थे।

अपनी आत्मस्वीकृतियों में कामतानाथ ने बहुत कुछ बताया है, लेकिन यह नहीं बताया कि रमेश श्रीवास्तव उनके छोटे भाई थे, जो उनसे पहले ही इस दुनिया को अलविदा कह गए- 'विदा-अलविदा'। हां, यही नाम था कामतानाथ के समकालीन कथाकार राम अरोड़ा की 'सारिका' में छपकर चर्चित हुई कहानी का। उनकी कहानी पढ़कर हम लोग अभिभूत हो उठे थे। उनके जैसे तेजस्वी और आत्महंता रचनाकार सिर्फ और सिर्फ भुवनेश्वर हुए हैं, कुछ-कुछ स्वदेश दीपक भी, जिन्हें हमने नहीं देखा, लेकिन वे शायद राम अरोड़ा जैसे ही रहे होंगे, जिन्हें हमने यारबाश के रूप में देखा है, लेकिन बहुत दिनों से उनका भी कुछ अता-पता नहीं है। भुवनेश्वर, स्वदेश दीपक और राम अरोड़ा के बारे में सोचते हुए मन में सवाल उठता है कि बड़ी प्रतिभाएं अक्सर आत्मध्वंस का शिकार क्यों हो जाती हैं? कामतानाथ, राम अरोड़ा और से.रा.यात्री के साथ हमने गाजियाबाद और दिल्ली में अनेक खूबसूरत शामें एंज्वाय कीं। एक मनुष्य के रूप में और लेखक के रूप में भी कामतानाथ का तेज और ताप कुछ-कुछ भुवनेश्वर, स्वदेश दीपक और राम अरोड़ा जैसा ही रहा, लेकिन उनकी तरह आत्मध्वंस की राह पकड़ने की बजाय उन्होंने खुद को जन संघर्षों से जोड़ लिया और सर्वेश्वर की एक कविता की पंक्तियों को जिंदगी के कागज पर उतार दिया : 'दुःख तुम्हें क्या तोड़ेगा, तुम दुःख को तोड़ दो, अपने सपनों को, औरों के सपनों से जोड़ दो'।



तस्लीमा नसरीन : जैसा मैंने देखा

कल्लोल चक्रवर्ती

वह दिसंबर 2009 की कोई शाम थी। ऑफिस में बैठे-बैठे मैंने मोबाइल पर एक नंबर लगाया और बहुत बेचैनी से दूसरी तरफ से फोन उठाए जाने का इंतजार कर रहा था। कई बार रिंग होने के बाद आखिरकार नंबर उठा। उधर से जिस महिला ने फोन उठाया, उनकी आवाज बेहद धीमी और घबराई हुई थी। मैंने उन्हें अपना परिचय दिया लेकिन वह पूरी तरह आश्वस्त हो जाना चाहती थीं। इसलिए सवाल किया, 'आपनि के बोलछेन?' (आप कौन बोल रहे हैं?) मैंने अपना परिचय दोहराते हुए उनसे फोन पर ही एक इंटरव्यू देने की गुजारिश की। मैंने उनसे कहा कि मैं एक साहित्यिक पत्रिका के लिए आपका इंटरव्यू करना चाहता हूं। उससे पहले मैंने उनकी मेल आईडी पर उस इंटरव्यू के सवाल मेल किए थे, जिसका जवाब नहीं आया था लेकिन उन्होंने मेरा अनुरोध खारिज कर दिया। इससे पहले कि मैं कुछ कहता, उधर से फोन कट गया।

वह महिला तस्लीमा नसरीन थीं।

पश्चिम बंगाल से निर्वासित होने के बाद वह दिल्ली में रह रही थीं लेकिन बंगाल के परिचित परिवेश से दिल्ली में आकर वह एकाकी, भयभीत और संभवतः सशक्त भी थीं। वह किसी भी अजनबी से बात नहीं करना चाहती थीं। उनकी स्थिति देखते हुए यह अस्वाभाविक भी नहीं था लेकिन मेरे लिए हैरत की बात यह थी कि यह वह दुस्साहसी तस्लीमा नसरीन नहीं थीं, जिन्हें मैं वर्षों से कौतूहल के साथ पढ़ रहा था। कोलकाता स्थित अपने अग्रज पत्रकार मित्र कृपाशंकर चौबे से मैंने तस्लीमाजी का नंबर लिया था पर कोई लाभ नहीं हुआ।

उस घटना के कुछ समय बाद एक दिन सुबह कोलकाता से कृपाशंकर चौबे का फोन आया। उन्होंने कहा, तस्लीमा, आपसे बात करेंगी। वह अपने बारे में बताना चाहती हैं। दरअसल उसी दौरान न्यूज एजेंसी पीटीआई में तस्लीमा नसरीन का एक इंटरव्यू भी आया।

इस बार अपने ही अखबार में इंटरव्यू के लिए तस्लीमाजी को फोन लगाया, तो उन्होंने निराश नहीं किया और मैं आश्वस्त भी हुआ कि मैं उन्हीं तस्लीमा नसरीन से बात कर रहा हूं, जिनके दुस्साहसी लेखन का मैं कायल रहा हूं। इंटरव्यू के दौरान वह बेहद आक्रामक थीं। मैंने उनसे पूछा था कि क्या आपको बांग्लादेश की याद आती है। उनका तुर्शी भरा जवाब था, अपने घर की याद किसे नहीं आएगी? क्या आप भात खाना नहीं चाहेंगे? उन्होंने कहा था कि मुझे बंधन में जकड़ने की जितनी भी कोशिश की जाएगी, मैं उतनी ही मजबूत होऊंगी। ठीक उसी समय टाइम्स ऑफ

इंडिया में भी राखी चक्रवर्ती ने उनका इंटरव्यू लिया। दुःखद यह है कि राखी चक्रवर्ती की पिछले दिनों कैंसर से मौत हो गई।

वर्ष 2014 में दोबारा तस्लीमा नसरीन से एक दिन फोन पर बात की और इंटरव्यू की इजाजत मांगी, तो उन्होंने इनकार कर दिया। साथ ही कहा, मेरे लिए 'अमर उजाला' में कॉलम की व्यवस्था क्यों नहीं कर देते? क्या मैं भूखी मर जाऊँ? उनकी इस बात ने मुझे झकझोर दिया। अंततः अपने वरिष्ठों से बात करने के बाद महीने में उनके लिए एक कॉलम का इंतजाम हुआ। फिर उनसे बात भी होने लगी और बांग्ला से हिंदी में लेखों का अनुवाद करते हुए तस्लीमा नसरीन को समझने का अवसर भी मिला।

तस्लीमा नसरीन के जीवन और लेखन के प्रति मेरी उत्सुकता के दो ठोस कारण हैं। एक तो वह उस बांग्लादेश से निर्वासित हैं, जहां से मेरे दादा 1944 में आए थे। दूसरी बात यह कि तस्लीमा नसरीन के जीवन और साहित्य में बांग्लादेश की जिन दो जगहों का अधिक महत्व है, संयोग से वे मेरे पूर्वजों की स्मृति से भी जुड़ी हैं। तस्लीमा नसरीन का जन्म मैमनसिंह में हुआ, जिसका सांस्कृतिक इतिहास काफी समृद्ध रहा है। नीरद सी चौधुरी मैमनसिंह स्थित किशोरगंज के थे। मैमनसिंह में मेरी मां का भी जन्म हुआ। वहां के किशोरगंज, ब्राह्मणबाड़िया आदि जगहों के बारे में मैंने बचपन से सुन रखा है। जब मैंने दशकों पहले उनके बहुचर्चित उपन्यास 'लज्जा' में पाया कि मैमनसिंह समेत बांग्लादेश में हिंदू नाम वाली जगहों का इस्लामीकरण किया जा रहा है, तब मुझे आश्चर्य और क्षोभ हुआ था। बांग्लादेश की क्रिकेट टीम में शामिल मैमनसिंह के क्रिकेटर महमदुल्लाह पर संभवतः उनकी एक पोस्ट भी मैंने कभी पढ़ी थी। इसी तरह पाबना जिले के एक गांव करमजा में मेरे पिता का जन्म हुआ था, और उसी पाबना शहर के सेंट्रल जेल में उनके पिता डॉक्टर थे। बांग्ला सिनेमा की बहुचर्चित अभिनेत्री सुचित्रा सेन, हिंदी सिनेमा की अभिनेत्री राखी और ठाकुर अनुकूलचंद्र (जिनका झारखंड के देवघर में आश्रम है) पाबना की उल्लेखनीय शख्सियतें हैं हालांकि तस्लीमा बाद के वर्षों में ढाका में थीं। तस्लीमा के लेखन में मैमनसिंह और पाबना को जितना महत्व मिला है, उतना शायद ही किसी और जगह को मिला है। एक दिन फोन पर बात करते हुए उन्होंने मुझे मैमनसिंह की बांग्ला के कुछ शब्द बताने के लिए कहा। चूंकि बचपन में अपनी ननिहाल में मैंने नाना-नानी को इसी बोली में बात करते सुना था, इसलिए वहां के कुछ शब्द और वाक्य मुझे याद थे, जो मैंने बताए।

तस्लीमा नसरीन समकालीन बांग्ला साहित्य में एक जरूरी नाम हैं पर विडंबना देखिए, उन्हें दोनों बंगाल ने निर्वासित कर दिया! बांग्लादेश के धार्मिक कट्टरपंथी उनके साहसी लेखन को झेल नहीं पाए और पश्चिम बंगाल के बौद्धिक भद्रलोक उनके दुस्साहसी खुलासों से तिलमिला उठे। जितने साहस के साथ वह धार्मिक कट्टरपंथ के खिलाफ लिख सकती हैं, उतनी ही सहजता से पुरुषों की यौन कुंठा को हू-ब-हू कागज पर उतार सकती हैं। इसलिए उनके आलोचक और शत्रु सिर्फ कट्टरवादी नहीं हैं, बल्कि व्यापक तौर पर वह पुरुष वर्चस्ववादी समाज भी है, जो एक महिला द्वारा अपनी कलाई खोने जाने को हजम नहीं कर सकता और इसे अपने पौरुष के खिलाफ समझता है। जहां तक कट्टरता की बात है, तो वह मुस्लिम कट्टरवाद को सबसे खतरनाक मानती हैं। इसकी ठोस वजह है। दुनिया में मुस्लिम आबादी न सिर्फ बहुत अधिक है, बल्कि जेहाद की धारणा से दुष्प्रेरित होकर दुनिया भर में आतंकी हिंसा फैलाने वाले संगठनों से मानवता को जितना खतरा है, उतना शायद ही किसी और

से है। अपनी इसी सोच के कारण पहले वह बांग्लादेश से निर्वासित हुई, और अब भारत में भी कट्टरवादियों के निरंतर निशाने पर हैं। कुछ साल पहले हैदराबाद में उन पर हमला होते-होते बचा था। इसी साल जयपुर लिटरेरी फेस्टिवल में बुलाए जाने के बाद भी कट्टरवादियों के विरोध प्रदर्शन के कारण उन्हें वापस लौटना पड़ा। पिछले दिनों अजंता और एलोरा की गुफाएं देखने गईं तस्लीमा को विरोध प्रदर्शन के कारण औरंगाबाद हवाई अड्डे से ही लौटना पड़ा।

बहुतेरे लोगों से मैंने सुना है कि तस्लीमा नसरीन सिर्फ विवादास्पद होने के कारण चर्चित हैं। एक बार कॉलम के सिलसिले में बात करते हुए मैंने उनसे कहा था, 'दीदी, आप ऐसा कुछ मत लिखिएगा, जिससे खामखाह विवाद पैदा हो।' उन्होंने गुस्से में जवाब दिया, 'क्या मैं विवाद पैदा करती हूँ?' मैंने कहा, 'ऐसा नहीं है लेकिन मैं चाहता हूँ कि आपका कॉलम चलता रहे। यह मेरे लिए भी खुशी की बात होगी।' पिछले कुछ वर्षों से उनके लेखन को नजदीक से देखते हुए मैंने समझा है कि विवाद पैदा करना उनके स्वभाव में नहीं है। पुरुष वर्चस्ववाद के खिलाफ तस्लीमा नसरीन का लेखन मुझे दो पाकिस्तानी लेखिकाओं-परवीन शाकिर (दिवंगत) और तहमीना दुरानी की याद दिलाता है। परवीन शाकिर यकीनन बहुत शानदार शायर थीं। ऐसे ही तहमीना दुरानी का गद्य रोंगटे खड़ा देने वाला है। खासकर उन्होंने समाज के उच्च वर्ग के पुरुषों द्वारा महिलाओं के शोषण के जो ब्योरे दिए हैं, उनसे जमीनी सच्चाई से जुड़े होने और उसे साहित्य में पेश करने की कला का पता चलता है।

तस्लीमा के लेखन में भी यह सब है। लेकिन वह जहां पैदा हुई, वह परवीन शाकिर और तहमीना दुरानी के जन्मस्थान से अलग है।

बांग्लादेश वेश-भूषा, आचार-विचार और संस्कृति के मामले में बहुत उदार रहा है। बांग्ला भाषा ने पूर्वी पाकिस्तान और अब बांग्लादेश को बांग्ला की संस्कृति से भी जोड़े रखा। कोलकाता और ढाका में कभी कोई दूरी नहीं रही। मजहब के लिहाज से पाकिस्तान और बांग्लादेश में भले फर्क न हो, लेकिन बांग्ला भाषा ने बांग्लादेश को उदार बनाए रखा। रवींद्रनाथ संभवतः अकेले व्यक्ति हैं, जिन्हें दो देशों (भारत और बांग्लादेश) के राष्ट्रगान के रचयिता होने का गौरव प्राप्त है! बांग्लादेश की बांग्ला भाषा को पश्चिम बंगाल की तुलना में संस्कृतनिष्ठ माना जाता रहा है। खुद तस्लीमा के लेखन में कई जगह संस्कृत के उदाहरण दिखते हैं। ऐसे एक देश में कट्टरवाद के आगमन को तस्लीमा ने हैरत और क्षोभ के साथ तो देखा ही, सांप्रदायिक हिंसा में उन्होंने अल्पसंख्यकों के पाले में खड़ा होना पसंद किया। 'लज्जा' की कहानी यही है। उनकी एक कविता है, '7 दिसंबर, 1992', जिसमें इसका जिक्र है कि बाबरी मस्जिद विध्वंस की प्रतिक्रिया में अगले दिन कट्टरपंथियों ने ढाका में सतीपद दास नाम के एक व्यक्ति को जलाकर मार डाला। संयोग से उसी दिन तस्लीमा की सतीपद दास से मुलाकात तय थी।

तस्लीमा के अग्निगर्भी लेखन ने लोगों का ध्यान खूब आकर्षित किया है। पर खासकर उनकी कविताओं में निर्वासित महिला का दर्द जिस तरह सामने आता है, उस पर बहुत नजर नहीं गई है। कुछ दिन घर से बाहर रहने पर हम परेशान हो उठते हैं। तस्लीमा नसरीन पिछले दो दशक से भी अधिक समय से बांग्लादेश से बाहर हैं। और किस जुर्म में? लिखने के कारण। इतने लंबे समय से निर्वासन में रहने का शरीर और मन पर क्या असर पड़ता है, इसका अनुभव हमें नहीं है पर तस्लीमा

नसरीन को है। उनकी अनेक कविताएं उनके इस एकाकीपन और घर लौट न पाने की विवशता को हमारे सामने रखती हैं। पिता को लिखी गई एक चिट्ठी एक लंबी और बेहद संवेदनशील कविता है, जिसमें वह अपने वृद्ध पिता की शारीरिक मजबूरियों और मनःस्थिति को सामने रखती हैं, और फिर अपने 'गुनाह' के बारे में बताते हुए कहती हैं कि आपने ही हमें सच्चाई के रास्ते पर चलने के लिए कहा था। ऐसे ही मां पर लिखी गई एक कविता में वह कल्पना करती हैं कि जाड़े से पहले मां क्या-क्या तैयारियां कर रही हैं, अपनी निर्वासित बेटी की रजाई को धूप दे रही हैं, उसके खाने-पीने की पसंदीदा चीजों को संजोकर रख रही है। एक कविता में वह कहती हैं कि अगर मनुष्य रूप में नहीं लौट पाई, तो पक्षी के रूप में जरूर लौटूंगी। उनकी कविताओं में संवेदना को ज्यादा जगह मिली है, तो उनके गद्य में तार्किकता है। बांग्लादेश के सत्ता प्रतिष्ठान से नाराज होने के बावजूद पिछले दिनों उन्होंने शेख हसीना पर एक मर्मस्पर्शी लेख में लिखा कि बांग्लादेश में अगर किसी से उम्मीद की जा सकती है, तो वह सिर्फ शेख हसीना हैं। यह प्रसंग बताता है कि उनके व्यक्तिगत मामले सच्चाई व्यक्त करने के रास्ते में आड़े नहीं आते।

तस्लीमा नसरीन के दिल्ली में आने के बाद मैं उनसे मिलना चाहता। इस संदर्भ में कई बार योजनाएं बनीं और अंततः करीब दो साल पहले अपने संपादक (संपादकीय पेज) सुदीप ठाकुर के साथ उनसे मिलने के लिए गया। चूंकि दफ्तर का काम खत्म करने के बाद ही जा सकता था, इसलिए उनके आवास तक पहुंचते-पहुंचते रात के करीब नौ बज गए थे। सुरक्षा की औपचारिकताओं से निपटते हुए मैंने देखा कि एक सुरक्षाकर्मी उन्हीं की हिंदी में अनूदित किताब पढ़ रहा था। उनके फ्लैट का दरवाजा खुला, तो पहले उनकी पालतू बिल्ली सामने आई (जिसे तस्लीमा पर बनी फिल्म में काम करने का सौभाग्य प्राप्त है), फिर वह लड़की, जो संभवतः उनकी बेटी है, और अंत में खुद तस्लीमा नसरीन। उनसे कई मुद्दों पर बात हुई। उनकी एक बात नहीं भूल पाऊंगा।

तस्लीमा ने कहा, 'मेरे लिए सुरक्षा की इतनी व्यवस्था है इसके बावजूद मैं किसी भी दिन निशाना बन सकती हूँ।' जब मैंने कहा कि मैं एक बार बांग्लादेश जाना चाहता हूँ, क्योंकि वह मेरी पूर्वजों की जन्मभूमि है, तो वह थोड़ी तल्लख हो गई। उन्होंने कहा, 'जरूर जाइए और नचिकेता (बांग्ला गायक-जो अपने जीवनमुखी गीतों के लिए बहुचर्चित हैं) की तरह अपनी जमीन पर जाकर रो आइए।' इसमें अपनी मातृभूमि में प्रतिबंधित कर दिए गए तस्लीमा नसरीन का दर्द झलक रहा था। हालांकि मुझे इसका अफसोस रहेगा कि उनके अनुरोध करने के बावजूद हमने भोजन नहीं किया और चाय पीकर लौट गए जबकि उन्होंने इलिश माछ (हिल्सा) बना रखा था। दरअसल रात को देर से घर लौटने की आदत के कारण ग्यारह बजे के पहले भोजन करना अटपटा लगता है। उन्होंने कहा भी कि अगर पहले बता देते, तो मैं नाश्ते की अच्छी व्यवस्था करती। सुदीपजी को उन्होंने अपनी किताब भेंट की। मुझे जब उन्होंने अपनी एक किताब देनी चाही, तो मैंने मना कर दिया। मैंने कहा, अगर देना ही है, तो अपने संस्मरणों का पूरा सेट दीजिए।

उसका मुझे इंतजार है।



बागी तेवर वाली मामोनि बाईदेऊ

दिनकर कुमार

मामोनि बाईदेऊ से मैं पांच या छह बार मिला था। उनके व्यक्तित्व में अलग किस्म का सम्मोहन था। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें सीधे आत्मा में झांकती हुई प्रतीत होती थी। अजनबियों से भी आत्मीयता के साथ बर्ताव करना उनका स्वभाव था। हमेशा उनके चेहरे पर मुस्कराहट बनी रहती थी।

तकरीबन 27 साल पहले मैं उनसे पहली बार मिला था। असमिया लेखक पंकज ठाकुर की व्यंग्य-कथाओं के संग्रह 'आप कुछ कहना चाहेंगे' का हिंदी अनुवाद मैंने किया था। किताब छपकर आ गई थी और मैं किसी काम से दिल्ली जा रहा था। पंकज ठाकुर ने मुझसे कहा कि किताब की प्रति लेकर मुझे मामोनि बाईदेऊ से मिलना चाहिए। उन्होंने बाईदेऊ का पता भी लिखकर दिया। दिल्ली पहुंचकर मैं हिचकते हुए विश्वविद्यालय के उनके क्वार्टर में पहुंचा। उस समय मोबाइल नहीं था कि पहले से समय लेकर मिलने जाता लेकिन जिस अपनेपन के साथ उन्होंने मेरा स्वागत किया, उससे मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। जब मैं उनके घर में बैठा था, उसी दौरान दिल्ली में पढ़ने आए असम के कई विद्यार्थी उनसे मिलने आए। उन्होंने बताया कि असम से पढ़ने के लिए दिल्ली आने वाले विद्यार्थियों के लिए वह स्थानीय अभिभावक की भूमिका निभाती थी। उन्होंने हिंदी में अनूदित अपनी किताब 'आधा लिखा दस्तावेज' मुझे दी। यह भी बताया कि पंकज ठाकुर उनके नए उपन्यास को धारावाहिक रूप से 'आजिर असम' पत्र में प्रकाशित कर रहे थे। उन्होंने मुझे असमिया से चुनिंदा रचनाओं का हिंदी अनुवाद करने के लिए कहा।

फिर दूसरी बार उनसे मेरी मुलाकात गुवाहाटी सर्किट हाउस में हुई। उस समय मैं दैनिक सेंटिनल में काम करने लगा था और मुझसे उनका साक्षात्कार लाने के लिए कहा गया था। दिल्ली से बाईदेऊ गुवाहाटी आई थीं और सर्किट हाउस में ठहरी थीं। बिना समय लिए ही उनसे मिलने गया, लेकिन उन्होंने पहचान लिया। साक्षात्कार में उन्होंने खुलकर सारे सवालों का जवाब दिया था।

वह अपने बचपन के दिनों को अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ हिस्सा मानती थीं। गुवाहाटी में जन्म लेकर भी दूरदराज में स्थित अपने पैतृक घर में अकसर जाती थीं। उस स्थान पर मौजूद हाथियों को देखकर वह बहुत खुश होती थीं। उन्हें हाथियों की सवारी करने का मौका मिलता था। गांव के तालाब में नहाती थीं और गांव के खुले प्राकृतिक वातावरण का आनंद उठाती थीं। बचपन की उन स्मृतियों का चित्रण उन्होंने अपने बहुचर्चित उपन्यास 'दक्षिण कामरूप की गाथा' उपन्यास में किया है।

उनको बचपन से ही अपने घर में साहित्यिक माहौल मिला। उस समय के कई मशहूर असमिया

लेखक उनके घर में एकत्रित होते थे। ऐसे माहौल का बाइदेऊ के ऊपर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। शुरू में उन्होंने चित्रकला के जरिये अपनी रचनात्मकता को व्यक्त किया। बचपन के उन चित्रों में उन्होंने हाथियों का चित्रण किया था।

पांच साल की उम्र में उन्होंने अपनी पहली रचना लिखी थी। स्कूल के प्रिंसिपल कीर्तिनाथ हजारिका ने बच्चों से किसी भी विषय पर लेख लिखने के लिए कहा था। मामोनि बाइदेऊ ने अपनी आँखों से एक पागल हाथी की नृशंस हत्या का जो दृश्य देखा था, उसी को आधार बनाकर लेख लिखा। लेख को पढ़कर प्रिंसिपल अत्यंत प्रभावित हुए और उन्होंने बाइदेऊ के पिता से कहा कि बच्ची को लेखन के क्षेत्र में प्रोत्साहित किया जा सकता है।

बाइदेऊ की सभी रचनाओं में दर्द का भाव अनिवार्य रूप से पाठकों के दिल को छूता है। बचपन से ही संवेदनशील होने के नाते परिजनों की मृत्यु या पशुओं के साथ होने वाली क्रूरता की घटनाओं से उनका कोमल मन बेहद आहत होता था। उनका मानना था कि मृत्यु भले ही अपरिहार्य घटना है, लेकिन उसका भी एक निश्चित समय होना चाहिए। असमय मृत्यु की वेदना का चित्रण उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। 'नीलकंठ ब्रज' उपन्यास में उन्होंने वैधव्य की यंत्रणा का असरदार वर्णन किया है। वृंदावन में रहते हुए उन्होंने विधवाओं के त्रासद जीवन को करीब से देखा था। अपने परिवार में भी उन्होंने चाची के वैधव्य की पीड़ा को देखा था। इसी तरह 'छिन्मस्ता का आदमी' उपन्यास में उन्होंने पशु बलि प्रथा की क्रूरता को उजागर किया है। उन्होंने अपना ज्यादातर लेखन विषाद से लड़ते हुए किया है।

बाइदेऊ ने अपने जीवन के सारे अनुभवों को रचनाओं में व्यक्त किया। जीवन के कड़वे यथार्थ को उन्होंने कथाओं और उपन्यासों में उजागर किया। उनका मानना था कि उनकी आरंभिक पुस्तकों में भी यथार्थ का ही चित्रण किया गया है।

गोस्वामी ने विधवाओं के जीवन को लेकर कई रचनाएं लिखने की वजह बताई कि बचपन में उन्होंने अपनी आँखों से विधवाओं के त्रासद जीवन को देखा था और 26 साल की उम्र में खुद उनको भी वैधव्य का सामना करना पड़ा था। इस तरह वैधव्य के दर्द को महसूस करते हुए उन्होंने अपनी रचनाओं में इस विषय को चित्रित किया। वृंदावन में जाकर उन्होंने पाया कि देश भर में विधवाओं की जिंदगी एक जैसी है। उनको पुरुष और लजीज भोजन से दूर रखा जाता है और धर्म-रिवाज के नाम पर उनका शोषण किया जाता है। इस तरह वे जीवित लाश की तरह जीवन गुजारने के लिए मजबूर होती हैं।

बाइदेऊ का मानना था कि साहित्य के जरिए कुछ हद तक समाज परिवर्तन करना संभव है। दक्षिण कामरूप के इलाके में उनके लेखन का काफी असर पड़ा और विधवाओं के जीवन में सकारात्मक बदलाव भी आया। इसी तरह पशु बलि प्रथा के खिलाफ असम में माहौल तैयार करने में उनकी पुस्तक ने भूमिका निभाई। उग्रवाद की पृष्ठभूमि को लेकर उन्होंने 'जात्रा' उपन्यास की रचना की। उग्रवाद की समस्या को उन्होंने मानवीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया और हिंसा की जगह बातचीत के जरिए मसले को हल करने पर जोर दिया।

उनका मानना था कि हर व्यक्ति की पढ़ने की आदत बचपन में ही विकसित होती है और इस मामले में मां की भूमिका अहम होती है, चूंकि मां सबसे बड़ी शिक्षिका होती है।

बाइदेऊ से तीसरी और चौथी मुलाकात दिल्ली में हुई। एक बार साहित्य अकादेमी ने असमिया के तीन युवा कवियों की कविताओं के हिंदी अनुवाद का पाठ करने के लिए मुझे बुलाया था। उस कार्यक्रम में विशेष रूप से बाइदेऊ को भी आमंत्रित किया गया था। कार्यक्रम के बाद देर तक हम लोग बातें करते रहे थे। उन्होंने अनुवाद की सराहना की थी और इस बात पर जोर दिया था कि असमिया कविता काफी समृद्ध है।

उसके बाद गुवाहाटी की नाटक गोष्ठी 'कथा' के साथ मैं दिल्ली गया था। कथा के नाटक 'यात्रा' का मैंने अनुवाद किया था। सारे असमिया के कलाकार हिंदी में नाटक प्रस्तुत करने गए थे। इस मौके पर बाइदेऊ को नाटक देखने के लिए आमंत्रित किया गया था। नाटक खत्म होने के बाद उनके साथ बातचीत हुई थी। आखिरी बार मैं कुछ असमिया लेखकों के साथ गुवाहाटी के उनके घर में मिला था। बीच-बीच में किसी साहित्यिक कार्यक्रम में या पुस्तक मेले में उनकी झलक मिल जाती थी।

बाइदेऊ के लिए लेखन किसी पवित्र अनुष्ठान की तरह कार्य था। वह सुबह नहाकर पूजा-पाठ करने की मुद्रा में लेखन में जुट जाती थी। संभवतः ऐसी आदत के कारण ही वह प्रचुर मात्रा में लेखन कर पाई।

ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने के बाद उनको साहित्यिक-सामाजिक कार्यक्रमों में हमेशा व्यस्त देखा जा सकता था। उन्होंने कहा भी था कि इस तरह की व्यस्तता से उनका लेखन प्रभावित हो रहा था। फिर जब उनको उत्फा-सरकार की वार्ता के लिए मध्यस्थ बनना पड़ा तो उनके ऊपर मानसिक दबाव बढ़ता गया। मुझे याद है कि जब उनका देहांत हुआ तो गुवाहाटी के काफी हाउस में एक लेखक ने मुझसे कहा कि वार्ता के दबाव ने बाइदेऊ की जान ले ली। उनको इस तरह के राजनीतिक झमेले से दूर ही रहना चाहिए था।

14 नवंबर 1942 को जन्मी इंदिरा गोस्वामी असमिया में मामोनि राइसम गोस्वामी के नाम से लेखन करती थीं। असल में उनका जन्म जवाहरलाल नेहरू के जन्मदिन के अवसर पर हुआ तो पिता ने उनका नाम नेहरू की बेटी इंदिरा के नाम पर रख दिया। बाद में उन्होंने छद्म नाम मामोनि राइसम गोस्वामी को अपनाया। असम के लोग उनको प्यार और आदर से मामोनि बाइदेऊ यानी मामोनि दीदी कहकर पुकारते थे। वह बहुआयामी प्रतिभा की धनी लेखिका थीं और उन्होंने अलग-अलग विधाओं में विपुल लेखन किया। उनका जन्म गुवाहाटी के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। पिता का नाम उमाकांत गोस्वामी और माता का नाम अंबिका देवी था। उनकी आरंभिक शिक्षा गुवाहाटी के लटाशील स्कूल और शिलांग के पाइन माउंट स्कूल में हुई। उस समय शिलांग अविभाजित असम की राजधानी थी। उन्होंने 1957 में टीसी गर्ल्स स्कूल से हायर सेकेंडरी की परीक्षा उत्तीर्ण की फिर गुवाहाटी के कॉटन कॉलेज से उन्होंने स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की।

जाने-माने पत्रकार कीर्तिनाथ हजारिका ने सबसे पहले मामोनि बाइदेऊ को कहानी लेखन के लिए प्रोत्साहित किया था। आठवीं कक्षा में पढ़ते समय महज तेरह साल की उम्र में उन्होंने पहली कहानी लिखी, जिसे हजारिका ने अपने पत्र में प्रकाशित किया था। उसके बाद मामोनि बाइदेऊ ने पीछे मुड़कर नहीं देखा।

बचपन से ही मामोनि बाइदेऊ को अवसाद का सामना करना पड़ा। अपनी आत्मकथा 'आधा लिखा दस्तावेज' में उन्होंने उल्लेख किया है कि किस तरह अवसाद के चलते शिलांग में उन्होंने अपने

घर के पास क्रिनोलिन झरने में छलांग लगाकर जान देने की कोशिश की थी। उसके बाद भी युवावस्था में उन्होंने कई बार आत्महत्या करने की कोशिश की। विवाह के महज अठारह महीने बाद उनके इंजीनियर पति माधवन राइसम अयंगर की मौत कश्मीर में एक सड़क हादसे में हो गई। इस घटना के बाद मामोनि बाईदेऊ अधिक मात्रा में नौद की गोलियां खाने लगीं। उन्हें असम वापस लाया गया और वह ग्वालपारा सैनिक स्कूल में अध्यापन करने लगीं। इसके बाद मानसिक शांति के लिए शोध करने का संकल्प लेकर वृंदावन में जाकर विधवाओं के बीच रहीं और बाद में उनके बारे में उपन्यास की रचना की।

इंदिरा गोस्वामी ने अपने आपको लेखन के लिए समर्पित कर दिया। लेखन करना उनके लिए सांस लेने की तरह अनिवार्य था और जिंदा रहने का संबल भी वह लेखन कर्म में ढूंढती थीं। उन्होंने समाज के निचले तबके के लोगों के संघर्षपूर्ण जीवन का अपनी रचनाओं में प्रभावशाली तरीके से चित्रण किया। लेखन के जरिए उन्होंने सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ आवाज बुलंद की। मामोनि बाईदेऊ आम लोगों के दुःख-दर्द को अच्छी तरह समझती थीं। कश्मीर और मध्य प्रदेश में अपने इंजीनियर पति के साथ रहते हुए उनको जो अनुभव हुए, बाद में उनके आधार पर उन्होंने 'अहिरन' और 'चनाबर स्रोत' नामक उपन्यासों की रचना की। उन्होंने जीवन भर नारी के अधिकारों को रचनाओं में सशक्त तरीके से व्यक्त किया। एक परम्परावादी ब्राह्मण परिवार में पैदा होने के बावजूद उन्होंने सामाजिक बंधनों और पुरानी मान्यताओं की कभी परवाह नहीं की। उन्होंने अपनी पसंद से विवाह किया और उनके लेखन में भी उनका यही बागी तेवर बरकरार रहा।

अपने उपन्यास 'दक्षिण कामरूप की गाथा' उपन्यास में उन्होंने एक ब्राह्मण विधवा गिरिबाला के विद्रोह का चित्रण किया है। पति की मौत के बाद उसे केवल भात और दाल ही खाने की इजाजत है, लेकिन चुपके से मांस खाकर वह परंपराओं को चुनौती देती है।

दिल्ली विश्वविद्यालय में असमिया विभाग की प्रमुख बनकर मामोनि बाईदेऊ दिल्ली में ही रहने लगीं। उनका दिल्ली प्रवास उनके लिए रचनात्मक लेखन का स्वर्णिम काल साबित हुआ और इसी अवधि में उन्होंने अपनी ज्यादातर मशहूर कृतियों का सृजन किया।

उनके उपन्यास 'दक्षिण कामरूप की गाथा' और 'लहू और धूल से धूसरित पृष्ठ' को असमिया साहित्य में क्लासिक का दर्जा प्राप्त है। इन दोनों उपन्यासों की रचना उन्होंने दिल्ली में रहते हुए ही की थी। 'आधा लिखा दस्तावेज' उनकी आत्मकथा है। इसमें उन्होंने अपने जीवन संघर्ष का वर्णन किया है। इसी तरह 'छिन्नमस्तार मानुहटो' उपन्यास में उन्होंने कामाख्या देवी पीठ पर बलि देने की परंपरा का विरोध किया है।

रामायण साहित्य पर उनका शोध बहुत सराहा गया था। वह फादर कामिल बुल्के से रांची में 1972 में मिलीं। कामिल बुल्के ने उन्हें रामायण साहित्य का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया।

असम में तीन दशक लंबे विद्रोह की छाया के बीच मामोनि बाईदेऊ ने न सिर्फ हिंसा के मुद्दे को उठाने के लिए अपनी कलम को उठाया, बल्कि प्रतिबंधित उल्फा को बातचीत की मेज पर लाने की पहल भी की। मामोनि बाईदेऊ ने केंद्र सरकार और प्रतिबंधित उग्रवादी संगठन उल्फा के बीच वार्ता करवाने के लिए मध्यस्थ की भूमिका निभाई थी। उल्फा की तरफ से वार्ताकारों का जो समूह गठित किया गया था, उसमें बाईदेऊ को सदस्य बनाया गया था। बाईदेऊ के प्रयासों के भले ही

तत्काल नतीजे नहीं निकले हों, लेकिन इन्होंने उल्फा नेताओं और सरकार के बीच जारी वार्ता के लिए निश्चित तौर पर मार्ग प्रशस्त किया।

1982 में उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। वर्ष 2000 में उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उनके लेखन के केंद्र में असमिया समाज के सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलुओं के साथ नारी के संघर्ष का चित्रण मिलता है। कई महीने तक अस्पताल में बेहोशी की हालत में रहने के बाद 29 नवम्बर 2011 को 69 साल की उम्र में उनका देहांत हो गया।

एक साक्षात्कार में इंदिरा गोस्वामी ने अपने बारे में कहा था-मेरा जन्म असम के एक पारंपरिक जमींदार परिवार में हुआ था। मेरे जन्म के समय नगर-ज्योतिषी ने कहा था कि ऐसे अशुभ ग्रह में जन्म लेने वाले बच्चे के दो टुकड़े कर ब्रह्मपुत्र में डाल देना चाहिए। हालांकि मेरे जन्म के समय की यह कहानी मुझे बहुत बाद में मालूम हुई क्योंकि घर में अंधविश्वास और ज्योतिष के लिए कोई जगह नहीं थी। मेरे माता-पिता पढ़े-लिखे और खुले विचारों के इनसान थे। मां का उन बातों में बिलकुल विश्वास नहीं था। पिता असम राज्य के शिक्षा निदेशक थे। मां की रुचि रवीन्द्र साहित्य और संगीत में थी। पुराना जमींदार परिवार था इसलिए घर पर नौकर-चाकर के साथ-साथ आने जाने के लिए हाथी थे। एक हाथी हम भाई-बहन के खेलने के लिए भी था।

बचपन में मुझे असमिया पढ़नी लिखनी नहीं आती थी लेकिन पिता के जोर देने पर मैंने असमिया सीखी और आगे चलकर इसी भाषा में मैंने अपने लेखन की शुरुआत की। मेरे लेखन के विषय, मेरे-अपने समाज की समस्याएं ही रहे हैं। जैसे मैंने ब्राह्मण विधवाओं की, हर पल परीक्षा से गुजरने के संघर्ष और विडंबनाओं को लोगों के सामने लाने की कोशिश की है। मुझे अपनी सारी रचनाएं प्रिय हैं लेकिन मुझे 'दक्षिण कामरूप की गाथा' से ज्यादा लगाव रहा है।

जहां तक सवाल पुरस्कार का है, तो मुझे खुशी है कि मुझे ज्ञानपीठ जैसा सम्मान मिला लेकिन सम्मान और पुरस्कार के लिए मैंने कभी लिखा नहीं, बल्कि सच यह है कि लेखन मेरे लिए ऐसा है जैसे रगों में बहता लहू। अगर कलम का साथ नहीं मिला होता तो मैं बहुत पहले मर गई होती। पहले के मुकाबले, आज की औरत की तस्वीर बदली है लेकिन आज भी 85 प्रतिशत औरतें दहलीज के इस पार ठिठकी हुई हैं।

जरूरत उन्हें हाशिए से उठाने की है। तब औरत की तस्वीर साफ नजर आएगी। मुझे खुशी है कि आज महिलाएं हर क्षेत्र में कामयाब हो रही हैं लेकिन आजादी की आड़ में फूहड़ नग्नता को अपना अधिकार मान लेना ठीक नहीं है। ढके हुए बदन के साथ भी महिला सेक्सी और आकर्षक लगती है। जरूरत है आज आजादी और अधिकार को ठीक से समझकर उसे परिभाषित करने की।

मैं मानती हूं कि लेखक को राजनीति से नहीं जुड़ना चाहिए। उसे हमेशा मानवता का साथ देना चाहिए लेकिन मैं अपने राज्य असम को शांत देखना चाहती हूं इसलिए मैंने वहां मध्यस्थ बनना स्वीकार किया।



कथा एकांकी सम्राट की

नीरजा पांडेय

बात काफी पुरानी है लेकिन 1983 के बाद की है जब डॉ. रामकुमार वर्मा बीमारी के बाद, कमजोरी कारण बिस्तर पर थे, उसी दौरान मुझे उनके प्रयाग के घर में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह महज संयोग था कि 1983 में मेरी शादी इलाहाबाद के एक प्रतिष्ठित परिवार के युवक से हुई। इलाहाबाद उन दिनों साहित्यकारों के कारण खासा प्रसिद्ध था। दूसरा संयोग यह था कि मुझे अपने परिवार से ही साहित्य के संस्कार न जाने कैसे मिल गए थे। मैंने विवाह के समय ही तय कर लिया था कि घर-गृहस्थी के कर्तव्य निभाने के साथ-साथ सुप्रसिद्ध लेखकों से भी मिला करूंगी और लेखन के रास्ते पर चलूंगी। इलाहाबाद पहुंचते ही मेरी यह साध पूरी हो गई थी। अस्वस्थता के दिनों में भी उनका व्यवहार दिल को छू लेने वाला था। मैं अपने ससुरजी से विशेष आग्रह करके उनके साथ डॉ. वर्मा के घर गई थी। पहुंचने पर उन्होंने सबसे पहले मेरे पति के बारे में पूछा, 'चिरंजीव कैसे हैं?'

'ठीक हैं।'

मेरे इतना कहने पर उन्होंने बहुत स्नेह से मुझे पास रखी कुर्सी पर बैठने का इशारा किया।

मेरी साहित्य में रुचि जानकर वे बहुत खुश हुए। मेरे ससुर रामनरेश पांडेय 'पदमेश' भी अपने समय के घनाक्षरी शैली के कवि थे दोनों में खूब बातें होती रहीं।

मैंने जब उनके उत्तरायण खंड काव्य की प्रशंसा की तो उनकी आँखों में चमक आ गई। मेरे पसंदीदा खंड काव्य का रचयिता मेरे सामने लेटा था। मुझे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। हम लोग काफी देर उनके पास रहे। सरल और अपने में ही लीन डॉ. रामकुमार वर्मा से मिलकर ऐसा लग रहा था कि जैसे कोई पिता अपनी बेटी से मिल रहा था। गोद में मेरी दो साल की बेटी थी उन्होंने पास रखी डलिया से एक सेब उठाकर बेटी को पकड़ा दिया।

महादेवीजी के साथ बीता क्षण और कई बड़े साहित्यकारों के साथ की यादें वह बड़े शौक से रस ले-लेकर बता रहे थे। पहले जो बातें कह रहे थे और कुछ को याद करने की कोशिश कर रहे थे, उन्हें अब बड़े जोश से सुना रहे थे। बोले बातें करने से मेरी याददाश्त भी ठीक हो जाती है। बातें खत्म होने का नाम नहीं ले रहीं थीं और हमें वहां बैठे कई घंटे हो गए थे। साथ आई मेरी बेटी भी घर चलने की जिद कर रही थी। उन्होंने उसे पास रखा बिस्किट का पैकेट पकड़ा दिया। वह उसमें व्यस्त हो गई और डॉ. वर्मा हम लोगों की ओर देखकर मुस्कराए कहने लगे अकेले पड़े-पड़े जी ऊब जाता है, आज आप लोगों के साथ मुझे फिर से वे दिन याद आ गए जब घर पर ही गोष्ठियां होती

थीं और खूब ठहाके लगते थे।

कहने लगे एकांकी लिखने में जो आनंद आता था वह और किसी विधा में नहीं था। मेरे मुंह से निकल गया, 'तभी तो आप एकांकी सम्राट कहलाते हैं। आधुनिक हिंदी एकांकी के आप जनक भी तो कहे जाते हैं। सुनकर हँसे फिर बोले अच्छा याद दिलाया चेखव, मैटरलिक को पढ़कर ही एकांकी लिखने की प्रेरणा मिलती थी। याददाश्त पूरी तरह वापस आ गई थी कहने लगे, 'बादल की मृत्यु' पहला एकांकी संग्रह जब आया तो बहुतों को पसंद नहीं आया पर 'रेशमी टाई' तक आते-आते लोग मुझे समझने लगे थे। अब तक एकांकी के क्षेत्र में सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक सभी प्रकार की एकांकियां लिखीं थीं।

इतना सुनकर मुझसे रहा न गया और मैं बोल पड़ी, रंगमंच की दृष्टि से भी तो आपकी एकांकियां पूर्ण सफल हैं। वे मेरी ओर देखकर धीरे से मुस्कुरा दिए। बचपन का एक किस्सा बताते हुए बाबूजी बोले, सभी मुझे कुमार नाम से घर पर बुलाते थे। मां ने प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही दी थी। मां राजरानी उस समय की हिंदी कवयित्रियों में विशेष स्थान रखती थीं।

मैंने कल ही पढ़ा था डॉ. रामकुमार वर्माजी के 'सप्तकिरण' एकांकी संग्रह पर अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन पुरस्कार, हिंदी साहित्य की ओर से साहित्य वाचस्पति उपाधि तथा 'चित्ररेखा' काव्य संग्रह पर तो देव पुरस्कार तथा भारत सरकार द्वारा पद्म भूषण से आपको सम्मानित किया गया।

रामकुमार वर्मा एकांकीकार, आलोचक और कवि हैं। उनके काव्य में रहस्यवाद और छायावाद की झलक है। आलोचना के क्षेत्र में रामकुमार वर्मा की कबीर विषयक खोज और उनके पदों का प्रथम शुद्ध पाठ तथा कबीर के रहस्यवाद और योग साधना की पद्धति की समालोचना विशेष उपलब्धि है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन क्षेत्र में उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1938 ई.) का विशेष महत्त्व है। सामाजिक तथा शक्तियों के अध्ययन परिप्रेक्ष्य में हिंदी साहित्य के आदि युग और मध्य युग को समग्र रूप में देखने का यह पहला सफल प्रयास है। इसके अतिरिक्त काव्य, कला और साहित्य के विभिन्न अंगों तथा माध्यमों पर ललित लेखक वर्मा के निबंधकार व्यक्तित्व के सुंदरतम उदाहरण हैं। 'जिस देश के पास हिंदी जैसी मधुर भाषा है वह देश अंग्रेजी के पीछे दीवाना क्यों है? स्वतंत्र देश के नागरिकों को अपनी भाषा पर गर्व करना चाहिए। हमारी भाव भूमि भारतीय होनी चाहिए। हमें जूठन की ओर नहीं ताकना चाहिए' हिंदी को लेकर यह पीड़ा अपनी भाषा के प्रति गहरी प्रतिबद्धता और आस्था रखने वाले डॉ. रामकुमार वर्मा की है। तभी डॉ. वर्मा और अपने ससुरजी की तेज आवाज से मेरा ध्यान टूटा। डॉ. वर्मा बता रहे थे बचपन में मां का लाडला भी था और डांट भी सबसे पहले उन्हीं से पड़ती थी किंतु दसवीं में सफलता पाने के बाद वह मुझे समझ गई थीं, कि मैं भी भविष्य में कुछ कर सकूंगा।

एक मजेदार किस्सा याद करते हुए कहने लगे, कालेज की शिक्षा के साथ साथ वे महात्मा गांधी के आंदोलन में सक्रिय रहे। गांधीजी से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी पीठ पर लादकर खादी बेची। प्रभात फेरियों तथा अन्य अवसरों पर राष्ट्रीय चेतना जागृत करने वाले ओजस्वी भाषण भी दिए।

काफी देर हो गई, बातें थीं कि खत्म होने नहीं आ रही थीं। फिर आने का वादा करके हम लोग घर के लिए चल दिए। घर वापस आने पर 'बाबूजी' की एक-एक बात दिमाग में गूँज रही थी, घर के किसी काम में मन नहीं लग रहा था। मैं काम निपटाकर जब तक खाली हुई, बिटिया

भी सो गई थी। बुक सेल्फ से मैंने 'उत्तरायण' उठा ली। आज फिर से जीवन परिचय पढ़ने की इच्छा जागृत हो गई। विश्वास नहीं हो रहा था कि मैं इतनी विद्वान हस्ती से मिलकर आई हूं जिनके पितृवत व्यवहार ने मुझे मंत्रमुग्ध कर दिया था। मेरे मुंह से कब उनके लिए 'बाबूजी' शब्द निकल गया मैं खुद नहीं जान पाई।

हिंदी एकांकी के जनक कहे जाने वाले डॉ. रामकुमार वर्मा का जन्म मध्य प्रदेश के सागर जिले में 15 सितंबर, 1905 को हुआ था। पिता की राजकीय वृत्ति के कारण वे विभिन्न नगरों में स्थानांतरित होते रहे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा मध्य प्रदेश के विभिन्न शहरों में हुई। विभिन्न स्थलों पर घूमते हुए उनकी अनुभव संपदा बढ़ती रही। शैक्षिक जीवन में ही उनके भीतर साहित्यिक और रंगमंचीय अभिरुचि पैदा हो गई थी। साथ ही तत्कालीन सामाजिक, राजनतिक और मानवीय सरोकारों ने भी उनके व्यक्तित्व को गढ़ने में सहयोग दिया। कुछ समय पश्चात वे फिर विद्यालय में प्रविष्ट हुए। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे प्रयाग विश्वविद्यालय गए। स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने के बाद वे वहीं हिंदी विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए और विभागाध्यक्ष के पद पर पहुंचे। जीवन की विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य और संतुलन तथा निराशा और अवसाद के क्षणों में भी स्मित मुस्कान एवं गंभीरता के साथ विनम्रता उनके व्यक्तित्व के कुछ खास रंग हैं, जिन्होंने उनके कलात्मक स्वरूप को भी एक विशिष्ट सज्जा दी।

कभी कवि तो कभी एकांकीकार, कभी नाटककार तो कभी संपादक, कभी शोधकर्ता तो कभी साहित्य के इतिहास लेखक। न जाने कितने-कितने रूपों में इस साहित्यकार ने हिंदी के साहित्य आकाश को अपनी आभा से चमत्कृत किया। 101 से अधिक कृतियां उनकी सृजनशीलता का दस्तावेज हैं। डॉ. वर्मा ने अपने जीवानुभवों से नाटकों की विषय-वस्तु तैयार की। चिंतन-मनन की तटस्थ अभिव्यक्ति ने उनके आलोचकीय व्यक्तित्व की मुद्राएं तय कीं। सच है डॉ. वर्मा के लिए कोई ऐसी विधा नहीं जो लेखन से अछूती रह गई हो महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, अशोक, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त और शिवाजी से लेकर, प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के महानायकों तक सभी उनके नाटकों के पात्र रहे हैं। अभिनेता बनने की रामकुमार वर्मा की बड़ी प्रबल इच्छा थी जो कि शायद अधूरी ही रही।

5 अक्टूबर सन 1990 ई को प्रयाग की धरती पर इस बहुयामी व्यक्तित्व ने अंतिम सांस ली। साहित्य के प्रति समर्पित इतना कुशल व्यक्तित्व दूढ़ने पर भी मिलना मुश्किल है।



‘हम फिदाए लखनऊ, लखनऊ हम पे फिदा!’

दयानंद पांडेय

कहना बहुत कठिन है कि अमृतलाल नागर का दिल लखनऊ में धड़कता था कि लखनऊ के दिल में अमृतलाल नागर धड़कते थे। ‘हम फिदाए लखनऊ, लखनऊ हम पे फिदा’ की इबारत दरअसल नागरजी पर ऐसे चस्पा होती है गोया लखनऊ और नागरजी दोनों एक दूसरे के लिए ही बने हों। हिंदी ही क्या समूचे विश्व साहित्य में कोई एक लेखक मुझे ऐसा नहीं मिला जिस की सभी रचनाओं में सिर्फ एक ही शहर धड़कता हो... एक ही शहर की कहानी होती हो फिर भी वह कहानी सब को ही अपनी ही कहानी लगती हो और कि पूरी दुनिया में छा जाती हो। लिखने को लखनऊ को अपनी रचनाओं में बहुतेरे लेखकों ने रचा है प्रेमचंद से लेकर श्रीलाल शुक्ल, कामतानाथ तक ने। मैंने खुद भी। पर जैसा नागरजी ने रचा है, वैसा तो न भूतो, न भविष्यति। और उस लखनऊ में भी चौक। चौक ही उन की कहानियों में खदबदाता रहता है ऐसे जैसे किसी पतीली में कोई भोज्य पदार्थ। आते तो वह बनारसी बाग और सिकंदर बाग तक हैं पर लौट-लौट जाते हैं चौक। जैसे करवट में वह जाते तो कोलकाता भी हैं पर बताते लखनऊ और चौक ही हैं। यहीं की यादें हैं। खत्री परिवार की तीन पीढ़ियों की इस कथा में जो बदलाव के कोलाहल का कोलाज वह रचते हैं वह अप्रतिम है। उस अंग्रेज मेम के यूज एंड थ्रो की जो इबारत एक अविरल देहगंध की दाहकता और रंगीनी के रंग में रंगते और बांचते हैं, जिस शालीनता और संकेतों की मद्धिम आंच में उसे पकाते हैं, वह देहयात्रा अविस्मरणीय बन जाती है।

गोमती से बरास्ता गंगा नाव यात्रा से कोलकाता पहुंचने के बीच उस नौजवान खत्री के साथ रंगरेलियां मनाती रेजीडेंसी में तैनात किसी बड़े अंग्रेज अफसर की वह अंग्रेज मेम कोलकाता पहुंच कर कैसे तो उसे न सिर्फ पहचानने से कतराती है बल्कि तिरस्कृत भी करती है तो नौकरी की आस में आया यह नौजवान कैसे तो टूट जाता है। फिर वह लखनऊ की यादों और संपर्कों की थाह लेता है। ‘बूंद और समुद्र’ नागरजी का महाकाव्यात्मक उपन्यास है। पर समूची कथा लखनऊ के चौक में ही चाक-चौबस्त है। बूंद और समुद्र की ताई विलक्षण चरित्र है। ताई के बड़े अंधविश्वास हैं। बहुत कठोर दिखने वाली ताई बाद में पता चलता है कि भीतर से बहुत कोमल, बहुत आर्द्र हैं। वनकन्या, नंदो, सज्जन, शीला, महिपाल, कर्नल आदि तमाम पात्र ‘बूंद और समुद्र’ में हमारे सामने ऐसे उपस्थित होते हैं गोया हम उन्हें पढ़ नहीं रहे हों, साक्षात् देख रहे हों। बिलकुल किसी सिनेमा की तरह। फिल्म, रेडियो और फिल्मी गानों से तर-बतर मिसेज वर्मा का चरित्र भी तब के दिनों में रचना नागरजी के ही बूते की बात थी। मिसेज वर्मा न सिर्फ फिल्मों और फिल्मी गानों से प्रभावित

हैं बल्कि असल जिंदगी में भी वह उसे आजमाती चलती हैं। शादी करना और उसे तोड़कर फिर नई शादी करना और बार-बार इसे दुहराना मिसेज वर्मा का जीवन बन जाता है। कोई बूंद कैसे तो किसी समुद्र में तूफान मचा सकती है यह 'बूंद और समुद्र' पढ़कर ही जाना जा सकता है। पांच दशक से भी अधिक पुराना यह उपन्यास लखनऊ के जीवन में उतना ही प्रासंगिक है जितना अपने छपने के समय था। 'अमृत और विष' वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। अरविंद शंकर इस उपन्यास में लेखक पात्र है। लखनऊ के अभिजात्य वर्ग की बहुतेरी बातें इस उपन्यास में छनकर आती हैं।

नागरजी कोई भी उपन्यास अमूमन बोलकर ही लिखवाते थे। उनका उपन्यास लिखते-लिखते जाने कितने लोग लेखक संपादक हो गए। मुद्राराक्षस उन्हीं में से एक हैं। अवध नारायण मुदगल जो बाद में सारिका के संपादक हुए। ऐसे और भी बहुतेरे लोग हैं। 'बूंद और समुद्र' तो उन्होंने अपने बच्चों को ही बोलकर लिखवाया। इस की लंबी दास्तान नागरजी के छोटे पुत्र शरद नागर ने बयान की है कि कैसे रात के तीसरे पहर जब यह उपन्यास लिखना खत्म हुआ जो शरद नागर को ही बोल कर वह लिखवा रहे थे, तब घर भर को जगाकर यह खुशखबरी बांटी थी, नागरजी ने। बा को भी सोते से जगाया था और बताया था बिलकुल बच्चों की तरह कि आज 'बूंद और समुद्र' पूरा हो गया। नागरजी असल में फिल्मी कथा-पटकथा लिख चुके थे। सारा नरम-गरम देख चुके थे। जीवन के तमाम उतार-चढ़ाव देख चुके थे सो जब वह बोलकर लिखवाते थे तो ऐसे गोया वह दृश्य उनके सामने ही घटित हो रहा है बिलकुल किसी सिनेमा की तरह। नागरजी तो कई बार चिट्ठियां तक बोलकर लिखवाते थे। ऐसे ही उन की एक और आदत थी कि वह जब कोई उपन्यास लिखते थे तो उसको लिखने के पहले जिस विषय पर लिखना होता था उस विषय पर पूरी छानबीन, शोध करते थे। कई बार किसी अखबार के रिपोर्टर की तरह जांच-पड़ताल करते गोया उपन्यास नहीं कोई अखबारी रिपोर्ट लिखनी हो। 'नाच्यो बहुत गोपाल' हो या 'खंजन नयन'। उन्होंने पूरी तैयारी के साथ ही लिखा। 'सुहाग के नूपुर' पौराणिक उपन्यास है जबकि 'शतरंज के मोहरे' ऐतिहासिक। पर इन दोनों उपन्यासों को भी पूरी पड़ताल के बाद ही उन्होंने लिखा। 'ये कोठेवालियां' तो इंटरव्यू आधारित है ही। 'गदर के फूल' लिखने के लिए भी वह जगह-जगह दौड़ते फिरे। मराठी किताब का एक अनुवाद भी उन्होंने पूरे मनोयोग से किया था- 'आँखों देखा गदर'। नागरजी ने आकाशवाणी लखनऊ में नौकरी भी की और बहुतेरे रेडियो नाटक भी लिखे। नाटकों में वैसे भी उन की गहरी दिलचस्पी थी। नागरजी ने लखनऊ में कई छोटे-मोटे काम किए। बाद के दिनों में वह पूर्णकालिक लेखक हो गए। 1985 की बात है उन्होंने एक बार बताया था कि राजपाल प्रकाशन वाले उन्हें हर महीने चार हजार रुपए देते हैं और साल के अंत में रायल्टी के हिसाब में एडजस्ट कर देते हैं। तब के दिनों में नागरजी के कई उपन्यास विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में लगे हुए थे। वह चौक में तब शाहजी की हवेली में किराएदार थे और सोचिए कि हिंदी का यह इतना बड़ा लेखक लखनऊ में या कहीं और भी अपना एक घर नहीं बना सका। किराए के घरों में ही जिंदगी बसर कर ली। उन को पद्मभूषण भी मिला जरूर था पर अंतिम समय में उनके इलाज के लिए इसी मेडिकल कालेज में सिफारिशें लगानी पड़ी थीं। और वह सिफारिशें भी नाकाम रहीं थीं। तब जब कि नागरजी जन-जन के लेखक थे। उन के जाने के बाद लखनऊ क्या अब हिंदी जगत के पास भी कोई एक लेखक नहीं है जिसे देखकर लोग दूर से ही पहचान लें कि देखो वह हिंदी का लेखक जा रहा है। या किसी लेखक के घर का पता आप पूछें तो कोई आपको उसके घर तक पहुंचा भी आए। घर पहुंचाना तो दूर वह उस लेखक को

ही न जानता हो। लेखक पाठक का वह जो रिश्ता था वह अब बिसर गया है। जनता लेखक से और लेखक जनता से कट चुका है। कह सकते हैं आप कि अब न रहे वे पीने वाले, अब न रही वो मधुशाला!

जापान में शेक्सपीयर को ले कर एक सर्वे हुआ था। एक जापानी से पूछा गया कि शेक्सपीयर यहां क्यों इतना लोकप्रिय हैं? तो उस जापानी का सीधा सा जवाब था- क्योंकि शेक्सपीयर जापानियों के बारे में बहुत अच्छा लिखते हैं। नागरजी के बारे में भी यह बात कही जा सकती है। नागरजी भी भले लखनऊ को ही अपनी कथावस्तु बनाते थे, पर वह कथा तो सभी शहरों की होती थी। उनसे एक बार मैं ने पूछा था कि, 'आप गांव के बारे में भी क्यों नहीं लिखते?' वह बोले, 'अरे मैं नागर हूं, गांव के बारे में मुझे क्या मालूम? फिर कैसे लिखूं?' करवट में देह प्रसंगों को लेकर एक बार मैंने उनसे संकोचवश जिद किया और पूछा कि, 'यह दृश्य रचना कैसे संभव हुआ आपके लिए?' पान कूंचते हुए वह मुस्कराए और बोले, 'क्या हमको एकदम बुढ़ऊ समझते हो? अरे हमने भी दुनिया देखी है और तरह-तरह की? तुम लोग क्या देख-भोग पाओगे जो हमने देखी-भोगी है' कहकर वह फिर अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कराए।

वह अकसर सबके बारे में बहुत विनय और आदर भाव रखते थे पर पता नहीं क्यों जब कभी श्रीनारायण चतुर्वेदी की बात आती तो वह भड़क जाते। एक श्रीनारायण चतुर्वेदी और दूसरे महंगाई दोनों से वह बेतरह भड़कते। नागरजी से पहली बार मैं 1979 में मिला था तब विद्यार्थी था। पिताजी के साथ दिल्ली घूमने जा रहा था। तब गोरखपुर से दिल्ली की सीधी ट्रेन नहीं हुआ करती थी। लखनऊ आकर ट्रेन बदलनी होती थी। सुबह गोरखपुर से आया। रात को काशी विश्वनाथ पकड़नी थी। वेटिंग रूम में बैठे-बैठे मैंने पिताजी से कहा कि मैं नागरजी से मिलने जाना चाहता हूं। पिताजी ने अनुमति दे दी। मैं स्टेशन से बाहर निकला। एक टेलीफोन बूथ पर जाकर टेलीफोन डायरेक्ट्री में नागरजी का नंबर ढूंढा। नंबर मिलाया। नागरजी ने खुद फोन उठाया। उनसे मिलने की इच्छा जताई और बताया कि गोरखपुर से आया हूं। स्टेशन से बोल रहा हूं। उन्होंने स्टेशन से आने के लिए बस कहाँ मिलेगी बताया और कहा कि बस चौक चौराहे पर रुकेगी वहां उतरकर ऐसे-ऐसे चले आना मेरा घर मिल जाएगा। मैं चौक चौराहे पर उतरकर जब नागरजी के बारे में पूछने लगा तो हर कोई नागरजी का पता बताने लगा। जैसे होड़ सी लग गई। और अंततः एक सज्जन नहीं माने मुझे लेकर नागरजी के घर पहुंचा आए। दोपहर हो चली थी। नागरजी ऐसे ठठाकर मिले जैसे कितने जन्मों से मुझे जानते हों। अपने बैठके में बिठाया। हालचाल पूछा। फिर पूछा कैसे आना हुआ। मैं उनसे कहना चाहता था कि आप से मिलने आया हूं पर मुंह से निकला आपका इंटरव्यू करना चाहता हूं। वह अचकचाए, 'इंटरव्यू?' फिर बोले, 'ठीक है। ले लो इंटरव्यू।' मैंने इंटरव्यू शुरू किया बचकाने सवालियों के साथ। पर वह जवाब देते गए। थोड़ी देर बाद बोले, 'बेटा थोड़ी जूठन गिरा लो फिर इंटरव्यू करो।' मैं उनका जूठन गिराने का अभिप्राय समझा नहीं। तो वह बोले, 'अरे दो कौर खा लो।' असल में मैं खुद भूख से परेशान था। पेट में मरोड़ उठ रही थी। छूटते ही बोला, 'हां-हां।' शरदजी की पत्नी को नागरजी ने बुलाया और कहा कि कुछ जूठन गिराने का बंदोबस्त करो। वह जल्दी ही पराठा-सब्जी बनाकर ले आई। खाकर उठा तो वह बोले, 'दरअसल बेटा तुम्हारे चेहरे पर लिखी भूख मुझसे देखी नहीं जा रही थी।' मैं झेंप गया।

इंटरव्यू लेकर जब चलने लगा तो वह बड़े मनुहार से बोले, 'बेटा यह इंटरव्यू छपने भेजने के

पहले मुझे भेज देना। फिर जब मैं वापस ठीक करके भेजूं तब ही कहीं छपने भेजना। सवाल तो तब मेरे कच्चे थे ही लिखना भी कच्चा ही था। यह तब पता चला जब नागरजी ने वह इंटरव्यू संशोधित करके भेजा। दंग रह गया था वह बदला हुआ इंटरव्यू देखकर। एक सुखद अनुभूति से भर गया था तब मैं। समूचे इंटरव्यू की रंगत बदल गई थी। अपने कच्चेपन की समझ भी आ गई थी। नागरजी द्वारा संशोधित वह इंटरव्यू आज भी मेरे पास धरोहर के तौर पर मौजूद है और छपा हुआ भी। एक बार फिर उनसे मिला लखनऊ आकर तब प्रेमचंद पर कुछ काम कर रहा था। संपादन मंडल में उन्होंने न सिर्फ अपनी भागीदारी तय की, अपना लेख दिया बल्कि जैनेंद्र कुमार के लिए भी एक चिट्ठी बतौर सिफारिश लिखकर दी। नागरजी की तरह जैनेंद्रजी को भी दिल्ली के दरियागंज में सब लोग जानते थे। नेताजी सुभाष मार्ग पर राजकमल प्रकाशन के पास ही उनके बारे में पूछा। वहां भी सब लोग जैनेंद्रजी के बारे में बताने को तैयार। एक आदमी वहां भी मिला जो जैनेंद्रजी के घर तक मुझे पहुंचा आया। जैनेंद्रजी बहुत कम बोलने वाले लोगों में थे। नागरजी की चिट्ठी दी तो मुस्कराए। कहा कि जब यह चिट्ठी लेकर आए हैं तो 'न' करने का प्रश्न कहां से आता है? उन्होंने भी सहमति दे दी संपादक मंडल के लिए। लिखने की बात आई तो वह बोले, 'इतना लिख चुका हूं प्रेमचंद पर कि अब कुछ लिखने को बचा ही नहीं। बात करके जो निकाल सकें, निकाल लें। लिख लें मेरे नाम से।' खैर, नागरजी से चिट्ठी-पत्री बराबर जारी रही। एक बार गोरखपुर वह गए। संगीत नाटक अकादेमी के नाट्य समारोह का उद्घाटन करने। मुझे ढूंढते फिरे तो लोगों ने बताया। जाकर मिला। बहुत खुश हुए। बोले, 'तुम मेरे शहर में मिलते हो आकर तो मुझे लगा कि तुम्हारे शहर में मैं भी तुमसे मिलूं।' यह कहकर वह गदगद हो गए।

जब मेरा पहला उपन्यास 'दरकते दरवाजे' छपा तब मैं दिल्ली रहने लगा था। 1983-84 की बात है। यह उपन्यास नागरजी को ही समर्पित किया था। उन्हें उपन्यास देने दिल्ली से लखनऊ आया। मिलकर दिया। वह बहुत खुश हुए। थोड़ी देर पन्ने पलटते रहे। मैं उनके सामने बैठा था। फिर अचानक उन्होंने मेरी तरफ देखा और बोले, 'इधर आओ!' और इशारा करके अपने बगल में बैठने को कहा। मैं संकोच में पड़ गया। फिर उन्होंने लगभग आदेशात्मक स्वर में कहा, 'यहां आओ!' और जैसे जोड़ा, 'यहां आ कर बैठो!' मैं गया और लगभग सकुचाते हुए उनकी बगल में बैठा। और यह देखिए आदेश देने वाले नागरजी अब बिलकुल बच्चे हो गए थे। मेरे कंधे से अपना कंधा मिलाते हुए लगभग रगड़ते हुए बोले, 'अब मेरे बराबर हो गए हो!' मैंने कुछ न समझने का भाव चेहरे पर दिया तो वह बिलकुल बच्चों की तरह मुझे दुलारते हुए बोले- 'अरे अब तुम भी उपन्यासकार हो गए हो! तो मेरे बराबर ही तो हुए ना!' कहते हुए वह हा-हा करके हँसते हुए अपनी बांहों में भर लिए। आशीर्वाद देने लगे, 'खूब अच्छा लिखो और यश कमाओ!' आदि-आदि।

बाद के दिनों में मैं लखनऊ आ गया 'स्वतंत्र भारत' में रिपोर्टर होकर। तो जिस दिन कोई असाइनमेंट दिन में नहीं होता तो मैं भरी दुपहरिया नागरजी के पास पहुंच जाता। वह हमेशा ही धधाकर मिलते। ऐसे गोया कितने दिनों बाद मिले हों। भले ही एक दिन पहले ही उनसे मिलकर गया होऊँ। हालांकि कई बार शरदजी नाराज हो जाते। कहते यह उनके लिखने का समय होता है तो कभी कहते आराम करने का समय होता है। एकाध बार तो वह दरवाजे से ही लौटाने के फेर में पड़ जाते तो भीतर से नागरजी लगभग आदेश देते, 'आने दो-आने दो।' वह सबसे ऐसे ही मिलते थे खुलकर। सहज मन से। सरल मन से बतियाते हुए। उनसे मिलकर जाने क्यों मैं एक नई ऊर्जा

से भर जाता था। हर बार उनसे मिलना एक नया अनुभव बन जाता था। उनके पास बतियाने और बताने कि जाने कितनी बातें थीं। साहित्य, पुरातत्व, फिल्म, राजनीति, समाज, बलात्कार, मंहगाई। जाने क्या-क्या। और तो और जासूसी उपन्यास भी।

शाम को विजया उनकी नियमित थी ही। विजया मतलब भांग। खुद बड़े शौक से घोंटते। जो भी कोई पास होता उस से एक बार पूछ जरूर लेते। किसी के साथ जबरदस्ती नहीं करते। एक बार मुझे पीलिया हो गया। महीने भर की छुट्टी हो गई। कहीं नहीं गया। नागरजी के घर भी नहीं। उनकी एक चिट्ठी 'स्वतंत्र भारत' के पते से आई। लिखा था क्या उलाहना ही था कि बहुत दिनों से आए नहीं। फिर कुशलक्षेम पूछा था और लिखा था कि जल्दी आओ नहीं यह बूढ़ा खुद आएगा तुमसे मिलने। अब मैं तो दफ्तर जा भी नहीं रहा था। यह चिट्ठी विजयवीर सहाय जो रघुवीर सहाय के अनुज हैं उनके हाथ लगी। वह वेचारे चिट्ठी लिए भागे मेरे घर आए। बोले, 'कहीं से उनको फोन कर ही सूचित कर दीजिए नहीं नाहक परेशान होंगे।' मेरे घर तब फोन था नहीं। टेलीफोन बूथ से फोन कर उन्हें बताया तो उन्होंने ढेर सारी हिदायतें कच्चा केला, गन्ना रस, पपीता वगैरह की दे डालीं। उन दिनों वह 'करवट' लिख रहे थे। बाद में बताने लगे कि, 'उसमें एक नए जमाने का पत्रकार का भी चरित्र है जो तुम मुझे बैठे-बिठाए दे जाते हो इस लिए तुम्हारी तलब लगी रहती है।' वास्तव में वह अपने चरित्रों को लेकर, उपन्यास में वर्णित घटनाओं को लेकर इतने सजग रहते थे, कोई चूक न हो जाए, कोई छेद न रह जाए के डर से ग्रस्त रहते थे कि पूछिए मत। 'करवट' में ही एक प्रसंग में अंग्रेजों के खिलाफ एक जुलूस का जिक्र है। पूरा वर्णन वह लिख तो गए पर गोमती के किस पुल से होते हुए आया वह जुलूस इसको लेकर उन्हें संशय हो गया। फिर उन्हें याद आया कि हरेकृष्ण अवस्थी भी उस जुलूस में थे। वही हरेकृष्ण अवस्थी जो विधान परिषद सदस्य रहे हैं और कि लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति भी। नागरजी ने वह पूरा अंश अवस्थीजी को एक चिट्ठी के साथ भेजा और अपना संशय बताया और लिखा कि इसमें जो भी चूक हो उसे दुरुस्त करें। अवस्थीजी राजनीतिक व्यक्ति थे। जवाब देने में बहुत देर कर बैठे पर जवाब दिया और जो भी चूक थी उसे बताया और देरी के लिए क्षमा मांगी।

नागरजी ने उन्हें जवाब में लिखा कि देरी तो बहुत हो गई पर चूंकि बिटिया अभी ससुराल नहीं गई है, घर पर ही है। इसलिए कोई देरी नहीं हुई है। पुल तो वही था जो नागरजी ने वर्णित किया था पर कुछ दूररी डिटेल में हेर-फेर थी। जिसे अवस्थीजी ने ठीक करवा दिया। इसलिए भी कि अवस्थीजी ने इस जुलूस में खुद भी अंग्रेजों की लाठियां खाई थीं। नागरजी रचना को बिटिया का ही दर्जा देते थे। बिटिया की ही तरह उसकी साज-संभाल भी करते थे और ससुराल मतलब प्रकाशक। नागरजी का एक उपन्यास है 'अग्निगर्भा'। दहेज को लेकर लिखा गया यह उपन्यास अनूठा है। कथा लखनऊ की ही है। इसकी नायिका जिस तरह दहेज में पिसती हुई खम ठोंककर दहेज और अपनी ससुराल के खिलाफ अचानक पूरी ताकत से खड़ी होती है वह काबिले गौर है। पर सोचिए कि 'अग्निगर्भा' जैसा मारक और दाहक उपन्यास लिखने वाले नागरजी खुद व्यक्तिगत जीवन में दहेज से अभिशप्त रहे। क्या हुआ कि उन दिनों उन्हें लगातार दो-तीन लखटकिया पुरस्कार मिल गए थे। व्यास सम्मान, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान और बिहार सरकार का भी एक लखटकिया सम्मान। मैंने उनसे मारे खुशी के कहा कि चलिए अब जीवन कुछ आसान हो जाएगा। सुनते ही वह कुपित हो गए। बोले, 'खाक आसान हो जाएगा?' पोतियों की शादी करनी है। जहां जाते हैं लोग मुंह बड़ा

कर लेते हैं कि आपके पास तो पैसा ही पैसा है। 'अग्निगर्भा' के लेखक की यह बेचैनी और यातना मुझसे देखी नहीं गई। फिर मुझे उनका ही कहा याद आया। एक बार एक इंटरव्यू में उनसे पूछा था कि, 'क्या साहित्यकार भी टूटता है?' तो नागरजी पान की गिलौरी मुंह में दाबे धीरे से बोले थे, 'साहित्यकार भी आदमी है, टूटता भी होगा।' उनका वह कहा और यह टूटना अब मैं देख रहा था। उनको बेतरह टूटते मैंने एक बार फिर देखा जब 'बा' नहीं रहीं थीं। 'बा' मतलब उनकी धर्मपत्नी। जिनको वह अकसर बात बात में कहते, 'बुढ़िया कहां गई? अभी आती होगी।' वगैरह-वगैरह कहते रहते थे। उसी बुढ़िया के न रहने पर इस बूढ़े को रोता देखना मेरे लिए दुखदाई हो गया था तब। तब मैं भी रो पड़ा था। करता भी क्या उनको अपने जीवन में मैंने पहली बार फूट-फूटकर रोते देखा था। कोई 72-73 वर्ष की उम्र में वह रो रहे थे। तेरही के बाद एक दुपहरिया गया तो वह फिर फूट पड़े। रोते-रोते अचानक 'बा' के लिए वह गाने लगे, 'तुम मेरे पास होते हो गोया जब कोई दूसरा नहीं होता।' अद्भुत था यह। पतियों के न रहने पर बिलखते-रोते तो मैंने बहुतेरी औरतों को देखा था पर पत्नी के न रहने पर बिलखते-रोते मैं पहली बार ही इस तरह किसी पुरुष को देख रहा था। यह पुरुष नागरजी थे। नागरजी ही लोकलाज तजकर इस तरह रो सकते थे। रोते-रोते कहने लगे-मेरा ज्यादातर जीवन संघर्ष में बीता। बुढ़िया ने बच्चों को भले चने खिलाकर सुला दिया पर कभी मुझसे कोई उलाहना नहीं दिया। न कभी किसी से कुछ कहने गई, न किसी के आगे हाथ पसारा। यह कहकर वह फिर उनकी याद में रोने लगे।

मैंने तब स्वतंत्र भारत में ही नागरजी की इस व्यथा को रेखांकित करते हुए एक भावांजलि लिखी जो संडे को संपादकीय पेज पर छपी थी। बाद में यही भावांजलि नागरजी के एक इंटरव्यू के साथ कोलकाता से प्रकाशित 'रविवार' में बाक्स बनकर छपी। अब शरद नागर फिर मुझ पर बेतरह नाराज। कहने लगे, 'पहले आपने 'स्वतंत्र भारत' में यह सब लिखा तो वह उसे पढ़कर रोते रहे। अब किसी तरह स्थिर हुए तो अब 'रविवार' पढ़-पढ़कर रो रहे हैं। ऐसा क्यों कर रहे हैं आप? बंद कीजिए यह सब!' मैं निरूत्तर था। और देखिए कि बा के जाने के बाद नागरजी सचमुच इस कदर टूट गए थे कि जल्दी ही खुद भी कूच कर गए। वह शायद 'पीढियां' उपन्यास पूरा करने के लिए ही अपने को ढो रहे थे। 74 वर्ष की उम्र में उनका महाप्रयाण सबको तोड़ देने वाला था। उनके 75 वर्ष में अमृत महोत्सव की तैयारियां थीं। जैसे 'बा' के जाने पर नागरजी कहते रहे थे कि, 'ज्यादा नहीं भगवान से बस यही मांगा था कि दो-तीन साल का साथ और दे देते!' ठीक वैसे ही शरद नागर अब बिलख रहे थे कि बस अमृत महोत्सव मना लिए होते....!' खैर।

नागरजी जैसे लोग हम तो मानते हैं कि कभी मरते नहीं। वह तो अभी भी जिंदा हैं, अपने तमाम-तमाम पात्रों में। अपनी अप्रतिम और अनन्य रचनाओं में। इस लखनऊ के कण-कण में। लखनऊ के लोग अब उन्हें भले बिसार दें तो भी वह बिसरने वाले हैं नहीं। चौक में होली की जब भी बात चलती है, नागरजी मुझे लगता है हर होली जुलूस में खड़े दीखते हैं अपनी पूरी चकल्लस के साथ। वहां के कवि सम्मेलनों का स्तर कितना भी क्यों न गिर जाए नागरजी की याद के बिना संपन्न होता नहीं। चौक में उनकी हवेली को स्मारक का दर्जा भले न मिल पाया हो पर चौक के वाइस चांसलर तो वह आज भी हैं। हकीकत है यह। सोचिए कि एक बार जब उन्हें एक यूनिवर्सिटी का वाइस चांसलर बनाने का प्रस्ताव रखा गया तो उन्होंने उस प्रस्ताव को ठुकराते हुए यही कहा था कि मैं अपनी चौक यूनिवर्सिटी का वाइस चांसलर ही ठीक हूं। क्या उस चौक में उनका दिल

अब भी धडकता न होगा? उनके परिवार के लोग भी अब चौक छोड़ इंदिरा नगर, विकास नगर और मुंबई भले रहने लगे हैं पर उनके पात्र? वह तो अभी भी वही रहते हैं। 'बूंद और समुद्र' की ताई को खोजने की जरूरत नहीं है न ही करवट के खत्री बंधुओं की न 'अग्निगर्भा' की उस नायिका को, 'नाच्यो बहुत गोपाल' की वह ब्राह्मणी भी अपने सारे दुःख-सुख संभाले मिल जाएगी आपको इसी लखनऊ के चौक में। और जो सच कहिए तो मैं भी वही गाना चाहता हूँ जो नागरजी बा के लिए कभी गा गए हैं, 'तुम मेरे पास होते गोया जब कोई दूसरा नहीं होता!' लेकिन यह तो हमारी या हम जैसे कुछ थोड़े से लोगों की बात है। खामखयाली वाली। एक कड़वा सच यह है कि इस लखनऊ में लेखन की जो त्रिवेणी थी उसकी अजस्र धारा में भीगे लोग अब कृतघ्न हो चले हैं। नागरजी की याद में यह शहर तभी जागता है जब उनके परिवारीजन उनकी जयंती और पुण्य-तिथि पर कोई आयोजन करते हैं। यही हाल भगवतीचरण वर्मा का भी है कि जब उनके परिवारीजन उनकी जयंती व पुण्य-तिथि पर कोई आयोजन करते हैं तब शहर उनकी याद में भी जाग लेता है। अब बचे यशपालजी उनके बेटे और बेटी में सुनते हैं कि उनकी रायल्टी को लेकर लंबा विवाद हो गया और फिर वह लोग देश से बाहर रहते हैं। उनकी पत्नी प्रकाशवती पाल भी इलाज के लिए सरकारी मदद मांगते हुई सिधार गईं। सो यशपालजी को उनकी जयंती या पुण्य-तिथि पर कोई फूल माला भी नहीं नसीब होती इस शहर में कभी। तब जबकि वह सिर्फ लेखक ही नहीं क्रांतिकारी भी थे और भगत सिंह जैसे क्रांतिकारी के दल में। दुर्गा भाभी के साथ प्रकाशवती पाल भी उस यात्रा में साझीदार थीं और राजदार भी जिसमें भगत सिंह को अंग्रेज वेष-भूषा में ट्रेन से निकालकर ले गई थीं। 'शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले/वतन पर मरने वालों का बस यही बाकी निशां होगा!' शायद हम लोग झूठ ही गाते रहे हैं। नहीं अभी वर्ष 2003 में यशपाल और भगवतीचरण वर्मा की जन्मशती थी। यह कब निकल गई लखनऊ ने या हिंदी जगत ने जाना क्या? अभी नागरजी की भी जन्मशती करीब है, कोई चार साल बाद। देखना होगा कि कौन सा बाकी निशां होगा! यह कौन सा झूठा सच है मेरे लखनऊ वालों, हिंदी वालों! आखिर कृतघ्नता की भी कोई हद होती है दोस्तों! एक फिल्मी गाने के सहारा लेकर ही जो कहूं तो 'जो तुम पर मिटा हो उसे ना मिटाओ!' सचमुच गुजरात से उनके पूर्वज भले आए थे यहां पर नागरजी तो लखनऊ पर मर मिटे। बात यहां तक आई कि एक समय वह 'तस्लीम लखनवी' तक बन बैठे। तो मसला वही था कि 'हम फिदाए लखनऊ, लखनऊ हम पे फिदा! आखिर इस 'तस्लीम लखनवी' की याद को लखनऊ भी तस्लीम। स्वीकार, कर ले तो आखिर हर्ज क्या है!



देहाती मन के रचनाकार विवेकी राय

सत्यकाम

विवेकी राय से मेरी पहली मुलाकात कब हुई यह तो याद नहीं, पर इतना याद है कि होश संभालते ही उन्हें अपने घर आते-जाते देखा था। मेरे घर बहुत से साहित्यकार आते थे, बाबूजी से मिलने; विवेकी राय भी आते थे।

सफेद खादी का धोती-कुर्ता, पैरों में चप्पल, सलोना मुख, चौकन्नी और फुर्तीली पुतलियों से, संचालित और निर्धारित स्मिति से लबरेज आँखें; बोल में भोजपुरी। पहली बार देखा तो लगा कि 'चुन्नी' से कोई आया है। 'चुन्नी' मेरे गांव का नाम है जो बौद्ध भिक्षु 'चुन्द' के नाम पर रखे 'चुन्दी' का अपभ्रंश है। गांव की बोली कठिन से कठिन, परिष्कृत से परिष्कृत और अकड़ू शब्दों को दरेरा देकर अपने अनुकूल बना लेती है। विवेकी राय की भाषा भी बिल्कुल 'चुन्नी' जैसी खांटी भोजपुरी। 'का हो... बाबूजी बाड़े'। मैं दौड़कर घर के अंदर गया और बाबूजी से कहा 'बाबूजी' चुन्नी से कोई आए हैं। बाबूजी को कही बात विवेकी राय ने सुन ली और जोरदार ठहाका लगाया; 'अरे, ये तो विवेकी राय जी हैं' बाबूजी ने कहा और लपकते हुए बाहर निकले। दोनों की गलबहियां और चेहरे पर उभरी प्रसन्नता आज भी दृश्यमान है। मिलनी-जुलनी के बाद विवेकी राय मेरी और मुखातिब हुए और पूछा 'क्या नाम है?', 'सत्यकाम, मैंने कहा', अरे वाह! सत्यकाम जाबालि, मैं चुपचाप खड़ा था उन्होंने सत्यकाम जाबालि की कथा सुनाई; मैं मग्न होकर सुनता रहा। कथा बाबूजी ने भी सुनाई थी पर कथाकार से सुना तो आनंद आ गया। अब तो ज्यादातर लोग सत्यकाम जाबालि को भूल गए हैं, धर्मद्वारा 'सत्यकाम' का किरदार लोगों को याद है। पर अभी हाल में शिक्षा राज्य मंत्री महेंद्र पांडे ने इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में सत्यकाम जाबालि की कथा दूर शिक्षा के संदर्भ में सुनाई; यह मेरे लिए, मेरे नाम का नया संदर्भ था। भटकना मेरी आदत है, लीक पर चल नहीं पाता। अब जो है सो है।

बहरहाल, विवेकी राय से परिचय हो गया। मैं आठवीं या नौवीं क्लास में पढ़ता था, वर्ष रहा होगा 1972-73; मौसम गर्मी का था। शाम का समय था, मां शरबत लेकर आई। विवेकी राय के बहाने हमें भी मिला। विवेकी राय बैठे रहे, बाबूजी से बतियाते रहे और मैं उनके निश्छल रूप को निहारता रहा। यह था विवेकी राय से हमारा पहला परिचय; बाबूजी के दोस्त के रूप में। विवेकी राय के जाने के बाद बाबूजी ने मुझे विवेकी राय की एक पतली-सी किताब पकड़ाई जिसका नाम था- 'बबूल'। इस उपन्यास ने मेरी आँखें खोल दी, मेरा मन बदल दिया और दुनिया को देखने की

मेरी दृष्टि बदल दी। 'बबूल' ने मेरी दृष्टि बदली और मैं, अपने आस-पास के समाज को धीरे-धीरे समझने लगा। आज भी उपन्यास का नायक 'महेशराम' मिल जाएंगे जो अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं। 'दलित चिंतकों', 'दलित साहित्यकारों' और 'दलित साहित्यवेत्ताओं' से अनुरोध है कि गैर-दलित लेखक द्वारा लिखे गए इस दलित केंद्रित उपन्यास को पढ़ें और अपनी राय दें चाहे वह खिलाफ में ही क्यों न हो?... तो विवेकी राय ने अपना पहला उपन्यास लिखा दलित को नायक बनाकर (बबूल, 1967)। यह उपन्यास 'मैला आँचल' (1954) और 'बलचनमा' (1952) के पंद्रह वर्षों बाद प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास इसी परंपरा का उपन्यास है और यह उनकी आँखों देखी है, कानों सुनी नहीं। विवेकी राय ने दलित के जीवन को 'बबूल' की उपमा दी है जिसकी जिंदगी कांटों से भरी होती है और उसे हेय समझा जाता है। यह परंपरा की देन है और इस मानसिकता और परंपरा का विवेकी राय विरोध करते हैं और उनका पात्र महेशराम अपने खिलाफ होने वाले अत्याचार और दमन का प्रतिरोध करता है। यह प्रतिरोध 'बलचनमा' से ज्यादा उग्र 'सक्रिय' है। समय के साथ-साथ दलित चेतना उभरी और उनका प्रतिरोध भी प्रतिबद्ध और कटिबद्ध होने लगा। इससे उनमें मजबूती आई। इसे विवेकी राय ने पहचान लिया था।

विवेकी राय सही अर्थों में जन-जन के लेखक थे। किसान, मजदूर, पिछड़ता गांव, विकास में गांवों को हाशिए पर फेंके जाने का दर्द उनके उपन्यासों में बार-बार उभरता है। उनके उपन्यासों, कहानियों, संस्मरणों, रिपोर्टाजों को पढ़कर विकास संबंधी उनके दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। गांधीजी की ही तरह विवेकी राय भी भारत के विकास को गांव में खोजते हैं। विवेकी राय के जीवन दर्शन पर गांधी जी का प्रभाव स्पष्ट है। जब मैं विवेकी राय पर एक पुस्तक संपादित कर रहा था और इस सिलसिले में उनका साक्षात्कार लेते हुए मैंने पूछा कि महात्मा गांधी आपके प्रेरणा स्रोत कैसे बने, तो उन्होंने कहा- 'महात्मा गांधी को मैं सचमुच ईश्वर का अवतार मानता हूँ। महात्मा गांधी के संबंध में एक सत्य घटना यह है कि जिस दिन महात्मा गांधी की हत्या हुई, उस दिन मैं गोरखपुर में था। उस समय एक नार्मल ट्रेनिंग नाम की, शिक्षक होने के लिए, ट्रेनिंग होती थी और उसी ट्रेनिंग में मैं था। और उस समय में मेरे भीतर नशे की लत बहुत आ गई और ऐसा समझिए कि एक पत्ता सुरती और फिर यही एक-आध पैकेट सिगरेट और फिर तंबाकू और बीड़ी एक-दो बंडल - ये सब-का-सब चौबीस घंटे में सब खत्म हो जाता था। हुक्का रखे थे, चिलम रखे थे, वो भी पीते थे। बीड़ी भी, सुरती भी। कई-कई बार सुरती खाने के बाद तो शौच जाते थे और खांसी होती थी, बहुत परेशान थे। कितनी बार मंदिरों में जाकर शपथ खाई देवता के सामने कि अब नहीं सुरती खाएंगे, अब बीड़ी नहीं पीएंगे और अचानक होता था कि कब कोई मित्र मिल गया, बस तुरंत फिर खाना शुरू कर दिया। फिर थोड़ी देर बाद याद आया कि मैंने तो शपथ लिया था कि मैं नहीं खाऊंगा, अब खाने लगा। फिर शुरू हुआ तो फिर शुरू हो गया। और मैं भीतर से परेशान हो गया था अपने तमाम सुरती, बीड़ी, सिगरेट वगैरह से और हुक्का से... लेकिन छूटता नहीं था। ऐसी हालत हो गई थी। तब लगता था कि मेरी जान के साथ ही ये सब जाएगा। जिस समय महात्मा गांधी की हत्या हुई उस समय सुरती मलते हुए मैं शौचालय की ओर जा रहा था, लोटे में पानी लेकर और नीचे रखकर मैं सुरती बना रहा था। इसी बीच एक छात्र ने आकर कहा कि महात्मा गांधी को गोली मार दी गई ... और रो रहा था वो। इसके बाद वह सुरती मैंने फेंक दिया और लोटे का पानी भी फेंक दिया।

वापस होस्टल में आ गया। और आकर, मेरे ऊपर पता नहीं क्या झक सवार हुआ कि खिड़की के बाहर तमाम मल करके जितनी बीड़ियां थीं, बंडल थे, सब फेंक दिया। हुक्का को उठाकर पटक दिया, फूट गया। तंबाकू था जितना, फेंक दिया और सिगरेट फेंक दिया, चूना की चुनौटी फेंक दिया, सुरती ... सब जितना नशा वाला था, सब नष्ट करके फेंक दिया। और कहा कि जो फेंक दिया, सो फेंक दिया। अब नहीं खाएंगे। और फिर रोने लगा- कई दिनों तक। मुझे याद है कि एक सप्ताह-डेढ़ सप्ताह तक हम लोग रात-दिन रोते रहे। बहुत-से लड़के रोते थे। मैं तो बहुत रोया, महात्मा गांधी के लिए, याद है मुझे। सब मैंने अपनी डायरी में लिखा है। उसके बाद मैं बीमार पड़ा और नार्मल स्कूल के डॉक्टर साहब आए। मैंने बतलाया कि मुझे शौच एकदम नहीं हो रहा है एक सप्ताह से और इसका कारण है कि मैं कई-कई बार सुरती, बीड़ी का प्रयोग करके, खास तौर से सुरती का प्रयोग करके तब शौच जाता था। डॉक्टर ने कहा कि तुम्हारा जीवन नष्ट हो जाएगा, जान भी जा सकती, फिर से सुरती खाना शुरू करो। मैंने कहा कि जान भले ही चली जाए लेकिन अब मैंने उसे छोड़ दिया महात्मा गांधी के नाम पर, अब मैं नहीं खा सकता। और फिर उसने दवा की। दवा करने के बाद धीरे-धीरे एक महीने के बाद मेरी हालत सुधरी लेकिन उसके बाद से फिर कभी इच्छा ही नहीं हुई। कोई मेरे पास पीता-खाता रहता है, देखता हूं, बुरा भी नहीं लगता है लेकिन ऐसी कभी कोई इच्छा ही नहीं हुई कि फिर उन नशों की ओर मेरी तबीयत जाए। तो इसलिए अनेक स्तर पर, जीवन के अनेक स्तर पर महात्मा गांधी ने तो मुझे जीवन-दान दिया है।

इसी साक्षात्कार के दौरान ग्रामीण विकास को लेकर उन्होंने कहा- 'हमारे दिमाग में ग्रामीण समस्याओं का समाधान है; लेकिन वह समाधान ऐसा नहीं है कि देश की सारी समस्याओं से पृथक है क्योंकि जो ग्रामीण समस्याएं हैं वहीं समस्याएं पूरे भारत की समस्याएं हैं। पूरे भारत की समस्याओं से काटकर ग्रामीण समस्याओं को या गाजीपुर की समस्या को या हमारे गांव 'सनमानी' की समस्या को नहीं रख सकते। उदाहरण के लिए सन् 1980 ई. में हमारे गांव में एक मिडिल स्कूल स्वीकृत हुआ और वह मिडिल स्कूल ग्रांट के साथ स्वीकृत हुआ। पचासी हजार ग्रांट बिल्डिंग के लिए मिला और वह पचासी हजार रुपये गाजीपुर के ग्रामीण अभियंत्रण नाम के विभाग को दे दिया गया कि जाकर वहां बिल्डिंग बनवा लो। वह पचासी हजार रुपये बढ़ता गया। एक लाख हुआ, दो लाख हुआ, ढाई लाख हुआ लेकिन आज पता नहीं क्या हुआ लेकिन ग्यारह वर्ष हो गए वह मिडिल स्कूल की बिल्डिंग नहीं बनी और लड़के पेड़ों के नीचे पढ़ते हैं, अध्यापक कोई आता है, कोई नहीं आता है। वह नाम मात्र का मिडिल स्कूल है, बिल्डिंग आज तक नहीं बनी है। यह समस्या है तो इसका पूरे देश की समस्या से काटकर कोई हल नहीं है। यह केवल एक गांव के एक विद्यालय की बिल्डिंग की समस्या नहीं है, पूरे देश में ही इस तरह पता नहीं कितने विद्यालय हैं, जिनका रुपया सैंक्शन है लेकिन ये जो भ्रष्ट विभाग है, वे जाकर बिल्डिंग नहीं बनवाते हैं और कभी-कभी तो ऐसा होता है कि वह रुपया खा डालते हैं और दूसरी बात यह है कि ये लोग बिल्डिंग वहीं बनवा रहे हैं, जहां पर सड़क है, जहां पर इनकी जीप जा सके, इनकी सुविधा जा सके। यानी सुविधा वालों को ही ये सुविधा देते हैं और जहां पर इंटीरियर है, जहां पर सड़क नहीं है, जहां पर सामान पहुंचने की सुविधा नहीं है वह अनंतकाल तक वैसे ही पड़ा रह जाएगा। और मुझे लगता है कि सैकड़ों वर्षों तक मेरे गांव के मिडिल स्कूल की बिल्डिंग नहीं बनेगी। और इस तरह से हमारे लाखों गांव हैं देश में, हजारों

गांव हैं। तो इस देश की समस्या है भ्रष्टाचार की। और मूल समस्या तो भ्रष्टाचार के निवारण की है। अगर मान लीजिए कि ईमानदार अधिकारी हैं, भ्रष्टाचार नहीं है तो कोई वजह नहीं है कि एक-दो वर्ष के भीतर बिल्डिंग न बन जाए लेकिन बिल्डिंग नहीं बनी। उसी तरह से अन्य सारी-सारी समस्याएं हैं जो गांव की समस्याएं हैं और भ्रष्ट अधिकारियों के पैरों के नीचे गांव कराहते हैं और वे चैन की बंसी बजा रहे हैं। जीप पर फरफराकर उड़ रहे हैं और उनकी चांदी है। जो समस्याओं से जूझ रहे हैं, उन्हें कोई पूछने वाला नहीं है।’

अगर हम गौर करें, आस-पास देखें तो विवेकी राय द्वारा कथित सत्य अपने चारों ओर नज़र आ जाएंगे। विवेकी राय अपने उपन्यासों, कहानियों, यात्रा वृत्तांतों, रिपोर्टाजों में सूरज ढूँढते हैं जो कहीं हेरा गया है। वे ‘रामराज्य’ की बात करते हैं। जब मैंने उनसे साक्षात्कार लेते हुए पूछा कि ‘आप रामराज्य को समाजवाद का पर्याय मानते हैं’, तो उन्होंने जो जवाब दिया उससे मैं चौंक पड़ा :

‘अब जो मार्क्स का समाजवाद है, वही तो गांधी का रामराज्य है।’ अंतर सिर्फ इतना है कि गांधी के रामराज्य में ईश्वर की परिकल्पना थी और मार्क्स के पास ऐसी कोई परिकल्पना नहीं थी।’

विवेकी राय आपादमस्तक तक ग्रामीण संस्कारों से युक्त रचनाकार थे और उनका जीवन दर्शन उसी से परिचालित, संस्कारित था। उनका जन्म 19 नवंबर, 1924 को उनके ननिहाल ‘भरौली’ गांव (जनपद बलिया) में हुआ। विवेकी राय का बचपन बहुत ही संघर्षपूर्ण रहा है। विवेकी राय जब डेढ़ वर्ष के थे तो उनके पिता शिवपाल राय की मृत्यु हो गई थी। वे ज्यादातर अपने ननिहाल में ही रहे। विवेकी राय आरंभ से ही अध्ययनशील थे और उन्होंने घर-गृहस्थी के उत्तरदायित्व को बचपन से निभाना शुरू किया, और उन्हें 1942 में अपने ही गांव के लोअर प्राइमरी स्कूल में नौकरी मिल गई। वे सरकारी नौकरी में रहते हुए भी गुप्त रूप से 1942 के आंदोलन में हिस्सा लिया करते थे। इसी पर आधारित ‘श्वेत पत्र’ नाम का एक उपन्यास लिखा। वे किसान, शिक्षक, साहित्यकार और राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यकर्ता के रूप में काम करते रहे। 1945 में उनकी पहली कहानी ‘पाकिस्तानी’ दैनिक ‘आज’ में प्रकाशित हुई। 1957-70 तक उन्होंने ‘मनबोध मास्टर की डायरी’ के नाम से लगातार लेखन किया। और इन सब के केंद्र में थी ग्रामीण जीवन के प्रति गहरी निष्ठा। इस तरह उनका जीवन पत्रकारिता से शुरू हुआ। 1964 में वे स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर के हिंदी विभाग में प्रवक्ता के रूप में नियुक्त किए गए। गाजीपुर आकर उन्होंने आज में लिखना शुरू किया जो उनकी ख्याति का कारण बना। विवेकी राय बहुमुखी प्रतिभा के रचनाकार थे और उन्होंने ग्रामीण जीवन को बहुत ही नजदीक से देखा था जिसकी बारीकी उनकी रचनाओं में देखने को मिलती है।

साहित्यकार के रूप में तो विवेकी राय अव्वल थे ही एक व्यक्ति के रूप में उनका निश्चल स्वभाव सबका मन मोह लेता था। उनके साथ हमारा जो समय बीता और जो कुछ किस्से उन्होंने सुनाए उन प्रसंगों को मैं आपसे सांझा करना चाहता है। एक बार विवेकी राय नोएडा से दिल्ली आ रहे थे। प्रगति मैदान बस अड्डा पर वह उतरे, परंतु वे जिस बस में बैठे वो नोएडा जाने वाली बस थी और आधे रास्ते जाने के बाद उन्हें लगा कि वे तो वापस नोएडा जा रहे हैं। फिर वे बस से उतरे और ऑटो पर बैठकर दिल्ली आए हमारे यहां। दिल्ली से उन्हें बहुत डर लगता था और उन्होंने यह वाक्या सुनाकर कहा मैं ऐसी मायावी नगरी में कभी नहीं आना चाहता हूं। जब वे मेरे घर आते थे तो ढेरों पानी पिया करते थे लगभग दो-ढाई लीटर एक बार में और हम आश्चर्यचकित होते थे। काफी

संयमित थे अपने खान-पान और अपने रहन-सहन में। जब वे मेरे घर आए थे और हम अपने छोटे से बगीचे में चाय पी रहे थे तभी अखबार वाला अखबार दे गया; वो अंग्रेजी का अखबार था। विवेकी राय कुछ ढूँढ़ रहे थे। उन्होंने मुझसे पूछा हिंदी का अखबार नहीं है। मैंने कहा कि मैं हिंदी का अखबार नहीं मंगाता हूँ। यह सुनकर वे बहुत निराश हुए। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं लेकिन उनकी भाव-भंगिमा से मैं समझ गया कि यह बात उन्हें अच्छी नहीं लगी, ये 20 वर्ष पहले की बात है। दूसरे दिन से ही मैंने हिंदी का अखबार मंगाना शुरू दिया था जिसका सिलसिला अभी तक नहीं टूटा है।

नवंबर, 2016 के महीने में, मैं बनारस गया था। वहां जाकर मुझे पता चला कि विवेकी राय जी बहुत बीमार हैं। जब मैं अस्पताल पहुंचा तो उनके पौत्र और पुत्रवधू से मुलाकात हुई। लेकिन विवेकी राय जी मुझे पहचान नहीं पाए और थोड़ी देर बैठकर मैं वापस लौट आया। मन बहुत भारी था लग रहा था। ईश्वर से यही प्रार्थना कर रहा था कि वे जल्द स्वस्थ हो जाएं। 20 नवंबर, 2016 की सुबह-सुबह ये खबर आई कि विवेकी राय नहीं रहे। मन भारी हो गया। एक ऐसा किसान कथाकार हमारे बीच नहीं रहा जो लगातार गांवों को अपनी रचनाओं का केंद्र बनाता रहा। अब गांवों को लेकर कौन अपने लेखन के केंद्र में रखेगा। विवेकी राय का जाना हिंदी साहित्य के लिए एक अपूरणीय क्षति है। उनको सादर नमन और श्रद्धांजलि।



हिंदी के गर्व और गौरव श्री प्रेमचंद जी

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

प्रस्तुतकर्ता : कमल किशोर गोयनका

'प्रेमचंद विश्वकोश' पर कार्य करने के दौरान मुझे अनेक ऐसे दस्तावेज, लेख, संस्मरण, पत्रादि मिले जिनकी जानकारी हिंदी संसार को नहीं थी। मैं प्रेमचंद पर लिखे संस्मरणों को भी खोज रहा था, क्योंकि मुझे प्रेमचंद की कालक्रमानुसार जीवनी लिखनी थी। अमृतराय की लिखित जीवनी 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' सन् 1962 में प्रकाशित हो चुकी थी और कुछ नई सामग्री मिलने की संभावना भी बहुत नहीं थी, परंतु मेरा खोजी मन यह मान रहा था कि यदि खुदाई की गई तो अवश्य ही कुछ रत्न मिलेंगे और प्रेमचंद संबंधी हमारी जानकारी में इजाफा करेंगे। इसी दौर में मुझे सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का प्रेमचंद पर लिखा संस्मरण मिला जो अमृतराय को नहीं मिला था। अमृतलाल नागर ने मेरी इस खोज की बड़ी सराहना की थी। 'निराला' प्रेमचंद के देहावसान से 7-8 दिन पहले उनसे मिले थे और उनकी मृत्यु के बाद उन्होंने संस्मरण लिखा था और उन्होंने ईश्वर से प्रेमचंद के लिए और दस वर्ष मांगे थे। यह संस्मरण यहां प्रस्तुत है, क्योंकि इसका ऐतिहासिक महत्व है और हिंदी पाठकों तक इसे पहुंचना चाहिए।

हिंदी के युगांतर-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न, अंतर्प्रतीय ख्याति के हिंदी के प्रथम साहित्यिक, प्रतिकूल परिस्थितियों के निर्भीक वीर की तरह लड़ने वाले, उपन्यास-संसार के एकछत्र-सम्राट, रचना-प्रयोगिता में विश्व के अधिक से अधिक लिखने वाले मनीषियों के समक्ष आदरणीय श्रीमान प्रेमचंदजी आज महाव्याधि से ग्रस्त होकर शैयाशायी हो रहे हैं। कितने दुःख की बात है, हिंदी के जिन पत्रों में हम राजनीतिक नेताओं के मामूली बुखार का तापमान प्रतिदिन पढ़ते रहते हैं, उनमें श्री प्रेमचंद की, हिंदी का महान उपकार करनेवाले प्रेमचंदजी की अवस्था की साप्ताहिक खबर भी हमें पढ़ने को नहीं मिली। दुःख नहीं, यह लज्जा की बात है, हिंदी-भाषियों के लिए मर जाने की बात है। उन्होंने अपने साहित्यिकों की ऐसी दशा नहीं होने दी कि वे हँसते हुए जीते और आशीर्वाद देते हुए मरते। इसी अभिशाप के कारण हिंदी महारानी होकर अपनी प्रांतीय सखियों की भी दासी है। हिंदी तभी महारानी है, जब साहित्यिक के हृदय-आसन पर पूजी जाती है, पर ऐसा नहीं होता। उसके सेवक, वे प्रतिभाशाली युवक, प्रौढ़ और वृद्ध ठोकरें खाते हुए बढ़ते और पश्चाताप करते हुए मरते हैं। क्या लिखूं, लज्जा की बात स्पष्ट न करना ही अच्छा है।

मैं जब बाबू राजेंद्र प्रसाद और पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्र के समादृत नेताओं को देखता

हूं और साथ-साथ मुझे भी प्रेमचंदजी की याद आती है, मेरा हृदय आनंद और भक्ति से पूर्ण हो जाता है। मैं देखता हूं, राजनीति के सामने साहित्य का सिर नहीं झुका, बल्कि और ऊंचा है, केवल देखनेवाले नहीं हैं। हिंदीभाषी मुझे अच्छी तरह जानते हैं। वे यह भी जानते होंगे, मेरे कानों में डंके की आवाज कम जाती है। जिस साधना से आदमी, आदमी है, जिस कारण नेता सम्मान पाते हैं, मैं उसी की जांच करता हूं। वहां प्रेमचंदजी, दरिद्र प्रेमचंदजी, अपने अध्यवसाय से शिक्षा प्राप्त करने वाले प्रेमचंदजी, साहित्य की साधना में यहां-वहां भटकते फिरने वाले प्रेमचंदजी, फिर भी एकनिष्ठ होकर दिन-पर-दिन, महीने पर महीने, वर्ष पर वर्ष साधना करते रहने वाले प्रेमचंदजी बड़े-बड़े, बहुत बड़े हैं। इतना बड़ा कोई नेता भी इस तरह संकट में पड़ा, जिसके नाबालिग बच्चे उड़ी निगाह से पिता के पास बैठे हुए शून्य सोचते रहे और महाव्याधि में भी पिता को विश्राम न मिला, उनके अन्न की चिंता रही? इतने बड़े पिता को अन्न की चिंता, धन्य रे देश!

इस बार प्रायः साढ़े तीन महीने मैं बनारस रहा। प्रेमचंदजी के सरस्वती प्रेस में मेरी 'गीतिका' छप रही थी। प्रकाशक भारती भंडार। एक दिन पं. वाचस्पतिजी पाठक, जिनका मैं अतिथि था, बोले, 'प्रेमचंदजी से मिल लीजिए।' उस समय, प्रायः आधा जून, दोपहर की लू चलती थी। प्रेमचंदजी के नाम से मैंने चलना स्वीकार कर लिया। प्रेस पहुंचकर दो मंजिल पर चलकर देखा, प्रेमचंदजी बैठे हैं। मैं उनके परिवार-भर से परिचित था। श्रीमती शिवरानीजी भी आईं। मैंने प्रणाम किया। फिर एक गिलास पानी मांगा। बहुत दिनों बाद प्रेमचंदजी को भी देखा था। मालूम होता था, वे और दुबले हो गए हैं। उनसे कहा, उन्होंने कहा, जैसा कहा करते हैं, 'नहीं, यह तो मेरी काठी है।' कुछ देर तक साहित्यिक बातचीत हुई। फिर मैं विदा हुआ। उस दुर्बल देह में शक्ति और ओज पूर्ण मात्रा में थे।

कुछ दिन बीत गए। प्रेमचंदजी के 'गोदान' की काफी चर्चा हो रही थी। एक दिन सुना, प्रसादजी प्रेमचंदजी से मिलने गए थे, वे सख्त बीमार हैं। फिर फिर सुना, प्रेमचंदजी एक्स-रे कराने के लिए लखनऊ गए हैं। फिर मालूम हुआ, वे लखनऊ से वापस आ गए हैं। एक दिन पं. नंददुलारे वाजपेयीजी के साथ उन्हें देखने गया। वे उसी कमरे में बैठे हुए थे, पर इस बार फर्श पर न थे, बिछे पलंग पर बैठे हुए थे। श्रीमती शिवरानी देवी उसके लिए दवा तैयार कर रही थी। उनकी लड़की अपने लड़कों को लेकर आ गई थी, एक ओर खड़ी थी, मुझे देखकर नमस्ते की, मैं प्रेमचंदजी की बीमारी की चिंता में था, कुछ कहा नहीं, सिर्फ हाथ उठाकर नमस्ते किया। वह खड़ी हँस रही थी। मेरी दृष्टि की सियाही उसके मुख पर पड़ी। उसके मुख पर मुझे झाई-सी दिखी, अगर नीचे उसके अत्यंत सुंदर बड़े लड़के को खेलते हुए मैंने न देखा होता तो, उसका परिचय मालूम कर उसे डरवा न चुका होता तो पहचान न पाता कि यह लड़की है। फिर भी मैंने प्रेमचंदजी से पूछा। लड़की ने लड़की की खुली आवाज में कहा, 'क्या आपने मुझे पहचाना नहीं? मैंने तो आपको पहचान लिया।' मैंने कहा, 'मुझमें तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं, पर तुम पहले लड़की थीं। अब मां हो गई हो।' लड़की झेंप गई। प्रेमचंदजी खुलकर हँसे। देवी शिवरानीजी दवा तैयार करती हुई मुस्कुराई।

'हंस' निकल चुका था। उससे जमानत तलब की जा चुकी थी। जमानत देकर पत्र निकालना असंभव है, विशेषतः साहित्यिक के लिए, फिर भारतीय परिषद 'हंस' को लेने की बातचीत कर रहा है, श्री प्रेमचंदजी कहते रहे, ऐसी हालत में हमारे लिए नया पत्र निकालना ठीक रहेगा। प्रेमचंदजी दुर्बल थे, जलोदर का पूरा प्रकोप था, फिर भी एक वीर की तरह बैठे हुए वार्तालाप करते रहे। बड़ी

जिंदादिली, सुनने वालों पर उसका असर पड़ता हुआ जैसे सुनने वालों को ही वे स्वास्थ्य पहुंचा रहे हों। मैं उस विजयिनी ध्वनि को तोल रहा था, जिसका सिर नीचा नहीं हुआ, जो हिंदी की महाशक्ति है और रह-रहकर दुर्बल अस्थिशेष प्रेमचंदजी को देख रहा था। दूसरे प्रसंग में पूछा, 'आप लखनऊ गए थे, वहां क्या कहा डॉक्टरों ने?' कुछ नहीं, संतोषजनक उत्तर नहीं मिला, 'कहा कुछ नहीं है, ठहरने के लिए कहा, पर कुछ डिसेंट्री की शिकायत मालूम दी, परदेश, देखभाल वाला कोई नहीं, लड़के को ले गए थे, कौन तीमारदारी करे, लौट आया।' वाजपेयीजी से लेख आदि के लिए प्रेमचंदजी ने कहा। कुछ देर तक बातचीत करके फिर हम लोगों ने उनसे विदा ली।

कुछ दिन और बीते। 'गीतिका' छप चुकी थी। अंतिम दो-एक फार्म थे। मैं प्रेस गया हुआ था। प्रेमचंदजी के बड़े लड़के मिले। प्रेस की आवश्यक बातें कहकर मैंने उनसे प्रेमचंदजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा, अब तो वह यहां नहीं रहते। मुझे उनका मुकाम बतलाया। मेरे रास्ते में ही मकान पड़ता था। मैं चला। बादल धिरे थे। चलते-चलते पानी गिरने लगा। छाता नहीं था। भीगते हुए आनंद आने लगा। मकान के पास आकर अनिश्चय में पड़ गया कि कौन-सा मकान होगा। फाटक बतलाया था, यहां फाटक न दिखा, एक दरवाजा सिर्फ दीख पड़ा। डरते हुए खोला, भीतर लंबा मैदान देखा। किनारे से रास्ता गया था। मैदान के उस तरफ मकान था। कोई था नहीं, जिससे पूछता। हिम्मत बांधकर बढ़ा। किनारे चमेली के झाड़; कहीं-कहीं अपराजिता लिपटी हुई। दोनों चमेली के रात के खिले कोमल फूल बूंदों के थपेड़ों से ब्याकुल थे। देखता हुआ एक फूल छुआ। फूल वृक्ष पर रखे-से थे। उठा लिया। लिए हुए उनकी दशा पर विचार करता हुआ मकान के सामने आया। दूर से दो-एक अपरिचित देवियां दीख पड़ीं। एक जोड़ी छोटे जूते पड़े थे। सोचा, ये उसी लड़की के लड़के के जूते होंगे। एक बगल चिक पड़ी हुई दीख पड़ी। उधर चला, तब तक शिवरानीजी दीख पड़ीं। उनसे पूछा। क्षीण स्वर से उन्होंने कहा, 'सोए हैं, जाइए।' मैं गया। देखा, प्रेमचंदजी अत्यंत दुर्बल हो गए हैं। पेट फूला हुआ है।

प्रेमचंदजी ने आँखें खोलीं, मुझे देखा। बड़ी करुण दृष्टि। मैंने प्रणाम किया। पूछा, 'आप कैसे हैं?' दोनों बांहों की ओर दृष्टि फेरकर उन्होंने कहा, 'देखिए। बड़ा करुण स्वर। अत्यंत दुर्बल बांहें। मुझे शंका हो चली। सिंह को गोली भरपूर लग गई है। अब वह आवाज नहीं रही। मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया। कैसे संभलेगा?' प्रेमचंदजी बोले। उन्हें अपने बच्चों की चिंता हो रही थी। मैं भरसक अपने को संभाल रहा था। मेरे हाथ का फूल वहीं छूटकर गिर गया। 'जैनेंद्र कुमार को लिखा है।' प्रेमचंदजी अत्यंत मंद स्वर से बोले, 'हंस' को फिर से निकालने का विचार है, नहीं तो कैसे चलेगा?' मेरी आँखें छलछला आईं। संभलकर कहा, 'आप चिंता न कीजिए। आपकी किताबें हैं और ईश्वर। 'हंस' को कुछ देने के लिए (लेख, कविता इत्यादि) प्रेमचंदजी ने कहा। कुछ देर तक उन्हें प्रबोध देता हुआ, उनके आराम का समय जानकर मैं विदा हुआ। प्रेमचंदजी के बड़े लड़के की अभी पढ़ाई पूर्ण नहीं हुई। अभी दो-तीन साल एम.ए. करने में लगेंगे। शायद बी.ए. फाइनल है। उसकी दृष्टि में अभी संसार काव्य है, जहां जीविका का प्रश्न नहीं। बिलकुल नया जीवन, जब तरुण सदा धोखा खाता है, छला जाता है। छोटा लड़का तो निरा बच्चा है। मैंने सोचा, अगर जैनेंद्रजी आ जाएंगे तो अच्छा होगा, 'हंस' को सहायता देंगे। मन ही मन शिवरानीजी की सेवा की याद करता हुआ 'प्रसाद' जी के यहां आया। मैं प्रेमचंदजी को देखने जब-जब गया, शिवरानीजी को उनके लिए कुछ न कुछ

करते देखा, संयत सदा दत्तचित्त ।

डॉ. मुखर्जी काशी के प्रसिद्ध होमियोपैथ, प्रेमचंदजी के चिकित्सक हैं। रोग जलोदर है। पानी की जगह दूध दिया जाता है। डॉक्टर को अभी उनके अच्छे हो जाने का विश्वास है। केवल बढ़ती हुई कमजोरी से घबराते हैं। कुछ भय उम्र से भी है। प्रेमचंदजी 60 के होंगे। दुर्बल पहले से थे। इतनी उम्र में प्राकृतिक शक्ति के घट जाने के कारण दुस्साध्य रोगों के लिए चिंता वाली बात रहती है। मरीज अपनी ही प्रकृति से जल्द अच्छा नहीं हो पाता।

कुछ दिन और बीते। नंददुलारेजी के हाथ एक गीत मैंने 'हंस' कार्यालय को भेज दिया। बड़ी कविता लिख रहा था, वह तैयार न हुई थी, फिर भेजने के लिए कहला भेजा। नंददुलारेजी अपना लेख लेकर जाने वाले थे, प्रेमचंदजी को देखने के उद्देश्य से। इसके कुछ दिन बाद वाचस्पतिजी पाठक और पद्मनारायणजी आचार्य के साथ, काशी छोड़ने के पहले से प्रेमचंदजी के दर्शनों के लिए चला। पद्मनारायणजी 'गीता धर्म' के संपादक हैं, अभी तक प्रेमचंदजी से व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं हो सके। 'मैथिली-मान' के लिए उनकी कुछ आज्ञा है। हम लोग इक्के से चले। रास्ते भर गुप्ताजी के अभिनंदन की बात होती रहीं मुझे बार-बार प्रेमचंदजी की ही याद आती रही। गुप्ताजी को आदर की दृष्टि से देखता हूं। उसके अनेक प्रमाण दे चुका हूं, सोच रहा था, प्रेमचंदजी को न तो मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला, न कोई अभिनंदन। वे हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी नहीं चुने गए। मन ने कहा, 'तुम्हारे लिए भी यही फैसला है, जिसने जैसा दिया, वैसा पाया।' मैंने कहा, 'मैं इसी तरह गुजारूंगा। अगर कुछ काम कर सका तो नाम-यश मुझे नहीं चाहिए।'।

अब तक प्रेमचंदजी का मकान आ गया। हम लोग इक्के से उतरकर भीतर चले गए। मकान में सामने पहुंचे तो दो नवागंतुक बैठे हुए दीख पड़े, पर ऐसे बैठे थे जैसे घर के आदमी हों। मैंने सोचा, ये भैयाचार होंगे या रिश्तेदार। साथियों के साथ भीतर गया। सन्नाटा था। बड़ी धीमी आवाज में एक आगंतुक ने कहा, 'बैठिए।' मैं चप्पल उतारकर चारपाई पर बैठ गया। इधर-उधर देखा, पहचान का कोई न दीख पड़ा। तब उन्हीं महाशय से कहा, 'हम लोग प्रेमचंदजी को देखने के लिए आए हैं।' नवागंतुक ने मेरा नाम पूछा। मैंने अपना नाम बतलाया। इस समय देवी शिवरानीजी बाहर आईं। प्रेमचंदजी वहीं चारपाई पर थे। रस्सी बांधकर पर्दा कर रखा गया था। पर्दा हटाने लगीं। मैं प्रेमचंदजी के सामने वाली चारपाई की ओर बढ़ा तो आगंतुक महोदय ने कहा, 'ज्यादा बातचीत मना है।' मैं अपने लक्ष्य पर चलकर बैठ गया। देखते ही मेरे होश उड़ गए। प्रेमचंदजी ने हाथ जोड़कर कहा, 'अब तो अंतिम विदा है।'।

हे ईश्वर! केवल दस वर्ष।



पं. बालकृष्ण भट्ट

ब्रजमोहन व्यास

आज न जाने क्यों मेरी प्रबल इच्छा हुई कि इस संस्मरण के लिखने के पूर्व मैं अपने गुरुदेव (भट्टजी) के टुटहे मकान का दर्शन कर उससे कुछ प्रेरणा ग्रहण करूं। उसे भीतर से देखे हुए मुझे चालीस वर्ष से अधिक हो गए। यों तो आते-जाते भट्टजी के देहावसान (1914) के बाद मैंने उसे अनेक बार देखा है। यदि उस मोहल्ले में मुझे कभी किसी कारणवश जाना होता था तो चाहे थोड़ा फेर खाकर जाना पड़े, उनके मकान के नीचे की गली से जाता था और उनके मकान के सामने नतमस्तक होकर सुख का अनुभव करता था यद्यपि ऐसे अवसर कम आते थे। मैं उनके घर को देवस्थान मानता हूं। सहसा यह श्लोक मुझे स्मरण हो आया-

गोयाने गोवधप्रोक्तं अश्वयाने तु निष्फलम् ।

नरयाने तदर्धं स्यादश्वमेधं पदे पदे॥

तीर्थस्थान का दर्शन मनुष्य को पैदल जाकर करना चाहिए। बैलगाड़ी पर तीर्थाटन करने से गोवध का पाप होता है। घोड़ागाड़ी पर जाने से तीर्थटन निष्फल होता है। नरयान जैसे डांडी, झप्पान इत्यादि पर जाने से पुण्य आधा हो जाता है। परंतु पैदल तीर्थाटन करने से पग-पग पर अश्वमेध करने का पुण्य होता है। जिस समय इस श्लोक की रचना हुई उस समय मोटर, रेल, वायुयान इत्यादि का आविष्कार नहीं हुआ था, नहीं तो उनका भी उल्लेख होता चाहे श्लोकार्ता को अनुष्टुप छंद के स्थान में शार्दूलविक्रीडित ही का आश्रय क्यों न लेना पड़ता। जब मैंने पहले-पहल इस श्लोक को पढ़ा था, इसका बड़ा मजाक उड़ाया था। न मालूम क्यों मुझे ऐसी प्रेरणा हुई कि मैं भट्टजी के मकान को पैदल देखने जाऊं और मैंने ऐसा ही किया। मैंने भट्टजी के पौत्र (पं. मूलचंदजी के पुत्र) से पहिले से कह रक्खा था कि मुझे नियत स्थान पर मिलें। वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके साथ मैंने मकान में प्रवेश किया। इस समय मकान में कुछ किराएदार रह रहे हैं। भट्टजी के मकान में किराएदार! बात कुछ पसंद नहीं आई। 'परंतु 'समय पर करोति बलाबलं' समय बलवान् को निर्बल कर देता है। संसार का यही क्रम है। मकान के दो विभाग थे। एक मर्दाना, दूसरा जनाना। मर्दाने में केवल एक कमरा 12x8 का था हालांकि उसे कमरा कहना मेरे ही की नहीं, कमरे में रहनेवाले की भी तौहीन करना है। कमरे के बगल में एक छोटी-सी कोठरी थी जिसमें भट्टजी विश्राम करते थे और अपनी पुस्तकें और कपड़ा-लत्ता रखते थे। कमरे में गली की तरफ तीन छड़दार दरवाजे, सामने एक प्रवेश-द्वार, प्रवेश-द्वार के सामने एक छोटा-सा चबूतरा। इसी चबूतरे को काटकर एक सीढ़ी बनाई गई थी। कमरे के भीतर सामने दीवाल में एक खुली अलमारी थी जिस पर श्रीमद्भागवत की एक पन्नेदार पोथी

वेष्टन में बंधी रखी रहती थी। अलमारी के ऊपर भट्टजी का, पूजा में ध्यानमग्न, एक छोटा-सा एनलार्जमेंट टंगा था। उसे देखकर कालिदास का यह श्लोक बरबस याद आ जाता था-

पर्यकग्रंथिबंधद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-

रन्तःप्राणवरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य

आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या

शभोर्वः पातु शून्ये क्षणघटितलय ब्रह्मलग्नः समाधिः॥

जिसका भावार्थ यह है कि पर्यक पर पद्मासन लगाए हुए, सब इंद्रियों को वश में कर, अपने को अपनी ही अंतरात्मा में संनिविष्ट कर, भगवान शंकर की ब्रह्म में लीन समाधि हमें पवित्र करे। जनाने हिस्से में एक छोटा-सा आंगन, दो तरफ दालान, एक में गाय के लिए छोटा सायबान और एक में ऊपर जाने की सीढ़ी, तीन-चार छोटी-छोटी कोठरियां, एक दालान में रसोईघर, दूसरी दालान में ठाकुरजी की आलमारी जिसमें ठाकुरजी का सिंहासन रहता था। ये वही ठाकुरजी हैं जिनके संबंध में भट्टजी प्रायः जब पूजा करते खीझते थे तो कह बैठते थे कि 'अच्छा करमभोग है। तुलसा झउवा भर पाल गई हैं।' 400/- में इससे बड़ा मकान मिल ही कैसे सकता? यह कहिए, सस्ती का वक्त था, मिल गया। आजकल तो चार-पांच हजार से कम का न मिलता। उस वक्त म्युनिसिपैलिटी के ऐसे कानून न थे, वर्ना इतना छोटा आंगन और इतनी कोठरियां बन ही नहीं सकती थी। अस्तु, सामने कमरे में दो तख्त बिछे रहते थे। चालीस वर्ष बाद आज भी वे ही तख्त उसी स्थान पर बिछे देखे। इन्हीं तख्तों पर संपूर्ण हिंदी-प्रदीप का संपादन हुआ, इन्हीं तख्तों का सायंकाल के बाद भट्टजी कभी तो अमृत की वर्षा और कभी अपने दिल का गुबार निकाला करते थे। इन्हीं तख्तों पर मैंने संस्कृत की शिक्षा पाई। कोई ऐसा विषय नहीं है, क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक और क्या साहित्यिक, जिसकी बड़ी समालोचना इन तख्तों पर न की गई हो। कोई ऐसा विषय नहीं है जिसकी धज्जियां इन तख्तों पर न उड़ाई गयी हों, परंतु उनमें कभी कटुता नहीं रहती थी, यथास्थान यथोचित उपहास अवश्य रहता था। तख्त पर कोई 'बिछायत' (बिछौना, दरी इत्यादि) नहीं रहता था। यद्यपि तख्त जीर्ण था परंतु लोगों के बैठते-बैठते इतना घिस गया था कि मालूम होता था कि उस पर पालिश की गई हो। कमरे में घुसते ही मेरी दृष्टि सहसा सामने की दीवाल पर पड़ी जहां भट्टजी का ध्यानावस्थित चित्र रहता था। अब यह चित्र वहां नहीं है। उसे उनके पौत्र डॉक्टर दिवस्पति भट्ट अपने साथ काशी ले गए। मैंने सर्वप्रथम उस स्थान को, जहां चित्र लगा रहता था, प्रणाम किया। मुझे ऐसा भासित हुआ जैसे वह चित्र अब भी वहां लगा हो। अपनी आँखों को उस स्थान से खींचकर मैंने तख्त पर दृष्टिपात किया। मैंने मंत्रमुग्ध, खोया-खोया-सा देखता रह गया। बहुत-सी चीजें उस समय उस पर पड़ी थीं परंतु मुझे एक न दिखाई पड़ी। यद्यपि मेरे बाह्य नेत्र खुले थे तथापि उन्होंने अपना कर्तव्य स्थगित कर दिया था। मैं तो अपने भीतरी नेत्रों से कुछ और ही व्यापार देख रहा था। अतीत के चलचित्र मेरे हृदय-पटल पर आ-आकर अंतर्धान हो रहे थे। मुझे देख पड़ रहा था कि भट्टजी बगल की आलमारी की ओर मुंह कर पान बना रहे हैं। लक्ष्मीकांत भट्ट (उनके पुत्र) कह रहे हैं, 'ताऊ, श्रीधर पाठक आए रहे हैं।' भट्टजी कह रहे हैं, 'हमरा करम फूटा। पंद्रह ठो तो पाने है। सब खाय जइहैं तब हम का करबै। पैसो तो नहिं न कि फिर मगाय लेई' इत्यादि कितने ही संस्मरणों का तांता-सा बंध गया।

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा

प्रबोधो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः। -भवभूति

‘मैं यह निश्चय न कर सका कि मैं सुख का अनुभव कर रहा हूँ या दुख का, मैं जाग रहा हूँ अथवा सो रहा हूँ। मेरी धमनियों में विष का प्रसार हो रहा है अथवा मधु का’। कुछ समझ पाने की मेरी शक्ति उन थोड़े-से क्षणों के लिए लुंज-सी हो गई थी। जीवन में कुछ ऐसे क्षण होते हैं कि जब मनुष्य का शरीर चाहे जिस अवस्था में हो, उसकी अंतरात्मा घुटनों के बल नतमस्तक हो जाती है। ‘इबादत और ब-कैदे-होश तौहीने-इबादत है।’ इसी प्रकार से प्रिय जन से बिछुड़े हुए लोग। इसी विचारधारा में बूड़-उतरा रहा था कि धनंजय भट्ट के ये शब्द मेरे कानों में पड़े, ‘चलिए अब चलें। मुझे हिंदी साहित्य सम्मेलन में जाना है।’ मेरा ध्यान भंग हुआ। मैंने देखा कि तख्त पर एक ओर थाली में उबला हुआ आलू रखा है, दूसरी ओर एक दौरी उबली हुई मटर रखी हुई है। पात्रों में कई प्रकार के मसाले अस्त-व्यस्त रखे हैं। कमरे के फर्श के कोने में एक लड़की सिल पर मसाला पीस रही है। दूसरी चटनी पीस रही थी और बीच-बीच में हम लोगों की ओर विस्मय से देखती जाती थी। बात यह थी कि किराएदार का एक पुत्र कचालू (चाट) बेचता था। संध्या के लिए खोंचे की तैयारी हो रही थी। जिस कमरे में भट्टजी के समय साहित्यानुशीलन होता था, जिस तख्त पर साहित्य की पुस्तकें दायें-बायें रखी रहती थीं वहां चारों ओर चाट का सामान बिखरा है। वाह रे विधि की विडंबना! वाह रे समय का हेर-फेर! सहसा मुझे जगन्नाथ पंडितराज का वह श्लोक, जो भट्टजी प्रायः पढ़ा करते थे, याद आ गया।

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
 त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यान्तं वयः।
 स पल्लवजले मिलदनेकभेकाकुले
 मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्॥

अर्थात् एक समय कि जिस राजहंस ने एक ऐसे सरोवर में, जिसका जल मधुकरों के बिखरे हुए पुष्प पराग से सुरभित हो रहा था, अपना जीवन व्यतीत किया वह अब एक क्षीण और गंदे जलवाली तलैया में, जिसमें भेकवृंद अपनी टर-टर से कान फाड़े डालते हैं, भला कैसे रहे! परंतु ‘नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।’ (कालिदास-उत्तर मेघ) मनुष्य की दशा पहिए की तीलियों की भांति कभी ऊपर कभी नीचे होती रहती है। इस समय चक्र की नेमि (भट्टजी के घर की दशा) नीचे थी। उसे ऊपर आना है। लोग कहते हैं कि दीवाल के कान होते हैं। यदि ऐसा है तो मकान में हृदय अवश्य होगा और इस मकान में भट्टजी का हृदय होगा, किराएदार का नहीं। भट्टजी यद्यपि चटोरे थे परंतु उनके गृहस्थित हृदय को किराएदार की चाट से कोई तृप्ति न होती होगी, चटकना ही लगता होगा। अस्तु।

देव-मंदिर के दर्शन कर मैं लौटा। मैं उसी गली से चला जो भट्टजी के मकान के बगल से जाती थी। अब वह गली अच्छी हालत में है। उसमें पत्थर जड़े हुए हैं। गली दस फुट से ज्यादा चौड़ी न होगी। दो-एक जगह तो इससे भी कम चौड़ी रह गई है। भट्टजी के समय में इस गली की हालत बड़ी खतरनाक थी। गली के एक कोने पर बादशाही वक्त का एक बड़ा-सा नाला था जिसके ऊपर पक्का Culvert (पुल) था। इस पुल की दोनों तरफ यातायात के लिए तीन-तीन डंडे की सीढ़ी थी। पुलिया से लेकर भट्टजी के मकान तक उस 10 फुट की चौड़ी गली के बीचोबीच दो फुट चौड़ी नाली थी जिसमें उस नाले का पानी निरंतर बहता रहता था। इस नाली के दोनों तरफ तीन-तीन चार-चार फुट जगह बचती थी, उसी पर से लोग आया-जाया करते थे। और यदि किसी समय कोई

गाय-भैंस आती-जाती थी तो शिष्टाचार से नाली की दूसरी ओर वाली ढिग पर जाना पड़ता था वर्ना उसकी खैरियत न थी। इतने पर भी वह अभागा आदमी शास्त्र के निम्न आदेश का पालन तो कर ही नहीं सकता था क्योंकि वह गली सब ले-देकर अधिक से अधिक 10 ही फुट तो चौड़ी थी।

हस्तौ हस्तसहस्रेण शतहस्तेन वाजिनः।

शृंगिणो दशहस्तेन स्थानत्यागेन दुर्जनः॥

हाथी से हजार हाथ दूर रहना चाहिए, घोड़े से सौ हाथ, सींग वाले जानवरों से 10 हाथ दूर रहना चाहिए परंतु दुर्जन का तो स्थान ही त्याग कर देना चाहिए। ऐसी ख्यातनामा गली में भट्टजी का मकान था। इसी गली पर भट्टजी को जीवन भर चलना पड़ा है। इसी गली पर भट्टजी ने अपनी जान हथेली पर रखकर अपने जीवन के अंतिम दुःखद वर्ष, अपनी मंदज्योति आँखों बैसाखी के सहारे चलकर हिंदी की सेवा की है। साहित्यिकों का आदर, उनके सुख-दुःख पर निगाह विरले ही करते हैं। म्युनिसिपैलिटी का फर्ज था कि उस गली के बीचोबीच बहनेवाली नाली को कम से कम पत्थर से तो पाट देती। परंतु म्युनिसिपैलिटी की सूझ भला यहां तक पहुंच सकती है? अकबर के अननुकरणीय शब्दों में-

मेम्बर अली मुराद हैं या सुखनिधान हैं।

लेकिन मोआइने को वही नाबदान हैं।

भट्टजी के मरने के बहुत दिन बाद आखिर वह गली सुधारी गई पर यदि उनके गाढ़े के समय में बन जाती तो भट्टजी को बैसाखी पर चलने में सुगमता होती। अस्तु।

भट्टजी के निवासस्थान का दर्शन कर घर लौटते समय रास्ते भर मैं खोया-खोया-सा था। रास्ते भर इसी उधेड़बुन में था कि जो कुछ होना था वह तो हो गया, अब हमारा क्या कर्तव्य है? भट्टजी की साहित्यसेवा के दम भरनेवालों का क्या कर्तव्य है? शासन का, जो साहित्यिकों का समादार करना चाहती है और करती भी है, क्या कर्तव्य है? भट्टजी तो अब हैं नहीं, अभी उनकी स्मृति शेष है। यह स्मृति भी ऐसी अस्थाई होती है कि यदि उसे रोक-थाम न रखा जाए तो वह 'गजभुक्त कपित्थवत' जिस प्रकार हाथी का खाया हुआ संपूर्ण कैथा खोखला हो जाता है उसी प्रकार लोप हो जाती है। भट्टजी की यह स्मृति एक अमूल्य निधि है, साहित्यिकों का पाथेय है। इसकी रक्षा आवश्यक है। प्रश्न है, यह कैसे की जाए? स्मृति के हेतु कोई न कोई वस्तु स्थाई होनी चाहिए। गलियां कालक्रमानुसार चौड़ी होती रहती हैं। इधर-उधर के मकान गिर जाते हैं अथवा गिरा दिए जाते हैं। छोटे-छोटे मकानों के स्थान में बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं बन जाती हैं। थोड़े समय में यह भी पता न रह जाएगा कि भट्टजी यहां रहते थे। समय बीत जाने पर मुगल-साम्राज्य के अंतिम सम्राट रंगून में किस स्थान पर मरे, बहुत खोज-बीन करने पर पता न चल सका तब एक स्थान पर जहां वह संभवतः मरे थे, यह प्रस्तर लेख लगा दिया गया 'मुगल-साम्राज्य के अंतिम बादशाह यहीं कहीं, इस स्थान के निकट मरे थे।' नियति के इस विधान को देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। बिना आँसू बहाए आँखें रोने लगती हैं। एक शायर ने कहा है-

शक न कर मेरी खुशक आँखों पर।

यूं भी आँसू बहाए जाते हैं॥

इस परिवर्तनशील संसार में किसी स्थाई चीज के सहारे ही स्मृति कायम रह सकती है। अशोक के शिलालेख ही दो हजार वर्ष से अधिक बीत जाने पर भी उनकी स्मृति अक्षुण्ण रखे हैं। शंबूक के

वध के पश्चात् भगवान रामचंद्र पंचवटी में पहुंचे। पहिचानने में उन्हें कठिनता हुई। बोले-

*पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥*

रामचंद्र कहते हैं, मैंने इस वन को बहुत समय बाद देखा है। यह तो इतना बदल गया है जैसे और कोई वन हो। जहां पहिले छोटे-छोटे झरने थे वहां अब नदी हो गई। जहां घना जंगल था वहां वृक्षसंपत्ति वीड़र हो गई और जहां वीड़र थी वहां घना जंगल। केवल एक स्थाई चीज है और वह है पर्वत, जिससे पता चलता है कि यह वही स्थान है।

इस प्रकार भट्टजी के निवासस्थान को यदि 'पं. बालकृष्ण भट्ट स्मारक' के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए, उसे सुदृढ़ कर दिया जाए, उसमें एक पुस्तकालय कर दिया जाए, जिसमें हिंदी प्रदीप की पूरी प्रतियां, उनकी अनेक साहित्यिक कृतियां तथा साहित्य एवं धर्मशास्त्र के ग्रंथ रखे जाएं, तो करने पर भट्टजी की पुण्यस्मृति संचित रह सकती है। भट्टजी के वंशज इससे सहमत हैं। मेरी- उनकी बातें हो चुकी हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि उत्तर प्रदेश की सरकार इस सुझाव का स्वागत करेगी और पुण्य एवं यश की भागी बनेगी। इस प्रस्ताव में बहुत ही थोड़ा खर्च है और इसे कार्यरूप में परिणत करना बड़ा सुगम है। मैं इस संबंध में उत्तर प्रदेश सरकार से पत्र-व्यवहार करूंगा यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से यह अखिल भारतवर्षीय प्रश्न है। मुझे पूर्ण आशा है कि भारत के सब साहित्यिक इस प्रस्ताव का अनुमोदन करेंगे और उनका सहयोग मुझे प्राप्त होगा। यह जानकर प्रसन्नता होती है कि जिस नियति ने भट्ट ऐसे सरल स्वभाव, धर्मनिष्ठ हिंदी के अनन्य सेवक के साथ दारुण अत्याचार किए हैं उसका उसे प्रायश्चित्त करना पड़ा। उन्हीं भट्टजी का जिन्हें जीवन-यापन के लिए हिंदी की सेवा के लिए इतनी यातनाएं भोगनी पड़ीं, पौत्र (पं. जनार्दन भट्ट का पुत्र) पं. उषापति भट्ट अभी-अभी डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट, अल्मोड़ा नियुक्त हुआ है। चि. उषापति को मेरी सगी नातिन ब्याही है। जब मैंने जनार्दनजी को अपनी शुभकामना भेजी तो वे मुझे लिखते हैं- 'यह भगवान की कृपा, पूज्य पिताजी के सुकृत का प्रत्यक्ष परिणाम है... उषापति की जन्म-कुंडली के ग्रहों का संयोग भी कम सहायक नहीं है। इस संबंध में उषापति की जनमपत्री के आधार पर ज्योतिषी की भविष्यवाणी का उल्लेख करना (जो उसने 27 फरवरी 1953 को आज से पांच वर्ष पहले की थी) मनोरंजक होगा। उक्त ज्योतिषी की भविष्यवाणी निम्न शब्दों में थी- 'कुंडली में बधु की दशा 1942 से लगी है और 1958 तक रहेगी। यह दशा बहुत उत्तम है। जब से लगी तब से लेकर 1958 तक उत्तरोत्तर उन्नति होती रहेगी और 1958 तक कलेक्टर के पद पर पहुंच जाए, इत्यादि।'

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि ज्योतिषी के कथनानुसार 1942 से ही उसकी पहली नौकरी लगी और उत्तरोत्तर उन्नति होती रही। 1958 में कलेक्टर का पद मिला। यह भविष्यवाणी मेरे नोटबुक में पांच वर्ष से दर्ज है और जिस तारीख को भविष्यवाणी की गई थी वह भी मेरे नोटबुक में दर्ज है। वह नोटबुक मेरे सामने है और उसी नोटबुक से मैं यह लिख रहा हूं। ज्योतिष के अनुसार ग्रहों की भवितव्यता और अपरिहार्यता का यह अद्भुत प्रमाण है।'

वाह रे भगवान की माया! वाह रे उसकी अनुकंपा।

(*'पंडित बालकृष्ण भट्ट के संस्मरण' पुस्तक से साभार*)

चीनी फेरीवाला

महादेवी वर्मा

मुझे चीनियों में पहचान का स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही सांचे में ढले-से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करनेवाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़नें जैसी नाक की गठन में भी विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। कुछ तिरछी, अधखुली और विरल भूरी बरुनियों वाली आंखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीरकर बनाई गई हैं। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण-चिह्न पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछहे सूखे पत्ते की समानता पा लेता है। आकार-प्रकार वेश-भूषा सब मिलाकर इन दूर-देशियों को यंत्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं; इसी से अनेक बार देखने पर भी एक फेरीवाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एकरूप समष्टि में मुझे एक मुख आर्द्र नीलिमामयी आँखों के साथ स्मरण आता है, जिसकी मौन भंगिमा कहती है- हम कार्बन की कापियां नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के संबंध में तुम्हारी आँखें निरक्षर नहीं, तो तुम पढ़कर देखो न।

कई वर्ष पहले की बात है। मैं तांगे से उतरकर भीतर आ रही थी और भूरे कपड़े का गट्ठर बाएं कंधे के सहारे पीठ पर लटकाए हुए और दाहिने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था। संभवतः मेरे घर को बंद पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेम साब'- दुर्भाग्य का मारा चीनी। उसे क्या पता कि यह संबोधन मेरे मन में रोष की सबसे तुंग तरंग उठा देता है। मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने संबोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर यह विजातीय संबोधन मानो सारा परिचय छीनकर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है। इस संबोधन के उपरांत मेरे पास से निराश होकर न लौटना, असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया- 'मैं विदेशी-फॉरेन-नहीं खरीदती'। 'हम फॉरेन है? हम तो चाइना से आता है' कहने वाले के कंठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुककर, उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाए, पतलून और पैजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी-मूँछ-विहीन, दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी, वह तो शाश्वत चीनी

है। उसे सबसे अगल करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशीय को चोट पहुंची, यह सोचकर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई!' चीनी भी विचित्र निकला, 'हमको भाय बोला है तब जरूर लेगा- जरूर हां?' 'होम करते हाथ जला' वाली कहावत हो गई- विवश कहना पड़ा- 'देखू तुम्हारे पास है क्या?' चीनी बरामदे में कपड़े का गठ्ठर उतारता हुआ कह चला- 'भोत अच्छा सिल्क लाता है सिस्तर! चाइना सिल्क, क्रेप'.... बहुत कहने-सुनने के उपरांत दो मेजपोश खरीदना आवश्यक हो गया। सोचा- चलो छुट्टी हुई। इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर जाने की भूल न करेगा।

पर कोई पंद्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठकर गज को फर्श पर बजा-बजाकर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा- 'अब तो मैं कुछ न लूंगी। समझे?' चीनी खड़ा होकर जब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा में बोला- 'सिस्तर का वास्ते हैंकी लाता है- भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेत में छिपा के लाता है।'

देखा, कुछ रूमाल थे। ऊदी रंग के डोरे से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हें फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी चीनी नारी की कोमल उंगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी, जीवन के अभाव की करुण कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आँखों को जल्दी-जल्दी बंद करते और खोलते हुए वह एक सांस में- 'सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है', दोहराने-तिहराने लगा।

मन में सोचा- अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कहकर चिढ़ाया करते थे। संदेह होने लगा, उस चिढ़ाने में कोई तत्व भी रहा होगा। अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहिन का संबंध क्यों जोड़ने आता! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहां जब तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के संबंध में विशेष अभिरुचि रखता है, इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुंदर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छी लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था, जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आँखों पर पट्टी बांध देने पर भी स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहां की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा हुआ न हो। चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा।' कहते-कहते चीनी की आँखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था; पर कहने-सुनने वाले के बीच की खाई बहुत गहरी थी। उसे चीनी और बर्मी भाषाएं आती थीं, जिनके संबंध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ मैं 'आँखों के अंधे नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञाएं और हिंदुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी, उसमें कथा का सारा मर्म बंधा नहीं पाता था; पर जो कथाएं हृदय का बांध तोड़कर दूसरों को अपना परिचय देने के लिए वह निकलती हैं, वे प्रायः करुण होती हैं और करुणा की भाषा शब्दहीन रहकर

भी बोलने में समर्थ है। चीनी फेरीवाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता-पिता ने मांडले आकर चाय की छोटी दुकान खोली, तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहिन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी, उस अनदेखी मां के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

संभवतः मां ही ऐसा प्राणी है, जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है, जैसे उसके संबंध में कुछ जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बांधनेवाला विधाता मां ही है, इसी से उसे न मानकर संसार को न मानना सहज है; पर संसार को मानकर उसे न मानना असंभव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी बर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया, तब उन मातृहीनों की यातना की कठोर कहानी आरंभ हुई। दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका, क्योंकि उसके पांचवें वर्ष में पैर रखते-न-रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोए।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लिया; पर बहिन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ़ रहा था, वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को कष्ट देकर भी चुकाया जाता था। अनेक बाद उसने ठिठुरती हुई बहिन की कपित उंगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आंसुओं से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी-सी गोद में सिमटकर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सवेरे, आँख मूंदकर ठिठुरी हुई उंगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहिन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आने वाले आंसू की बड़ी बूंद देखकर वह घबराकर बोल उठा था- उसे कहना नहीं चाहिए, वह तो पिता को देखना भर चाहता है।

कई बार पड़ोसियों के यहां रकाबियां धोकर और काम के बदले भात मांगकर बहिन ने भाई को खिलाया था। व्यथा की कौन-सी अंतिम मात्रा ने बहिन के नन्हें हृदय का बांध तोड़ डाला, इसे अबोध बालक क्या जाने। पर, एक रात उसने बिछौने पर लेटकर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली-कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे ओठों पर विमाता की मीठी उंगली ने दौड़-दौड़कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूमकर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रुखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेरकर संवारा और तब नए रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अँधकार में बाहर अंतर्हित हो गई।

बालक का विस्मय भय में बदल गया। और भय ने रोने में शरण पाई- कब वह रोते-रोते सो गया, इसका पता नहीं; पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा, तो बहिन उस गठरी बने भाई के मस्तक पर मुख रखकर सिसकियां रोक रही थी। उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े, तीसरे दिन खिलौने- पर बहिन के दिनों-दिन विवर्ण होनेवाले होठों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़नेवाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा।

बहिन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था; पर वह किससे कहे, क्या कहे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी। बार-बार सोचता था पिता का पता मिल जाता,

तो सब ठीक हो जाता। उसके स्मृति-पट पर मां की कोई रेखा नहीं, परंतु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था, उससे उनके स्नेहशील होने में संदेह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुंच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा- तब यह विमाता कितनी डर जाएगी और बहिन कितनी प्रसन्न होगी!

चाय की दुकान का मालिक अब दूसरा था; परंतु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसी से बालक एक कोने में सिकुड़कर खड़ा हो गया और आने वालों से हकला-हकला कर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिए; पर दो-एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही, जिससे वह बालक को हाथ पकड़कर बाहर ही नहीं छोड़ आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दंड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अंत हुआ।

बहिन का संध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीरवाली विमाता का जंगली बिल्ली की तरह हल्के पैरों से बिछौने से उछलकर उतर आना, बहिन के शिथिल हाथों में बटुए का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों-के-त्यों चलते रहे।

पर एक दिन बहिन लौटी ही नहीं। सवेरे विमाता को कुछ चिंतित भाव से खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहिन-उसकी एकमात्र आधार बहिन। पिता का पता न पा सका और अब बहिन भी खो गई। वह जैसा था वैसा ही बहिन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा। रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती थी; उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था, इसी से वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाता देखता, उसी के पास पहुंचने के लिए सड़क से एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकराकर गिरते-गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता-क्या इतना जरा-सा लड़का भी पागल हो गया है?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरंभ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊंची कर खड़ा होना, मुंह पर पंजे रखकर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं, उसी प्रकार वे सब उसे तंबाखू के धुएं और दुर्गंधित सांस से भरे और फटे चिथड़े, टूटे बरतन और मैले शरीरों से बसे हुए कमरे में बंद कर कुछ विशेष संकेतों और हँसने-रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हँसने-रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता। पर क्रंदन उसके भीतर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि जरा मुंह बनाते ही दोनों आँखों से दो गोल-गोल बूँदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानांतर देखा बनाती और मुंह के दोनों सिरों को छूती हुई टुड़ड़ी के नीचे तक फैल जातीं। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझकर, रोओं से काले उदर का पीला सा रंग बांधने वाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछलकर उसे एक लात जमाकर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी, श्यामी आदि का सम्मिश्रण था, इसी से 'चोरों की बरात में अपनी-अपनी होशियारी' के सिद्धांत का पालन बड़ी सतर्कता से हुआ करता। जो उस पर कृपा रखते थे, उनके विरोधियों का संदेहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर संदेह की ऐसी दृष्टि आरंभ होती कि बिना चुराए ही वह चोर के समान कांपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी, उसका स्मरण करके चीनी की आँखें आज भी व्यथा और अपमान से धकधक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े-मेढ़े बरतन में, सिगार से जगह-जगह जले हुए कागज से ढककर रख दिया जाता था, जिसे वह हरी आँखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गए तक उनके नरक के साथी एक-एक कर आते रहते और अंगीठी के पास सिकुड़कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरों को जल्दी-जल्दी रखता हुआ आता है, उसे बहुत कुछ मिल गया है; जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता है, वह खाली हाथ है जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है, वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है; जो देहली से ठोकर खाकर धम-धम पैर रखता हुआ घुसता है, उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है आदि का ज्ञान उसे अनजाने में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षांत संस्कार के उपरांत विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती, तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता को क्या अंत होता, यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बांधते-बांधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाता, गज से इस तरह नापना कि जौ बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंकुल भर पीछे रह जाए, रुपए से लेकर पाई तक को खूब देख-भालकर लेना और लौटते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका-खनकाकर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण, बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोग की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था होने से अंगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से संबंध रखने वाली सभी विधाएं एक-सी हैं; पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपाकर।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी बहिन को दूढ़ने का बहुत प्रयत्न किया; पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी बिना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं। कभी वे निराश होकर आत्महत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी संभवतः पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गई थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बंद हो गया।

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य

साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला। यहां शहर में एक चीनी जूते वाले के घर ठहरा है और सवेरे आठ से बारह और दो से छः बजे तक फेरी लगाकर कपड़े बेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छाएं हैं, ईमानदार बनने की और बहिन को ढूंढ लेने की- जिनमें से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के साथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच-बीच में वह महीनों के लिए बाहर चला जाता था; पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। इस प्रकार उसे देखते-देखते मैं इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन व 'सिस्तर के वास्ते' कहकर और शब्दों की खोज करने लगा तब मैं उसकी कठिनाई न समझकर हँस पड़ी। धीरे-धीरे पता चला-बुलावा आया है, वह लड़ने के लिए चाइना जाएगा। इतनी जल्दी कपड़े, कहां बेचे और न बेचने पर मालिक को हानि पहुंचाकर बेईमान कैसे बने! यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूं, तो वह मालिक का हिसाब चुकता कर तुरंत देश की ओर चल दे।

किसी दिन पिता का पता पूछने पर वह हकलाता था- आज भी संकोच से हकला रहा था। मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिए प्रश्न किया- 'तुम्हारे तो कोई है ही नहीं, फिर बुलावा किसने भेजा?' चीनी की आँखें विस्मय से भरकर पूरी खुल गई- 'हम कब बोला, हमारा चाइना नहीं है? हम कब ऐसा बोला सिस्तर?' मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आई; उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा!

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या? पर कुछ अपने पास खोज ढूंढकर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबंध किया। मुझे अंतिम अभिवादन कर जब वह चंचल पैरों से जाने लगा, तब मैंने पुकार कर कहा- 'यह गज तो लेते जाओ'- चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर 'सिस्तर का वास्ते' ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गए।

और आज कई वर्ष हो चुके हैं- चीनी को फिर देखने की संभावना नहीं, उसकी बहिन से मेरा कोई परिचय नहीं; पर न जाने क्यों वे दोनों भाई-बहिन मेरे लिए स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी की गठरी में से कई थान मैं अपने ग्रामीण बालकों के कुरते बना-बनाकर खर्च कर चुकी हूँ; परंतु अब भी तीन थान मेरी आलमारी में रखे हैं और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देखकर खादी-भक्त बहिन ने आक्षेप किया था- 'जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं, वे भी विदेशी रेशम के थान खरीद कर रखते हैं, इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती।' तब मैं बड़े कष्ट से हँसी रोक सकी थी।

वह जन्म का दुखिया मातृ-पितृहीन और बहिन से बिलुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुंचने का आत्मतोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं, पर मेरा मन यही कहता है।

(‘महादेवी वर्मा संचयिता’ से साभार)



जेल के दिन

अज्ञेय

समय की दूसरी सभी अनुभवों को मीठा कर देती है, तात्कालिक परिस्थिति में भले ही वे कितनी तीखी और कटु हों। इसलिए आज यह कहना अनुचित न होगा कि जेल की मेरी स्मृतियां मधुर-ही-मधुर हैं- उन अनुभवों को भी जो तब भी मीठे थे, और उनकी भी जो उस समय अपनी कटुता के कारण तिलमिला देते थे या आग की एक लकीर-सी मन में खींच देते थे। और शायद यह कहना भी ठीक होगा कि स्मृतियां कम-से-कम अधिकांश धुंधली भी हो गई हैं और शायद यह धुंधलापन भी माधुर्य का एक तत्व होता है; क्योंकि जो आज भी पूर्ववत् उज्ज्वल या गहरी हैं, उन्हें ठीक मधुर कहना शायद अनुचित हो- शायद उतना ही अनुचित जितना उन्हें कटु कहना; गहराई का एक आयाम होता है, जो अनुभूति को कड़वी-मीठी की परिधि से परे ले जाता है।

चार सौ कैदियों के लिए बनी हुई जेल में भरे हुए अठारह सौ कैदियों में से एक जब देखता है कि उसके कुछ साथी भूख-हड़ताल करते हैं, छिपकर मेवा-बादाम खाते हैं और ग्लूकोज का शरबत पीते हैं, और जेल का डॉक्टर उन्हें सहानुभूति देकर भी परेशान है कि उनका वजन घटने की बजाए बढ़ता ही जाता है, तब उसे हँसी भी आती है और ग्लानि भी होती है, आज स्मृति में दोनों ही मधुर हैं। नए कैदी को पुराने पकड़कर जेल की कचरा-भट्ठी के सामने मंदिर कहकर माथा टेकने ले जाते हैं- यह भी उसी कोटि का अनुभव है जिसके कॉलेज जीवन में 'फस्ट ईअर फूल' की खिसियाहट के अनुभव। ऐसा ही अफीम का चोर-ब्यापार करने वाले एक एंग्लो-इंडियन द्वारा बिना जाल के पेड़ पर बैठी चिड़िया पकड़ना सिखाया जाना। दिल्ली जेल में लाया जाने पर 'गोरा बारक' में उसे साथी पाकर उससे नई अद्भुत बातें सीखी थीं। जिनमें मुख्य यह थी : अहाते के आम के पेड़ पर सांझ को बुलबुल आकर बसेरा करते थे और रात को हम मोमबत्ती के सहारे उन्हें खोजकर हाथ से पकड़ लेते थे। पहले मुझे विश्वास नहीं होता था कि ऐसा संभव है और शायद मुझसे जानकर पाठक को भी न हो, लेकिन मैंने कई बुलबुल ऐसे पकड़कर पाल लिए हैं और उनकी बोली ने मेरे एकांत में एक अत्यंत प्रीतिकर व्याघात डाल दिया- इसी प्रसंग में यह भी याद आता है कि जेल के दरोगा बुलबुल देखकर जल-भुनकर खाक हो गए, लेकिन नए क्रांतिकारी बंदी को यह कहने का साहस भी न बटोर सके कि वह उसे न पालने देंगे- उस बंदी ने दो-तीन दिन पहले शिनाख्त के लिए आए मुखबिर का और उसका बचाव करने के लिए बीच में पड़े मजिस्ट्रेट को पीट दिया था (बाद में स्वयं भी पिटाया- पर कैदी को कौन आबरू की जाती है- कहीं दरोगा को चांटा पड़ गया तो बस!) इसलिए दरोगा साहब खीसें निपोरकर

‘अपने बच्चों के लिए’ बुलबुल मांग ले गए थे- पर अगली परेड पर फिर नए पक्षी वहां बैठे हुए थे। अंततोगत्वा मुझी को दफ्तर बुलाकर वहां से एक काल-कोठरी में भेज दिया गया।

ऐसे हलके-फुलके अनुभव और भी हैं। किंतु गहरे भी अनेक हैं। कुछ तो इतने गहरे कि अभी तक भी उनसे यह अलगाव नहीं स्थापित कर सका हूं जो उन्हें साहित्य की वस्तु बना दे। अभी तक भी वे मेरे ही अनुभव अधिक हैं जिनसे तटस्थता पा सका हूं उनमें से कुछ शेखर में आ गए हैं- कुछ प्रकाशित दूसरे भाग में, कुछ अप्रकाशित तीसरे में, कुछ शायद पाठकों को स्मरण भी हो। कुछ कहानियों में भी आ गए हैं। बूढ़े बाबा मदन सिंह, फक्कड़ मोहसिन, फांसी पानेवाला रामजी : ये सब नाम सच भी हैं, झूठ भी, क्योंकि अगर काल्पनिक नहीं हैं तो पात्रांतरित हैं- यानी एक मदन सिंह से भी मेरा परिचय हुआ था, एक मोहसिन से भी, एक रामजी से भी- पर मेरे परिचय के यथार्थ व्यक्ति और मेरी पुस्तक के पात्र अलग-अलग हैं, पात्रों के साथ जो घटित हुआ, वह वास्तव में भी कहीं किसी के साथ तो घटा, पर उस नाम के व्यक्ति के साथ नहीं, और प्रायः सब कुछ एक ही व्यक्ति के साथ नहीं। साहित्य-रचना में चयन भी है, संपुंजन भी, सघनीकरण भी; क्योंकि सागर के विस्तार को एक आलोक-वेष्टित बूंद से विकिरित आलोक के छोटे-से दायरे में दिखा सकना ही रचना का काम है, लेखक का वह गुण है जिसे ‘दृष्टि’ कहा जा सके। शेखर की भूमिका में और अन्यत्र मैंने कहा है, दुःख वह दृष्टि देता है, पर ऐसा है तो ‘दुःख’ किसी तीव्र अनुभूति का नाम है... ऐसी अनुभूति जो संवेदना को, चेतना को, घनीभूत आलोक रूप दे देती है। रचनाकार की प्रतिभा ढाके की मलमल का पचास हाथ का थान बुनने में नहीं है, उसे अंगूठी में से गुजार देने में ही है, यद्यपि शिल्पी होने के नाते वही मलमल भी बुनता है और अंगूठी तो उसकी है ही। मेरे पास रचनाकार होने के नाते क्या है, क्या नहीं है, यह कहना मेरा काम नहीं, मेरा आदर्श मैंने बता दिया। पर यहां आदर्शों की नहीं, घटनाओं की ही बात कहूं, जिन्हें आदर्श की चलनी में से छाना जाता है।

एक हमारे मित्र थे जिन्होंने आरंभ में हमारी बहुत सहायता की, सौहार्द स्थापित करने के बाद हमें एक कैमरा भी चोरी से ला दिया कि हम लोग अपने फोटो खींचकर बाहर भेज दें, क्योंकि क्या जाने क्या होनेवाला है, भावी इतिहासकार को सामग्री तो मिल जाए। और इन सबमें उनका असल मकसद क्या था कि सारे फोटो पाकर एक सेट पुलिस में दे दें जिससे शिनाख्त के काम में सुविधा हो जाए और हमारे मित्र को इतनी तरक्की मिल जाए कि वह ‘कैदी स्टोर क्लर्क’ से बढ़कर ‘कैदी दफ्तर क्लर्क’ हो जाए- दफा 420 में वह चार साल की कैद काट रहे थे और अनेक सुविधाएं प्राप्त रहने पर भी उन्हें वह परिस्थिति खलती थी जिसमें अपनी चार-सौ-बीसी प्रतिभा का कोई उपयोग वह न कर सकें : स्टोर-क्लर्की में कुछ गुंजाइश तो थी, पर ऐसे पढ़े-लिखे प्रतिभाशाली ठग के लिए वह अयथेष्ट थी- दफ्तर की क्लर्की में तो अनेक संभावनाएं भरी थीं। हमारे साथ उन्हें सफलता नहीं मिली, क्योंकि हमने उन्हें बताने के पूर्व फोटो लेकर फिल्म आदि सब पहले अन्य साधनों से बाहर भेज दिए और तब कैमरा उन्हें लौटाया कि ‘उससे कुछ काम नहीं हो सकता, बारक में फोटो लेना जोखिम का काम है।’ वह ऐसा खिसियाए कि घंटे भर बाद ही हमारी तलाशी हो गई- शायद उन्होंने सोचा हो कि फिल्म अभी जेल में ही है। पर विचारे तरक्की पाने से रह गए। एक और घटना याद आती है : वह दूसरी कोटि की है। पर मैं हँसता नहीं हूँ, न झिझकता हूँ। गहरी मानव-अनुभूति में अपनी एक अक्षुण्ण अभ्रंश्य पवित्रता होती है जिसे दर्शक की क्षुद्रताएं छू नहीं सकतीं।

हमारे वार्डरों में- एक हथियारबंद अतिरिक्त पुलिस से बदलकर दिए गए सिपाही थे- एक युवक था जो गाता था। प्रायः ड्यूटी पर वह कोई तान छेड़ देता : उसका गला मीठा था और उसमें वह गुण पर्याप्त मात्रा में था जिसे 'सोज' कहते हैं। हमारी बारक के साथ ही जनाना वार्ड का पिछवाड़ा था और वार्डर की दौड़ दोनों के बीच होती थी। जनाना वार्ड में एक 'पगली' थी जिसकी चीख-चिल्लाहट हम प्रायः सुनते थे। इसी से हम उसे पगली जानते थे। यद्यपि हो सकता है कि वह केवल एक दबंग विद्रोहिणी नारी रही हो। जो हो, वार्डर का गाना सुनते ही वह शांति हो जाती थी और कभी-कभी उत्तर में गाने भी लगती थी।

हम लोग इस रोमांस का रस लेते थे। रस कहीं भी लिया जा सकता है, पर जेल में दूसरों के रोमांस में कुछ अतिरिक्त दिलचस्पी हो जाना स्वाभाविक है। क्रमशः बात फैल गई, अंत में वार्डर की बदली की आज्ञा आ गई। अपनी अंतिम ड्यूटी पर जब उसके जवाब में वह स्त्री गाने लगी, तो उसने पुकारकर कहा, 'अब क्या गाना-आज रुखसत है।' इतना हम लोगों ने भी सुना, उसके बाद सन्नाटा रहा और हमने बात खत्म समझी। पर थोड़ी देर बाद बाहर गुलगापाड़ा सुनकर हम लोग अहाते में निकल आए। शोर जनाना बारक के भीतर से आ रहा था। हमें उसकी बाहरी दीवार और ऊपर दो-एक रोशनदान दीखते थे। जो कुछ हम समझ सके, वह उन्हीं से छनकर आनेवाले शोर से, और देख सके, उससे।

वह स्त्री भीतर न जाने कैसे रोशनदान तक चढ़ गई थी और सींखचे पकड़कर और एक टांग भी उसमें अड़ाकर लटक रही थी। अपनी साड़ी को कदाचित् उसने कमंद के काम में लगा दिया था। भीतर नीचे वार्डरानियां और दूसरी कैदिनें चिल्ला रही थीं और वह मानो इन सबसे असंपृक्त बाहर को देख रही थी। वार्डर नीचे था। स्त्री ने उसे आवाज दी, सींखचों से हाथ बाहर बढ़ाया, पर वह पहुंच से बहुत दूर था, फिर सहसा उसने झटके से अपनी चोली फाड़कर बाहर गिरा दी। वार्डर ने उसे उठा लिया और दोनों एकटक एक-दूसरे को देखते रहे। तभी भीतर शायद सीढ़ी मंगा ली गई थी। स्त्री को पीछे खींच लिया गया। शब्द से हम पहचान सके कि उसे पेटियों से पीटा जा रहा है। उसी रात वार्डर की बदली हो गई, दो-एक दिन बाद स्त्री भी कहीं भेज दी गई-शायद उसे सजा हो गई।

घटना इतनी ही है और इसके बारे में कुछ कहना न आसान है, न उचित, इतना ही कि मेरे निकट यह भी वैसी एक सोने की अंगूठी है जिसमें से गजों मलमल गुजारी जा सकती है, और उस मलमल से बड़ा लंबा-चौड़ा प्रपंच फैलाया जा सकता है। पर घटना में निहित जो मानवीय भावना का सत्य है उसका और कुछ नहीं किया जा सकता सिवा उसको चुपचाप स्वीकार करने के। विज्ञान में किसी वस्तु को हलका करने के लिए उसे विरल करते हैं और तब वह उड़ सकती है, पर मानवीय संवेदना में उसकी सघनता ही उसे एक स्तर पर ले जाती है जब वह धरातल से उठकर एक दिव्य वस्तु हो जाती है।

मैंने कहा कि समय की दूरी पर सभी कुछ मीठा है; क्योंकि सभी कुछ धुंधला भी है- पर जो धुंधला नहीं है, उसे मीठा कहना उतना ही ठीक या बेठीक है जितना उसे कड़वा कहना। वह प्रोज्ज्वल है और इन रसों से परे है- जीवन का रस कड़वा-मीठा कुछ नहीं है, वह राम-रस है जिसमें सब समाए हैं।

(अगस्त 1957)

(साहित्य अकादेमी से प्रकाशित 'अज्ञेय गद्य रचना संचयन' से साभार)



जेल में बरसात

विद्यानिवास मिश्र

आज सावन की पूनो है, सलूनो भी इसे कहते हैं, मेरे लिए यह पूनो सलोनेपन के कारण ही नहीं, रक्षाबंधन के पुण्य पर्व के कारण ही नहीं सलोनी है स्वाध्याय-पर्व, उपाकर्म की तिथि होने के कारण ही नहीं, इस कारण भी सलोनी है कि आज वे दिन स्वाधीनता आंदोलन में आहुति देने वाले कवियों में अनुपम स्व. भवानी भाई ने ब्रिटिश शासन की जेल में एक कविता लिखी थी 'जेल में बरसात।' व्यक्तिगत रूप से भवानी भाई को जब नहीं जानता था तब भी इस कविता के कारण वे आत्मीय हो गए थे। इस कविता के छंद ने स्व. हजारी प्रसाद द्विवेदी को आकृष्ट किया, उन्होंने भवानी भाई को इसी छंद में पत्र-कारिता के द्वारा आशंसा दी, मैंने भी चपलतावश तीसेक वर्ष पूर्व इसी बहर में कविता लिखी। पारिवारिक स्नेह पर बहुत कम ऐसी सशक्त कविताएं हिंदी में लिखी गई होंगी, कहानियां हैं, खंड काव्य हैं। पर मुक्त कविताएं कम लिखी गई हैं। यह कविता स्मृतियों की 'आकाश गंगा' है, रक्षाबंधन के दिन, वर्षा की झड़ी में यकायक एक अहसास कि आज भाई-बहन घर पर जुड़े होंगे। बहनें राखी बांधने आई होंगी और उन्हें याद आई होगी कि भवानी भाई हमारे साथ आज नहीं हैं, यह याद करके कैदखाने में भवानी भाई को गांव के पावस का उन्मुक्त उल्लास, किसानों का उत्साह, कुलकन्याओं और कुलवधुओं के झूले, उन झूलों के साथ पेंग मारते हुए लोकगीत, जाने कितनी बातें याद आईं। वे भर उठे, कविता लिखने बैठे तो मन कातर हो गया, और अंत में उन्होंने सजीले हरे सावन पुण्य पावन सावन से यही मांगा कि तुम जैसी कातरता की स्थिति में मैं हूं, जिस अकेलेपन में हूं, घर को जिस तरह बिसूर रहा हूं यह सब मेरे घर के लोगों से न कहना और

तुम बरस लो वे न बरसें

पांचवें को वे न तरसें।

इस स्मृतिगीत की स्मृति आज एक साथ कई और लड़ियां जोड़ती हैं।

भवानी भाई से पहली लंबी मुलाकात हुई कलकत्ते से दिल्ली तक की ट्रेन की लंबी यात्रा में और ऐसा लगा कि भवानी भाई का खुलापन, उसकी सहजता उनके काव्य तक सीमित नहीं, उनका समूचा व्यक्तित्व एक उन्मुक्त प्रवाह है। बड़े सीधे-सादे अन्याय पर बहुत जल्दी उबलनेवाले, सघन दुःख की स्मृति में एकदम पिघलनेवाले और खूब हँसने वाले, कोई भी परेशानी हो, उसे भी हँसकर झेलनेवाले भवानी भाई का एक फिकरा याद आता है, ट्रेन लेट हो रही थी, एयरकंडीशन काम नहीं कर रहा था, घुटन हो रही थी, यात्री एकदम परेशान और झुंझलाए हुए और भवानी भाई कहते हैं,

भाई इसका भी मजा है कि ऐश वालों को ऐश भी कभी-कभी महंगा पड़ जाए। दूसरी बार भी गोरखपुर से दिल्ली की लंबी यात्रा में हम लोग साथ थे, इस बार भी ट्रेन लेट दर लेट होती गई, भवानी भाई के आगे के कार्यक्रम नष्ट होने की बात प्रत्यक्ष हो गई, पर भवानी भाई से मैंने कहा कि भाई लखनऊ ही उतर जाएं। बोले, नहीं अब कानपुर एक मित्र बीमार हैं उन्हें ही देखने उतर जाऊंगा और हुआ यह कि कानपुर पहुंचते-पहुंचते रात के बारह बज गए। बाद में मिले तो भवानी भाई ने बतलाया, बड़ा मजा आया, रात में घर ही नहीं ढूँढ़ पा रहा था, कानपुर शहर के जंगल का विचित्र अनुभव मिला।

भवानी भाई का कविता पाठ याद आता है, जैसे एक निर्झर बह रहा हो, कभी प्लुत, कभी मंद, पर कभी रुक न रहा हो, जैसे भवानी भाई बातचीत कर रहे हों, प्रश्न कर रहे हों, उत्तर पा रहे हों, स्व. फिराक में भी यह अंदाज था, मजलिस को अपने हाथ में ले लेते थे, एकाध पंक्तियों के सुनाने के बाद, पर वे खुद बहुत अलग रहते थे। भवानी भाई अपने श्रोता में डूब जाते थे। शुरू किया-

फूल लाया हूँ कमल के क्या करूँ इनका....

और लगता था जो उत्तर दे रहे हैं, वह उनका नहीं, उनके श्रोताओं का है, जो स्रष्टा की विनम्रता की लाचारी थी, वह ग्रहीता के दर्प से दीपित हो उठती है कि ये कमल मानसर के हैं। भवानी भाई को एक बार आगरे बुलाया, मन था कि मन भर उनसे कविताएं सुनें, उनकी कविताओं के रचे जाने की कहानी सुनें। वे आए, घर रहे, परिवार के अंग की तरह नतिनियों को, लड़की को वात्सल्य देते हुए और दो-तीन बार जेल की बरसात कविता सुनाई, जब-जब सुनाई तब-तब खुद भर उठे और सुननेवाले, कोई कठकरेजी ही होंगे जो न भर उठे होंगे, नहीं तो हर एक श्रोता की आँखें बरसात बन गईं। आज जब उनका, उनके कविता पाठ का, उनके साहचर्य का, उनके सहज स्नेह का स्मरण करता हूँ तो भर उठता हूँ। भवानी भाई वर्षा की ऋतु को अपनी ऋतु मानते थे। कई बार पत्रों में लिखा कि दिल्ली और दिल्ली की शिद्दत की गरमी में बड़ी तकलीफ है, पर आषाढ आ गया, सावन आए, गांव जाऊंगा, बिलकुल ठीक हो जाऊंगा। दिलेनादान जो बार-बार बेमौसम की कली की तरह चिटकता रहता है, वह भी ठीक हो जाएगा। सात-सात बार जिसे दिल का दौरा पड़ा हो, तीन-तीन बार पेसमेकर लगे हों उस व्यक्ति में इतना उत्साह यात्रा का, घर पहुंचकर अपने को फिर से पाने का, बस रश्क होता है ऐसा मन पाने के लिए। अज्ञेयजी को भैया कहते थे, मैं अज्ञेय को भाई कहता हूँ, एक बार भाई के साथ आ रहे थे, दिल्ली स्टेशन पर ही दो बदमाश ट्रेन में चढ़ गए, कड़ियों की घड़ियां, जेवर छुरी दिखाकर लूट लिए, भाई के पास आए कि भवानी भाई ने छुरे वाला हाथ नहीं, हाथ का छुरा कस के पकड़ा और बोले, भैया देखते क्या हो, क्रांतिकारी रहे हो, इस बदमाश को उठाकर फेंक दो और यह हुआ कि दूसरे बदमाश ने जंजीर खींची और छुरा छोड़कर पहला भी ट्रेन से उतर गया। छुरे की धार भी भवानी भाई को लगी पर यह हिम्मत उस डिब्बे में किसी को न हुई। जेल की बरसात में अपने पिताजी का चित्र खींचते हुए उन्होंने कहा है-

वज्रभुज नवनीत-सा उर

उन्हें पिता की, यह विरासत मिली थी। उस नवनीत से उर की याद आती है तो विह्वल हो जाता हूँ।

जेल की बरसात की कुछ पंक्तियां याद आती हैं-

आज पानी गिर रहा है
 घर नजर में तिर रहा है
 घर खुशी का पूर है जो
 घर कि मुझसे दूर है जो
 चार भाई चार बहनें
 भुजा भाई प्यार बहनें
 बहन आई बाप के घर
 हाय रे परिताप के घर
 पिताजी के स्वर्ण बेटे
 लगे होंगे उन्हें हेठे
 क्योंकि सोने में सुहागा
 पांचवां मैं हूं अभागा ।

और इस कविता में ही पिता का चित्र खींचते-खींचते भवानी भाई उनकी विह्वलता की बात करते हैं, मां की बात की कल्पना करते हैं कि मां, पिता जैसे दृढ़ व्यक्ति को ढाढ़स बंधाती है कि तुम न रोओ, तुम्हारा बेटा जेल न जाता तो तुम्हारे नाम पर धब्बा लगाता और पिता की ओर से खुद सफाई देते हैं-

गिर रहा है आज पानी
 याद आता है भवानी
 उसे थी बरसात प्यारी
 सफाई देते-देते कहते हैं
 और मैं रोता कहां हूं
 धीर मैं खोता कहां हूं
 इसके बाद कवि सोचता है
 और पानी बहा होगा
 हाय कितना सहा होगा
 दृश्य उसके बाद का रे
 पांचवें की याद का रे
 भाई पागल बहन पागल
 मां कि जैसे भरा बादल

भवानी भाई यहां तक पहुंचते-पहुंचते गद्गद हो जाते, और निर्झर एक पल के लिए कहीं शून्य में टंग जाता, बाद उनै करके बरस जाता। भवानी भाई की कमजोरी थी बादल की सलोनी घटा। पहल वर्षा शीर्षक कविता में उन्होंने वर्षा को मुक्ति पर्व के रूप में चित्रित किया है। वर्षा के पहले के दहन को पराधीनता के असह्य दाह के रूप में देखा है, जिसमें किरण की गरमी भी सूरज से कम न थी और खुद टीका करते कि पटवारी भी तपता था। वर्षा का पहला डोंगरा आते ही पशु-पक्षी, पेड़ सभी प्राण पा जाते हैं मेढक तक को वाणी मिल जाती है, मोर की कलंगी और ऊपर उठ जाती है,

मेढक पर टिप्पणी करते हुए कहते कि हमारे जैसे राष्ट्रीय कवि भी स्वाधीनता मिलते ही स्वाधीनता के उल्लास के गीत गा उठे, पंतजी को कोकिल बताते, स्व. पंडित जवाहरलाल नेहरू को मोर बताते और हँसते, खुलकर हँसते। एक ओर वे पावस के आनंद वर्षी ताप-हारी रूप से अभिभूत थे तो दूसरी ओर उसके उद्दाम आस्फालित यौवन से भी उतने ही उमंगित थे।

उन्होंने फागुन पर भी कविताएं लिखी हैं, कौन कवि नहीं लिखेगा, फागुन के अनमनेपन से कौन कवि उन्मन नहीं होगा, पर वर्षा से उनका रिश्ता कुछ अधिक गहरा था। ठेठ गांव के आदमी थे, नर्मदा के बीहड़ वनों के सीमांत के गांव के आदमी थे, पत्थरों को पानी बनानेवाली धरती की गोद में पले थे, कड़े अनुशासन में और घने स्नेह में। कविता उनके लिए जीवन की लय बन गई थी। अपनी कमजोरी, अपनी पीड़ा, अपना उल्लास, अपना आक्रोश अपनी कविता से कभी उन्होंने दुराया नहीं। 'गीत फरोश' कविता के बारे में उन्होंने एक बार बतलाया कि पैसों की तंगी में मैं फिल्मों में गीत लिखने चला गया। भैया नवीन ने मुझे बहुत लताड़ा और मुझे लखनऊ बुलाया, लखनऊ आया तो मन ग्लानि से भरा था, उसी दिन समाचार मिला, सरदार पटेल, भारत के लौह पुरुष सरदार पटेल नहीं रहे, मैं कमरे से बाहर नहीं निकला और दिन भर कविता लिखी-

जी हां हजूर मैं गीत बेचता हूँ
 किसिम किसिम के गीत बेचता हूँ
 जी क्यों इसमें होते हैं हैरान
 लोगों ने तो बेच दिए ईमान
 मैं तरह-तरह के गीत बेचता हूँ।

और 'गीत फरोश' आत्मव्यंग्य मात्र नहीं संपूर्ण बुद्धिजीवी समुदाय की दयनीय विडंबना का चित्र बन गया।

बातें तो और याद आ रही हैं पर उन बातों का छोर नहीं है। भवानी भाई को जब अंतिम बुलावा मिला, वे गांव गए हुए थे, सरला भाभी के मना करने के बावजूद, क्योंकि तबियत ठीक नहीं थी, पर भवानी भाई को घर से प्यार था, जहां जनमें, वहीं से विदा हुए, नर्मदा ने उनके फूल बटोरे और उन्हें बहा ले गई। आज भवानी भाई नहीं हैं।

अभी-अभी तो थे, उनका सन्नाटा भी बोलता था। मैं सन्नाटा हूँ, पर बोल रहा हूँ। वे सपना हो गए हैं और उन्हीं के शब्दों में-

सपना तो ऐसा होता है
 अभी-अभी है अभी नहीं है।

ऐसे सपने बने कवि, भाई और निखालिस मनुष्य की स्मृति पावन और सावन स्मृति है। बार-बार उन्हीं की पंक्तियां गूंजती हैं सावन के भरे आकाश में-

गिर रहा है आज पानी
 याद आता है भवानी।

(शेफाली झर रही है) (1987), (गिर रहा है आज पानी) (2001)

(‘विद्यानिवास मिश्र रचनावली’ से साभार)



भानु भारती : किंग साइज

रवीन्द्र त्रिपाठी

भानु भारती के लिए 'किंग साइज' विशेषण का प्रयोग कर रहा हूँ तो मन में इस बात का संशय भी है कि पता नहीं, उनको अच्छा लगेगा या नहीं। भानुजी अच्छी अंग्रेजी जानते हैं और उनके अंग्रेजी में भाषण भी मैंने सुने हैं। लेकिन वे हिंदी प्रेमी भी हैं और बातचीत के दौरान अकसर शुद्ध हिंदी बोलते हैं। शुद्ध हिंदी बोलने के हिमायती भी हैं। यदा-कदा अगर मैंने बातचीत के दौरान अंग्रेजी में कोई वाक्य बोला, तो वे बीच में मीठे ढंग से झिड़कते हुए कहते हैं- 'अच्छा तो आप अंग्रेजी बोल रहे हैं।' फिर भी अगर मैं 'किंगसाइज' विशेषण इस्तेमाल कर रहा हूँ तो उसकी वजह है। 'किंग साइज' का हिंदी अनुवाद राजा समान या थोड़ा सरलीकरण करें तो राजसी मिजाज वाला होगा और इन दोनों शब्दों में सामंतवाद की गंध भी आती है। हालांकि मूल अंग्रेजी में 'किंग साइज' शब्द-युग्म में भी इसी तरह का अर्थ निकलेगा लेकिन हम हिंदुस्तानियों के लिए नहीं बल्कि अंग्रेजों के लिए। वैसे तो कुछ लोगों के लिए अंग्रेजी भी अब भारतीय भाषा हो चुकी है। पर ये भी मानना पड़ेगा कि ब्रितानी या अमेरिकी समाज में कई अंग्रेजी शब्दों की जो ध्वनियाँ हैं वे हमारे यहाँ नहीं हैं। ये सब अनावश्यक सफाई लग सकती है और अपर्याप्त भी। फिर भी जरूरी इसलिए हैं कि गलतफहमी न रहे। न भानुजी के मन में और न पाठकों के मन में। वैसे भी मैं इस बात का पक्षधर हूँ कि दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा के मुहावरे में ढाला जा सकता है, नई अर्थवत्ता के साथ।

हां, तो भानुजी को 'किंग साइज' कहने का मेरा निजी तात्पर्य ये है कि उनके कुछ अंदाजों में मुझे यही देखने को मिला। पहला तो उनकी मेहमानवाजी का तरीका और दूसरे नाटक करने की शैली। दोनों में ये किंगसाइजपना (तो इस तरह 'किंगसाइजपना' हिंदी का हो गया न?) है। हालांकि ऐसे कुछ और वरिष्ठ रंगकर्मी हैं जो दिल से सच्चे अर्थों में मेहमानवाज हैं। चाहे रामगोपाल बजाज हों, बंसी कौल हों, प्रसन्ना हों, अनुराधा कपूर हों- ये सब दिल खोलकर मित्रों को दावत देते हैं। पर इन सबकी खातिरदारी की अपनी अपनी अदाएं हैं। इसी सिलसिले में भानुजी की अपनी खातिर शैली है। उनसे मेरा पहला परिचय तब हुआ था जब वे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) के रंगमंडल लिए 'यमगाथा' कर रहे थे। ये कई साल पहले की बात है। 'यमगाथा' दूधनाथ सिंह का लिखा हुआ है और जब रामगोपाल बजाज यानी बज्जू भाई राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) के रंगमंडल के प्रमुख थे तब ये नाटक मंचित हुआ था। रंगमंडल तब रवींद्र भवन के तीसरी मंजिल पर हुआ करता था। आज ये जगह साहित्य अकादेमी के पास है। बज्जू भाई ने ही मेरा परिचय भानुजी

कराया।

उस समय मैं फ्रीलांसर था और कई हिंदी अखबारों और पत्रिकाओं में लिखा करता था। ये याद नहीं कि किस अखबार या पत्रिका के लिए मैंने भानुजी का इंटरव्यू किया था और इंटरव्यू खत्म होते ही भानुजी कहा -‘चलिए लंच करते हैं’। ये नहीं पूछा कि लंच किया है क्या या लंच करेंगे क्या? बिना किसी औपचारिकता के सीधे लंच-प्रस्थान की बात। उस समय एनएसडी में नाट्य निर्देशन करने के लिए आए निर्देशक या तो श्रीराम सेंटर में लंच करते- कराते थे या एनएसडी की कैंटीन में। (आजकल एनएसडी की कैंटीन में बाहरी लोगों का प्रवेश प्रवेश वर्जित है) मैंने सोचा कि इन्हीं दो जगहों में किसी एक जगह लंच होगा। भानुजी गाड़ी मंगाई और ड्राइवर से कहा- ‘कनिष्क होटल चलिए’। (आजकल इसका नाम शांग्रीला हो गया है) साथ में कोई और था जो आज मुझे याद नहीं। भानुजी कनिष्क के रेस्तरां में हमें ले गए। मुझसे पूछा- ‘क्या लेंगे?’ जैसा कि आम तौर पर लोग कहते हैं, मैंने कहा- ‘कुछ भी’। उनका शरारती जवाब था- ‘ऐसी कोई चीज यहां नहीं मिलती है।’ फिर, शायद मेरी झिझक को ताड़ते हुए, बेयरे को कहा- ‘बीयर लाइए, उसके बाद खाने का ऑर्डर देंगे।’ एक पंचसितारा होटल में किसी को नए-नए परिचित को बीयर पिलाना और खाना खिलाना आज भी महंगा है और तब भी था। पर भानुजी जो किंगसाइज हैं।

और ऐसा पहली और आखिरी बार नहीं हुआ। पिछले वर्षों में उनके मयूर विहार फेज-2 वाले आवास या किसी सार्वजनिक जगह, जैसे एनएसडी या साहित्य अकादेमी परिसर में मिलने की बात छोड़ दें, तो अकसर उनसे शाम या दोपहर वाली मुलाकातें एंबैसेडर होटल या जनपथ होटल में होती थी। कई बार सुबह फोन आता था। उनका आदेशात्मक निमंत्रण इस तरह होता था- ‘दोपहर बारह बजे होटल जनपथ में मिलते हैं।’ होटल जनपथ का ‘स्वागत’ रेस्तरां बरसों से हम दोनों के मिलन का केंद्र रहा। उसके लॉन में कितनी भी देर बैठे रहिए, कोई पूछने नहीं आता था। हम वहां तीन-चार घंटे बैठते। बीयर पीते। खाना खाते और गपियाते। पिछले डेढ़-दो साल से ‘स्वागत’ बंद हो गया है इसलिए आजकल हमारी दोपहर वाली मुलाकातें ज्यादातर इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में होती हैं।

पर सिर्फ उनकी इसी अदा के लिए उनको किंगसाइज नहीं कह रहा हूं। उनके नाटक करने का तरीका भी यही है। दूसरों को अतिशयोक्ति लग सकती है और इस खतरे को जानकर भी मैं कहूंगा कि हिंदी रंगमंच में सबसे आलीशान निर्देशक भानु भारती हैं जैसे फिल्मों में केएस राजामौली। राजामौली हाल के बरसों में बाहुबली-शृंगला की दो फिल्मों के लिए काफी मशहूर हुए। सभी सिनेमा प्रेमी जानते हैं कि राजामौली भव्यता के निदेशक हैं और उनकी भव्य फिल्मों में भावनाओं को भी समुचित मिश्रण होता है। दूसरी तरह कहें तो उनकी फिल्में देखने में बड़े महलों की तरह होती हैं और साथ ही दिल को भी छूती हैं। हिंदी में मेरे खयाल से भव्यता की एक ही ऐसी फिल्म बनी है- ‘मुगले आजम’। कुछ और फिल्म निर्देशकों ने जोर आजमाया लेकिन बात वही है- ‘न हुआ पर न हुआ ‘मीर’ का अंदाज नसीब, ‘जौक’, यारों ने बहुत जो गजल में मारा।’ के आसिफ को कोई छू न सका। हिंदी रंगमंच में वह अंदाज सिर्फ भानु भारती से हिस्से में आया। जिस बड़े कैनवास पर वे नाटक कर सकते हैं वैसा कोई और नहीं कर सकता है।

उन्होंने दिल्ली के फिरोजशाह कोटला में दो बड़े नाटकों को निर्देशित किया। सन् 1911(15 से 19 अक्टूबर) में ‘अंधा युग’ लेखक (धर्मवीर भारती) और सन् 2012 में (28 अक्टूबर से 4 नवंबर

तक) 'तुगलक' (गिरीश कारनाड)। वैसे भानुजी के इन नाटकों से पहले भी इस तरह खुले में और पुरानी ऐतिहासिक इमारतों में नाटक हुए थे। इब्राहीम अल्काजी द्वारा। पर जिन लोगों ने अल्काजी द्वारा निर्देशित नाटक देखे हैं उनका भी कहना है कि भानु भारती ने जिस बड़े स्पेस में नाटक में किया वैसा अल्काजी का नहीं थी। हालांकि दोनों में तुलना नहीं होनी चाहिए क्योंकि दोनों भिन्न पीढ़ियों के निर्देशक हैं और अल्काजी भानुजी के गुरु भी रहे हैं। इसलिए विनम्रतापूर्ण निवेदन ये है कि यहां तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा रहा है। सिर्फ ये बताया जा रहा है कि भानु भारती की रंगशैली में एक विशालता और खुलापन है। उन्होंने इस धारणा को तोड़ा, और जो गलत धारणा थी कि, आधुनिक हिंदी रंगमंच प्रोसिनियम के भीतर कैद होके रह गया है। पर बात सिर्फ प्रोसिनियम से बाहर आने की नहीं थी। नाटक को करने और देखने की परिपाटी बदलने की भी थी। पीटर ब्रुक ने पश्चिमी रंगमंच में यही किया। जब कोई निर्देशक नाटक को एक बड़े स्पेस में ले जाता है तो नाटक करने और देखने की दिशा भी बदलती है। ये अलग से कहने की जरूरत नहीं है कि भानुजी हिंदी रंगमंच को वहां ले गए जहां आस्वाद के धरातल बदल जाते हैं।

जब ये दोनों नाटक हो रहे थे, और होने जाने के बाद भी, कुछ वरिष्ठ कहे जानेवाले रंगकर्मीयों ने ये भुनभुनाहट की कि आखिर इतने बड़े स्तर पर नाटक करने से क्या साबित होता है? मानो ऐसे रंगकर्मी या नाट्य निर्देशक खुद हमेशा के लिए एक छोटे से ऑडिटोरियम में ही नाटक करने को रंगमंच का परमधर्म मानते हों। पर होता यही आया है कि ऐसी भुनभुनाहटें कारुणिक रूप से हास्यास्पद हो जाती हैं। वही हुआ। भानुजी दोनों प्रस्तुतियां समकालीन हिंदी रंगमंच के लिए मानदंड की तरह हैं। हालांकि खुले में और भी निर्देशकों ने नाटक किए हैं पर जैसा बड़ा कैनवास- इन दोनों का रहा है वैसा किसी और का नहीं रहा है।

और इन दोनों नाट्य प्रस्तुतियों के बारे में कुछ और तथ्यात्मक बातें हैं जिनको जान लेना चाहिए। ज्यादातर प्रचारित ये हुआ कि इन दोनों के बजट क्रमशः तीन करोड़ से ऊपर थे। संयोग से इन दोनों प्रस्तुतियों के बजट की सहमति के लिए दिल्ली की साहित्य कला परिषद ने जो समितियां बनाई, (दो साल) उसका एक सदस्य मैं भी था। कुछ लोगों ने तब सवाल उठाया भी कि इतने बड़ी राशि में एक नाटक? ये सवाल कुछ तो ईर्ष्या से पैदा हुआ था और कुछ इस कारण से कि रंगमंच को, रंगकर्मी भी, आज की तारीख में दरिद्रों की कला मानते हैं। उनको लगता है कि पांच-छह लाख में तो आसानी से नाटक हो सकते हैं, फिर तीन करोड़ बजट का क्या मतलब? हालांकि यही लोग होते हैं जो फिल्मी सितारों को एक शाम की महफिल के लिए एक करोड़ रुपये दिए जाने में कोई आपत्ति नहीं करते। उनके मन में ये बात घर करके बैठी कि नाटकवाला की हैसियत लाखोंवालों की ही है। करोड़ के नाटक होना और करना तो उनके लिए अकल्पनीय है। ऐसे लोगों को ये चिंता नहीं सताती कि हिंदी रंगमंच में आज भी अभिनेताओं को पैसा नहीं मिलता। एनएसडी के रंगमंडल जैसे संस्थानों को छोड़ दें जहां अभिनेताओं को वेतन मिलता है, बहुत कम निर्देशक अभिनेताओं के पैसे देते हैं। देते भी हैं डेढ़ महीने के रिहर्सल और प्रस्तुति के बाद अधिक से अधिक पांच-दस हजार। वह भी उदारमना निर्देशक हुआ तो। भानु भारती ने अपने इन दो नाटकों में अभिनेताओं/अभिनेत्रियों को भी किस तरह अच्छा खासा मेहनताना दिलाया इसके बारे में जानकारी ली जा सकती है। मुझे इसके बारे में सिर्फ इतना पता है कि उन अभिनेताओं भी अच्छी खासी राशि

मिली थी। तीन करोड़ रुपये भानुजी को नहीं मिले। उनको तो एक बिलकुल छोटा-सा हिस्सा मिला। बतौर पारिश्रमिक। वह भी लगभग तीन महीने के रिहर्सल के बाद। बाकी पैसे या तो अभिनेताओं-तकनीशियनों को मिले या प्रॉपर्टी पर खर्च हुए।

और ऐसा भी नहीं था कि भानुजी के ये दोनों नाटक सिर्फ भव्य थे। वास्तविकता तो ये थी कि इन दोनों नाटकों में अर्थ और प्रभाव जो पहलू उभरे वे पहले की प्रस्तुतियों में कभी नहीं उभरे थे। मिसाल के लिए 'तुगलक' को लीजिए। इसे कई निर्देशकों ने खेला है पर जहां तक मेरी जानकारी है किसी और निर्देशक ने तुगलक के उस फरमान के अमानवीय पक्ष को उस तरह नहीं उभारा जिसमें दिल्ली के बाशिंदों को दौलताबाद जाने के लिए कहा जाता है। भानुजी की प्रस्तुति में ये पक्ष बहुत सघन होकर उभरता है कि बड़ी संख्या में लोगों को घर से बेघर होना पड़ता है। अपना स्थान छोड़कर हजारों किलोमीटर दूर जाना पड़ता है। सिर्फ इसलिए कि एक बादशाह का ऐसा फितूर है। जो लोग अपने घरबार छोड़कर दिल्ली से दौलताबाद गए होंगे (और फिर दौलताबाद से दिल्ली आए होंगे) उनके जीवन में क्या क्या हुआ होगा? उनके भीतर कितनी वेदना होगी? उनके और उनके परिवार के मन में क्या घटा होगा? आज तो कई इतिहासकार और समाजशास्त्री कुछ साल पहले घटी घटनाओं/त्रासदियों की स्मृति खंगालने के लिए पीड़ितों के साक्षात्कार लेते हैं और उसे दर्ज करते हैं। पश्चिम के विश्वविद्यालयों में तो 'मेमोरी स्टडी' (स्मृति-अध्ययन) भी शुरू हो चुका है। लेकिन कई सौ साल पहले घटी त्रासदियों का क्या करें? उन स्मृतियों का अध्ययन कैसे हो? यही पर नाटक और दूसरी प्रदर्शनकारी कलाओं की भूमिका शुरू होती है। मेरे खयाल से भानु भारती के 'तुगलक' का अध्ययन और विश्लेषण इस दृष्टिकोण से भी होना चाहिए था। सिर्फ नाटक के बजट की चर्चा से कोई रचनात्मक बात सामने नहीं आती। बहस इस पर ही नहीं होना चाहिए कि नाटक कितने खर्चे में हो सकता है। बहस इस बात पर होनी चाहिए कि एक नाटक या रचना के भीतर निहित आशयों को कौन सा निर्देशक किस तरह उद्घाटित करता है। एक निर्देशक की मौलिकता सिर्फ अभिनय या नाट्य प्रस्तुति के अन्य पक्षों- प्रकाश, वस्त्रसज्जा या संगीत- तक ही सीमित रह जाने से नहीं उभरती, बल्कि इस बात से सामने आती है कि उसने रचना में निहित उन पहलुओं को कैसे दिखाया जिनमें मानव इतिहास के अनाम दर्द या अनुभव बसे रहते हैं। 'दिल्ली से दौलताबाद' का प्रसंग भानु भारती ने जिस तरह उठाया वह तुगलक की अन्य प्रस्तुतियों में नहीं उभरा। उसे उभारने के लिए वैसा ही बड़ा स्पेस चाहिए था जो फिरोजशाह कोटला में उपलब्ध था। ऐतिहासिक और पुरातात्विक महत्व की इमारतें ऐसे में खुद जीवित हो उठती हैं और उनमें इतिहास के दर्द उभरने लगते हैं।

पर ऐसा भी नहीं है कि भानुजी सिर्फ भव्यता के नाटक करते हैं। वे सिर्फ मैक्सिमलिस्ट ही नहीं बल्कि मिनिमलिस्ट भी हैं। यानी न्यूनतम का भी नाटक करते हैं। नंद किशोर आचार्य द्वारा लिखित 'बापू' उन्होंने दो बार खेला है। एक बार हिंदी में और दूसरी बार अंग्रेजी में। ये नाटक सिर्फ एक अभिनेता वाला है और इसमें भी भानुजी का निर्देशकीय सामर्थ्य प्रकट होता है। इसमें प्रॉपर्टी भी नहीं के बराबर है। बस एक चरखा है और गांधीजी हैं। ये प्रस्तुति (या इसकी दोनों प्रस्तुतियां) गांधी और तात्कालिक भारतीय राजनीति की कई विडंबनाओं के सामने लाती है। उनकी एक और प्रस्तुति मेरे मन में अभी तक बैठी हुई है। वह है 'आजर का खाब' जो जॉर्ज बर्नाड शॉ के नाटक

‘पिगमेलियन’ का हिंदी रूपांतर है। इसे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के रंगमंडल के लिए उन्होंने निर्देशित किया था। इसमें हिमानी शिवपुरी ने उस महिला चरित्र का किरदार निभाया था जो एक सामान्य औरत से तब्दील होकर संभ्रांत में बदल जाती है।

भानुजी एक और बड़ा योगदान आदिवासियों को रंगमंच पर लाना है। मुझे तो लगता है कि ये अकेला ऐसा योगदान है जिसके लिए भारतीय रंगमंच उनको याद करेगा पर इसे महसूस करने के लिए थोड़ा नृत्यशास्त्र या समाजशास्त्र में जाना पड़ेगा।

भारत में आदिवासियों के बारे में एक धारणा बनाई गई है कि उनके पास कोई परफार्मेंस आर्ट नहीं है। अगर उनके पास कुछ है तो सामूहिक नृत्य या संगीत। इसलिए भारतीय रंगमंच के आधुनिक इतिहास में आदिवासियों के रंगमंच की कोई बात नहीं होती है। दलित रंगमंच की चर्चा अब होने लगी है। पर आदिवासी रंगमंच अलक्षित ही रहा। उसकी कोई बड़ी उपस्थिति भी नहीं रही। रही तो आनुष्ठानिक नाटक में। हालांकि हेशम कन्हाईलाल और रतन थियम जैसे रंगकर्मियों ने अलग मिसालें कायम कीं लेकिन हिंदी भाषी इलाके में आधुनिक रंगमंच को प्रतिष्ठित करने का श्रेय अगर किसी को है तो भानु भारती को। और ये काम उन्होंने तीन नाटकों से किया- ‘पशुगायत्री’ (कावलम नारायण पणिकर के इसी नाम के नाटक का हिंदी रूपांतर है, ‘काल कथा’ और ‘अमरबीज’ से। ये नाटक उन्होंने उदयपुर (राजस्थान) के भीलों के साथ किया था। भानुजी के तीनों नाटक रंगमंच में चर्चित रहे हैं पर उनका वास्तविक महत्त्व रंगमंचीय से ज्यादा नृत्यशास्त्रीय है। भीलों का रंगमंच पर आना और नाटक करना, अभिनय करना- भारतीय आधुनिकता को विस्तारित करनेवाला रहा। हालांकि इसका दूसरा पहलू भी है।

वह ये है कि दो साल पहले भानुजी के मन में फिर से खयाल आया कि उदयपुर से भीलों के साथ एक और नाटक किया जाए। वे उदयपुर गए भी। कुछ दिन रहे भी। फिर दिल्ली आए तो बोले कि नाटक करना संभव नहीं लग रहा है। मैंने पूछा- क्यों? बोले- ‘अब आधुनिकता की नई आंधी से भीलों की संस्कृति भी बदल रही है। नाटक करने को लेकर अब उनमें पहले जैसा उत्साह नहीं दिख रहा है।’ बहरहाल अब ये अलग मुद्दा है कि अब आदिवासी गांवों में क्या हो रहा है। मूल बात तो ये है कि एक समय में भानुजी ने भीलों के साथ काम करते हुए रंगमंच का जो बीजरोपण किया वह एक ‘अमरबीज’ बन गया है और वह फिर से अंकुराएगी। कम से कम मुझे इसमें संदेह नहीं है।

भानुजी कविता प्रेमी हैं। एक तो कबीर उनके प्रिय कवि हैं और उनके ऊपर एक नाटक करने की उनकी इच्छा बहुत पुरानी है। फिर गालिब उनके प्रिय शायर हैं। भानु भारती द्वारा लिखित और उनके ही द्वारा निर्देशित एक नाटक ‘तमाशा न हुआ’ का नाम भी गालिब की एक पंक्ति से लिया गया है। और अगर समकालीन हिंदी कविता की बात करें तो उनके प्रिय कवि हैं गिरधर राठी। राठीजी भानुजी के गहरे मित्र भी हैं। और उन दोनों के साथ मेरी कुछ शामें गुजरी हैं। एक ऐसी ही शाम को, राठीजी के चले जाने के बाद, भानुजी कहा- ‘हिंदी कविता में राठीजी को वो जगह नहीं मिली जिसके वे हकदार हैं। उनके पिछले संकलन की एक भी समीक्षा नहीं आई। आखिर एक महत्वपूर्ण कवि की इस तरह उपेक्षा क्यों?’ फिर इसी बातचीत के क्रम में उन्होंने राठीजी के अब तक के अंतिम संग्रह ‘अंत के संशय’ (जो वाग्देवी प्रकाशन से 2009 में प्रकाशित हुआ था) से दो तीन कविताएं

सुनाई। इस संग्रह से एक कविता, जिसके नाम पर संग्रह का नाम भी रखा गया है, 'अंत के संशय' का एक हिस्सा यहां पेश है-

तो ये थे कुछेक घरेलू और विश्वसनीय संशय आरंभ के।
जाती हुई सदी इन्हें बुहार कर
डाल जाती है अंत की पटरी पर। आती हुई सदी
बिना मोल तोल कुछ छंट ले जाती है
वहां से अपने लिए संशय
आरंभ से!
इस बिंदु में जो गड़बड़ है अब वह
साफ नजर आती है :
जिसे अंत' कहा जाता है वह तो
किसी एक किस्म के अंत का
कोई एक किस्म का आरंभ भर होता है..

जैसे, लंका में रावण फिर सरयू में राम के विलोपन के बाद
कहा गया अंत हो गया रामलीला का
लेकिन वह अंत का आरंभ भर निकला!...
स्वर्गारोहण वगैरह तमाम अंतों के बाद भी
कहां अंत हुआ महाभारत का!...
कब जाकरे थमेगी वह गोली जो
प्रार्थना सभा में छोड़ी गई दनाक!...
इत्यादि इत्यादि इत्यादि....

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में भानु भारती और नसीरुद्दीन शाह सहपाठी थे। उस दौरान उन दोनों के बीच झगड़ा हुआ था। इस झगड़े को लेकर कई किस्से हैं। समझ लीजिए कि ये एक किंवदंती की तरह बन चुका है। जैसा कि होता है किंवदंती कई तरह के संपादित रूपों में बदलती रहती है। इसलिए अलग अलग लोगों की जुबान में ढलकर इसमें कई तरह के मिर्च मसाले मिलते रहे हैं और लोग इसके मजे भी लेते रहे हैं। भानुजी से इसके बारे में साहित्य कला परिषद के एक कार्यक्रम में एक सवाल भी पूछा गया कि उस झगड़े की वजह क्या थी तो उन्होंने जो कहा उसका लब्बोलुबाब ये है कि बात उस समय एनएसडी के परिसर में मौजूद अंग्रेजी बनाम हिंदी का सांस्कृतिक टकराव था। कुछ अंग्रेजी दां विद्यार्थी थे और कुछ हिंदी दां या वैसे जिनको अंग्रेजी पर भरपूर अधिकार नहीं था। दोनों तरह के विद्यार्थियों में तनाव होता रहता था। इसलिए भानुजी के नसीर से झगड़े की कोई निजी वजह नहीं थी। मामला परिवेश में मौजूद अंग्रेजी अभिजात और देसी मिजाज के टकराने का था। पर जैसा कि होता है कि सांस्कृतिक टकरावों के अच्छे नतीजे भी निकलते हैं। सो वह भी निकला। यानी नसीर-भानु टकराव का एक दूसरा अध्याय भी है।

दूसरे अध्याय की कथा इस तरह है।

वह ये है कि जब भानुजी को एनएसडी के आखिरी साल में अपना डिप्लोमा प्रॉडक्शन करना था (वहां जो छात्र निर्देशन में विशेषज्ञता करते हैं उनको आखिरी साल के अंत में एक नाटक निर्देशित करना पड़ता है, इसे ही डिप्लोमा प्रॉडक्शन कहते हैं) तो उन्होंने जिस नाटक का चयन किया वह था यूजीन आयोनेस्को का 'द लेशन'। (आयोनेस्को को एबसर्ड थिएटर का नाटककार कहा जाता है, हालांकि ये विशेषण उनको पसंद नहीं था। मेरे लिहाज से उनकी आपत्ति सही भी थी क्योंकि आयोनेस्को अपने समय के ऐसे प्रखर नाटककार रहे जिन्होंने जबर्दस्त राजनैतिक चेतना थी। चूंकि वे नाजीवाद के साथ साथ स्तालिनवाद के भी कट्टर आलोचक थे इसलिए आरंभिक पश्चिमी कम्युनिस्ट आलोचक उनको बहुत पसंद नहीं करते थे। एबसर्ड थिएटर का तमगा उनको अवमूल्यित करने के लिए दिया गया था। इस वैचारिक अवमूल्यन के बाद भी आयोनेस्को के नाटक प्रासंगिक बन रहे और आज भी हैं)।

'द लेशन' एक ऐसे प्राध्यापक के बारे में है जो अपनी सेविका के माध्यम से एक लड़की को विवश करता है वह अपने को मार डाले। प्राध्यापक की भूमिका इसमें केंद्रीय है इसके लिए भानुजी जिस अभिनेता का चयन किया वे थे नसीरुद्दीन शाह। इब्राहीम अल्काजी उस समय एनएसडी के निदेशक थे। रिवाज ये था कि छात्र-निर्देशक कौन सा नाटक करेगा इसके लिए एनएसडी के निदेशक की सहमति जरूरी थी। भानु भारती जब अल्काजी के पास अपने चयन के बारे में बताने गए तो उनके बीच अंग्रेजी में जो संवाद हुआ उसे हिंदी में इस तरह से कह सकते हैं-

अल्काजी- 'अच्छा तुम आयोनेस्को करोगे?'

भानु भारती- 'हां'

अल्काजी- 'आर यू श्योर?'

भानु भारती- 'येस, आई एम श्योर'

अल्काजी- 'ठीक है, पर प्रोफेसर का किरदार कौन निभाएगा?'

भानु भारती- 'नसीर ।'

अल्काजी- 'क्या?' (चेहरे पर आश्चर्य के भाव भी थे)

भानु भारती- 'जी हां ।'

अल्काजी- 'क्या वो तैयार है?'

भानु भारती- 'जी हां ।'

अल्काजी- (चुप्पी.. कुछ देर की) ओके ।

तो इस तरह अल्काजी ने सहमति दे दी और 'द लेशन' हुआ और शानदार हुआ। इसका अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि भानुजी अपनी बैच के गोल्ड मेडलिस्ट बने, जिसे हिंदी में स्वर्णपदक प्राप्त कहते हैं। अब तो हम उस समय में रह रहे हैं जिसमें पश्चिमी साहित्य और नाटक से आम भारतीय का परिचय गाढ़ा हो गया है और पश्चिम हम भारतीयों के लिए अब अपरिचित या अल्प परिचित नहीं रहा, पर उस समय तक पश्चिमी नाटक करना एक चुनौती मानी जाती थी। ये भी समझा जाता था कि एबसर्ड नाटक करना भारत में बहुत आसान नहीं है क्योंकि यहां उस तरह की परिस्थितियां नहीं है जो यूरोप में रहीं और जिनमें इस तरह के नाटक लिखे गए। इस तरह की बातों से समय इस बिंदु को भुला दिया जाता है कि महान कला सिर्फ देशकाल बद्ध

नहीं होती। वह देशकालातीत होती है। भानु भारती ने उस वक्त 'द लेशन' करके इसे भी रेखांकित किया।

हिंदी नाटककारों में भानुजी के एक प्रिय भुवनेश्वर भी हैं। भुवनेश्वर भी किंवदंती पुरुष हैं और उनके नाटकों को भी एबसर्ड कहा जाता रहा है। ये भी दिखाता है कि भुवनेश्वर के लिए अभी तक हम को सहज और भारतीय विशेषण नहीं तलाश पर पाए हैं। अपने समय के औघड़ साहित्यकार भुवनेश्वर ने कविताएं भी लिखीं और कहानियां भी। उनकी एकांकियां हिंदी साहित्य में समादृत हैं। भानुजी ने उनके 'तांबे के कीड़े' का मंचन तब किया था जब मंच पर भुवनेश्वर बहुत कम खेले गए थे। (इलाहाबाद में सत्यव्रत सिन्हा ने भुवनेश्वर की एकांकियां खेली थीं) जब राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से निकलने के बाद ही कुछ दिनों के लिए वे लखनऊ गए थे तो वहां कृष्ण नारायण कक्कड़ से मुलाकात हुई। कक्कड़ हिंदी के सम्मानित आलोचक थे और लखनऊ के उन बैठकबाजों में थे जिनकी सोबत में वहां के साहित्यकार महफिलें सजाते थे। कभी कॉफी हाउस में तो कहीं और। तब लखनऊ के बड़े लेखक, कवि, कथाकार और आलोचक रंगमंच में खास दिलचस्पी रखते थे। चाहे वे अमृतलाल नागर हों, श्रीलाल शुक्ल हों या कक्कड़ साहब हों। एक दिन महफिल में कक्कड़ साहब ने भानुजी को कहा- 'आप भुवनेश्वर क्यों नहीं करते?' भानुजी ने कहा- 'पहले पढ़ता हूं फिर करूंगा'। कक्कड़ साहब ने ही उन्हें भुवनेश्वर के नाटक उपलब्ध कराए और जब भानुजी ने उनमें से 'तांबे के कीड़े' किया तो लखनऊ और हिंदी रंगमंच में उसकी दुंदुभि बज गई। भुवनेश्वर का सम्मान तो पहले से ही था पर वे एक तरह से भूमिगत यानी अंडरग्राउंड की दुनिया के लेखक माने जाते थे। हालांकि प्रेमचंद उनको बहुत मानते थे पर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' उनको पसंद नहीं करते थे। बहरहाल, ये बहुत पहले की बात है। जब लखनऊ में भानु भारती के निर्देशन में 'तांबे के कीड़े' का सफलता के साथ मंचन हुआ और लखनऊ की लेखक बिरादरी से अलावा वहां के दर्शकों और रंगमंच प्रेमियों ने उसे सराहा तो भुवनेश्वर की कीर्ति पताका जोर शोर से फहराने लगी। अब तो उनकी कहानियां भी मंचित होने लगी हैं और लगातार हो रही हैं।

भानु भारती को लेकर मेरी और भी बहुत सारी यादें हैं। सब इस वक्त यहां इसलिए भी नहीं लिखी जा सकती हैं कि हर लेख की एक शब्द सीमा होती है इसलिए इस स्मृति प्रसंग का दूसरा हिस्सा भी जल्द ही कहीं लिखा जाएगा। वैसे अपनी रंगमंचीय यात्रा का एक बड़ा हिस्सा भानुजी ने 'तद्भव' में कई अंकों में लिखा भी है। उनके जापान प्रवास के बारे में मुझसे कभी लंबी बात भी नहीं हुई जहां वे एक फेलोशिप के तहत गए थे। वे सारे प्रसंग फिर कभी। फिर अभी तो उनको कई नाटक करने हैं और कई तरह के प्रयोग भी।



कितने आत्मीय, कितने अपने

ज्योतिष जोशी

देश के शीर्षस्थ नाट्य चिंतक, कवि, आलोचक तथा संपादक नेमिचंद्र जैन अब इस संसार में नहीं हैं। 16 अगस्त 1919 को जन्मे नेमिचंद्र जैन ने 24 मार्च, 2005 को अंतिम सांस ली थी। इस तरह पंद्रह वर्षों से जिस आत्मीय संबंध ने मेरे अंतस्तल को सींचा था, उसका सोता सूख गया। 1990 के मार्च के आसपास ही नेमिचंद्र जैन यानी नेमिजी से एक साहित्यिक कार्यक्रम में दिल्ली के रवींद्र भवन में पहली भेंट हुई थी। उसके बाद मित्र सुरेश शर्मा (जो पहले नवभारत टाइम्स में रहे और बाद में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर भी रहे) के माध्यम से मैं नेमिजी के 'नटरंग प्रतिष्ठान' से जुड़ा, जहां पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, स्मारिकाओं आदि की सूची बनाकर उन्हें व्यवस्थित करने का अथक श्रम किया। तत्पश्चात् 'नटरंग' पत्रिका का सहायक संपादक और नटरंग प्रतिष्ठान का शोध अधिकारी भी रहा। लगभग पांच वर्षों तक यहां रहने के बाद 21 मार्च, 1995 को केंद्रीय ललित कला अकादेमी की सेवा में आया।

प्रतिष्ठान से निवृत्ति के बावजूद नेमिजी से संबंध पहले से अधिक गहरा होता गया। 1994 में मैंने उनके पचहत्तर वर्ष पूरे होने पर एक पुस्तक 'सम्यक्' संपादित की थी जिसमें देश के शीर्षस्थ लेखकों, रंगकर्मीयों तथा पत्रकारों ने नेमिजी के व्यक्तित्व-कृतित्व पर लिखा था।

1990 से 2005 यानी पंद्रह वर्षों तक नेमिजी से जो आत्मीयता मिली, वह मेरे जीवन की एक बड़ी पूंजी है। उनके प्रेम का ही सुफल था कि उनके परिवार का हर व्यक्ति मुझसे अभिन्न हो गया और आज भी उनके पुत्र संजयजी से लेकर उनके सभी रिश्तेदारों और उनकी पुत्रियों से स्नेह पाता रहा हूं। रेखा जैन, नेमिजी के गुजरने के बाद गईं और तब और भी बड़ा आघात लगा था; क्योंकि नेमिजी की आत्मीयता की जो छवि मैं रेखाजी में पाता था, वह भी नहीं रहीं।

नेमिजी को लेकर बहुत कुछ लिखा है, कई संस्मरण भी लिखे हैं और उनके निधन के बाद साहित्य अकादेमी, दिल्ली के लिए 'भारतीय साहित्य निर्माता' श्रृंखला के अंतर्गत एक पुस्तक भी लिखी है- 'नेमिचंद्र जैन' जिसमें उनके वैशिष्ट्य के अनेक पक्षों को मैंने रेखांकित किया है।

ऐसे नेमिजी को लेकर बहुत-सी यादें हैं जो अकसर भावुक करती हैं। उनके द्वारा दी गई बहुत-सी सीखें हैं जो अकसर काम आती हैं। उनके जीतेजी कभी मैंने खुद को अकेला नहीं पाया। वे अपना उदाहरण देते और हौसला बंधाते। कोई भी परिस्थिति हो, उससे जूझना और हँसते-हँसते उससे निकल जाना उनकी सीख होती। वे यह भी कहते कि कोई भी चीज इतनी मूल्यवान नहीं होती

कि वह जीवन से बड़ी हो जाए। अगर जीवन संकट में हो, अपनी सोच-समझ और चेतना किसी की गुलाम हो चले तो जो भी निर्णय हो सके ले लेना चाहिए ताकि हम जीवन को बचा सकें।

बात शायद 1993 या 92 के मध्य की होगी। तब एक महीने के लिए नेमिजी, रेखाजी के साथ बंगलौर अपने पुत्र संजय जैन के पास गए थे। जाने के पहले उन्होंने मुझसे कहा कि एक महीने के लिए तुम्हें यहीं रहकर घर संभालना है। मैं तो सन्न रह गया। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के छात्रावास में रहता था। इतना बड़ा घर और सामान, कैसे संभलेगा मुझसे। सोचकर चिंता हुई। कुछ गलत-सलत हो गया तो क्या जवाब दूंगा। मैंने नेमिजी को अपना असमंजस बताया। उन्होंने मेरे असमंजस पर अपनी प्रतिक्रिया दी- 'इस घर में जो कुछ भी है, वह तुमसे कीमती तो नहीं। बेटियां अपने-अपने घर हैं। कोई रहने वाला होता तो तुम्हें यह जिम्मा न देता। पर तुम अपने हो मेरे, इस घर में न जन्मे हो, इसलिए क्या; इसलिए कहा कि यहीं रहो। देख-रेख रहेगी और तुम यहीं रहकर प्रतिष्ठान का काम भी देख लोगे।'

नेमिजी की बातों पर रेखाजी ने भी सिर हिलाया और कहा कि 'बाबू ठीक कह रहे हैं ज्योतिष। तुम चिंता क्यों करते हो।'

मेरा असमंजस दूर हुआ। मैंने निर्णय लिया कि यहां एक महीने रहूंगा। वे लोग चले गए। पर दिन में कम से दो बार नेमिजी के फोन आते। दस बजे के आसपास वे फोन करके कहते कि आज अमुक किताब पढ़ना शुरू कर दो... कम से कम इन-इन पृष्ठों को पढ़ लो और उनके नोट्स लो। रात को फोन करके प्रतिष्ठान की खबर लेते और मेरी पढ़ाई पर कुछ पूछते ताकि उन्हें पता चले कि उनके कहे का असर पड़ रहा मुझ पर कि नहीं। उस एक महीने में साहित्य, नाटक और आलोचना की लगभग 8-10 पुस्तकें हमने पढ़ीं और जब नेमिजी लौटकर आए तो उन पर हमें जिरह करनी पड़ी और तब उनको संतोष हुआ कि हमने न केवल पुस्तकें पढ़ी हैं बल्कि उन्हें गुना भी है।

'नटरंग' पत्रिका के प्रूफ और संपादन में कोई त्रुटि रहती तो फटकारने से न चूकते। बाद में बुलाकर समझाते- 'देखो, आज अगर कोई गलती रह जाती तो तुम जीवन-भर उसे सही मानते। अब तुम मंज रहे हो, खुशी होती है।'

इसी सिलसिले में एक दिन भाषा-संबंधी एक बड़ी त्रुटि रह गई जिस पर उन्होंने मुझे समझाते हुए कहा था- 'शायद तुमको पता न हो। मैंने बहुत यत्न करके, तकलीफ झेलकर भाषा के शुद्ध संस्कार को अर्जित किया है। उन्होंने इलाहाबाद का एक प्रसंग सुनाते हुए कहा- 'यह बात उन दिनों की है तब मैं इलाहाबाद में रहता था। 'प्रतीक' के संपादक मंडल में था और 'प्रतीक' के संपादन और प्रूफ संशोधन का दायित्व मुझ पर ही था। एक अंक में असावधानीवश भाषा की त्रुटि रह गई जिसे अज्ञेय ने देख लिया और बड़े कर्कश स्वर में अपनी नाराजगी व्यक्त की। मैंने उनकी डांट को मन पर तो ले लिया, पर शपथ भी ली कि आज के बाद भाषा की अशुद्धि कभी न करूंगा। एक वह दिन है और आज का दिन, उसके बाद वह गलती मैंने कभी दुहराई नहीं। दरअसल भाषा हमारे पढ़े लिखे का आईना होती है। वह धुंधली हुई तो हमारे पढ़े होने पर शंका होगी, हमारी छवि बिगड़ेगी। जिस व्यक्ति को भाषा की समझ नहीं, वह लेखक होने का भ्रम भले पाल ले, लेखक हो नहीं सकता।'

कह सकता हूं कि भाषा का, शब्दों का और उसे बरतने की जो भी समझ बन सकी, उसमें नेमिजी के निर्देशन और उनकी सीख की बड़ी भूमिका है।

एक अभिभावक की तरह नेमिजी ने मुझे साहित्य, विशेषकर कविता, समकालीन नाटक-रंगमंच, उपन्यास और संस्कृति की आलोचना के जो सूत्र दिए वे सदा सर्वदा हमें यह सोच और समझ की ओर जाने की प्रेरणा देते रहे हैं, देते रहेंगे।

एक बार किसी प्रसंग में मैंने गजानन माधव 'मुक्तिबोध' पर नेमिजी से बातचीत शुरू की। साहित्य-समाज को पता है कि नेमिजी ने ही मुक्तिबोध को मार्क्सवाद की तरफ प्रेरित किया था और मुक्तिबोध ने आजीवन उन्हें अपना गुरु माना। शुजालपुर (म.प्र.) के एक विद्यालय में नेमिजी के साथ मुक्तिबोध भी अध्यापक थे। नेमिजी ने मुक्तिबोध को बनते हुए और जूझते हुए करीब से देखा था। नेमिजी ने मुक्तिबोध रचनावली का संपादन कर जिस मुक्तिबोध को खोजा, वह साहित्य के लिए सर्वथा नया अनुभव था। प्रसंग आते ही नेमिजी उदास हो गए, बोले- 'मुझे दुःख होता है कि एक वह दौर भी था जब प्रगतिशील आलोचक मुक्तिबोध को सनकी कहा करते थे। कुछ ने तो उन्हें अस्तित्ववादी करार दिया है पर मरने के बाद मुक्तिबोध को अपनाने की जैसे होड़-सी मच गई। सबसे विचित्र बात यह है कि जिन लोगों ने उन्हें सनकी या पागल करार दिया था, वे ही उन्हें महानतम कवि का दर्जा देकर अपने को स्थापित करने में लग गए। काश, उनके जीते जी ये लोग उन्हें स्वीकृत करने या प्रशंसा देने के लायक समझे होते तो उनका वह कारुणिक अंत शायद न हुआ रहता, जो दुर्भाग्य से हुआ।' अपने इन्हीं संस्मरणों में नेमिजी ने कभी कहा था कि मुक्तिबोध अपनी हर कविता के दस से पंद्रह प्रारूप बनाते थे। एक-एक कविता पर महीनों काम करके भी वे संतुष्ट नहीं होते थे। उन्हें पता होता कि ये कविताएं पाठकों के लिए चुनौती होंगी, स्वयं भी वे अपनी ही कविता के प्रश्नों से आशंकित रहते; फिर भी वे कहते कि यह कविताएं मेरी आत्मा के गहरे अँधकार की उपज हैं जिनमें पैठने पर प्रकाश का आभास अवश्य मिलेगा।

जैनेंद्र कुमार को वे अपने समय के श्रेष्ठतम लेखकों में मानते थे, पर उनकी अतिशय दार्शनिकता को पसंद नहीं करते थे; क्योंकि इससे उनकी सेवाएं बोझिल हो जाती हैं।

अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, नरेश मेहता, भारत भूषण अग्रवाल, रामविलास शर्मा, श्रीकांत वर्मा, इब्राहिम अल्काजी, ब.व. कारंत, शंभु मित्र, के.एन. पाणिक्कर जैसे अनेक मूर्धन्यों पर नेमिजी ने अलग-अलग प्रसंगों में ऐसी-ऐसी महत्वपूर्ण बातें बताई होंगी जो बहुत मूल्यवान हैं और कभी अवसर आया तो विस्तार से उस पर लिखने का प्रयास करूंगा।

यहां कुछ प्रासंगिक यादों को सहेजकर अपनी बात समाप्त करूंगा। इनमें से एक है कि वे नए लेखकों, रंगकर्मियों से बहुत स्नेह रखते थे। किसी भी समय कोई भी उनसे मिल सकता था, किसी विषय पर बात कर सकता था। वे किसी की प्रशंसा करने में कृपण न थे पर लिखने में एक-एक शब्द तौलकर और संतुलन के साथ लिखते थे। अतिरंजना उन्हें न जीवन में पसंद थी न लेखन में। एक बार की बात है, शायद 1993 की होगी। विजय मोहन सिंह, हिंदी अकादेमी, दिल्ली के सचिव थे। उनकी ओर से एक युवा कविता पाठ का आमंत्रण मुझे मिला। कविताएं तब लिखना छोड़ चुका था। नेमिजी को मैंने पत्र दिखाया और कहा कि जिस विधा में अब लिखता नहीं, उसके आयोजन में जाना ठीक नहीं लगता। नेमिजी सुनते ही गुस्से में आ गए और बोले- 'जब तुम्हें स्वयं ही निर्णय ले लेना था तो पत्र की चर्चा मुझसे क्यों की? तुम कविताएं लिखते रहे हो इसका संज्ञान एक साहित्यिक संस्था का साहित्यिक और उसका सचिव ले रहा है तुम्हें उसमें जाना चाहिए। क्या

पता जो विधा तुम्हारे भीतर जब है, वही आगे आ जाए?’ मैंने नेमिजी की बात मानी और वहां जाकर पांच कविताओं का पाठ किया जो बाद में ‘इंद्रप्रस्थ भारती’ में छपीं थीं। उन कविताओं को बहुत सराहना मिली। यह अलग बात है कि कविताओं में मेरा मन रमा नहीं और मैंने आलोचना की राह पर ही ज्यादा सहज महसूस किया।

वर्ष 2005 में ही उन्हें हिंदी अकादेमी, दिल्ली का ‘शलाका सम्मान’ मिला था। संयोग से उसी मंच पर मुझे भी ‘साहित्यिक कृति सम्मान’ मिला। नेमिजी बड़े खुश थे। मेरे परिवारजनों से दिल्ली के फिक्की सभागार में मिलते हुए, उन्हें आशीष देते हुए देखने का वही अंतिम अवसर था। उसके कुछ ही समय बाद 24 मार्च, 2005 को उनका देहांत हो गया। उस समय दुर्भाग्य से मैं पूना में था। उनके निधन की सूचना मुझे ट्रेन में मिली। उनका अंतिम दर्शन हमें न हो पाया।

ऐसे नेमिजी का न रहना हमें हर क्षण खलता है; क्योंकि उनसे पिता-सा वत्सल स्नेह मिलता था और जीवन-जगत से लड़ने का संबल भी। साहित्य, नाटक-रंगमंच और दृश्यकला को जानने-समझने के बहुत-से सूत्र हमें नेमिजी से ही मिले। उनकी उपस्थिति से हमेशा बल मिला करता था। उनकी बहुत-सी यादें हैं, बहुत-से यादगार पल उनसे जुड़े रहे हैं जिन पर हम विस्तार से कभी लिखेंगे। फिलहाल उनकी स्मृति को प्रणाम कर हम इस संस्मरण को यहीं विराम देते हैं।



चित्रभाषा का अपना जीवन

प्रयाग शुक्ल

वह शाम मुझे अच्छी तरह याद है, जब 2009 में हम अंबादासजी के आस्लो (नार्वे) वाले फ्लैट में बैठे थे। कमरों में स्वयं उनके अपने चित्र तो थे ही, नॉर्वेजियाई कलाकारों और कुछ यूरोपीय कलाकारों के चित्र और प्रिंट्स थे। ये अंबादासजी और उनकी नॉर्वेजियाई पत्नी हेगे के ही इकट्ठा किए हुए थे। कुछ वे भी थे जो हेगे के माता-पिता के संग्रह में से थे। कमरों में कला पर किताबें और पत्रिकाएं भी बहुतेरी थीं। हमारे सामने शाम की चाय का सामान था और थे मक्खन, शहद, ब्रैड स्प्रेड, चीज बिस्कुट आदि-आदि। इन्हीं के बीच बैठे थे हम। और अंबादासजी अपनी मुस्कान, और कभी-कभी जोरदार हँसी के साथ, हमें खिला-पिला रहे थे। हमारे पहुंचने पर प्रसन्न थे दोनों। हेगे हमारे लिए उस शाम विशेष रूप से अपनी पसंद की दुकान से केक लेकर आई थीं।

साथ में मेरी बेटी वर्षिता भी थी जो नॉर्वे के शहर त्रांदाइम में 2007 से अपने पति वेंकटेश गोविंदराजन के साथ रहने लगी थी। वेंकटेश तो वहां के एन.टी.एन.यू. विश्वविद्यालय से संबद्ध थे, और मेरी बेटी को भी वहीं काम मिल गया था। दो वर्षों में ही उसने नॉर्वेजियाई अच्छी तरह सीख ली थी। हेगे उससे नॉर्वेजियाई में ही बातें करती रहीं, और उन्होंने मुझसे कहा इसने तो नॉर्वेजियन बहुत अच्छी तरह सीख ली है।

कमरे में शाम का उजाला पसरा था। और कांच के खिड़कियों-दरवाजों से उस बहुत नीले गगन का विस्तार भी दिख रहा था, जिसमें सूर्यास्त वाले रंग ठहरे हुए थे। दरअसल उसे शाम कहना ठीक नहीं, थी तो वह रात ही सफेद रात उस वक्त भारत में जरूर शाम के चार-पांच बजे होंगे। नार्वे का समय, भारत से अमूमन तीन-चार घंटे पीछे ही तो रहता है। मैं प्रसन्न था कि मैं नार्वे में बहुत अच्छे समय पहुंचा हूँ, प्रकाश के दिन-रात वाले समय में, अन्यथा हम जानते हैं कि साल के कई महीनों तो वहां दोपहर से शुरू हुआ धुंधला सा अँधेरा अगली सुबह तक पसरा रहता है। ठंड भी बहुत पड़ती है। और बर्फीले दिनों में तो शहरों पर चलना मुश्किल हो जाता है।

बहरहाल, हम सब प्रसन्न थे, एक-दूसरे से मिलकर। अंबादास और हेगे साल में प्रायः एक बार तो भारत आते ही थे, और हमारे घर भी जरूर आते थे। कभी दोनों साथ, कभी अंबादासजी अकेले ही। ऐसे ही एक बार जब अंबादासजी ने हमारे साथ पूरा एक दिन बिताया था तो मैंने उस दिन का एक संस्मरण लिखा था : 'अंबादास के साथ एक दिन' शीर्षक से। सो वर्षिता भी उन्हें और हेगे को प्रायः बचपन से ही देखती-मिलती आ रही थी।

मैं अंबादासजी के बिलकुल बगल में बैठा थे मेरी आंखें सूर्यास्त के रंगों की ओर भी चली जाती थी, और उन पेड़ों की ओर भी, जो पड़ोस के मकानों के बीच सिर उठाये खड़े थे। अंबादासजी हम दोनों को ही, अमुक-अमुक चीज को चखने का निमंत्रण देते जा रहे थे। उनसे मेरी पिछली भेंट कुछ महीने पहले ही हुई थी। वह भोपाल आए थे कुछ दिनों के लिए, और संयोग से हम भी वहीं थे। एक रात हम लोगों ने साथ ही भोजन भी किया था 'जहांनुमा होटल' में चित्रकार अखिलेश और उदयन वाजपेयी भी थे। बहुत-सी बातें भी हुई थीं।

आस्तो पहुंचते ही संयोग से हेगे हमें, हमारे होटल के पास ही मिल गई थीं। हम रास्ता पार कर रहे थे और वह भी। हम बीच सड़क पर मिले, फिर एक किनारे होकर कुछ देर बातें करते रहे। वह हमारे लिए ही केक खरीदने आई थीं। यह तो उनसे फोन पर पहले ही तय हो गया था कि वे आठ बजे हमें लेने आएंगी, अपनी गाड़ी से। उस संक्षिप्त सी रास्ते में हुई भेंट के वक्त उन्होंने यह इशारा कर दिया था कि अंबादासजी 'स्मृति लोप' का शिकार होते जा रहे हैं। यह मानों उन्होंने हमें सावधान करने के लिए भी कहा था कि अगर वह कुछ भूलते हुए लगे तो हम परेशान न हों। उन्होंने बताया कि कभी-कभी वह खाने-पीने का सामान कपड़ों की आलमारी में रख देते हैं, इसी तरह कई अन्य चीजों का स्थान भूल जाते हैं पर, जब हम उनके फ्लैट में पहुंचकर उनसे मिले तो इस बात की गहरी प्रसन्नता हुई थी कि हम लोगों से संबंधित चीजें उन्हें अच्छी तरह याद थीं। उन्होंने कमलेशजी के बारे में पूछा। स्वामीनाथन के छोटे बेटे हर्षवर्धन की याद की और बहुत पुराने दिनों की बातें की। एकाध बातें को छोड़कर 'स्मृति लोप' के लक्षण चर्चा में कम दिखे। हां, बीच-बीच में कुछ गुम हो जाते उन्हें जरूर देखा, और मैं कामना करता रहा कि जो दो-एक दिन उनके साथ बिताने हैं, उनमें हम ताजा बातें भी करें, और पुरानी स्मृतियों का साझा भी करें।

मैं 1964 के अगस्त महीने में कल्पना (हैदराबाद) छोड़कर, दिल्ली की कला-साहित्य की गतिविधियों को निकट से देखने के इरादे से दिल्ली आया था। और इस इरादे से भी कि अब दिल्ली रहकर ही लिखना-पढ़ना है। दिल्ली आने पर कुछ अरसा मित्रों के साथ, फिर कोई तीन महीने रामकुमारजी के स्टूडियो में रहा था। यह व्यवस्था स्वयं रामकुमारजी ने ही की थी कि जब तक तुम्हें कोई कमरा नहीं मिल जाता, तुम मेरे स्टूडियो में रह सकते हो। रामकुमारजी से मिलने सभी आते थे हुसेन साहब, तैयब मेहता, कृष्ण खन्ना, नसरीन मोहम्मदी, और कई लोग। एक दिन शमशेरजी, उनसे मिलने आए थे उसकी भी याद है। इन्हीं दिनों, स्वामीनाथन, अंबादास, जेराम पटेल, हिम्मत शाह से मेरा परिचय हुआ था। वे दिन कनाट प्लेस में शामियाना कॉफी हाउस और टी हाउस के दिन भी थे। रोज ही कनाट प्लेस में या मंडी हाउस के चौराहे पर, या सप्रू हाउस, रवींद्र भवन में कई चित्रकारों, रंग कर्मियों, लेखकों, पत्रकारों से भेंट होती थी। कई मेरे हम उग्र भी थे।

कुछ मुझसे दस-पंद्रह वर्ष या बीस-पच्चीस वर्ष बड़े भी (होते) थे। पर, सबके साथ एक मैत्री-भाव महसूस होता था। अंबादासजी तो मुझसे कोई अठारह वर्ष बड़े थे। पर, पहली भेंट से ही वह मुझसे मित्रवत, व्यवहार करने लगे थे। हिंदी के अन्य कवियों-लेखकों से भी उनकी मैत्री जैसी थी। श्रीकांत वर्मा से, कवि कमलेश से। जब हमारी भेंट हुई थी तो मैं 'दिनमान' के लिए फ्रीलॉसिंग करता था। वात्स्यायनजी (अज्ञेय) या मनोहर श्याम जोशी मुझसे प्रायः प्रति सप्ताह 'दिनमान' के लिए कुछ लिखवाते थे, या किसी का इंटरव्यू करने भेजते थे या फिर किसी प्रदर्शनी और नाटक की समीक्षा करने को कहते थे। 1969 में मैं 'दिनमान' के संपादकीय विभाग में बाकायदा नियुक्त कर

लिया गया। पर, मुझे नियुक्ति-पत्र दिलाकर कुछ महीनों बाद ही वात्स्यायनजी अमेरिका चले गए। तब तक मैं 'दिनमान' का कला-स्तंभ नियमित रूप से लिखने लगा था और कलाकारों के साथ मेरा बहुत समय बीतने लगा था, उनके स्टूडियो में, घरों में, प्रदर्शनियों में, कॉफी हाउस में, और त्रिवेणी कला संगम जैसे अड्डों में, जहां शामों को लेखक-कवि-चित्रकार रंगकर्मी सभी तो इकट्ठा होते थे।

अंबादासजी के यहां भी कभी-कभी जाने लगा था। और कनाट प्लेस में कॉफी हाउस में, धूमिल गैलरी में, श्रीकांत वर्मा के यहां भी उनसे भेंट हो जाती थी। उनके व्यक्तित्व की मृदुता, उनकी अपनी ही तरह की मौलिक विचारशीलता, और कला पर होने वाली चर्चा बहुत आकर्षित करती थी। हम लोगों के प्रति उनका स्नेह भी गहरा, आत्मीय लगता था। वे मेरे बहुत कुछ जानने-सीखने के दिन भी थे। और मैं ठीक ही अपने को भाग्यशाली मानता था कि अंबादासजी, स्वामीनाथन, हिम्मत शाह जैसे कलाकारों की निकटता मुझे सहज ही सुलभ हो गई है। रामकुमारजी से परिचय पुराना था। वह 1962 में कलकत्ता आए थे। और मैंने उनके साथ कलकत्ता में एक सप्ताह बिताया था। मेरी कहानियां उन्होंने 'कल्पना' 'कहानी' 'सारिका' (जो तब निकली ही थी) पढ़ रखी थीं। और परिचय-सूत्र वे कहानियां ही बनी थीं। हम लोग अशोक सेकसरिया, मेरे बड़े भाई कहानीकार रामनारायण शुक्ल तो रामकुमारजी की कहानियों के घनघोर प्रशंसक थे। हम जानते थे कि वे महत्वपूर्ण चित्रकार भी हैं, और इस नाते उनकी ख्याति भी है, पर, तब तक उनके चित्रकार-रूप का पूरा परिचय हम लोगों को मिला नहीं था। बहरहाल हैदराबाद से दिल्ली पहुंचने पर यह जो कलाकारों की दुनिया में मेरा प्रवेश हुआ था वह मुझे सहज ही रोमांचित करता था। अंबादासजी से हम लोगों की निकटता और अधिक बढ़े, इसमें एक शाम श्रीकांत वर्मा के यहां हुई एक पार्टी ने भी अपना योग दिया। उस शाम वहां मधु लिमये, टाइम्स ऑफ इंडिया के संपादक शामलाल, स्वामीनाथन, निर्मल वर्मा, अंबादास सहित कई लोग थे। हम कुछ युवा लोग भी थे कमलेश, अशोक सेकसरिया, जितेन्द्र कुमार। कई तरह की बातें हो रही थीं, सहसा एक बहस ने गंभीर रूप ले लिया, और निर्मल वर्मा और अंबादास उसमें उलझ गए। बहस का पूरा प्रसंग भूल गया हूं, पर, इतना अच्छी तरह याद है कि निर्मल ने कुछ ऐसा कह दिया कि अंबादास अवसाद-ग्रस्त से हो गए। बहस में सहसा जितेन्द्र ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया, और अंबादास का पक्ष लेकर उन्होंने निर्मल को कुछ खरी बातें भी सुनाईं। अंबादासजी को अपने विचार रखते हुए एक जोश तो होता था पर शालीनता और मृदुता उस जोश का पल्ला छोड़ने नहीं थे, सो, हम लोग इससे दुःखी हुए कि अंबादासजी दुःखी हो गए हैं। उन्होंने हमारी सह-अनुभूति पहचान ली, और मानों उसकी प्रतीति ने उन्हें कुछ तसल्ली दी, हमें तो इसकी तसल्ली हुई ही। अनंतर हमें दिल्ली में, भोपाल में, लेखकों-कवियों, कलाकारों, रंगकर्मियों की ऐसी बहुत-सी विचारोत्तेजक, और चर्चा में एक-दूसरे को 'घायल' कर देने वाली बहसें देखने सुनने को मिलीं, और हम यह जान सकें कि वे धारदार बहसें, अगली सुबह 'सुलह' का रूप ले लेती थीं, या 'शांत' होकर एक-दूसरे को अगली बैठक के लिए तैयार कर लेती थीं। पर, तब की बात और थी। और हमें लगा था कि मानों निर्मल और अंबादासजी की बातचीत हमेशा के लिए बंद हो जाएगी!

अंबादासजी से मेरी निकटता इसलिए भी हुई कि वह मुझे हमेशा एक सौंदर्य-प्रिय व्यक्ति लगे। उनका पहनावा, उनकी रुचियां, उनकी चर्चा, सबमें मानो एक सौंदर्य-बोध टपकता था, और ज्यों-ज्यों मैं उनके अमूर्तन से, उनके सम्मोहक चित्रों से परिचित होने लगा, मैं उनका और अधिक भावक/प्रशंसक बनता गया। वह स्वामीनाथन के अभिन्न मित्र थे, और जब मैं भी स्वामी की

मित्र-मंडली में एक अनुज की तरह शामिल हो गया, और पाया कि स्वामी स्वयं अंबादास की कला के घोर प्रशंसक और आत्मीय 'व्याख्याता' हैं, तो अंबादासजी के प्रति मेरा और अधिक झुकाव होना स्वाभाविक था। मैं अकसर उन दोनों के बीच होने वाली बातचीत को ध्यान से सुनता था। अंबादासजी जब कोई बात कहते थे तो पूरी तल्लीनता से, उसमें डूबे हुए, और एक ऊर्जा के साथ ही।

याद है लेखक-कवियों-कलाकारों की एक सभा में अंबादासजी की बातें सुनकर, 'अज्ञेय' ने कहा था : 'मैंने अंबादासजी की बातें सुनी और देखी भी'। हां, अंबादास कुछ उत्तेजित होने पर, यानी चर्चा के ताप से भरकर, पूरे हाव-भाव के साथ बोलते थे पर, ज्यादातर उन्हें कम बोलना या चुप रहना ही अच्छा लगता था।

यह सब भी याद आता रहा जब मैं अंबादासजी के साथ ऑस्ट्रो में उनके फ्लैट में बैठा था उस शाम। इस फ्लैट में वह कुछ समय पहले आए थे। इससे पहले वह हेगे के माता-पिता की एक ऐसी संपत्ति में रहते थे जो जगह के मामले में बड़ी थी, और जहां हेगे ने बताया कि, अंबादासजी और उन्होंने मिलकर कई सांस्कृतिक संध्याएं आयोजित की थीं : विशेष रूप से भारत से नार्वे आने वाले कई नृत्यकारों, संगीतकारों की। इनमें अमजद अली खां, और सोनल मानसिंह जैसे लोग शामिल रहे हैं। हेगे ने यह भी बताया कि अंबादासजी नई जगह में पेंट नहीं कर पा रहे। अंबादासजी यह सब सुनते हुए मुस्कराते रहे। हेगे से मैत्री और अनंतर विवाह के बाद अंबादासजी नार्वे पहुंचे थे, और जिस शाम की बात मैं कर रहा हूं, उससे कोई चालीस वर्ष से अधिक पहले वह नार्वे आ गए थे पर, भारत प्रायः हर वर्ष आते रहते थे। सो, भारत से रिश्ता हर तरह से कायम रहा।

उस शाम हमारी बातचीत चलती रही। उसी के बीच हेगे ने फिर एक बार वर्षिता की नार्वेजियन सीख लेने की तारीफ की, और बोली 'आंबादास ने इतने वर्षों में बिलकुल नहीं सीखी। सीख लेते तो कितना अच्छा होता।' सुनकर अंबादासजी मुस्कराये थोड़ी देर चुप रहे, फिर बोले धीरे से, 'मैं तो भाषा को ही हटाने की चेष्टा करता रहा हूं।' हेगे थोड़ी दूर थीं। मैंने कहा, 'हेगे, अभी-अभी अंबादास ने एक बड़े मर्म की बात कही है, अपने काम के संदर्भ में।' अंग्रेजी में अंबादास के कथन का जब अनुवाद किया, और उसे लेकर कुछ और चर्चा की तो हेगे थोड़ा उत्सुक सी हुई, और एक सराहना की दृष्टि से उन्होंने अंबादास की ओर देखा। अंबादासजी का जैसा 'अमूर्तन' है, कृतियों में, उसे याद करते हुए मैं उनके कथन का आशय समझ रहा था। हमें किसी भी चीज का एक बोध शब्दों के साथ होता है, भाषा के साथ; पर, कुछ 'बोध' ऐसे भी होते हैं, जिनमें भाषा पीछे छूट जाती है। चित्रकला के संदर्भ में ऐसा होना बिलकुल स्वाभाविक है, और इसे तो उस माध्यम की एक विशेषता भी मान सकते हैं। अंबादासजी की कृतियों में रंग कुछ उस तरह फट से जाते हैं, जैसे दूध फट जाता है, और वे सर्पिल सी गतियों में पूरे चित्र-स्पेस में बिखरते जाते हैं, कुछ उस तरह भी जैसे पानी में पेट्रोल घुल-मिल जाने पर हम कुछ रंग-रूपाकार देखते हैं। उनके चित्र प्राय, किसी एक रंग में होते हैं, मोनोक्रोम में, और उनमें सफेद रूपाकारों की भी एक भूमिका रहती है।

जैसे अनार के दानों से कुछ और बड़े दाने इधर-उधर बिखर जाएं, या जैसे किसी सूखे तने के टुकड़े बारिश में भीगकर काष्ठ-खंडों के रूप में भूमि पर छितर जाएं, या जैसे सर्पिल गति वाले जीव-जगत में एक हलचल-सी मच जाए, जैसे ऐसे ही बहुत-से साम्य, सादृश्य, या उपमा-रूप गिनाए जा सकते हैं; अंबादास के चित्रों के सिलसिले में, पर, नहीं उनके चित्र, उनके रूपाकार ये सब नहीं हैं। इनका चित्रण नहीं है। वे तो अपने आप में कुछ ऐसे रंग-रूपाकार हैं, जो हमें एक

सौंदर्य-बोध से आप्लावित करते हैं। कई प्रकार की भाव-स्थितियों से जोड़ते हैं। अपने आप में कोई/कई जीवन-मर्म छिपाए हुए हैं। उनकी भाव-गतियां हमें मोहती हैं। अंतर में उतरती हैं। यह अमूर्तन है भी और नहीं भी है। ये रंग-रूपाकार कुछ ऐसा सजीव कर रहे हैं, जिसका बोध मात्र हमें आनंद देता है, कभी अवसाद, कभी करूणा से भरता है। हम उनके चित्रों के आगे ठिठकते-ठहरते हैं। वे कोई 'बीज'-रूप हैं, जिनके मर्म, अर्थ-आशय हमें खोजने हैं। बार-बार खोजने हैं क्योंकि वे ऐसा करने के लिए ही हमें बार-बार प्रेरित करते हैं। उनका उनके चित्रों का जीवन गतिवान है, कहीं ठहरता नहीं है।

हां ऑस्लो की वह शाम अनोखी थी, वैसे ही जैसे अंबादास के साथ कभी भी बिताए हुए क्षण अनोखे होते थे। एक बार फिर यह बात भी उस शाम याद आई थी कि अंबादास के पिता अपने बाग-बगीचों में काफी समय बिताते थे। शायद उन्हें ठेके पर लेते-देते थे। छुटपन से ही मराठी भाषी अकोला के अंबादास का प्रकृति से, उसके उपादानों से गहरा परिचय हुआ था। फलों, पक्षियों, जीवन-जंतुओं की दुनिया उन्होंने निकट से देखी जानी थी। बचपन में पड़े इनके रंग-रूपों के प्रभाव को स्वीकारा था अंबादास ने एक बार मुझे दिए गए अपने साक्षात्कार में। और तथ्य यह भी कि एक बार साधु-प्रवृत्ति के अंबादास सचमुच किसी साधु की तरह (पर, साधुओं वाले भेष में नहीं) वर्मा के, म्यांमार के वनों तक भटके थे। जो भी हो, उनके चित्रों का जीवन अपूर्व है। अपनी तरह का है। मौलिक है। वह पश्चिम की चित्रशैली से प्रेरित नहीं है। उसकी अपनी शैली है। उनकी अपनी चित्रभाषा है।

2009 की यात्रा में हम अंबादास के साथ कई संग्रहालयों में गए थे। घर-बाहर उनके साथ भोजन किया था। खूब बातें भी की थीं। स्वामीनाथन की याद की थी। 'ग्रुप 1890' के सदस्यों की चर्चा की थी, जिसके एक सदस्य वह भी रहे थे। और 1963 में जिसकी प्रदर्शनी का उद्घाटन तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने किया था। प्रदर्शनी के कैटलॉग के लिए टिप्पणी लिखी थी, मेक्सिकी कवि, कला-चिंतक, राजनयिक ओक्ताविओ पॉज ने (जिन्हें अनंतर साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला) जो उस वक्त भारत में मेक्सिको के राजदूत थे, और स्वामीनाथन के मित्र बन गए थे। ग्रुप के सदस्यों के भी आत्मीय।

इसके दो-तीन वर्षों बाद फिर ऑस्लो जाना हुआ। इस बार मेरी पत्नी ज्योति साथ थी। हम हेगे के साथ ठहरे उसी फ्लैट में जहां मैं और मेरी बेटी 2009 में अंबादास से मिले थे। पर, इस बार अंबादास नहीं थे। उनका देहांत कुछ अरसा पहले हो चुका था। हेगे एक सुबह हमें वहां ले गईं, जहां अंबादास का शरीर माटी को विसर्जित हुआ। वहां कोई समाधि-लेख नहीं था। कुछ फूल और नन्हें पौधे अपने आप उग आए थे। मैंने हेगे से कहा, 'बस अंबादासजी के नाम की एक पट्टिका लग जाए। और चाहे वह भी न लगे। इसी तरह फूल-पौधे यहां उगते रहें।' वह मुस्कराई।

इस यात्रा में हम अंबादास की बेटी कंचन को भी मिले। उसके दोनों बेटों से भी, जो अभी छोटे ही हैं। जिस दिन हमें लौटना था, हम सामान के साथ नीचे उतरे। हेगे साथ थीं। सहसा, ज्योति के मुंह से निकला, 'अच्छा, अंबादासजी...' जैसे वह वहीं हों, और हम उनसे विदा ले रहे हों। हेगे ने कुछ प्रसन्न होकर हम दोनों की ओर देखा, और हम तीनों उनकी कार की ओर चले, जिसे हेगे ही चलाने वाली थीं।



एक बीहड़ कला-यात्रा

हरिपाल त्यागी

अपने व्यक्तित्व और कृतित्व में सबसे अलग और विलक्षण भाऊ समर्थ के नाम से मेरा परिचय बहुत पुराना था। हिंदी-मराठी की पत्र-पत्रिकाओं में उसके रेखा-चित्र अकसर देखने में आ जाते थे। मैं ही नहीं, हिंदी-मराठी साहित्यिक समाज के ज्यादातर लोग इस नाम से परिचित थे। हालांकि, उसके बहुआयामी व्यक्तित्व के आगे यह परिचय भी आधा-अधूरा ही था। धीरे-धीरे ही उसके क्रिया-कलापों का पता लोगों को हो पाया। चित्रकला के लिए उसका समर्पण और जुझारूपन तो लोगों के लिए स्पष्ट था, लेकिन उसके सामाजिक सरोकारों, साहित्यिक रुझानों, न्याय के पक्ष में सक्रिय संघर्षों आदि के बारे में अपेक्षातया कम ही लोग जानते थे- अवश्य ही वह एक जागरूक संवेदनशील इनसान था। एक चिंतक-विचारक और उसके स्वयं साहित्यकार और ओजस्वी वक्ता होने के बारे में मुझे बहुत बाद में मालूम हो पाया। वह लोगों के दिलो दिमाग में अपनी जगह बना लेने वाला और चिरकाल तक याद किए जाने वाला सच्चा और स्वाभिमानी इनसान था। शायद इन्हीं कारणों से मेरे मन में उससे मिलने और बातचीत करने की इच्छा जागने लगी थी।

इसी इच्छा को भड़काने का काम किया बाबा नागार्जुन ने, जो स्वयं 'यात्री' नाम से ख्यात थे। अपनी बांग्ला कविताएं बाबा ने 'यात्री' उपनाम से ही रचीं। उन दिनों वे भाऊ समर्थ के साथ नागपुर में थे। 25 दिसंबर, 1988 के दो-तीन बाद भाऊ का एक पत्र मुझे मिला था, उसी की पीठ पर नागार्जुन द्वारा भी कुछ शब्द टांके गए थे : 'महाप्रभु ईसा मसीह की स्मृति में सिर झुकाए हम तुम्हें याद कर रहे हैं।' भाऊ के शब्दों में भी बुझे बुलाने का आग्रह था।

पत्र तो मिला, लेकिन तुरत-फुरत जाना संभव न था। यों यात्रा-प्रिय मैं खुद भी था, लेकिन 'यात्री' के सामने मेरी अपनी यात्रा-प्रियता कहीं टिक नहीं पाती थी। कोई न कोई झमेला पैरों को जकड़ लेता और यात्रा 'फिर कभी' पर टल जाती थी। उस बार भी कुछ ऐसा ही रहा होगा, कारण अब याद नहीं है। बाबा नागपुर से दिल्ली लौट आए। मेरा निकलना हो नहीं पाया। नागपुर में बाबा को भाऊ द्वारा भेंट किया गया श्रीखंड हमने दिल्ली में मिल-बांटकर खाया। साथ ही नागा बाबा की नागपुर यात्रा को भी मिल-बांटकर जी लिया।

चलिए, नागपुर जाना तो टल गया, लेकिन पत्राचार जोर से शुरू हो गया। भाऊ बहुत साफ अक्षरों में कार्ड या अंतर्देशीय लिख भेजता-उनमें इबारत के साथ कभी कोई रेखांकन भी होता। मराठी हिंदी में वर्तनी की गलतियां तो रहेंगी ही- वे भाऊ के पत्रों में भी दिखाई दे जाती थीं, लेकिन इतनी-सी

बात से भावात्मक ऊर्जा में कभी-कभी नहीं आई बल्कि, इसके विपरीत, पता नहीं कब किस झोंक में मैंने नागपुर जाकर भाऊ से मिलने का प्रोग्राम बना ही जो लिया। न सिर्फ प्रोग्राम बनाया, बल्कि उसे अमल में लाने का निश्चय भी कर डाला। निश्चय की दृढ़ता के लिए पलस्तर की जरूरत थी- यह जरूरत भाऊ की दो पुस्तकों ने पूरी कर दी। नई दिल्ली में आयोजित पुस्तक-मेले से भाऊ समर्थ द्वारा लिखित 'चित्रकला और समाज' तथा 'मिस्सी' पुस्तकें खरीदी थीं। उन्हें पढ़ने के बाद लेखक-कलाकार से मिलने का निश्चय पक्का हो गया।

'चित्रकला और समाज' के दो लेखों, जो मूलतः हिंदी में लिखे गए थे, को छोड़ शेष सभी आलेख मराठी में लिखे गए थे। ऊषा वैरागकर आठले ने उनका अनुवाद हिंदी में करके 'चित्रकला और समाज' को पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया। 'मिस्सी' भाऊ की आत्मकथा है, जिससे भाऊ के जीवन से संबंधित कई अनजाने पहलू सामने आए, साथ ही जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण का पता भी चला। अन्याय से टकरा जाने का उसका साहस सामने आ पाया- कहना न होगा कि उसके रेखांकनों, (पेंटिंग्स नहीं) मुझे लिखे गए पत्रों, उस दौर में पढ़ी हुई उसकी किताबों और उसके संबंध में हुई आपसी चर्चाओं ने मिलकर मेरा मानसिक वातावरण बनाने में मदद की और मन में उससे मिलने की ललक बढ़ाई। लिहाजा मैंने अपने नागपुर पहुंचने की सूचना भाऊ को भी दे दी।

गाड़ी प्लेटफार्म पर आकर लगी तो उस वक्त सुबह के पांच बजने को थे। स्टेशन से बाहर आकर रिक्शा किया सीताबर्डी के लिए।

'सीताबर्डी में किदर जाने का सा'ब,' रिक्शावाले ने पूछा।

टेकरी गली ज्यादा दूर नहीं थी। एक सज्जन शायद लघुशंका के लिए नाली पर बैठने वाले थे, उसी से भाऊ के घर का पता मालूम करना चाहा। वह कुछ बोल भी न पाया था कि रिक्शा सामने की गली में घुसा और फिर दो मिनट बाद ही भाऊ का घर आ गया। नेमप्लेट इतनी छोटी कि उस पर नजर ही नहीं गई। वैसे भी उजाला अभी हुआ नहीं था। मैंने रूमाल से चश्मा साफ किया। दरवाजे पर भीतर कुंडी नहीं चढ़ाई गई थी, मेरा जरा-सा हाथ लगाते ही पूरा खुल गया। अब मैं एक बरामदे में था, जहां एक स्कूटर भी खड़ा था। दीवार से सटाकर कुछ कैनवास उल्टाकर रखे गए थे- लगा, उनकी देख-रेख में लापरवाही बरतने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई थी। उन पर धूल की परत उस समय दिखाई नहीं दी। खिड़की के साथ दीवार पर एक महंत टाइप आदमी का शीशे में मढ़ा हुआ फोटो टंगा है- लंबे जटाजूट, रोली-चंदन से लिपा-पुता माथा, गले में रुद्राक्ष की मालाएं, सामने ६ लूप-दीप-नैवेद्य, फूल और फल! भाऊ जैसे व्यक्ति के घर यह फोटो देखकर मुझे अजीब लगा। बाद में, पूछने पर मालूम हुआ कि यह फोटो उसकी दिवंगता पत्नी के गुरु महाराज का है, जो उन्हें तबला वादन की शिक्षा देते थे। दिवंगता की स्मृति को सम्मान देने के लिए ही गुरुजी का फोटो यहां टंगा था। उस पर गेंदे के फूलों की माला तो थी, लेकिन फूल सूखकर कभी के खंखाड़ हो चुके हैं।

मैंने कमरे में प्रवेश किया। भाऊ एक ऊंचे पलंग पर सो रहा था। मैं बेंत के बुने एक सोफे पर बैठ गया। सामने पतली-सी मेज। सोफे के साथ ही दोनों कुर्सियों पर अनाज की बोरियां लदी थीं। मेरा ध्यान दीवारों पर कतार में टंगे कैनवासों पर गया, लेकिन ठीक से देखने के लिए थोड़ी-सी रौशनी जरूरी थी। लेकिन, सामने की दीवार पर जो बदनुमा परदा टंगा है, इसकी यहां क्या तुक है? इस पर यह नीला रंग क्यों पोता गया? प्रश्न दिमाग में उठे तो जरूर, लेकिन भाऊ सो रहा था।

बीच-बीच में नाक बजने लगती थी। परदे पर धूसर रंग के दाग-धब्बे हैं- किस लिए? और परदा ही क्यों, दीवार में भी गड़बड़ लग रही थी। यह जानकारी मुझे भाऊ से बाद में मिली कि एक मोटी दरार दीवार को चीरते हुए आर-पार निकल गई है, उसे ढकने के लिए ही इस नीलपट को उपयोग में लाया गया है! मुझे लगा कि नीलपट को भी ढकना जरूरी है- कुछ इस तरह कि कलात्मकता का बोध हो। इस परदे का भेद भी भाऊ ने ही बताया- असल में, वर्षों पहले भाऊ ने एक बड़ा कैनवास तैयार करने के लिए इस पर यह रंग-लेपन किया था, पर बात बन नहीं पाई और ऊब के कारण काम रोकना पड़ गया। अब वही परदा आंख के सामने है। हालांकि इसने घर की उदासी को और गाढ़ा कर दिया है, लेकिन यही तो समकालीनता का मूल भाव है। भाऊ ने बातचीत के दौरान बताया कि समकालीन आधुनिक कला में अच्छा-बुरा कुछ नहीं होता- कला है तो ठीक, नहीं है तो नहीं ही है। धीरे-धीरे यह भेद भी प्रकट हुआ कि घर की यह दुर्दशा और आर्थिक अभाव किसी की दया के मुहताज नहीं है, क्योंकि भाऊ समर्थ एक खुद्दार व्यक्ति का नाम है।

अचरज में हूं कि भाऊ इस थोड़ी-सी जगह में पेंटिंग कैसे करता होगा! किसी भी सूरत में यह जगह कला-कार्य के अनुकूल नहीं है। लगता है, जगह के हिसाब से भाऊ का ही अनुकूलन हो गया है।

ऐसी कौन-सी मजबूरी रही होगी कि पैंतीस वर्षों का अथक श्रम भी उसे एक ठीक-ठाक मकान नहीं दिला पाया? वह क्या कारण है कि उसे किराया चुकाने पर भी इन अँधेरी सुरंगनुमा कोठरियों में रहना पड़ रहा है? मालिक मकान लगातार घर खाली करने का दबाव बना रहा है, जबकि दीवारों का भरोसा नहीं कि वे कब से कब्र में बदल दें।

पीछे के तरफ एक दरवाजा रसोई में जाने के लिए है। रसोई में खटर-पटर शुरू हो गई है। रसोई का रास्ता तंग गैलरी से होकर जाता है। यही रास्ता आगे जाकर संडास और गुसलखाने को जोड़ता है। गैलरी में, पिछला दरवाजा क्रॉस करते ही, टिन का एक बड़ा संदूक है। साथ ही किताबों वाली अलमारी भी, जिसके निचले खाने में कपड़े हैं। दीवार पर दो फुटा आईना और उसके नीचे कॉर्निस पर तेल-फुलेल-कंधे।

भाऊ समर्थ की बड़ी बेटी हेमा रसोई में चाय की तैयारी में है। उम्र चालीस से कुछ ऊपर। आदिवासी पति से तलाक का मुकदमा चल रहा है- मूड ठीक नहीं रहता। चेहरे पर तनाव जमा हुआ- भावहीन पथराया हुआ चेहरा। भाऊ के लिए सात तक खाना तैयार कर चुकने के बाद मोना को स्कूल के लिए तैयार करना पड़ता है। उसके बाद लंबा फासला तय करके अपने दफ्तर। आठ घंटे की ड्यूटी के बाद घर वापसी। तीन घंटे तो आने-जाने में ही निकल जाते हैं। शाम को फिर रसोई की चिंता- अपने लिए उसका कोई समय नहीं है।

शाम को भाऊ अकसर शहर में घूमने निकल जाता है। उसके देर रात गए लौटने पर शिकवे-शिकायतों का अंदाजा सिर्फ चेहरे से ही लग पाता है। शब्द शायद बहुत पहले ही अर्थहीन और बेअसर हो चुके हैं। सुबह पांच से लेकर रात दस-ग्यारह तक सिर्फ काम-काम और काम- यही हेमा की दिनचर्या है।

गोल चेहरे वाली नन्हीं कबूतरी मोना, भाऊ की नातिन, कक्षा सात की छात्रा थी। उम्र दस-ग्यारह के आस-पास रही होगी। भाऊ का बहुत ख्याल रखती थी। वह भाऊ को डांट भी सकती थी।

भाऊ अब भी सो रहा था। बासठ साला यह आदमी सोते हुए किसी बच्चे जैसी झलक मारता लगा। मोना मेरे पास बैठी बतियाने लगी थी। मैंने अपने सूटकेस की जेब से एक पैन निकाल कर उसे भेंट किया तो वह खुशी से चहकने लगी, अबकी बार वह इसी पैन से एग्जाम देगी। उसने मराठी में कुछ कहा तो मैं उसका मुंह ताकता रह गया। मेरी मजबूरी को भांपकर वह मुझे मराठी सिखाने का वायदा करने लगी- अब्बी से शुरूआत हो सकती थी, लेकिन अभी तो उसे स्कूल के लिए निकलना है और फिर अगले महीने एग्जाम भी है न।

भाऊ सुबह दस तक सोता है। रात में देर तक काम करना पड़ता है- कभी-कभी पूरी रात भी जागना पड़ जाता है। लेकिन, मेरी उपस्थिति से उसे जल्दी उठना पड़ गया। कुछ औपचारिक बातें हुईं- घर-परिवार और नागा बाबा के हाल-चाल, काम-काज से संबंधित बातें और फिर कला-चर्चा!.. लेकिन ठहरिये, अभी कुछ देर आराम जरूरी है- सफर की थकान मिटनी चाहिए... वह पलंग से उठकर खड़ा हो गया और मुझे पलंग पर आने को कहकर अपने लिए फर्श पर चटाई बिछाने लगा। मैंने मना किया, लेकिन वह सुनने वाला कहां था!

दिन का उजाला बाहर फैल चुका होगा, पर कमरे में इसका पता कैसे चले- कुछ अँधेरा तो यहां भरी दुपहरी में भी रहता होगा- मैं यही अनुमान लगा रहा था।

एक उचंग ही थी, जिसने हमें सोने नहीं दिया- 'आप-आप से शुरू होकर 'तुम-तुम' पर आने में देर नहीं लगी। भाऊ स्वयं भी एक वचन में बोलना-बतियाना पसंद करता था। हम तो यों भी वर्षों से एक ही राह के मुसाफिर थे- समांतर धारा के सहयात्री।

दिल्ली से अपनी और भीमसेन त्यागी की साझा किताब 'आदमी से आदमी तक' साथ ले गया था। एक रॉटरिंग पैन और उसकी इंक के अलावा 'गीत गोविंद' तथा नागपुर के लिए प्रस्थान से पहले नेपाल-यात्रा के दौरान खरीदे गए सिगरेट के दो पैकेट भी मैं भाऊ के लिए ले गया था। ये चीजें जब उसे देने लगा, तो झट से मोना ने हाथ पकड़ लिया, 'नई, ये सिगरेट नई चलेगा, डॉक्टर ने मना किया है। नाना को ब्रोंकाइटिस है।'

भाऊ ने हाथ बढ़ाकर सब कुछ ग्रहण किया। मेरे मना करने पर भी सिगरेट सुलगा ही जो ली, फिर देर तक 'आदमी से आदमी तक' को उलटता-पलटता रहा।

'अच्छी किताब है', उसने कहा, 'भीमसेनजी को मेरी तरफ से बधाई जरूर देना... लेकिन दिल्ली लौटने से पहले जबलपुर जरूर जाओ- वहां ज्ञानरंजन तुमने मिलकर बहुत खुश होंगे... परसाईजी ने तो अब चारपाई ही पकड़ ली है, लेकिन कोई मिलने पहुंचता है तो उन्हें अच्छा लगता है।'

उसी दिन ज्ञान का मेरे नाम कार्ड पहुंचा।

भाऊ समर्थ के परिचय का दायरा बड़ा था- कई तरह के लोग उस में शामिल थे। आने-जाने वालों की कमी नहीं थी। छात्र-छात्राएं, अध्यापक-अध्यापिकाएं, पत्रकार-साहित्यकार, डॉक्टर और वकील से लेकर झल्लू वाले, रिक्शाचालक, कुली-मजदूर वगैरह सभी उसके परिचय क्षेत्र में शामिल थे। धनाभाव तो था, लेकिन लोगों से प्राप्त सम्मान उसकी पूंजी था और उसकी यही पूंजी बहुतांश के लिए ईर्ष्या का कारण भी थी। सरलता और आत्म सम्मान-दोनों का स्तर ऊंचा था। कवि मुक्तिबोध से संबंध गहरे और आत्मीय रहे थे और उसके व्यक्तित्व पर अवश्य ही मुक्तिबोध की छाप गहरी थी। लघु पत्रिकाओं के लिए लगातार रेखा-चित्र भेजते रहने की प्रेरणा उसे मुक्तिबोध से ही मिली

थी। यद्यपि उसकी इस सद्भावना का कुछेक संपादकों ने दुरुपयोग भी किया था और उदारता का अनुचित लाभ भी उठाया था- इसके कई साक्ष्य मेरे सामने आते रहे थे। फिर भी, उसके जीवट और जुझारूपन में कभी कमी नहीं आई।

दीवारों पर लटके उसके एब्सट्रेक्ट ऑयल्स को देखते हुए मन में कुछ कहने की इच्छा हुई थी, लेकिन तभी दो युवतियां वहां आ पहुंची। परिचय जानकर अच्छा तो लगा, लेकिन न नाम याद आ रहे हैं न ही उनके आने का कारण। इतना जरूर याद है कि थोड़ी-सी बातचीत के बाद ही भाऊ ने किसी पहुंचे हुए ज्योतिषी की तरह उनकी हस्तरेखाओं का अध्ययन किया था और जो कुछ सही-गलत वह आधे घंटे से बताता आ रहा था, उस पर मेरा यकीन भले न जम पाया हो, मगर वे युवतियां खुश थीं और उसके प्रत्येक शब्द को ब्रह्म वाक्य की तरह ले रहीं थीं। मैं सोच रहा था कि केवल स्पर्श सुख ही नहीं, मूर्ख बनने और बनाने का भी एक सुख है, जो हमारे देश में सर्वोपरि है।

बहरहाल, मैंने भी अपनी हथेली भाऊ की तरफ बढ़ा दी, लेकिन न तो गांठदार अंगुलियों में वैसी लय थी, न ही मेरे हाथ की लकीरों में। असल में, मेरी हथेली की लकीरें हड़प्पाकालीन उस इबारत की तरह हैं, जिसे आज तक कोई पढ़ नहीं पाया।

भाऊ के साथ पैदल घूमने का मजा ही और था- हम इस साथ का कोई भी पल गंवाना नहीं चाहते थे। अखबारों और साहित्यिक पत्रिकाओं में उसके व्यक्तित्व और कृतित्व से संबंधित सामग्री छपती रहती थी। उषा वैरागकर आठले, सुमित अय्यर, प्रकाश कामतीकर, उमेश चौबे, रज्जन त्रिवेदी, महावीर अग्रवाल, मनमोहिनी इत्यादि और भी कई लेखक पत्रकार थे, जिन्होंने भाऊ का मूल्यांकन करते हुए अपने विचार व्यक्त किए थे। भाऊ के पास उन लेखों और टिप्पणियों के कई रजिस्टर थे, जिन पर नजर डालने का मुझे अवसर मिला लेकिन उसके चित्रकला संबंधी कामों को लेकर मेरे मन में कई आपत्तियां भी थीं- जिन अनेक शैलियों में उसका कला-कर्म विभाजित था, वे सभी शैलियां कला-जगत में पहले से ही प्रचलित थीं और उनसे कई देशी-विदेशी नाम जुड़े थे। तकनीकी कमजोरियों के उदाहरण भी वहां नजर आ रहे थे, जिसके कारण रंग बुझे-बुझे और बेजान लगते थे। आर्थिक अभाव के चलते जिस सस्ती सामग्री का उपयोग उसे करना पड़ा उससे अच्छे परिणाम प्राप्त कर पाना संभव न था और जिस धैर्य की जरूरत एक तैल-चित्र को होती है, भाऊ में उसका अभाव था लेकिन पत्रिकाओं का पेट भरने के भूत की तरह काम करना उसके लिए जरूरी था। यह दबाव भाऊ पर शुरू से अंत तक बना रहा।

शाम को घूमते-घामते और बतियाते हुए हम 'दैनिक लोकमत' के संपादकीय विभाग में पहुंचे। वहां कई लोग मुझे नाम भर से जानते थे, मिलकर और भी प्रसन्न हुए। भाऊ का तो वे पहले से ही आदर-मान करते आए थे, लेकिन उस दिन मान-सम्मान का कुछ अंश मेरे हिस्से में भी आया। 'लोकमत' की बिल्डिंग के सामने सड़क क्रॉस करके एक रेस्त्रां में चाय-पानी के साथ छुटपुट हँसी-मजाक भी चला। भाऊ को खुला ठहाका लगाते तो नहीं देखा, फिर भी चेहरे से खुश लग रहा था- होठों के बीच विभाजन रेखा दोनों तरफ एक-एक सूत फैल गई थी और उसने चेहरे की गंभीरता में दरार डाल दी थी।

वहां से विदा लेकर हम देर तक सड़कों-बाजारों को कदमों से नापते रहे। बाजार में घूमते हुए एक साहब से अचानक मुलाकात हो गई। किसी स्थानीय कॉलेज में प्रोफेसर थे। आँखों और चेहरे

से चमक फूट रही थी। काफी मौज-मस्ती में लग रहे थे। भाऊ से बार में चलकर कुछ लेने की जिद की। खुद तो अभी-अभी टुन्न होकर बाहर निकले ही थे और पास खड़ी अपनी एंबेसडर से निकलने ही वाले थे।

भाऊ ने मेरी तरफ देखा। मुझे आपत्ति न थी। प्रोफेसर के साथ एक आदमी और भी था, जो उसका सबोर्डिनेट आज्ञाकारी लग रहा था। वह उसकी आज्ञा का पालन सिर झुकाकर करता था।

बार में आते ही व्हिस्की का आर्डर दे दिया गया। भाऊ और मैं एक खाली मेज पर जम गए। वे दोनों पहले ही तृप्त हो चुके थे। प्रोफेसर हमारी मेज के चारों ओर घूम-घूमकर नाच-गा रहा था। उसने सौ रुपये का एक नोट मेरे सिर पर वार-फेर करके भाऊ को भेंटकर दिया। भाऊ ने उसे मेरा परिचय दिया तो एक और सौ का नोट भाऊ के सिर पर घुमाकर मुझे देने लगा। मैं संकोच और दुविधा में था, लेकिन भाऊ का इशारा पाते ही मैंने भी वह नोट लेकर अपनी जेब के हवाले किया।

प्रोफेसर अब और मस्ती में आ गया था। अपने जिस्म का प्रत्येक अंग मटकते हुए वह गाए जा रहा था : 'अरे हां S S- भाऊ, रेशमी शलवार कुर्ता जाली का... कि कुर्ता... कि कुर्ता जाली का S S, अरे, रूप सहा ना जाए... सहा ना जाए- ए- ए- मुझ मतवाली का...'

मैं कुछ बेचैनी महसूस कर रहा था, लेकिन जल्दी ही इस तमाशे से राहत मिल गई- प्रोफेसर ने अपने साथी को बिल चुकाने के लिए कुछ रकम पकड़ाई, बार से नीचे उतरा और तुरंत अपनी गाड़ी खुद ड्राइव करके चला गया।

मैंने लंबी सांस छोड़ी। भाऊ ने नजरें मेरे चेहरे पर गड़ाई, 'इनके स्नेह-सम्मान का ढंग यही है', उसने कहा।

सामने रखे तरल-गरल और नमकीन पदार्थों को उदर करके हम भी बार से बाहर आए और अपने पैरों पर धड़ लादे हुए धीरे-धीरे चलते हुए 'नया खून' के दतर में जा पहुंचे, जहां उस वक्त कोई नहीं था। चौकीदार ने दफ्तर का दरवाजा खोला। भाऊ ने वह मेज-कुर्सी दिखाए, जिनका उपयोग मुक्तिबोध किया करते थे। वह बताता जा रहा था- मुझे लगा, कुर्सी में धंसे कवि मुक्तिबोध बीड़ी में सुट्टा लगाते हुए विचारमग्न हैं। वे सामने रखे कागजों पर जल्दी-जल्दी लिखते जा रहे हैं। माथे की नसें जैसे तड़कने ही वाली हों। चाय का प्याला सामने है....

'कहो, पार्टनर, कब आना हुआ? तुम्हारा स्टैंड क्या है?' लेकिन यह स्वर मेरी ही कल्पना की उपज है- व्हिस्की दिमाग पर हावी हो रही है, शायद... मैं सिर झटककर ठीक बिंदु पर आ पहुंचा, मुक्तिबोध कहां हैं- जमाना गुजर गया वह जब 'नया खून' में काम करते थे।

'बेचैनी का ही दूसरा नाम गजानन माधव मुक्तिबोध था,' भाऊ ने कहा था।

घूम-घामकर देर रात गए घर लौटे। दरवाजा खटखटाया। काफी देर बाद कुंडी खुली। एक भी शब्द बोले बिना हेमा पीछे मुड़ी और कभी का ठंडा पड़ा भात दो थालियों में परोसकर सोने चली गई। हमने सजा पाए अपराधियों की तरह बेमन से भात खाया और सो गए।

अगले दिन नागपुर की हिंदी कवयित्री श्रद्धा पराते घर पधारीं तो मिलकर अच्छा लगा- उन्होंने मेरे चित्र भी हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में देखे थे। आज ही रात को मुझे जबलपुर के लिए बस पकड़नी थी। बस अड्डा श्रद्धा के घर से दूर नहीं था। श्रद्धा पराते ने उस शाम को अपने घर पर भोजन के लिए निमंत्रित किया और उसी समय यह भी तय हो गया कि भाऊ मुझे लेकर श्रद्धा के घर पहुंचेगा।

खाना हम दोनों वहीं ग्रहण करेंगे। फिर भाऊ तो अपने घर वापस चला जाएगा और श्रद्धा के घर का नौकर मुझे जबलपुर वाली बस में बैठा जाएगा। भाऊ खुद पहुंचाने के लिए बस अड्डे तक नहीं जा पाएगा। असल में, किसी आत्मीय व्यक्ति को ट्रेन या बस में बैठाकर अलग होते ही उसकी रुलाई फूट पड़ती है। किसी भी सार्वजनिक स्थान पर खुद तमाशा बनने से वह बचना चाहता था।

बहरहाल, यह प्रोग्राम तय होते ही श्रद्धा तो वापस अपने घर चली गई, लेकिन भाऊ ने कैनवास पर काम करने की तैयारी शुरू कर दी। कैनवास छोटा ही था, फिर भी घर में आने-जाने का रास्ता रुक गया। मेरा सिर नींद से झूलने लगा, लेकिन मैं उसे काम करते देखना भी चाहता था। सोचा, मैं खुद भी क्यों न एक-दो रेखा-चित्र ही बना डालूं। कमरे के कोने में, संदूक वाली गैलरी के नजदीक उसने दीवार से सटाकर कैनवास को टेढ़ा जमाकर खड़ा कर दिया। रंग और रेखाएं अमूर्त आकार लेने लगे। मैं और मोना उसे काम करते देख रहे थे। एक घंटा काम करने के बाद उसने रंग समेटने शुरू भी कर दिए, जबकि चित्र में करने को अभी बहुत कुछ था। रंग समेटने में मोना ने भी सहयोग किया। चित्र पूरा कहां हो पाया था कि मैं कुछ कह पाता। अभी कुछ भी कह पाना ठीक न था। लेकिन मोना कब मानने वाली थी। 'नाना तुम्हारा यह चित्र मुझे कुछ जमा नहीं- ये कॉफी कलर क्यों लगा दिया?'

शाम की विदाई से पहले हेमा और उसकी बिटिया से देर तक बातें हुईं। हेमा मेरे लिए बाजार से श्रीखंड लाई थी। उसका कठोर और भावहीन चेहरा द्रवित हो चला था- मैंने वहां पत्थर के पिघलने की कहावत को अपनी आंख के सामने घटते देखा।

हेमा ने कहा, 'चाचाजी, आपसे बातचीत का तो समय ही नहीं निकाल पाई- क्या सोचते होंगे आप भी... बात यह है कि..' इसके आगे वह बोल ही नहीं पाई.... शब्द जैसे किसी जाम में फंस गए हों? मैं सोच रहा था, 'कुछ तकलीफें अनकहीं हैं, तो कुछ ऐसी भी हैं, जो सदियों से आसमान में मंडरा रही हैं और आज भी रचनाकारों के लिए चुनौती बनी हुई हैं- कौन है वह, जो आसमान को खंगाल पाएगा और उन दुःख-दर्दों को समझ पाएगा।' मेरी आँखें भी भर आने को हैं- हेमा के चेहरे से नजर हटाकर मैं दीवार पर लटके भाऊ के ऑयल्स देखने लगा था...

लीजिए, मोना ने मराठी की पहली किताब बाजार से खरीदकर मुझे भेंट की है। मेरी उस नन्हीं शिक्षिका ने विदाई के समय कुछ उपदेश भी दिए थे, जो मैं आज तक भी भूल नहीं पाया।

'अबकी बार जब आप यहां आएंगे तो यह किताब आपको जबानी याद होनी चाहिए... अरे, यह तो आप रास्ते में जाते-जाते भी सीख लेंगे, नाना।' उसने कहा था।

मैंने अपना सूटकेस संभाल लिया और भाऊ के मोपेड पर बैठ गया। हेमा और मोना- दोनों हाथ मिलाकर विदा कर रही थीं, 'अगली छुट्टियों में जरूर आइएगा, चाचाजी...।'

हेमा का स्वर मोपेड की घर्-घर् में साफ सुना जा रहा था...।



चित्रकार रजा को याद करते हुए

वाजदा खान

क्या लिखूं परम श्रद्धेय रजा साहब पर, न केवल देश के वरन विश्व के महानतम चित्रकारों में शुमार। कैसा अमा पाएगा उनका औरा (Aura) इस तुच्छ सी लेखनी में, जिनके चित्रों को बचपन से देखते, सुनते, गुनते, पढ़ते बड़े हुए हैं हम। उनकी कला के प्रति दीवानगी, समर्पण और एकाग्रता हमारे जैसे नए कलाकारों के प्रेरणा स्रोत बनती रही है। बेहद शांत, सौम्य, निर्दोष, आध्यात्मिक गरिमा से युक्त चेहरा। उसी तरह उनके चित्र भी।

मुझे याद है जब पहली बार मैंने उन्हें धूमिल आर्ट गैलरी में देखा था। संभवतः 2006 या 2007 की बात है ये। इंदौर के वरिष्ठ चित्रकार परवेज अहमदजी ने उनसे मिलवाया, मैं तो मानो मूक हो गयी उन्हें सामने देखकर। इतना महान और मशहूर चित्रकार जिनके बारे में अभी तक केवल पढ़ा, सुना था। आज उन्हें प्रत्यक्ष देख पा रही हूं, एकदम ख्वाब जैसा लग रहा था ये। उनका औरा (Aura) इतना प्रभावशाली था कि इक अल्फाज तक मेरे मुंह से न निकल सका। अलबत्ता वो अपनी सौम्यता व सहजता से बोले 'हमारे देश में अभी खूबसूरती और मासूमियत बाकी है।' पर मैं तो जैसे वहां होकर भी वहां नहीं थी। ये था एक महान और सच्चे कलाकार से मिलने का सम्मोहन।

वह मेरा दिल्ली का शुरुआती दौर था। उस वक्त विशाल दिल्ली की हर चीज मुझे सहमा देती थी। उस दिन भी इतना सहम गयी कि उनसे ये कहने की भी हिम्मत नहीं जुटा सकी कि 'सर आपसे मिलना चाहती हूं। आपको अपने चित्र दिखाना चाहती हूं। आपसे बहुत कुछ सीखना चाहती हूं।' जिसका अफसोस मुझे हमेशा सदा सालता रहा और अपने न बोल पाने के इस दब्बूपन पर क्रोध भी आता रहा। यद्यपि वे हर साल फ्रांस से भारतवर्ष आते रहते। अपनी जड़ों को वे भूले नहीं थे।

कला को अपनी आत्मा से जानने की उत्कट ख्वाहिश से भरी मैं, उस वक्त मुझे लगता था कि मैं कला विद्या में बिलकुल शून्य फलक पर हूं। हमेशा मुझे अपने में यह एहसास बराबर सालता कि किसी सच्चे कलाकार से कला की बारीकियों को सीखने, समझने का अवसर मिलता तो ये मेरा सौभाग्य होता। रजा साहब मुझे वैसे ही सच्चे कलाकार लगते। उनके चित्रों में रंगों का ओज, सौंदर्य, संवेदनशीलता और उसका काव्यात्मक, लयात्मक प्रयोग मुझे बहुत आकर्षित करता। रंगों की दुनिया शुरू से ही मुझे बहुत चमत्कृत, सम्मोहित करती रही है। उनके चित्रों में एक रंग के असंख्य शेड्स बहुत कुछ भाव अभिव्यंजित करते, उसमें एक पूरे जीवन का फलसफा नजर आता। उनके 'बिंदु' को अपने ढंग से समझने की कोशिश करती, यद्यपि उस वक्त तक अमूर्तन आर्ट की उतनी समझ

नहीं बन पाई थी। उस वक्त तो ऐसा लगता था 'रुपाकार की निर्मित' यही आर्ट है। इसकी वजह शायद हो सकती है कि चित्रकला का अधिकतर इतिहास रुपाकार निर्मित चित्रों से भरा पड़ा है और उतने ही परंपरागत तरीके से हमें पढ़ाया भी जाता था। मगर उसके आगे भी कला का एक व्यापक अबूझा संसार है। इसी ब्रह्मांड में और हमारे मन में छुपा हुआ। जो हमें स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जाता है। ये धारणा या भ्रम तो दिल्ली आकर टूटा जब तमाम प्रसिद्ध कलाकारों के विचार पढ़े, चित्र प्रदर्शनीयां देखीं। जैसे जैसे अमूर्तन के अनुभव का दायरा बढ़ा रजा साहब के चित्रों के तमाम गहरे सूक्ष्म अर्थ कुछ-कुछ समझ में आने लगे, एक नई समझ बनने लगी कि मूर्त दुनिया की तरह अमूर्तन की दुनिया भी कितनी विराट, कितनी रहस्यमयी दुनिया है। बेहद महीन भी जिसे समझने और खुद के आत्मसात करने के लिये संपूर्ण जीवन की साधना भी कम ही है।

खैर इस बीच एक लंबा अरसा गुजर गया। फिर मुझे साल 2015 में रजा फाउंडेशन में उनके स्टूडियो में उनसे मिलने का सौभाग्य मिला। जहां वे अपनी 91 वर्ष की अवस्था में भी बैठकर चित्र बनाया करते थे। स्टूडियो में चारों तरफ उनकी पेंटिंग्स रखी हुयी थी। बीच में रखे एक ईजल पर आधा रचा कैनवास लगा था। शायद वे कोई नया चित्र रच रहे थे। एक महान कलाकार के स्टूडियो को देखना इक अलौकिक एहसास का क्षण था।

उनके तमाम चित्रों के साक्षी और उनके परम मित्र अशोक वाजपेयी साहब ने उनसे मेरा तआरूप कराया कि मैं भी चित्रकार हूं तो बहुत देर तक चित्र के बारे में पूछते, बताते रहे। अपनी कला यात्रा को याद करते हुए उन्होंने बताया कि जब वे स्कूल में पढ़ते थे तब उनका कला के प्रति रुझान देखते हुए उनके एक शिक्षक ने उनसे कहा था कि 'बिंदु पर ध्यान एकाग्र करो, जिसका अर्थ उस वक्त तो तुरंत समझ नहीं आया और उस बिंदु को समझने में मुझे 40 साल लगे।'

अपने पुराने दिनों को बराबर याद करते हुए उन्होंने और भी अपने सृजन कर्म से जुड़े तमाम अनुभवों को बताते रहे। परंतु उनकी अस्वस्थता के कारण उनकी आवाज इतनी धीमी थी कि कहीं कहीं समझने में मुझे कठिनाई हो रही थी। फिर वो स्टूडियो में सामने रखे अपने एक चित्र के बारे में बताने लगे। इसमें ये 5 वृत्त निर्मित किए हैं। ये 5 वृत्त 5 तत्वों क्रमशः अग्नि, वायु, आकाश, पृथ्वी और जल का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। जिन्हें अलग अलग रंगतों में कल्पित किया है। वे रंगों के स्वभाव, उनकी विशेषताओं के बारे में काफी कुछ देर तक बताते रहे जो मेरे लिए थाती की तरह था।

अपने फ्रांस प्रवास का भी उन्होंने जिक्र किया। फिर उन्होंने मुझसे पूछा कि आप पेरिस गयी हैं। शायद वे कहना चाहते थे कि वहां जाकर नजदीक से आर्ट को देखना, समझना, आत्मसात् करना चाहिये। उन्होंने बताया कि वे अभी भी 4-5 घंटे चित्र बनाते हैं। अभी हाल ही में उनके नए चित्रों की प्रदर्शनी वट्टेरा आर्ट गैलरी में आयोजित की गई थी। ऐसा था उनका चित्र रचने का जज्बा कि इस आयु में इतने अस्वस्थ होने के बाद भी अपनी संपूर्ण जिजीविषा के साथ कैनवास रचते।

बातचीत के दौरान बराबर वे अपनी पत्नी को याद करते रहे। तब अशोक वाजपेयी साहब ने बताया कि पत्नी की मृत्यु के पश्चात वे वहां फ्रांस में अकेले हो गए थे। वे किसी तरह उन्हें मनाकर यहां (दिल्ली) स्थायी रूप से रहने के लिये वापस लाए कि कम से कम यहां उनकी समुचित देखभाल तो हो सकेगी।

रजा साहब को उनके स्टूडियो में काम करते हुए देखना ऐतिहासिक पल की प्रतीति थी कि किस तरह वे कूची से कैनवस पर रंग लगा रहे हैं। उनकी कलर पैलेट देखना यह एक ऐसा प्रेरणादायी एहसास था, जो मेरे मानस पटल पर सदैव के लिए अंकित हो गया।

ईद के रोज मैं उनके लिए फूल लेकर गयी। अस्वस्थता के कारण वे अपने बिस्तर पर लेटे हुए थे। फूल भेंट करते हुए मैंने उन्हें ईद की मुबारकबाद दी तो वे बहुत देर तक चुपचाप देखते रहे। शायद भूल जाने की समस्या के कारण उन्हें याद नहीं आ रहा था। मैंने कहा मैं वाजदा अभी कुछ अरसा पहले ही आपसे मेरी मुलाकात हुई थी, तो बोले आज आप बहुत खूबसूरत लग रही हैं। उस दिन मैंने काले रंग का परिधान पहन रखा था। शायद काला रंग उनके प्रिय रंगों में शुमार था। फिर मुझे ध्यान आया कि मैंने प्रसिद्ध चित्रकार मनीष पुष्कले की अभी हाल ही में आई पुस्तक 'को देखता रहा' में पढ़ा था कि रजा साहब काले रंग को 'मदर कलर' मानते हैं। उनके अनुसार काले रंग से ही अन्य रंगों की शुरुआत होती है।

रंग रेखा के महान जादूगर के मुख से यह सुनना किसी वेद वाक्य से कम न था। उनकी कलाकार हथेलियों का स्पर्श जैसे मुझे बहुत सा स्नेह, आशीर्वाद और धैर्य दे गया हो। सच्चे साधक कलाकार होने की परिभाषा ऐसी ही होती होगी उनके रूप में। उनका ये स्नेह, आशीर्वाद मुझे कला के प्रति समर्पण, साधना और ईमानदारी बरतने के लिए प्रेरित करता है।

प्रत्यक्षतः यही दो चार संक्षिप्त मुलाकातें थीं जिसमें उन्हें देखने, जानने और समझने का अवसर मिला। मुलाकातों में कई बार उनकी और अशोक वाजपेयी साहब की बातों को सुनते रहना जो तमाम मुद्दों पर आधारित होती। कभी-कभी मेरा भी बातचीत में शामिल होना, मेरे भीतर जैसे बहुत कुछ विस्तारित कर गया। आर्ट को एक नजरिए से देखने, महसूस करने, सीखने और सृजन करने की प्रेरणा की शुरुआत जैसे फिर फिर से हुई हो मुझमें। और क्या लिखूं, ये तो सागर में बूंद भर लिखने जैसा है। उन्हें कोटिशः प्रणाम है मेरा। उनके चित्र, उनकी सादगी और सहजता से भरा जीवन नई पीढ़ी के लिए प्रेरणा है जिसकी ये जिम्मेदारी बनती है कि वे अपनी इस अमूल्य विरासत को और आगे बढ़ाएँ और आने वाली पीढ़ी के लिए, ताकि वे भी नए नए तमाम मौलिक आयाम गढ़ सकें।



शैलेंद्र : आजाद हिंदुस्तान के दिल की धड़कन

अरविंद कुमार

जो सफर राजकपूर के साथ 1949 में फिल्म 'बरसात' के गीत 'में बहते दरिया का पानी, मेरी जिंदगी मस्त सफर है' से शुरू हुआ, वह राजकपूर के ही साथ दिसंबर 1966 में मेरा नाम जोकर के अधूरे विवशताभरे गीत 'जीना यहां मरना यहां' से खत्म हुआ...

मुझे वह जगह और वह दिन अच्छी तरह याद है। मुंबई में कोलाबा का एक छोटा सा नर्सिंग होम। 14 दिसंबर 1964- राजकपूर का जन्मदिन। उस दिन राजकपूर की आत्मा जाती रही थी। और राजकपूर का हैरान खड़ा शरीर ताक रहा था लोककवि और फिल्म गीतकार शैलेंद्र के धरती पर रखे पार्थिव अवशेषों को। मुझे लगा जो खड़ा है और जो पड़ा है- जो है और जो चला गया है- वह एक ही है।

जो खड़ा था, वह था राजकपूर- अभिनेता। जो चला गया था, वह था- शैलेंद्र। शैलेंद्र जिसने उस भारतीयता को परिभाषित किया जिसके दरवाजे और खिड़कियां चारों दिशाओं में खुले हैं, जो सारे संसार से अपनी पसंद का और अपनी जरूरत का हर प्रभाव और हर संस्कार लेने को तैयार है, और साथ ही साथ जिसमें अपना अपनापन बनाए रखने की आंतरिक शक्ति है। इस अस्मिता को शैलेंद्र ने राजकपूर की ही फिल्म 'श्री 420' के लिए इन शब्दों में कहा था :

मेरा जूता है जापानी,
ये पतलून इंगलिस्तीनी,
सिर पे लाल टोपी रूसी,
फिर भी दिल है हिंदुस्तानी।

सच तो यह है कि यह गीत आजाद हिंदुस्तान का मैनिफेस्टो था, जो बड़े आत्मविश्वास के साथ खुली सड़क पर सीना ताने निकल पड़ा था। उस के लिए चलना जीवन की कहानी था और रुकना मौत की निशानी। वह फटेहाल था, लेकिन इस बिगड़े दिल शाहजादे की तमन्ना एक दिन सिंहासन पर जा बैठने और दुनिया को हैरान कर देने की थी...

शैलेंद्र का कथ्य था, दीन दुःखी मानवता का अपने आपको अंधेरो से निकालकर उजले जीवन की ओर सतत प्रयाण। देव आनंद की कालजयी फिल्म 'गाइड' में वह कल के अंधेरो से निकलने

की बात करते हैं। राजकपूर की आवारा का अविस्मरणीय स्वप्न दृश्य और उसके गीतों का एक एक बोल इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। चार खंडों वाली क्लासिकल सिंफनी की तरह संगीतबद्ध यह दृश्य एक ओर निर्देशक राजकपूर की दृश्य-नाट्य परिकल्पना शक्ति का परिचायक है, तो दूसरी ओर संगीतकार शंकर जयकिशन की रचनाशीलता का सबूत और गीतकार शैलेंद्र की काव्य क्षमता का। नायक राजू अपने जीवित नरक से निकलने को छटपटा रहा है। उसे जिंदगी चाहिए, बहार चाहिए..। ऊपर धुंध और बादलों के पार स्वर्ग है जहां है उसकी चाहत की राजकुमारी...। राजू की सफलता का स्वागत वह करती है लता मंगेशकर के गाए 'घर आया मेरा परदेसी' गीत से...। यही भाव जागते रहो के अंतिम दृश्य में साकार होता है जब ठुकराए ठोकर खाए प्यार से राजू को मंदिर की पुजारिन नरगिस पानी पिलाती है, और गा रही है- जागो मोहन प्यारे..।

लेकिन मेरी नजर में आवारा का सबसे महत्वपूर्ण गीत था- पतिवरता सीता माई को तूने दिया बनवास, इस गीत में तमाम दोहराव मिलाकर कुल 65 शब्द :

पतिवरता सीता माई को
तूने दिया बनवास
क्यों न फटा धरती का कलेजा
क्यों न फटा आकाश
जुलुम सहे भारी जनक दुलारी
जनक दुलारी राम की प्यारी
फिरे मारी मारी जनक दुलारी
जुलुम सहे भारी जनक दुलारी
गगन महल का राजा देखो
कैसा खेल दिखाए
सीप का मोती, गंदे जल में
सुंदर कंवल खिलाए
अजब तेरी लीला है गिरधारी
जुलुम सहे भारी जनक दुलारी

अब पढ़िए इसका फिल्मांकन - परदे पर :

(गड़गड़ाते बादल दिल को कंपा रहे हैं। डरावनी बिजली कड़क रही है... लीला चिटणीस एक ऊंचे दरवाजे से निकल रही हैं। यह किसी ऊंचे महल के फाटक जैसा है)

पतिवरता सीता माई को
तूने दिया बनवास
जुलुम सहे भारी जनक दुलारी...

(गगन महल के राजा पृथ्वीराज का क्रुद्ध और अपराध बोध से शून्य क्लोजअप...)

क्यों न फटा धरती का कलेजा
क्यों न फटा आकाश...

(घनघोर बरसात में छाते से अपने को बचाता एक आदमी पनीली सड़क पार कर रहा है... सड़क

किनारे दस-बारह लोग तन्मय होकर गा रहे हैं, गा क्या रहे हैं, गुहार कर रहे हैं)

जुलुम सहे भारी जनक दुलारी ।

(लीला चिटणीस मारी-मारी गिरती-पड़ती फिर रही है। नाली के पास बहते पानी में गिर पड़ती है। एक गंदी बस्ती में नवजात शिशु के रोने की आवाज आती है)

गगन महल का राजा देखो

कैसा खेल दिखाए

सीप का मोती, गंदे जल में

सुंदर कंवल खिलाए

अजब तेरी लीला है गिरधारी ।

सशक्त मर्मस्पर्शी फिल्मांकन गीत के भाव दर्शकों की संवेदनाओं को सीधा छूते हैं। दिलों पर गहरी चोट करते और पीड़िता के प्रति सहानुभूति जगाते हैं। जो कुछ गीत में सीता के लिए कहा जा रहा है, फिल्म में वह अभिनेत्री लीला चिटणीस पर घटित हो रहा है। गीत सीधे राम पर चोट कर रहा था। उसे अन्यायी करार दे रहा था- चेहरा जज रघुनाथ का यानी पृथ्वीराज कपूर का था। सच कहें तो यही गीत आवारा फिल्म का मर्म था, उस का थीम सांग था। यह गीत फिल्म को सीता बनवास और लवकुश प्रसंग का प्रतीक बना देता है।

शैलेंद्र नए बनते आजाद हिंदुस्तान के दिल की धड़कन थे। फिल्मों को मिला एक वरदान थे। वह फिल्म संगीत में बिलकुल अलग तरह का निजी रंग भर रहे थे। स्वभाव और मान्यताओं से वह समानतावादी कट्टर साम्यवादी थे। जोर जुलुम की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है जैसा उद्घोष उन्होंने ही दिया था और भारतीय जननाट्य संघ का गतिशीलता से भरा निम्न सभागीत भी उन्होंने लिखा था : *‘अगर कहीं है स्वर्ग तो उतार ला जमीन पर।’*

शैलेंद्र का जन्म 30 अगस्त 1923 को रावलपिंडी में हुआ था। उनके बचपन में ही परिवार मथुरा आ बसा था, जहां उन की पढ़ाई लिखाई हुई। मां की अकाल मृत्यु से भगवान से उनका विश्वास हट गया। कम उम्र में उन्होंने रेलवे में कारीगर की नौकरी कर ली, और 1947 में बंबई (मुंबई) चले आए। राष्ट्रीय आंदोलन से प्रभावित शैलेंद्र सामयिक विषयों पर कविताएं लिखते और कवि सम्मेलनों में पढ़ते। ऐसी ही एक कविता ‘जलता है पंजाब’ सुनकर फिल्म निर्माण में प्रवेश कर रहे राजकपूर ने शैलेंद्र को अपनी फिल्मों में लिखने का न्योता दिया, लेकिन शैलेंद्र ने इनकार कर दिया। पर जब उन के पहली संतान होने वाली थी, तो राजकपूर का न्योता उन्हें याद आया। कहते हैं उस दिन बरसात हो रही थी, शैलेंद्र फिल्म स्टूडियो के दरवाजे पर खड़े थे, अंदर जाना चाहते थे, जा नहीं पा रहे थे तभी राजकपूर की गाड़ी आई और राज ने उन्हें पहचान लिया। आँखें मिलीं, हार्दिक मुलाकात हुई। शैलेंद्र ने तभी कहा- *‘तुम से मिले हम सजन बरसात में।’* ये शब्द बाद में ‘बरसात’ फिल्म का प्रसिद्ध गीत बने।

वह आम आदमी के लिए लिखते थे, दिल की बात करते थे और दिल से लिखते थे। ‘दिल का हाल सुने दिल वाला छोटी सी बात न मिर्च मसाला कह के रहेगा कहने वाला।’ गरीबी को और गरीबों के सपनों को जीते थे जानते थे, और उन्हें दिल के आइने में उतारकर बड़ी सहज भाषा में कहते थे। भूखे बच्चों की रोटी की आस को शैलेंद्र ने इतने आसान शब्दों में लिखा था- *‘क्यों न*

हम रोटियों का पेड़ इक लगा लें, आम तोड़ें रोटी तोड़ें आम रोटी खा लें।' इस भाव को जापानी फिल्म निर्देशक अकीरा कुरोसावा ने एक मार्मिक दृश्य में इस प्रकार दिखाया है। दो फक्कड़ भूखे भाई-बहन सामने मैदान में घोड़ों को घास चरते देख रहे हैं। छोटा भाई कहता है काश हम घोड़े होते, भूख लगती घास खा लेते...

वह मार्क्सवादी थे, मार्क्सवाद का चिंतन करते थे, बहसों में पड़ते थे, लेकिन अपने आप को मार्क्सवादी संकीर्णता से बांधकर रखने को वह कभी तैयार नहीं हुए। कोरी बौद्धिकता से उन्हें गहरी अरुचि थी। राजकपूर की ही फिल्म जिस देश में गंगा बहती है में उन्होंने बुद्धिवादियों पर बड़ी गहरी चोट की थी- 'कुछ लोग जो ज्यादा जानते हैं, इनसान को कम पहचानते हैं...'

किसी भी पेशे में लोग अपने समकालीनों से ईर्ष्या करते हैं, आपाधापी करते हैं, नए लोगों के प्रवेश में रुकावटें डालते हैं। शैलेंद्र इसके उलटे थे। उन्हें अपने काम से काम था, अन्य कवियों को फिल्मों में लाने के वह उत्सुक रहते थे। जिन दिनों बंदिनी बन रही थी गीतकार गुलजार को बिमल राय के पास शैलेंद्र ने ही भेजा था। इस मुलाकात का परिणाम था गुलजार का गीत 'मोरा गोरा अंग लइले मोहे श्याम रंग दइदे।' (कहा जाता है कि यह मुखड़ा स्वयं शैलेंद्र ने लिखा था) गुलजार बिमल राय के सहायक भी बन गए, और बाद में फिल्म निर्देशक और निर्माता भी। जिन दिनों मैं बंबई में था, इस कोशिश में रहता था कि हिंदी साहित्यकारों और फिल्म वालों के बीच की दूरी को कम करूं। साहित्य सिनेमा संगम नाम से एक संस्था के द्वारा मैंने बंबई में एक कवि सम्मेलन रखा था। कवि सम्मेलन में निमंत्रित कवियों को शैलेंद्र ने अपने घर पर बुलाया, भोज दिया और कई निर्माताओं से मिलवाने की बात की।

शैलेंद्र से मेरा संबंध उनके जीवन के अंतिम तीन वर्षों भर का था। इन तीन वर्षों के उनके संघर्षमय जीवन का मैं निकट साक्षी भी बना।

1963 तक मैं 'सरिता' के संपादकीय विभाग में काम करता था। हमारे दफ्तर के पास ही था पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस का दफ्तर। वहां मेरी घनिष्ठ मित्रता डॉक्टर रामविलास शर्मा के छोटे भाई मुंशी से हो गई थी। हम लोग दिन में रोज दो तीन बार मिलते। मुंशी मुझे शैलेंद्र के लोकगीत सुनाते। उन्हीं दिनों 'सरिता' परिवार के सर्वेसर्वा संपादक और मेरे गुरु विश्वनाथजी से एक छोटी सी अप्रिय घटना के कारण हम लोगों के बीच अनबन हो गई। कुछ महीनों के कटु संघर्ष के बाद मैंने त्यागपत्र दे दिया और मुझे टाइम्स ऑफ इंडिया के बंबई कार्यालय से हिंदी फिल्म पत्रिका 'माधुरी' का समारंभ और संपादन करने का दायित्व मिला। बंबई जाते जाते मुंशी ने मुझे हिदायत दी कि शैलेंद्र से अवश्य मिलूं। दिसंबर 1963 के आरंभ में शैलेंद्र से मिलाने मुझे ले गए उन दिनों 'हिंदी ब्लिट्ज' के संपादक मेरे मित्र मुनीश नारायण सक्सेना थे। एक ही पल में शैलेंद्र से अपनापन, अपनापन ही नहीं भाईचारा हो गया और वह बड़े भाई बन गए। शैलेंद्र ने कहा राज साहब से मैं तुम्हें मिलाऊंगा। राज ने कहा तुम शैलेंद्र के मित्र हो, मेरे दरवाजे तुम्हारे लिए चौबीस घंटे खुले हैं। और जब तक मैं बंबई में रहा वे दरवाजे हमेशा खुले रहे। शैलेंद्र के ही कारण शंकर जयकिशन से मुलाकात हुई और मुकेश से। बाद में जब मैं नेपियन सी रोड पर रहने चला गया और सुबह की सैर के लिए हैंगिंग गार्डन सपरिवार जाने लगा तो वहां मुकेश से अकसर मुलाकात होती। इन सब मुलाकातों का जिक्र मैंने शैलेंद्र के अंतिम दिनों के संघर्ष के प्रसंगवश ही किया है।

‘तीसरी कसम’ फिल्म शैलेंद्र का निजी सपना थी और जुनून भी। बस एक कसर थी : फिल्म एक व्यवसाय है, फिल्म एक प्रोडक्ट है जिसे बेचना होता है। सपनों की दुनिया में रहने वाले शैलेंद्र को यह पेचीदगी आखिर तक समझ में नहीं आई। वह लोगों पर विश्वास करते रहे, लुटते रहे... बिकाऊ प्रोडक्ट बनने के लिए ‘तीसरी कसम’ में बहुत कुछ था- बड़े नाम वाले राजकपूर और वहीदा रहमान, बड़े नाम वाले शंकर जयकिशन... जो नहीं था वह था एक बड़ा निर्देशक। बासु भट्टाचार्य शैलेंद्र के निजी मित्र थे। बिमल राय की बेटी रिंकी से बासु के विवाह से लेकर उन दिनों तक शैलेंद्र बासु के तरह-तरह से काम आए थे। बासु में अहं अधिक था, अनुभव कम, और अपने साथियों को साथ लेकर चलने की क्षमता और भी कम। बात-बात पर झगड़े होते, शूटिंग बंद हो जाती। अपनी शेखीखोरी भरी बातों से डिस्ट्रीब्यूटर्स को बिदकाने की क्षमता भी बासु में कम नहीं थी... अनेक बातें हैं जिनकी तफसील में जाने की जरूरत यहां नहीं है.... नाम तो अंत तक उनका ही रहा पर बासु को फिल्म से अलग होना पड़ा...

शैलेंद्र बुरी तरह कर्जों में डूबे थे। हैंगिंग गार्डन में सुबह सैर पर मुकेश और मैं शैलेंद्र के संकटों की बात करते और उनसे उबरने की तरकीबें भिड़ाते। फिल्म ओवर बजट हो चुकी थी। तय था कि सुपरहित हो जाए तो भी फिल्म घाटे का सौदा रहेगी। सवाल मुनाफे का नहीं घाटे को कम करने का था। जो कुछ भी शूट किया गया था उसे समझने की कोशिश आरके स्टूडियो में राज खुद करने लगे। झींकते-झल्लाते किसी तरह वह शाम आई जब हम लोगों ने आरके में ‘तीसरी कसम’ का ‘संतोषप्रद’ फाइनल प्रिंट देखा... फिल्म डिस्ट्रीब्यूटर्स को दे दी गई... लेकिन दुर्भाग्य अभी खत्म नहीं हुआ था। एक दिन खबर मिली कि दिल्ली में बिना किसी प्रचार के, अखबारों में रिलीज की सूचना तक दिए बगैर, फिल्म सिनेमाघर में लगा दी गई। हाल खाली गया। एक शो के बाद फिल्म उतार दी गई....

बात घाटा कम करने की थी। अब घाटा ही घाटा था। पैसा उगाहने वालों की भीड़ में शैलेंद्र को अंडरग्राउंड होना पड़ा। अंडरग्राउंड होने का मतलब इस मामले में बस इतना था कि कोई भी मिलने वाला आता तो कह दिया जाता कि शैलेंद्र शहर में नहीं हैं। आने वाला जब थककर जाने लगता तो ऊपर से परदे के पीछे से झांककर देखा जाता कि कौन है जो जा रहा है। इसी प्रकार एक दिन मैं लौट रहा था। मुझे भीतर बुला लिया गया। हम लोग बातें करने लगे। गलती यह हुई कि फुसफुसाकर नहीं अपने स्वाभाविक स्वर में बात कर रहे थे तभी एक लेनदार आ गए। उन्होंने हमारी आवाजें सुन लीं, कितना ही टरकाया गया वे गए नहीं। जोर-जोर से बोलने लगे कि उन्होंने शैलेंद्र की आवाज पहचान ली है। वे थे भी शैलेंद्र के निजी मित्र। कोई छोटे-मोटे सरकारी कर्मचारी थे। उन्हें भीतर बुलाना पड़ा। ‘तीसरी कसम’ के अंतिम दिनों में शैलेंद्र ने मित्रता का वास्ता देकर उनसे पांच या दस हजार रुपए कर्ज लिए थे, और उस दोस्त ने बस इतनी सी रकम के बदले फिल्म में बराबर की भागीदारी लिखवा ली थी लेकिन फिल्म अब पिट चुकी थी। उससे एक भी पैसा वसूल होने की संभावना नहीं थी। इससे पहले और इसके बाद इतना अपमानित होते मैंने किसी को नहीं देखा। वह दोस्त पूरे परिवार और मेरे सामने शैलेंद्र को मां-बहन की गालियां देता रहा। शैलेंद्र और हम सब चुपचाप सुनते रहे...

दिन बीतते गए.... शैलेंद्र को पता था कि दिनों के साथ जीवन भी बीत रहा है... उन्हें सिरोसिस

ऑफ लीवर की जानलेवा बीमारी थी। इस बीमारी का संबंध बहुत ज्यादा शराब पीने से भी होता है। हम लोगों के इसरार पर वे कई महीनों बिना शराब के रहे। 'तीसरी कसम' के तनावों ने उन्हें तोड़ दिया। वह फिर पीने लगे, पीते रहे। जिगर सिकुड़कर पत्थर होता जा रहा था। जीवन रस सूखता जा रहा था। पता था कि अब वह कुछ दिनों के मेहमान हैं।

13 दिसंबर 1966 की शाम को सांताक्रूज से वह कोलाबा के एक निजी नर्सिंग होम के लिए निकले। आरके स्टूडियो चेंबूर में था, बिलकुल अलग दिशा में। पर पहले वह वहां गए। उन्हें पता था कि यह आखिरी घड़ी है। पर जीने की आस थी, जिंदगी पर एक बार फिर यकीन करने का मन कर रहा था। उन्होंने राजकपूर से वादा किया कि 'मेरा नाम जोकर' का अधूरा गीत 'जीना यहां मरना यहां' वह जरूर पूरा करेंगे। 14 की सुबह (यह राजकपूर का जन्मदिन भी है) वह गीत के मुखड़े का दूसरा अंश पूरा कर गए। उन्होंने कभी लिखा था 'सबेरे वाली गाड़ी से चले जाएंगे।' उसी गाड़ी से वह गए... एक और सफर के लिए... *वहां... जहां न घोड़ा है न गाड़ी है, जहां पैदल ही जाना है।*

14 दिसंबर 1966 को शैलेंद्र के चले जाने पर जनवादी कविता के प्रतिनिधि कवि बाबा नागार्जुन ने अप्रैल में शैलेंद्र को श्रद्धाजलि इन शब्दों में दी :

*गीतों के जादूगर का मैं छंदों से तर्पण करता हूं
सच बतलाऊं- तुम प्रतिभा के ज्योतिपुंज थे, छाया क्या थी
भलीभांति देखा मैंने- दिल ही दिल थे, काया क्या थी
जहां कहीं भी अंतर्मन से ऋतुओं की सरगम सुनते थे
ताजे कोमल शब्दों से तुम रेशम की जाली बुनते थे
जन-मन जब हुलसित होता- वह धिरकन भी पढ़ते थे तुम
साथी थे, मजदूर पुत्र थे, झंडा लेकर बढ़ते थे तुम
युग की अनुगुंजित पीड़ा ही घनघोर घटा सी गहराई
प्रिय भाई शैलेंद्र, तुम्हारी पंक्ति-पंक्ति नभ में लहराई
तिकड़म अलग रही मुसकाती, ओह, तुम्हारे पास न आई
फिल्म जगत की जटिल विषमता, आखिर तुमको रास न आई
ओ जन-जन के सजग चितरे, जब जब याद तुम्हारी आती
आँखें हो उठती हैं गीली, फटने सी लगती है छाती।*

आपबीती कहूं तो 14 दिसंबर 1966 को जो एक दर्द सा मेरे सीने में पैठ गया था, वह कई साल तक रह-रहकर उठता रहा। अब भी शैलेंद्रजी की संतान से मुलाकात होती रहती है लेकिन उस दिन के बाद भाभीजी को विधवा भेस में देखने की हिम्मत मैं कभी बटोर नहीं पाया।



सुरेखा सीकरी : नायाब शख्सियत की मल्लिका

असीमा भट्ट

2002-2003 की बात है। जोधपुर से 165 किलोमीटर की दूरी पर एक गांव है - 'बोरून्दा'। विजयदान देथा की कहानियों पर आधारित सीरियल बन रहा था 'विज्जी का खजाना'। जिसमें विज्जी की कई प्रमुख चुनिंदा और प्रसिद्ध कहानियां थी, जिसका निर्देशन उदयप्रकाश कर रहे थे। जयपुर दूरदर्शन का खास निर्देश था कि इन कहानियों की शूटिंग राजस्थान में ही होनी चाहिए क्योंकि यह कहानियां राजस्थानी लोक कहानियों और परिवेश पर आधारित थी। उन दिनों विजयदान देथा भी जिंदा थे और उनका खास भी आग्रह था कि कहानियों की शूटिंग उनके गांव बोरून्दा में उनकी देख-रेख में हो। और यही हुआ।

इन कहानियों में दिल्ली, मुंबई, राजस्थान से कई जाने माने टीवी-फिल्म और रंगमंच के कलाकार जुड़े थे।

जिनमें एक कहानी थी 'दूरी'। उसकी मुख्य भूमिका में थीं- सुरेखा सीकरी जिनके साथ मुझे भी एक छोटा सा रोल 'नर्स' की भूमिका करनी थी। यह सब बहुत ही अनायास और अप्रत्याशित था। क्योंकि तब मैं दिल्ली में रहती थी। एनएसडी पास हुए एक ही साल हुए थे और दिल्ली से बोरून्दा शूटिंग के लिए आयी थी। जिनमें मेरी दो कहानियां। 'आशा अमरधन', और 'रोटी की बात' की शूटिंग हो चुकी थी। 'आशा अमरधन' में मुख्य भूमिका में थे वागीश सिंह थे और उनकी पत्नी की भूमिका मैंने की थी। जबकि 'रोटी की बात' में अजय रोहिल्ला मुख्य भूमिका में थे और उनकी पत्नी की भूमिका मैंने निभाई। अचानक पता चला कि अगली कहानी की मुख्य भूमिका में सुरेखा सीकरी हैं। यह खबर जैसे ही मिली खुशी से ज्यादा आश्चर्य हुआ बल्कि नामुमकिन लगा कि वह कहां से यहां छोटे से गांव में शूटिंग के लिए आएंगी? तब वह मुंबई में रहती थीं। बहुत फिल्में और धारावाहिकों में काम करके खासी मशहूर हो चुकी थीं।

वह सुबह के दस बजते-बजते बोरून्दा आ गयीं। और आते ही उन्होंने कहा- 'मेरे कास्टयूम कहां हैं? पहले उसे दिखाओ। पहन के देख लूं, कंफर्टेबल हैं या नहीं? और मुझे कैसे कैरी करना है? कुछ गड़बड़ हुई तो पहले ही चेक कर लेना अच्छा होगा।'

मुझे बेहद आश्चर्य हुआ कि इतनी लंबी यात्रा मुंबई से जोधपुर और फिर जोधपुर से बोरून्दा बाय रोड चलकर आयी हैं। आते ही न आराम किया, न चाय मांगा सीधे ही काम की बात। इतनी एनर्जी? इस उम्र में।

तभी समझ गयी कि वो प्रोफेशनल होने के साथ-साथ बहुत अनुशासित भी हैं।

मुझे मेरा सीन उसी दिन मिला और कहा गया कि शूटिंग के लिए तैयार हो जाऊं। लोकेशन अस्पताल का है जो कि एक स्कूल को अस्पताल में तब्दील किया गया है क्योंकि वहां अस्पताल नहीं है। शायद वहां ड्रेस चेंज करने की भी सुविधा हो न हो इसलिए कहा गया कि पूरी तरह तैयार होकर (कास्टयूम और मेकअप में) लोकेशन पर जाना है।

जैसा ही मुझे यह कहा गया मेरे हाथ-पांव कांपने लगे। मैं बुरी तरह नर्वस हो गयी। गला जैसे सूख गया और मुंह से आवाज ही नहीं निकल रही थी। हमारे साथ एनएसडी के ही मेरे एक और सीनियर युसुफ खुर्रम साथ-साथ काम कर रहे थे जो कि राजस्थान के ही रहने वाले थे। उनके साथ पिछले कुछ दिनों से साथ काम करते-करते काफी कंफर्टेबल हो गयी थी। मैं उनके पास गयी और मैंने कहा- 'दादा, मैं सुरेखाजी के साथ शूट नहीं कर सकती।'

उन्होंने पूछा- 'क्यों?'

'मुझे डर लग रहा है। मैंने सोचा ही नहीं था कि कभी उनके साथ मैं काम करूंगी।'

मैंने इतना उनके बारे में पढ़ा है, सुना है कि मेरी तो बोलती बंद हो गयी है उनको देखकर। मैं क्या करूं? कैसे करूं? मैं तो नहीं कर पाऊंगी बल्कि एनएसडी की तैयारी उनसे प्रेरणा लेकर ही की थी।

वे बोले- 'अरे! इसमें ऐसा क्या है? दोनों एक ही स्कूल से हो। फिर इतना डरने की क्या बात है?'

इसीलिए तो डर लग रहा है। वह मेरी प्रेरणा रही हैं। मैंने एनएसडी आने से पहले इतना अधिक उनके बारे में पढ़ा है कि एक किताब सिर्फ इसलिए खरीदी थी कि उनमें उनकी तस्वीरें थीं। वह किताब थी निर्मल वर्मा की 'तीन एकांत'। जिसमें तीन अलग अलग कहानियां थी। जिसमें एक कहानी थी 'वीकेंड' उसमें उन्होंने एकल अभिनय किया था। कहानियों का रंगमंच पहली बार भारत में हुआ था और उसमें उस कहानी में सोलो यानी एकल अभिनय करने का न केवल श्रेय उनको जाता है बल्कि उन्होंने इस विधा को रंगमंच में स्थापित किया। बाद में तो रंगमंच में एकल नाटकों के क्षेत्र में बड़ी क्रांति हुई। उनमें उनका सबसे बड़ा योगदान माना जाता है। उन दिनों उनकी चर्चा इस तरह होती थी जैसे सिनेमा की बड़ी बड़ी अभिनेत्रियों की चर्चा होती है। और यह सब तब की बात है जब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था। 1965 में वह राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) में आई। तब जबकि जल्दी कोई लड़कियां रंगमंच के क्षेत्र में आना ही नहीं चाहती थीं क्योंकि समाज और परिवार दोनों का विरोध सहना पड़ता था। साथ ही कई तरह के संघर्षों का सामना करना पड़ता था। एक ऐसी महान और मशहूर अभिनेत्री के साथ बतौर को-एक्टर काम करने का सोचकर मैं बहुत ज्यादा घबरा गयी।

यह मौका किसी भी अभिनेता के लिए सौभाग्य का अवसर था कि वह सुरेखा सीकरी का सह-अभिनेता बने लेकिन मेरे लिए डर, चिंता और भय का सबब बन गया था। नाटक की भाषा में इसे 'ब्लैक आउट' होना कहते हैं। जिससे अभिनेता अपने 'सेंस' खो बैठता है और घबराहट में कुछ भी नहीं सूझता। सिवाय गला सूखने और पसीने आने के।

युसुफ दादा को मेरी हालत का अंदाजा हो गया। उसे भांपते हुए बोले- आओ मेरे साथ।

मुझे हाथ पकड़कर एक पास के कमरे में ले गए जहां सुरेखाजी अपने माथे पर एक कोई ऐसा जेवर था जो कि राजस्थानी महिलाएं पहनती हैं जिसे बोरला (ढोलना) कहा जाता है उसे बांधने की कोशिश कर रही थीं और शायद वह ठीक से बंध नहीं रहा था। उनके बगल में एक लड़की हेयर ड्रेसर खड़ी थी और वह बार-बार आईने में देखकर कोशिश करती जा रही थी। लेकिन वह कभी खिसक जा रहा था या कभी टेढ़ा बंध जा रहा था जबकि वह सिर पर मांग के बीचों-बीच पहना जाता है। उन्होंने आईने में से ही हम दोनों को देखते हुए कहा- अरे भई खुर्रम, आओ।

वो बोले देखिये- इस लड़की को पकड़कर आपके पास लाया हूँ। यह आपके पास आ ही नहीं रही थी।

तब तक उनके सामने जाने पर और भी मेरे पैर जैसे जड़ हो गए। कमरे के दरवाजे पर ही खड़ी रह गयी जैसे मेरे पैर वहीं जमीन में धंस गए हों।

उन्होंने उसी अंदाज में पूछा- क्यों ? क्यों नहीं आना चाह रही थी मेरे पास?

आपसे डरती है?

हँसते हुए।... क्यों भई, मैं खा जाऊंगी क्या?

नहीं कहती है- आप बहुत बड़ी हैं। सीनियर हैं। इसलिए आपके साथ अभिनय कैसे करेगी?

अरे! तो इसमें डरने की क्या बात है?

तब तक मैंने कहा- आप मेरी प्रेरणा रही है। बिना मिले जितना कुछ पढ़ा है आपके बारे में कि आपसे बहुत कुछ सीखने को मिला है।

अच्छा? यह तो अच्छी बात है?

लेकिन आप इतनी बड़ी हैं मुझसे से... बहुत बड़ी अभिनेत्री हैं... मैं कैसे आपके साथ...।

अरे भई। कुछ भी नहीं होता इन सबसे... मुंबई में तो सरवाइवल मुश्किल हो रहा है और लोग बड़ी अभिनेत्री मानते हैं? एक बार काम कर लो यह सब डर जो है ना काफ़ूर हो जाएगा।

वह एक बेहद जहीन अभिनेत्री थीं लेकिन उन दिनों मुंबई में उनके पास इतना काम नहीं था जितना उन जैसी हस्ती के पास होना चाहिए था।

एक बार तो विश्वास ही नहीं हुआ। कितनी आसानी से इतनी संजीदा बात हँसते हुए कह दी कि हैरत से उनका मुँह निहारती रह गयी।

ऐसी रही मेरी उनसे पहली मुलाकात। सम्मान तो था ही उनके लिए लेकिन जिस तरह से उन्होंने मुझे सहज कर दिया कि मेरे अंदर का सब डर एक पल में हवा हो गया।

इतने में 'विज्जी' आ गए। विज्जी की यह हिदायत थी कि कोई भी उन्हें विजयदान देथा कह कर न बुलाए। वह अपने गांव में 'विज्जी' नाम से ही मशहूर थे। उनका मानना है जो नाम आपके कानों को बचपन से सुनने की आदत हो उस नाम से कोई बुलाए तो ज्यादा अपनापन महसूस होता है।

विज्जी ने हँसते हुए मुझसे बताया था कि 'मुझे विज्जी कोई बुलाता है तो लगता है मैं अभी भी बच्चा हूँ। अभी बड़ा नहीं हुआ और खुद बच्चे की तरह खिलखिलाकर हँस पड़े।

विज्जी को देखते ही सुरेखाजी एकदम तपाक से उठाकर ऐसे गले मिलीं कि जैसे बहुत पुरानी जान-पहचान हो व दोस्ती हो।

बाद में पता चला कि सुरेखाजी ने विज्जी की एक कहानी पर आधारित फिल्म 'परिणति' में मुख्य भूमिका निभाई थी। जिसका निर्देशन प्रकाश झा ने किया था और उस फिल्म की शूटिंग भी राजस्थान के गांव के आस-पास ही हुआ था और वहां भी विज्जी साथ थे। यह देखने के लिए कि राजस्थानी बोली-भाषा ठीक से बोली जा रही है या नहीं या फिर जो राजस्थानी परिधान अभिनेता-अभिनेत्रियों द्वारा पहने जा रहे हैं। वह किरदारों के चरित्र और उनके अपने परिवेश से मेल खाते हैं या नहीं।

अपने-अपने काम को लेकर विज्जी और सुरेखाजी में एक खास तरह का अनुशासन दिखा। कलाकारों के मेकअप और परिधान कहानी और चरित्र की सत्यता और यथार्थ के अनुरूप हो न कि सिनेमाई होकर रह जाए।

विज्जी बहुत कुछ बताते। जैसे उन्होंने बताया कि जिस खास जाति समुदाय की महिला की भूमिका सुरेखाजी करने वाली हैं। उनका जो अंगरखा-कुर्ती (जिसे राजस्थान में चोली कहते हैं) वह आम राजस्थानी महिलाओं की चोली से अलग होगी बल्कि वह कुछ ऐसे खास रंग हैं जो उस जात-बिरादरी और उस उम्र की औरतें नहीं पहनतीं।

यह सब जानकर मेरी आँखें फटी की फटी रह गयीं कि इन्हें एक-एक चीजों की कितनी बारीक से बारीक जानकारी है।

जैसे जो 'ढोलना' माथे पर सुरेखाजी ने बांधना था वह चांदी या सोने का नहीं हो सकता। 'ढोलना' चांदी का होगा लेकिन बाकी जो बांधने के लिए होता है वह काले रंग का धागा होना चाहिए। जैसा कि बिलकुल वैसा ही सुरेखाजी ने पहन रखा था।

एक बार सुरेखाजी जब तैयार हो गयीं तो विज्जी ने उन्हें सर से पांव तक ऐसे परिक्षण किया कि कहीं कोई कमी न रह गयी हो या फिर कुछ गड़बड़ न हो गया हो। कहीं कोई कसर न जाए चरित्र के सहज और सामान्य दिखने में। यानी सब कुछ 'परफेक्ट' होना चाहिए। यहां तक कि जो पांव में जूती होनी थी वह बहुत पुरानी-मैली-फटी हुई और धूल से सनी होनी चाहिए क्योंकि राजस्थान में रेत बहुत उड़ती है। दूसरी जो कहानी थी कि एक गरीबी बूढ़ी औरत का एकलौता बेटा (झोला) जो कि बीमार है और उसे गांव से जोधपुर शहर के अस्पताल भेज दिया गया है। वह बूढ़ी औरत पहली बार अपने गांव से बाहर निकली है अपने बीमार बेटे की तलाश में जो कि लगभग उससे खो सा गया है और उसे ढूंढती फिर रही है। जगह जगह। कभी थाना, कभी बस स्टैंड, कभी अस्पताल।

गहरे निरीक्षण और परीक्षण के बाद सब कुछ फाइनल हुआ। विज्जी और सुरेखाजी की तरफ से 'ओके' होने के बाद ही निर्देशक उदय प्रकाशजी को तसल्ली हुई और शूटिंग की शुरुआत के लिए आगे बढ़े।

हम सब एक ही गाड़ी में बैठकर शूटिंग के लिए लोकेशन पर पहुंचे। अंदर से दिल धक-धक कर रहा था फिर ही अब थोड़ी थोड़ी समान्य हो गयी थी। इसमें उनका ही बहुत बड़ा हाथ था। जैसे उनका यह पूछना कि कहां से हो? एनएसडी कब आयी। और जब मैंने उन्हें बताया कि 1997-2000 में तो हँसते हुए बोली और तुम जानती हो मैं कब आई थी? तब तुम पैदा भी नहीं हुई थी। और बहुत प्यार से मुस्कुरायीं।

मैं उन्हें बताना चाहती थी कि मैंने 'तीन एकांत' सिर्फ इसलिए खरीदा था कि आपने वीकेंड किया था जिसे मैं भी आपकी तरह करना चाहती थी। लाइन याद है लेकिन करने की हिम्मत आज तक नहीं हुई।

लेकिन उनके सामने यह नहीं कहने की भी हिम्मत नहीं हो पाई।

खैर, कैसे उस दिन शूटिंग शुरू हुई और कब खत्म हुई पता ही नहीं चला।

मैंने एक बार उनसे आहिस्ते से पूछा कि 'मुझे अच्छा करने के लिए क्या करना चाहिए।'।

उन्हें कहा- 'मुझे भूल जाओ। बस अपने किरदार को याद रखो और उसी के बारे में सोचो। बस अपने आप अच्छा हो जाएगा।'।

इतना छोटा नुस्खा बताया कि मैंने मन में सोचा- अरे यह इतना आसान है क्या?

पर सच कहूं तो सचमुच आसान था या फिर उन्होंने आसान बना दिया कि बल्कि बिना रिटेक के एक ही टेक में सीन ओके हो गया था।

सपने सच होने की खुशी कुछ अजीब होती है जिसे सच कहूं तो बताना मुश्किल है। पर यह जीवन का वह अनुभव था जो सुनहरे अक्षरों में लिखा जाना चाहिए। मेरे लिए मेरी जिंदगी का सबसे बेहतरीन अनुभवों में से एक था।

उस एक दिन का साथ, काम करने का अनुभव और उनका प्यार लेकर मैं दिल्ली वापस आ गयी।

वह मुंबई लौट गयीं। उसके बाद हमारा कभी कोई संपर्क नहीं रहा। बीच-बीच में उनकी फिल्में और सीरियल देखा करती थी। उनकी फिल्मों में मुझे 'जुबैदा' और 'मम्मो' बहुत पसंद हैं। अब वह मुझे पहले से और भी ज्यादा अच्छी लगने लगी थीं।

कुछ साल बीतने के बाद मैं भी मुंबई आ गयी। मुंबई आते ही मुझे कुछ फिल्म और सीरियल मिल गए जिनमें मैं काम कर रही थी। मेरी बहुत कोशिश थी कि कोई ऐसा सीरियल मिले जिसमें मुझे दुबारा उनके साथ काम करने का मौका मिले। यह तो नहीं हुआ लेकिन हम दोनों का एक अलग-अलग शो एक ही चैनल पर आता था। 'कलर्स पर' उनका 'बालिका वधू' और मेरा 'बैरी पिया'। दोनों शो बैक टू बैक थे। मुझे इस बात की बहुत खुशी थी। इस तरह कभी कभी टीवी के किसी प्रोग्राम या 'कलर्स' की पार्टी में हम दोनों आमने-सामने मिले और मैंने बस यही बताना चाहा कि मैंने आपके साथ काम किया है। मैं समझती उन्हें याद नहीं होगा लेकिन वह दावे से कहतीं कि 'याद है' तो मैं शर्मिदा हो जाती कि मैं क्यों ऐसा मानती हूं कि वह भूल गयी हैं और मैं याद दिलाना चाहती हूं। सोचती होंगी कि मैं समझ रही हूं कि वह बूढ़ी हो गयीं हैं।

'कलर्स' के जिस टीवी शो में एक खडूस 'दादी सा' (कल्याणी देवी) वह दिखती रहीं लोग मानने को तैयार ही नहीं कि वह अंदर से बहुत प्यारी और बहुत ही नर्म स्वभाव की हैं।

खासकर जब मैंने अपने किसी जानने वाले को बताया कि मैं उन्हें जानती हूं और उनके घर आती-जाती हूं तो उनको विश्वास नहीं हुआ। वह तपाक से बोलीं- 'वह तो स्वभाव से बहुत चिड़चिड़ी लगती हैं।'।

मैंने कहा वह बिलकुल इसकी उलट हैं।

एक बार कि बात है 'बैरी पिया' शो के बाद बहुत दिनों तक मुझे कोई बढ़िया टीवी शो नहीं

मिल रहा था। मैं बहुत ही डिप्रेशन में चली गयी। पता नहीं क्यों बार बार मुझे उनसे मिलने का मन हो रहा था।

एक दिन मैंने उन्हें फोन पर मैसेज किया कि आपसे मिलना चाहती हूँ।

तुरंत उनका फोन आ गया कि आज शाम में क्या कर रही हो? अगर कुछ इंगेजमेंट नहीं है तो चाय पीने आ जाओ।

मैं यारी रोड स्थित उनके घर पहुंची। उनके घर का माहौल इतना अच्छा था और घर पर इतनी शांति थी कि जाते ही मन हल्का हो गया।

फिर उन्होंने चाय बनानी शुरू की। चाय बनाने की उनकी विधि बड़ी जतन वाली थी। जैसे वह एक कलाकार की तरह किसी चरित्र में जाने से पहले तैयारी करती हैं। वैसे ही वह चाय के लिए तैयारी कर रही थीं।

पानी कप से बराबर मात्रा में मापकर गैस पर चढ़ाया। पानी उबलने पर उसमें पत्ती डाला, फिर गैस बंद कर चाय को टीकोजी से ऊपर से ढंक कर कुछ देर चाय की पत्ती को उसमें घुलने दिया। फिर खुद खुशबू का आनंद लेते हुए बोलीं- अब रस का मजा आएगा।

फिर चाय को दो अलग अलग प्याले में निकालकर प्लेट में कुछ बिस्कुट के साथ लेकर बाहर बैठक में आकार मेरे साथ बैठ गयीं। वे काफी खुलकर और आत्मीय होकर बातें कर रही थीं।

जैसे- 'खाली समय में क्या करती हो?'

मैंने बताया- 'पढ़ती हूँ।'

उन्होंने कहा- 'पढ़ने का शौक मुझे भी है। मैं नावेल्स और कविताएं पढ़ना पसंद करती हूँ। मैं तो इस प्रोफेशन (अभिनय) में बायचांस आ गयी। मैं जब अलीगढ़ में रहती थी। वहां तो मुस्लिम यूनिवर्सिटी में एक से एक 'पोयट' हुए 'प्रोग्रेसीव राइटर्स' हुए। वहां का तो माहौल ही अलग था इसलिए उनको देख-देखकर, पढ़-पढ़कर सोचा करती थी। एक दिन मैं भी किताबें लिखूंगी। एनएसडी आने से पहले नाटक-वाटक बिलकुल भी नहीं किया था।'

एक बार इब्राहीम अल्काजी 'किंग लियर' नाटक लेकर हमारे कॉलेज में आए थे। कभी नाटक देखे नहीं थे। पहली बार देखा। नाटक-लाइटिंग वगैरह देखकर मुझे लगा यह तो बिलकुल अलग दुनिया है। यह सीखना चाहिए। कैसे रोज-रोज, अलग अलग, नए नए किरदार बदलना। फिर यहां से शुरू होती है यह जानने की 'जर्नी'। थियेटर क्या है? क्या चीज है? क्या यह मिस्ट्री है? और अगर मिस्ट्री है तो फिर मैं कौन हूँ? थियेटर की एक खुशबू होती है। मंच पर जाने में कितना मजा आता है बिलकुल नयी दुनिया है। थियेटर से ही मेरी दुनिया बदली। बिलकुल एक नयी दुनिया। जिसमें मुझे पूरी तरह बदल दिया। वह बोलती जा रही थीं। ऐसा लग रहा था वह नास्टेल्लिया में हों। वह कभी एनएसडी के दिनों की बात करतीं। कभी एनएसडी रेपर्टी में पंद्रह साल बिताए दिनों और अपने साथ-साथ काम करने वाले सह-अभिनेता मनोहर सिंह, उतरा वाउकर, ओम पुरी, सुधा शिवपुरी जाने कितनी बातें उनके मुंह से ऐसे सुन रही थी जैसे कोई किस्सा सुन रही हूँ। कभी नाटकों के बारे में, कभी वह टीवी धारावाहिक 'तमस' के दिनों की बातें। कभी 'सलीम लंगड़े मत रो' की बातें। साफ दिखाई दे रहा था उन्होंने जो भी भूमिकाएं कीं पूरी शिद्दत से किया और उसका भरपूर आनंद लिया, जिस तरह से उन दिनों की यादों में डूबकर बातें कर रही थीं ऐसा लग रहा था कि

वह कल की बातें हों। उन बातों में कितनी गहराई थी और वह उन यादों का रस लेकर। मजे लेकर लेकर बातें करती जा रहीं। उनकी आखों में ऐसी चमक थी कि लग रहा था पूरा सिनेमा और टीवी का अनुभव आपस में एक साथ यात्रा कर रहे हों। उनको सुनते हुए जहां मन को बहुत अच्छा लग रहा था तो कभी-कभी रोना आ रहा था। न जाने क्यों?

इनके पास कितने अनुभव हैं। खजाना है। जिन्हें कई रातों-महीनों तक लगातार ऐसे ही कई शाम बैठकर गुजारते हुए सुना जा सकता है।

अचानक याद आया यह वह अदाकारा हैं जिन्होंने कभी कहा था कि- मुंबई में सरवाइवल मुश्किल है और आज देखो वह टीवी चैनलों से सबसे अधिक 'फी' लेने वाली कुछ अभिनेत्रियों में से हैं। 'पर डे' के हिसाब से उनकी खासी मंहगी रकम है।

यही नहीं उन्होंने अपने अनुभव और सधे हुए अंदाज से टीवी पर अभिनय की परिभाषा बदलकर रख थी। और इस तरह न केवल हिंदुस्तान के घर घर में बल्कि दर्शकों के दिलों पर राज करने लगीं।

अब उनके करोड़ों फैन हैं जो उन्हें प्यार करते हैं।

बातों-बातों में उन्होंने मुझसे बहुत कुछ पूछा कि 'मेरे घर में कौन कौन है? मेरा जन्मदिन कब है? किस तरह की किताबें पढ़ती हो?'

किताब से याद आया। मैंने पर्स से वही किताब निकाली 'तीन एकांत' और मैंने संकोच करते हुए बताया कि मैं लिटरेचर पढ़ती हूँ जिनमें से एक किताब यह है। मैं आपसे इतनी प्रभावित थी कि सिर्फ आपकी खातिर यह किताब खरीदी थी कि इसमें आपकी तस्वीरें हैं और मैंने कोशिश की कि मैं भी यह शो करूंगी लेकिन लाइनें याद होने के बावजूद कभी एक्ट करने की हिम्मत नहीं हुई क्योंकि लोग आपसे तुलना करेंगे और मैं आप जैसा तो कभी नहीं कर सकती।

हँसते हुए बोलीं- 'यह क्या बात हुई? मैंने जो किया वह मेरा सच था? तुम जो करोगी वह तुम्हारा होगा इसलिए तुम्हें तो और ज्यादा करने की जरूरत है। यह कहानी जब मैंने की थी वह जमाना अलग था। अब समय बहुत बदल गया है। एक्टर तो हर नाटक में बदलता रहता ही है। जामा-बोला (कपड़े) बदलनेवाला होता है एक्टर। मेरा मैंने किया। तुम अपना करो। किसी का भी प्रभाव अपने ऊपर इतना प्रभावित नहीं होने दो' और किताब को अपने हाथ में लेकर ऐसे देखने लगीं जैसे कोई अपनी सबसे प्यारी चीज देख रही हों। और फिर बोलीं- 'कितना अर्सा हो गया। मेरे पास यह किताब भी नहीं।'

मैंने कहा- 'आप रख लीजिए।'

'नहीं, नहीं... हँसते हुए बोली। 'तुमने इतने प्यार से इसे खरीदा है और इतने सालों से अपने पास संभालकर रखा है। तुम्हीं अपने पास रखो।'

'हां, यह सच है मैंने इसे तब खरीदा था जब मैं एनएसडी आयी भी नहीं थी। तब पटना में थोड़ा बहुत नाटक करती थी।'

'मैं फिर दूसरी ले लूंगी। यह आप रख लीजिए। मैं आपके लिए कोई गिफ्ट भी नहीं लायी। इसे गिफ्ट समझकर रख लीजिए।'

'अच्छा। फिर लाओ।'

चाय पर आई थी और बातें करते-करते काफी रात हो गयी फिर उन्होंने मुझे खाना खिलाया।

रोटी पर अपने हाथों से घी लगाया और उसके ऊपर भूरा जिसे गुड कहा जाता है। चलने लगी तो पैर छूने के लिए झुकी तो उन्होंने मेरा सर अपने गोद में रख लिया और देर तक मेरे माथे पर अपना हाथ सहलाती रहीं। अचानक एक मिनट कहकर अंदर गयी और एक छोटा सा डिब्बा लाकर मेरे हाथों में रखते हुए बोली- 'तुमने बताया तुम्हारा जन्मदिन आने वाला है। इसे मेरी तरफ से आशीर्वाद समझकर रख लो।'

आश्चर्य हुआ कि कब उन्होंने बातों-बातों में मेरा जन्मदिन पूछा और उन्हें याद भी रह गया और अब गिफ्ट भी दे रही हैं। मेरे लिए सचमुच बहुत बड़ा आशीर्वाद था। घर आकर पैकेट खोला तो उसमें साई बाबा की एक छोटी सी मूर्ति थी।

उसके बाद से हम काफी बेतकल्लुफ हो गए। अकसर फोन पर भी बातें हो जातीं। जब भी वह शूटिंग से खाली होतीं तो घर पर चाय के लिए बुला लेतीं।

एक बार उन्होंने एक जनवरी (नए साल) पर घर बुलाया। फिर मुझे अपने और अपने बेटे के साथ कहीं घुमने ले गयीं। रास्ते भर लोग उन्हें पहचानते गए। उनके दर्शक उनको देखकर इतने उत्साहित और खुश हुए कि उनके साथ फोटो खिंचवाने का आग्रह करने लगे और वह वैसे ही प्यार से हँसकर बातें भी करतीं और सबके साथ तस्वीरें भी खिंचवाती रहीं।

मैंने कहा- मुझे लगा आपको यह सब नापसंद है और शायद मना कर देंगी बल्कि बिगड़ जाएंगी।

वो बोली- यही तो उन लोगों का प्यार है। कैसे मना कर सकती हूँ। उनका दिल टूट जाएगा। लेकिन एक परेशानी मेरी बहन को जरूर हो जाती है। वह जब बाहर निकलती है तो लोग उसे भी 'दादीसा' समझ लेते हैं और उसके साथ भी फोटो खिंचवाने की जिद करते हैं।

वह कहती है- 'आप लोग जो समझ रहे हो मैं वह नहीं हूँ। वह मेरी बहन है।'

पर वह मुझसे इतना मिलती-जुलती है कि लोग समझते हैं कि वह झूठ बोल रही है और उस बेचारी की आफत आ जाती है और वह बच्चों जैसी खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

मैंने मन ही मन सोचा- पता नहीं लोग कैसे इन्हें सख्त मिजाज समझते हैं। यह तो बिलकुल नारियल की तरह हैं ऊपर से सख्त पर अंदर से नरम।



मधु लिमये : संसदीय लोकतंत्र की शान के पुरोधा

शेष नारायण सिंह

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की पत्रिका के संपादक ने जब मुझे कहा कि स्वर्गीय मधु लिमये को याद करते हुए एक संस्मरण लिख दीजिये तो मुझे लगा कि मैं शायद उपयुक्त व्यक्ति नहीं हूँ लेकिन संपादक ने कहा कि आप को ही लिखना है। संपादक, अशोक मिश्र मुझे तब से जानते हैं जब हम दोनों दिल्ली के एक हिंदी अखबार में काम करते थे। उन दिनों मधुजी सक्रिय राजनीति से अवकाश ले चुके थे और शुद्ध रूप से लिखने पढ़ने का काम करते थे। हर बड़े अखबार में उनका कालम होता था। हमारा अखबार उतना बड़ा नहीं था लेकिन मुझे भी वे अपने लेख देने लगे और मेरे बाँस स्वर्गीय उदयन शर्मा ने मुझसे कहा कि कोशिश करो कि हर हफ्ते मधुजी का लेख छापा जाए। जो अंग्रेजी अखबारों में जो छपता था उसको भी हम लोग हिंदी कर लेते थे। मुझे संपादकीय पृष्ठ पर काम करने को कहा गया था। उन दिनों कई बार हमारे अखबार ने मधु लिमये के कई ऐसे लेख छापे थे जिनकी बाद में बहुत चर्चा हुई। उनका अंतिम लेख भी पहले हमारे अखबार में छपा था, बाद में दो अंग्रेजी अखबारों में छपा। उसी में उन्होंने लिखा था कि कांग्रेस की अगुवाई में गैर भाजपा दलों को एक होना पड़ेगा। मधुजी कांग्रेस के भारी विरोधी रहे हैं लेकिन अंतिम दिनों में उनको लगने लगा था कि उनकी अपनी पार्टी के उनके साथी रहे लोग जातिवाद के दलदल में फंस चुके हैं, वे अपनी अपनी जाति के नेता बन रहे हैं, इसलिए कांग्रेस की सारे देश में मौजूद पार्टी है, उसी को आगे आना पड़ेगा। आज वही हो रहा है। कांग्रेस के बारे में उनकी बदलती सोच का वही दौर था। उनके जीवन में कांग्रेस की राजनीति हमेशा केंद्रीय रही है। उन्होंने खुद बताया था कि 1937 में जब जवाहरलाल नेहरू किसी एक कार्यक्रम में पूना गए थे तो मधु लिमये किशोर वय थे। वे कई दोस्तों के साथ मीलों साइकिल चलाकर उनको देखने गए थे। उन दिनों जवाहरलाल नेहरू देश के नौजवानों के हीरो थे। बाद बाद में मधु से 20 साल की उम्र में ही सन बयालीस के आंदोलन में सक्रिय हुए। यह अलग बात है कि बाद में डॉ. राम मनोहर लोहिया के नेतृत्व में उन्होंने जवाहरलाल नेहरू की राजनीति का घोर विरोध भी किया। संसद में संसोपा नेता के रूप में उन्होंने नेहरू की हर उस नीति का विरोध किया जो उनके हिसाब से जनहित में नहीं होती थी।

मुझे मधुजी के करीब आने का मौका 1977 में मिला था जब वे लोकसभा के लिए चुनकर दिल्ली आए थे। पंडारा पार्क स्थित उनके आवास पर आना जाना होता था। मैं किसी राजनीतिक

दल में तो था नहीं इसलिए मिलना जुलना बाद में बहुत कम हो गया। इस बीच मधुजी भी सक्रिय राजनीति से दूर हो गए। राजनीतिक कार्यक्रमों में जाना बंद कर दिया। 1989 में जब बाबरी मस्जिद-राम जन्मभूमि के मुद्दे को बीजेपी ने चुनावी सफलता की तरकीब बनाकर चुनाव लड़ा तो लोकसभा में दो सीट वाली बीजेपी एक बड़ी पार्टी बनकर उभरी लेकिन अयोध्या की विधानसभा और लोकसभा की सीटें बीजेपी हार गईं। वहां से जीतकर आए विपक्षी नेताओं जयशंकर पाण्डेय और मित्रसेन यादव का दिल्ली में सम्मान हो रहा था उसमें मधु लिमये आए और भाषण दिया। उसके बाद तो किसी भी सम्मलेन में मैंने उनको नहीं देखा।

बाबरी मस्जिद के बारे में आरएसएस और बीजेपी वाले उन दिनों सरदार पटेल के हवाले से अपनी बात को सही साबित करने की कोशिश करते थे। सरदार पटेल को कांग्रेसियों का एक वर्ग भी सांप्रदायिक बताने की कोशिश करता रहता था। उन्हीं दिनों मधु लिमये ने मुझे बताया था कि सरदार पटेल किसी भी तरह से हिंदू सांप्रदायिक नहीं थे। दिसंबर 1949 में फैजाबाद के तत्कालीन कलेक्टर के के नायर के सहयोग से बाबरी मस्जिद में भगवान राम की मूर्तियां रख दी गई थीं। केंद्र सरकार बहुत चिंतित थी। 9 जनवरी 1950 के दिन देश के गृहमंत्री के रूप में सरदार पटेल ने उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री गोविंद वल्लभ पंत को लिखा था। पत्र में साफ लिखा है कि 'मैं समझता हूँ कि इस मामले दोनों संप्रदायों के बीच आपसी समझदारी से हल किया जाना चाहिए। इस तरह के मामलों में शक्ति के प्रयोग का कोई सवाल नहीं पैदा होता।... मुझे यकीन है कि इस मामले को इतना गंभीर मामला नहीं बनने देना चाहिए और वर्तमान अनुचित विवादों को शांतिपूर्ण तरीकों से सुलझाया जाना चाहिए।' आज जब सारी मुकदमेबाजी और खून खराबे के बाद केवल सुलह की बात होती है तो मधु लिमये की बात बहुत याद आती है क्योंकि वे हमेशा कहते थे कि सरदार पटेल का रास्ता ही सही रास्ता है। मधुजी ने बताया कि सरदार पटेल इतने व्यावहारिक थे कि उन्होंने मामले के भावनात्मक आयामों को समझा और इसमें मुसलमानों की सहमति प्राप्त करने की आवश्यकता पर जोर दिया। उसी दौर में मधु लिमये ने बताया था कि कोई भी पार्टी किसी भी हालत में सरदार पटेल को जवाहर लाल नेहरू का विरोधी नहीं साबित कर सकती क्योंकि महात्माजी से सरदार की जो अंतिम बात हुई थी उसमें उन्होंने साफ कह दिया था कि जवाहरलाल से मिलजुलकर काम करना है। सरदार पटेल ने महात्माजी की अंतिम इच्छा को हमेशा ही सम्मान दिया।

मधु लिमये कहा करते थे कि भारत की आजादी की लड़ाई जिन मूल्यों पर लड़ी गई थी, उनमें धर्मनिरपेक्षता एक अहम मूल्य था। धर्मनिरपेक्षता भारत के संविधान का स्थाई भाव है, उसकी मुख्यधारा है। धर्मनिरपेक्ष राजनीति किसी के खिलाफ कोई नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है। वह एक सकारात्मक गतिविधि है। उन्होंने साफ कहा था कि राजनेताओं को इस बात पर विचार करना पड़ेगा और धर्मनिरपेक्षता की राजनीति को सत्ता में बने रहने की फौरी रणनीति के तौर पर नहीं राष्ट्र निर्माण और संविधान की सर्वोच्चता के जरूरी हथियार के रूप में संचालित करना पड़ेगा। आज भी धर्मनिरपेक्षता का मूल तत्व वही है जो 1909 में महात्मा गांधी ने हिंद स्वराज में लिख दिया था।

धर्मनिरपेक्ष होना हमारे गणतंत्र के लिए बहुत जरूरी है। इस देश में जो भी संविधान की शपथ लेकर सरकारी पदों पर बैठता है वह स्वीकार करता है कि भारत के संविधान की हर बात उसे मंजूर

है यानी उसके पास धर्मनिरपेक्षता छोड़ देने का विकल्प नहीं रह जाता। जहां तक आजादी की लड़ाई का सवाल है उसका तो उद्देश्य ही धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय का राज कायम करना था। महात्मा गांधी ने अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' में पहली बार देश की आजादी के सवाल को हिंदू-मुस्लिम एकता से जोड़ा है। गांधीजी एक महान कम्युनिकेटर थे, जटिल सी जटिल बात को बहुत साधारण तरीके से कह देते थे। हिंद स्वराज में उन्होंने लिखा है- 'अगर हिंदू मानें कि सारा हिंदुस्तान सिर्फ हिंदुओं से भरा होना चाहिए, तो यह एक निरा सपना है। मुसलमान अगर ऐसा मानें कि उसमें सिर्फ मुसलमान ही रहें, तो उसे भी सपना ही समझिए। फिर भी हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई जो इस देश को अपना वतन मानकर बस चुके हैं, एक देशी, एक-मुल्की हैं, वे देशी-भाई हैं और उन्हें एक-दूसरे के स्वार्थ के लिए भी एक होकर रहना पड़ेगा।'

महात्माजी ने अपनी बात कह दी और इसी सोच की बुनियाद पर उन्होंने 1920 के आंदोलन में हिंदू-मुस्लिम एकता की जो मिसाल प्रस्तुत की, उससे अंग्रेजी राज्य की चूलें हिल गईं। आजादी की पूरी लड़ाई में महात्मा गांधी ने धर्मनिरपेक्षता की इसी धारा को आगे बढ़ाया। शौकत अली, सरदार पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद और जवाहरलाल नेहरू ने इस सोच को आजादी की लड़ाई का स्थाई भाव बनाया लेकिन अंग्रेजी सरकार हिंदू मुस्लिम एकता को किसी कीमत पर कायम नहीं होने देना चाहती थी। महात्मा गांधी के दो बहुत बड़े अनुयायी जवाहरलाल नेहरू और कांग्रेस के दूसरे बड़े नेता, सरदार वल्लभ भाई पटेल ने धर्मनिरपेक्षता को इस देश के मिजाज से बिलकुल मिलाकर राष्ट्र की बुनियाद रखी।

मधुजी बताया करते थे कि कांग्रेसियों के ही एक वर्ग ने सरदार को हिंदू संप्रदायवादी साबित करने की कई बार कोशिश की लेकिन उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। भारत सरकार के गृहमंत्री सरदार पटेल ने 16 दिसंबर 1948 को घोषित किया कि सरकार भारत को 'सही अर्थों में धर्मनिरपेक्ष सरकार बनाने के लिए कृत संकल्प है।' (हिंदुस्तान टाइम्स- 17-12-1948)। राजमोहन गांधी ने सरदार पटेल के बारे में लिखी अपनी किताब में लिखा है कि सरदार पटेल को इतिहास मुसलमानों के एक रक्षक के रूप में भी याद रखेगा। सितंबर 1947 में सरदार को पता लगा कि अमृतसर से गुजरने वाले मुसलमानों के काफिले पर वहां के सिख हमला करने वाले हैं। सरदार पटेल अमृतसर गए और वहां बहुत बड़ी संख्या में लोग जमा हो गए। ऐसे लोग भी थे जिनके रिश्तेदारों को पश्चिमी पंजाब में मार डाला गया था। सरदार के साथ पूरा सरकारी अमला था। उनकी बेटी मणिबेन भी थीं। भीड़ बदले के लिए तड़प रही थी और कांग्रेस से नाराज थी। सरदार ने इस भीड़ को संबोधित किया और कहा, 'इसी शहर के जलियांवाला बाग की माटी में आजादी हासिल करने के लिए हिंदुओं, सिखों और मुसलमानों का खून एक दूसरे से मिला था।... मैं आपके पास एक खास अपील लेकर आया हूं। इस शहर से गुजर रहे मुस्लिम शरणार्थियों की सुरक्षा का जिम्मा लीजिए... एक हफ्ते तक अपने हाथ बांधे रहिए और देखिए क्या होता है। मुस्लिम शरणार्थियों को सुरक्षा दीजिए और अपने लोगों की ड्यूटी लगाइए कि वे उन्हें सीमा तक पहुंचाकर आएंगे।'

सरदार पटेल की इस अपील के बाद पंजाब में हिंसा नहीं हुई। कहीं किसी शरणार्थी पर हमला नहीं हुआ। कांग्रेस के दूसरे नेता जवाहरलाल नेहरू थे। उनकी धर्मनिरपेक्षता की कहानियां चारों तरफ

सुनी जा सकती हैं। उन्होंने लोकतंत्र की जो संस्थाएं विकसित कीं, सभी में सामाजिक बराबरी और सामाजिक सद्भाव की बातें विद्यमान रहती थीं। प्रेस से उनके रिश्ते हमेशा अच्छे रहे इसलिए उनके धर्मनिरपेक्ष चिंतन को सभी जानते हैं और उस पर कभी कोई सवाल नहीं उठता।

इन चर्चाओं के दौरान हुई बहुत सारी बातों को मधु लिमये ने अपनी किताब, सरदार पटेल सुव्यवस्थित राज्य के प्रणेता में विस्तार से लिखा भी है। 1994 में जब मैंने इस किताब की समीक्षा लिखी तो मधुजी बहुत खुश हुए थे और उन्होंने संसद के पुस्तकालय से मेरे लेख की फोटोकॉपी लाकर मुझे दी और कहा कि सरदार पटेल के बारे के जो लेख तुमने लिखा है वह बहुत अच्छा है। मैं अपने लेखन के बारे में उनके उस बयान को अपनी यादों की सबसे बड़ी धरोहर मानता हूँ।

मधु लिमये ने अपनी राजनीति से कभी समझौता नहीं किया। जनता पार्टी के विभाजन के लिए बहुत लोग उनको जिम्मेदार मानते हैं। उन्होंने जनसंघ से जनता पार्टी में शामिल हुए लोगों से साफ कह दिया कि आप लोग आरएसएस से इस्तीफा दीजिए क्योंकि मधु लिमये आरएसएस को राजनीतिक संगठन मानते थे जबकि जनसंघ घटक वाले उसको सांस्कृतिक संगठन मानते थे। इसी मुद्दे पर जनता पार्टी से पूर्व जनसंघ के लोग अलग हुए थे। जनसंघ और भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष रह चुके लालकृष्ण आडवानी ने अपने एक ब्लॉग में लिखा है कि 'मुख्य रूप से 'दोहरी सदस्यता' का विचार मधु लिमये की मानसिक उपज था, जिसका लक्ष्य था जनता पार्टी के उन सदस्यों को कमजोर करना, जो पहले जनसंघ का हिस्सा थे और लगातार संघ से जुड़े हुए थे। जब जनता पार्टी को बने एक वर्ष भी नहीं हुआ था तब लिमये, जो पार्टी के महासचिव थे, ने इस बात पर जोर दिया कि जनता पार्टी का कोई भी सदस्य साथ-ही-साथ संघ का भी सदस्य नहीं हो सकता' लेकिन मधुजी अडिग रहे।

आज की संसदीय राजनीति के सामने सबसे बड़ा संकट दलबदल कानून के कारण पैदा हुआ है। मधु लिमये का मानना था कि इस कानून ने भारतीय राजनीति से असहमति का अधिकार छीन लिया है। नतीजा यह है कि संसद और विधानसभा के सदस्यों के सामने पार्टी के व्हिप को मानने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा है। दलबदल के बारे में मधु लिमये के विचार हमेशा से ही बहुत साफ थे उन्होंने एक बार अपने पंडारा रोड के घर में बैठे हुए भारतीय राजनीति में दलबदल के कानून के इतिहास के बारे में भी कुछ जानकारी थी। भारत में दलबदल कानून की जरूरत 1967 में गैर कांग्रेसवाद की सफलता के बाद महसूस की गई थी। जब कई राज्यों में विपक्षी दलों ने मिलजुलकर सरकारें बनाई थीं। आया राम और गयाराम भारतीय राजनीति के नए मुहावरे बने थे। दलबदल पर रोक लगाने की जरूरत के मद्दे नजर सरकार को सुझाव देने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने एक कमेटी बनाई जिसके प्रमुख जयप्रकाश नारायण थे। उस कमेटी में अटल बिहारी वाजपयी, मोरारजी देसाई और मधु लिमये भी थे। उस कमेटी ने सुझाव दिए जिनको कानून की शक्ति देकर दलबदल पर काबू किया जाना था, कमेटी के सुझावों में सदस्य के पार्टी आलाकमान से असहमति के अधिकार को सुरक्षित रखा गया था। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि पार्टी के नेतृत्व से असहमति का अधिकार हर सदस्य के पास होना चाहिए, यही लोकतंत्र की जान है। अगर असहमति का अधिकार खत्म हो गया तो राजनीतिक पार्टियां मनमाने फैसले करने लगेंगी। इस

कमेटी के सुझाव इंदिरा गांधी को सूट नहीं करते थे इसलिए उन्होंने उसे ठंडे बस्ते में डाल दिया। उनके हारने के बाद जब 1977 में मोरारजी देसाई ने सत्ता संभाली तो उन्होंने दलबदल विरोधी कानून बनाने की बात फिर शुरू कर दी। ऐसा कानून बनाने की कोशिश की कि असहमति के अधिकार को खत्म कर देने की ताकत राजनीतिक पार्टियों के पास आ जाती। उन दिनों मधु लिमये जनता पार्टी के संसद सदस्य थे उन्होंने इस प्रस्तावित कानून का जबरदस्त विरोध किया और कानून पास नहीं हो सका। उस दौर के कई बड़े लोगों ने मधु लिमये की आलोचना की और उन्हें दल बदलुओं का सरदार भी कहा लेकिन मधु लिमये जिस सदन के सदस्य हों उसमें कोई भी सरकार मनमाने तरीके से लोकतंत्र विरोधी काम नहीं कर सकती थी। यह बात इंदिरा गांधी और जवाहर लाल नेहरू को भी मालूम थी। दलबदल कानून जनता पार्टी के समय में नहीं बन सका लेकिन जब इंदिरा गांधी के मरने के बाद राजीव गांधी प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने 30 जनवरी के दिन दलबदल कानून पास करवा लिया। और दावा किया कि महात्मा गांधी की शहादत के दिन कानून पास करवाकर सरकार ने उनके प्रति सही श्रद्धांजलि दी है। उस दिन एक दिलचस्प बात हुई। संसद में मधु दंडवते भी सदस्य के रूप में मौजूद थे और उन्होंने भी उसका समर्थन किया। जब शाम को वे मधु लिमये से मिलने गए तब उनकी समझ में आया कि कितनी बड़ी गलती कर चुके थे। मधुजी बहुत नाराज थे उन्होंने समझाया और मधु दंडवते को अपनी भूल का आभास सही परिप्रेक्ष्य में हुआ। वे राजनीतिक रूप से बहुत बड़े लोग थे। उनको अफसोस हुआ लेकिन तब तक चिड़िया खेत चुग चुकी थी। मधु लिमये कहा करते थे कि अगर एक व्यवस्था कर दी जाए कि जो लोग दलबदल करेंगे उन्हें नई पार्टी की सरकार में तब तक मंत्री नहीं बनाया जाएगा या सरकार में कोई अन्य पद तब तक नहीं दिया जाएगा जब तक उस लोकसभा या विधानसभा का कार्यकाल खत्म न हो जाए। इसके अलावा उनकी सदस्यता से कोई भी छेड़छाड़ न करने की गारंटी भी सुनिश्चित की जाए। उन्हें लाभ का कोई भी पद न दिया जाए। अगर अगले चुनाव में वे अपनी नई पार्टी से जीतकर आते हैं तो उनको मंत्री भी बनाया जा सकता है और अन्य कोई भी पद दिया जा सकता है। देखा गया है कि ज्यादातर दलबदल मंत्री बनने की लालच में ही होते हैं। इसलिए अगर यह पक्का कर दिया जाए कि मंत्री नहीं बनना है तो केवल वे लोग ही दलबदल करेंगे जो सिद्धांतों के आधार पर कर रहे होंगे। जब हम आज दलबदल कानून का दुरुपयोग होते देखते हैं, दलबदल को ही राजनीतिक सौदेबाजी का मुख्य हथियार बनाया जाता है तो मधु लिमये जैसे राजनीतिक मनीषी की बातें याद आती हैं। आज दलबदल कानून के चलते संसदीय पद्धति के लोकतंत्र का भारी नुकसान हो चुका है। शासक वर्गों की पार्टियों के आंतरिक लोकतंत्र को लगभग दफन किया जा चुका है और चारों तरफ चुनाव सुधारों की बात होने लगी है। सत्ताधारी वर्गों की दोनों ही पार्टियां आम आदमी से कट चुकी हैं। संसद और विधानसभाओं में हंगामा होना आम बात हो गई है।

मधु लिमये अक्सर कहा करते थे कि संसदीय प्रणाली बिलकुल पूर्ण नहीं है। इसमें कुछ कमियां हैं लेकिन दुनिया भर की राजनीतिक प्रणालियों में यह सर्वोच्च है। इसलिए जरूरी यह है कि हम अपने संसदीय लोकतंत्र की हिफाजत करें। ऐसा माहौल बनाया जाए जिसके बाद राजनीतिक फैसलों की बुनियाद आम आदमी के हित को ध्यान में रखकर डाली जाए, क्रोनी कैपिटलिज्म के

आधार पर नहीं। ऐसा लगता है कि संसद में हंगामा करके दोनों ही बड़ी पार्टियां संसद को नाकारा साबित करने के चक्कर में हैं। आज भ्रष्टाचार का दानव इतना बड़ा हो चुका है कि अगर लोकतांत्रिक तरीके से उसके खिलाफ आंदोलन न शुरू कर दिए गए तो बहुत बुरा होगा।

संसद में विपक्ष की भूमिका को मधु लिमये सरकार से कम बिलकुल नहीं मानते थे। विपक्ष में रहते हुए ही उन्होंने संसद की मर्यादा और गरिमा में अपना योगदान किया। पिछले 25 वर्षों से देखा जा रहा है कि विपक्ष हंगामा करके ही अपनी बात सरकार तक पहुंचाता है लेकिन एक जमाना वह भी था जब विपक्ष अपनी तर्क शक्ति से सरकार को घेरता था। मधु लिमये उन विपक्षी नेताओं में प्रमुख रहा करते थे। 1971 के लोकसभा चुनावों के बाद इंदिरा गांधी की सरकार बनी थी। उनके पास बहुत ही मजबूत बहुमत था। तो तिहाई से ज्यादा बहुमत वाली सरकारें कुछ भी कर सकती हैं, संविधान में संशोधन तक कर सकती हैं लेकिन पांचवीं लोकसभा के आधा दर्जन सदस्यों ने इंदिरा गांधी की सरकार को सदन में हमेशा घेरकर रखा। इन छः सदस्यों के काम के तरीके को आने वाली पीढ़ियों को प्रेरणा के रूप में लेना चाहिए। इनमें से अटल बिहारी वाजपेयी के अलावा अब कोई जीवित नहीं हैं लेकिन मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के ज्योतिर्मय बसु, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के मधु लिमये और मधु दंडवते, जनसंघ के अटल बिहारी वाजपेयी स्वतंत्र पार्टी के पीलू मोदी और कांग्रेस (ओ) के श्यामनंदन मिश्र की मौजूदगी में इंदिरा गांधी की सरकार का हर वह फैसला चुनौती के रास्ते से गुजरता था जिसे इन सदस्यों ने जनहित की अनदेखी का फैसला माना। लोकसभा में इन सदस्यों के कार्य को मधु लिमये संयोजित करते थे। आज तो लोकसभा की कार्यवाही लाइव दिखाई जाती है, हर पल की जानकारी देश के कोने-कोने में पहुंचती है। चौबीस घंटों का टेलिविजन समाचार हैं, बहुत सारे अखबार हैं जो नेताओं की हर अच्छाई को जनता तक दिन रात पहुंचा रहे हैं लेकिन उन दिनों ऐसा नहीं था। समाचार प्रस्तोता के रूप में टेलिविजन का विकास नहीं हुआ था, रेडियो सरकारी था। जनता को खबरों के लिए कुछ अखबारों पर निर्भर रहना पड़ता था। आज तो हर बड़े शहर से अखबार छपते हैं, उन दिनों ऐसा नहीं था। इतने अखबार भी नहीं छपते थे लेकिन संसद की इन विभूतियों के काम की हनक पूरे देश में महसूस की जाती थी। बहुत साल बाद जब मधु लिमये से इसके कारणों के बारे में पूछा गया तो उन्होंने बताया कि उन दिनों संसद सदस्य बहुत सारा वक्त संसद की लाइब्रेरी में बिताते थे जिसके कारण उनके पास हर तरह की सूचना होती थी। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि आज ऐसा नहीं है

जब पी.वी. नरसिम्हाराव के वित्त मंत्री के रूप में डॉ. मनमोहन सिंह ने अंधाधुंध निजीकरण की प्रक्रिया की बुनियाद डाली थी तो लोगों की समझ में नहीं आ रहा था कि अर्थशास्त्र के विद्वान वित्तमंत्री करना क्या चाहते थे। आजादी के बाद जो कुछ भी राष्ट्र की संपत्ति के रूप में बनाया गया था, उसे पूंजीपतियों के हाथ में सौंप देने की राजनीति शुरू हो चुकी थी। उसके पहले शासक वर्गों की पार्टियों ने बाबरी मसजिद के विवाद के जरिए धार्मिक भावनाओं को खूब जबरदस्त तरीके से उभार दिया था। देश के अधिकांश लोग हिंदू या मुसलमान के रूप में अपनी अस्मिता की रक्षा के चक्कर में इतनी बुरी तरह से उलझ गए थे कि वे अपने राजनीतिक भविष्य के साथ खिलवाड़ कर रही राजनीतिक पार्टियों की चाल की बारीकियों को देखना बंद कर चुके थे। यह अलग बात है कि

उस दौर में भी समझदार राजनेताओं का एक बड़ा वर्ग था जिसने संसद में और संसद के बाहर यह चेतावनी दी थी कि अगर मंदिर मस्जिद के चक्कर में देश का अवाम उलझा रहा तो देश की राजनीति का बहुत नुकसान हो जाएगा। उस तरह की राजनीतिक सोच के पुरोधे मधु लिमये थे। हालांकि वे संसद के सदस्य नहीं थे लेकिन उनके बहुत सारे अनुयायी संसद में हुआ करते थे। बहुत चिंतित रहते थे। अक्सर अपने पास आने वाले संसद सदस्यों से कहते रहते थे वित्त मंत्री मनमोहन सिंह की राजनीति देश के सार्वजनिक उद्योगों के मुनाफे का निजीकरण कर रही है और नुकसान का राष्ट्रीयकरण कर रही है। आवाजें उठीं भी लेकिन डॉ. मनमोहन सिंह अडिग रहे। वे कहते थे कि जिस आइडिया का वक्त आ जाए उसको कोई रोक नहीं सकता। पी.वी. नरसिम्हाराव का उनको पूरा समर्थन मिल रहा था और देश की अर्थव्यवस्था से आम आदमी को केवल तमाशबीन बनाने की प्रक्रिया को रफ्तार दी जा चुकी थी।

आम आदमी अब देश के विकास की प्रक्रिया में भागीदार की अपनी हैसियत को खत्म करने के लिए मजबूर हो रहा था। उन दिनों मधुजी इस बात को लेकर बहुत चिंतित रहा करते थे। मधु लिमये को याद करना एक छोटे लेख में जितना संभव है वह करने की कोशिश की है। वैसे उनकी याद के लिए पूरा ग्रंथ लिखा जाना चाहिए क्योंकि वह आने वाले राजनीतिक आचरण को शक्ति देगा।



राजनीतिक नैतिकता के स्तंभ

अरुण कुमार त्रिपाठी

जब राजनीति युद्ध में बदल गई हो और प्रेम व युद्ध में सब कुछ जायज बताकर राजनीतिक नैतिकता का सवाल कुछ मुद्दों तक सीमित कर दिया गया हो तब आर्थिक और राजनीतिक दोनों मोर्चों पर पूरी ईमानदारी के साथ खड़े रहने वाले किशन पटनायक जैसे राजनीतिज्ञों की बरबस याद आती है। उनका व्यक्तित्व उस समय और भी प्रासंगिक हो जाता है जब देश में विपक्षी एकता में जबरदस्त बिखराव हो और हर तरफ यही शोर उठ रहा हो कि गांधी, लोहिया और जयप्रकाश की विरासत वाली समाजवादी नैतिकता पूरी तरह समाप्त हो चुकी है या कि इस देश में ही नहीं पूरी दुनिया में समाजवादियों ने सदैव फासीवादियों का साथ दिया है। जब देश की राजनीति आगे कुआं पीछे खाई वाले अंदाज में एक भ्रामक बहस में लगी हो कि विचारहीन ईमानदारी सही है या धर्मनिरपेक्ष भ्रष्टाचार तब उनके राजनीतिक विवेक और अनुभव बहुत दूर तक रोशनी दिखाने वाले साबित होते हैं। नब्बे के दशक के कठिन दौर में देश के बौद्धिकों पर उनका यह अहसान कायम है।

ठीक-ठीक तो याद नहीं कि किशन पटनायक से कब मुलाकात हुई थी लेकिन इतना जरूर याद है कि नब्बे के दशक के आरंभ में जब देश के समक्ष मंडल, मंदिर और भूमंडलीकरण की चुनौतियां उपस्थित थीं तभी किसी समय पत्रकार मित्र हरिमोहन ने उनसे भेंट कराई थी। हरिमोहन ने मिलवाया और अरविंद मोहन ने टिप्पणी की कि यह अरुण कुमार त्रिपाठी हैं और कभी कभी बहुत अच्छा लिखते हैं। संभवतः किशन पटनायकजी के संपादन में निकलने वाली पत्रिका 'सामयिक वार्ता' की बैठक थी। यह वही पत्रिका है जिसे इमरजेंसी में उनके साथी चौरंगी वार्ता के नाम से निकालते थे और बाद में उसका नाम सामयिक वार्ता पड़ा। हरिमोहन तब इंडिया टुडे में पत्रकारिता करते थे और किसी दंभ और दिखावे के बिना राजनीतिक कार्य में भी अपना योगदान देते थे। वे उत्तेजक बहस नहीं करते थे लेकिन हर विषय पर गहरी समझ रखते थे। किसी किताब का नाम लो और हरिमोहन उसकी अंतर्वस्तु के बारे में कुछ न कुछ बता देते थे। पत्रकार होने के नाते सामयिक घटनाओं से तो अवगत रहते ही थे। राजकिशोरजी से भी मेरा परिचय हरिमोहन ने ही कराया था। सामयिक वार्ता की दिल्ली मंडली से जुड़ने के बाद अरविंद मोहन, प्रेम सिंह और योगेंद्र यादव से शुरू में परिचय हुआ और बाद में उसका दायरा सुनील, महेश यादव, राजेंद्र राजन से होता हुआ अफलातून, महेश विक्रम, डॉ. स्वाती, विनोदानंद प्रसाद सिंह और दूसरे लोगों तक पहुंचा। इस तरह हम भी किशनजी की मित्रमंडली में शामिल हो गए। किशनजी से मुलाकात से पहले अरविंद मोहन

और हरिमोहन की मेहनत से और किशन पटनायक के नेतृत्व में तैयार सामयिक वार्ता का 'गुलामी का खतरा' नामक विशेषांक निगाह से गुजर चुका था। तब देश के किसी वैचारिक संगठन ने इतना सुविचारित विमर्श प्रस्तुत नहीं किया था। यही उनकी अग्रणी दृष्टि थी। इसलिए हम जान गए थे कि किशनजी की मूल चिंता वैश्वीकरण है और वे उसके बढ़ते खतरे के प्रति देश को आगाह करना चाहते हैं। वे बात को इस तरह से रखते थे कि वह अपनी भी चिंता का विषय बनता गया। उनकी व्याख्या और वक्तृत्व कला का प्रभाव ऐसा था कि विश्वविद्यालय के शिक्षक और छात्र मुग्ध हो जाते थे और उनकी एक-एक बात से सहमत होते लगते थे। यही प्रभाव उनका लेखन भी छोड़ता था। लेकिन विचार और नैतिकता के इस तेज के अलावा उनके पास किसी को देने के लिए कुछ नहीं था।

वैश्वीकरण के मुद्दे के प्रति अपनी चिंता बढ़ने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि अस्सी के दशक के अंतिम दौर में एक तरफ मंडल आयोग की रपट लागू होने के बाद हुए आरक्षण विरोधी आंदोलन और उसके जवाब में छेड़े गए अयोध्या आंदोलन के कारण देश को आंतरिक विग्रह में जाते देखकर अपने को भयभीत कर दिया था। ऐसे में आरक्षण और धर्मनिरपेक्षता के विरोध से ध्यान बंटाने और समाज में एकता कायम करनेवाला एक नया मुद्दा दिखा और देशप्रेम और जनप्रेम की समझ ने उसे लपक लिया। किशन पटनायक ने वैश्वीकरण के विरोध में राजनीतिक दलों के वरिष्ठ नेताओं, विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों और युवाओं की समझ बनाने में बड़ा योगदान दिया। सामयिक वार्ता की प्रतियां चंद्रशेखर, शरद यादव, नीतीश कुमार, दिग्विजय सिंह (बिहार वाले), लालू प्रसाद, जार्ज फर्नांडीज, मधु दंडवते और दूसरे तमाम समाजवादी धारा से जुड़े सांसदों के पास भी जाती थीं और उन्होंने उनके अंकों को पढ़कर अपनी राय भी बनाई थी।

जब मंडल आयोग की रपट लागू होने के कारण दिल्ली, बिहार और उत्तर प्रदेश में आरक्षण विरोधी आंदोलन के चलते आत्मदाह हो रहे थे तो किशनजी का लिखा हुआ एक बेहतरीन परचा आया। उसमें आरंभ की दो लाइनें समझ बढ़ाने के लिए काफी थीं। उसमें कहा गया था- मंडल आयोग की रपट के माध्यम से आरक्षण लागू होने से जातिवाद बढ़ने का खतरा है लेकिन आरक्षण विरोध तो शुद्ध जातिवाद है। वे यहीं नहीं रुके बल्कि उन्होंने आगे बढ़कर देश और दुनिया के स्तर पर चलने वाली इन तीनों प्रक्रियाओं के अंतर्संबंधों को भी स्पष्ट किया। ध्यान देने की बात है कि उस समय इन विषयों पर अखबारों में आलेख छप रहे थे और वे एक एक विषय का अलग अलग विवेचन भी करते थे। लेकिन किशनजी ने जिस तरह उन तीनों प्रक्रियाओं के अंतर्संबंधों की व्याख्या की वह अपने में अद्भुत थी। उनका कहना था कि यह बहुराष्ट्रीय पूंजी की एक योजना है जिसके तहत देश के भीतर उथल-पुथल के कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। अगर देश के अभिजात्य वर्ग ने मंडल आयोग की रपट से शुरू हुई राजनीति का जवाब देने के लिए मंदिर आंदोलन छोड़ा तो उसी की तरफ से विदेशी पूंजी को आमंत्रित करने का खेल भी शुरू किया गया है। वह एक तरफ आरक्षण देने दिखावा करना चाहता है तो दूसरी तरफ सरकारी नौकरियों में कटौती कर उन्हें निजी क्षेत्र में डालना चाहता ताकि समाज के कमजोर वर्ग को उसका कोई लाभ न मिल पाए। ऊपर से पूंजी लाभ कमाने का अपना खेल जारी रखना चाहती है।

किशन पटनायक अपनी पैनी विचार दृष्टि से समाज और विशेषकर युवा पीढ़ी को वह दे रहे

थे जो राजनीतिक दल और सरकारें नहीं दे पा रही थीं। राजनीतिक दल टकराव पैदा कर रहे थे और सरकारें आर्थिक शोषण, हिंसा और दमन का माहौल बना रही थीं। ऐसे में विवेकपूर्ण दृष्टि देने वाले जो चंद लोग देश में दिखते थे उनमें किशन पटनायक एक थे। किसी भी बेचैन समाज के लिए यह बड़ी भूमिका होती है और किशनजी अपनी सामर्थ्य में वह निभा रहे थे। विश्वनाथ प्रताप सिंह अपनी राजनीतिक ईमानदारी और कौशल के साथ एक चतुर राजनेता साबित हुए लेकिन वे अपनी बातों से सबको संतुष्ट नहीं कर पाए। हालांकि आखिर में उन्होंने भी उदारीकरण और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विरोध का वही रास्ता अपनाया जो किशन पटनायक ने सुझाया था। तब वे समाज में ज्यादा स्वीकार्य साबित हुए। लेकिन तब तक बीमारी ने उन्हें बुरी तरह घेर लिया था और देश भी उनके दायरे से बाहर जा चुका था। तभी एक बार डायलसिस पर लेटे वीपी सिंह को देखने गए चंद्रशेखर ने कहा था कि आप स्वास्थ्य लाभ करें क्योंकि देश को आपने जहां लाकर खड़ा किया है वहां से वह आसानी से उबरने वाला नहीं है।

इस बहस मुबाहिसे और अंतरंग गोष्ठियों में संवाद के माध्यम से किशनजी से आत्मीयता बढ़ती गई और कभी योगेंद्र यादव के घर, कभी गांधी शांति प्रतिष्ठान, कभी कांस्टीट्यूशन क्लब की बैठकों और कभी वीपी हाउस के लान पर सनीचरी बैठक के माध्यम से मुलाकात का सिलसिला बढ़ता गया। उनसे मिलना उनकी बातें सुनना और उनके लेख पढ़ने से ऐसा लगता था जैसे नब्बे के अनिश्चितता भरे दशक का एक निश्चित समाधान उनके पास है और भविष्य के अंधेरे में आगे बढ़ने की एक राह भी है।

इस वैचारिक प्रखरता का तेज और भी बढ़ जाता था जब हम उनके सादे जीवन को देखते थे और किसी प्रकार के तामझाम के बिना उन्हें जनचेतना के काम में लगा हुआ पाते थे। पूर्व सांसद होने के बावजूद वे कभी वैसी जगहों पर नहीं ठहरते थे जहां राजनेता अपना जलवा कायम करने के लिए ठहरते हैं। वे बहुत दिनों तक तो सांसदों को मिलने वाली पेंशन और रेलवे की सुविधाएं भी नहीं लेते थे जिसके चलते उन्हें यात्रा में भी भारी कष्ट उठाना पड़ता था हालांकि उनकी इसी शुद्धता को लक्ष्य करके कई पुराने साथी उन पर ईमानदारी का ढोंग करने, संगठन को तोड़ने और कई साथियों को छोड़ देने का आरोप भी लगाते थे। उनके कई मित्रों का कहना था कि अगर किशन पटनायक ने विदेशी फंडिंग पर आधारित एनजीओ का विरोध न किया होता तो समता संगठन न टूटता। अगर आर्थर डंकल के वैश्वीकरण प्रस्ताव विरोधी बोट क्लब की रैली में जार्ज फर्नांडीज को लक्ष्य न किया होता तो देश में वैश्वीकरण के विरोध का बड़ा आंदोलन खड़ा होता और उसके परिणामस्वरूप नई राजनीति का जन्म होता। किशन पटनायक ने न सिर्फ एनजीओ की 'खाऊ पकाऊ संस्कृति' से अपने को दूर रखा बल्कि अपने साथियों की लंबी जमात को भी वैसा होने से बचाया। सुनील उनमें से ऐसे साथी थे जो जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में टॉप करने के बाद नौकरी करने की बजाय होशंगाबाद में आदिवासियों के बीच जाकर रहने लगे और समाजवादी आंदोलन को मजबूत करने का सपना देखने लगे। सुनील छात्र जीवन से ही किशनजी से प्रभावित थे और जीवन पर्यंत सादगीपूर्ण तरीके से ही रहे। फोर्ड फाउंडेशन, राकफेलर फाउंडेशन और आक्सफैम के धन से शोध और समाजसेवा करना किशनजी को मंजूर नहीं था। वे इसे एक तरह का भ्रष्टाचार मानते थे। वे मानते थे कि इससे जनांदोलनों को खरीद लिया जाता है या दबा दिया जाता है और समाज को

बदलने की ऊर्जा थोड़े बहुत लोगों को खरीदकर नष्ट कर दी जाती है। हालांकि उनके सभी साथी विदेशी फंडिंग से दूर नहीं रह पाए और वे भी वैसे साथियों का बायकाट जीवन पर्यंत नहीं कर पाए। सीएसडीएस जैसे संस्थान में वे पहले नहीं जाते थे। लेकिन बाद में वहां जाने लगे। इसी तरह 2003 में वर्ल्ड सोशल फोरम की मुंबई बैठक में भी उनका जाना एक प्रकार की वैचारिक नरमी लाने का ही प्रमाण था।

डंकल प्रस्ताव के विरोध में नब्बे के दशक के आरंभ में बोट क्लब पर जो रैली हुई उसका यह लेखक साक्षी रहा। वह बड़ी रैली थी और वैश्वीकरण के विरोध में राष्ट्रीय प्रतिरोध जताने के लिए जगह जगह से देशभक्त, गांधीवादी, समाजवादी और किसानों, आदिवासियों मजदूरों के संगठन जमा हुए थे। दिल्ली के लालकिला मैदान से बोट क्लब तक निकाली गई रैली में विश्वनाथ प्रताप सिंह, जार्ज फर्नांडीज, किशन पटनायक, मधु दंडवते, रवि राय जैसे कई नेता जमा थे। उसमें किशन पटनायक का ओजस्वी भाषण उपस्थित समूहों को जितना भाया उतना ही प्रतिद्वंद्वी नेताओं को चुभ गया। शायद अपनी ऐसी ही बेलाग बातों के कारण ही किशनजी समाजवादी आंदोलन के अग्रणी नेता होते हुए भी सत्ता से जुड़े नेताओं में ईर्ष्या का भी विषय रहे। उस रैली में किशनजी ने उन सभी को ललकारा जिन्होंने किसी भी तरह से विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और गैट से प्रेरित उदारीकरण की नीतियां लागू करने के लिए कदम उठाए थे। उन्होंने वैट लागू करने और आर्थिक सुधार की पैरवी करने के लिए विश्वनाथ प्रताप सिंह को आड़े हाथों लिया और एक बार कोका कोला को बाहर निकालकर दोबारा उसे वापस बुलाने के लिए जार्ज फर्नांडीज को भी कोसा। उन्होंने मधु दंडवते पर भी वित्त मंत्री रहते हुए उदारीकरण के समर्थन में कार्यक्रम बनाने के लिए तंज कसा। किशनजी का कहना था- 'जनांदोलन की गंगा बह रही है जिसने भी उदारीकरण को बढ़ाने पाप किया है वह आकर अपने को पवित्र कर ले। अब यह रुकने वाली नहीं है।'

उनकी यही वैचारिक प्रखरता उन तमाम नेताओं को रास नहीं आई जो विकल्प की राजनीति में भी दखल करना चाहते थे और सत्ता की राजनीति में भी अपनी जगह सुरक्षित रखने की इच्छा रखते थे। यही वजह थी कि जार्ज फर्नांडीज, मधु दंडवते और विश्वनाथ प्रताप सिंह ने इस आंदोलन से किनारा कर लिया और किशनजी के साथ किसी तरह का मोर्चा नहीं बन पाया। उदारीकरण विरोधी आंदोलन इस प्रकार से टुकड़ों- टुकड़ों में बिखर गया और कभी अकेले चंद्रशेखर उसके लिए पदयात्रा करते रहे तो कभी वीपी सिंह झुगगी झोपड़ी तोड़े जाने और दादरी संयंत्र लगाए जाने और किसानों की जमीन लिए जाने के विरुद्ध आंदोलन करते रहे। उधर उस आंदोलन की वैचारिक ऊर्जा की आत्मा लिए किशनजी फिरते रहे और उसकी देह लिए दूसरे लोग। जार्ज फर्नांडीज ने उस रैली के बाद अपने आवास पर रहने वाले आजादी बचाओ आंदोलन के युवा कार्यकर्ता राजीव दीक्षित का सामान फिंकवा दिया और बाद में स्वयं भी समाजवादी घराने से पलायन करके भाजपा के राजनीतिक गठबंधन एनडीए के अंग बन गए।

किशन पटनायक ने राजनीतिक विफलता के बावजूद अपनी वैचारिक ईमानदारी से कभी समझौता नहीं किया। वे मुख्यधारा की राजनीति में विचार की अनुपस्थिति को देखते हुए उसका विकल्प तैयार करने में लगे थे और इसीलिए उन्होंने वैश्वीकरण के प्रमुख सूत्र- कोई विकल्प नहीं है- के जवाब में लिखा कि- विकल्पहीन नहीं है दुनिया। वे वाणी से ही नहीं कर्म से भी समाजवादी

थे और लोहिया के समता और समृद्धि में से सिर्फ समता का मूल्य अपनाया और गांधीजी से विपन्नता उधार ले ली। क्योंकि लोहिया समता और समृद्धि दो चीजें कायम करने में यकीन करते थे। किशन पटनायक कम से कम में ही नहीं बाकायदा गरीबी में जीते थे। उनकी यात्राएं और ठहरना मित्रों के सहयोग से होता था और घर पत्नी वाणी के अध्यापन से चलता था। लेकिन कभी उनके सहयोगी और समाजवादी युवजन सभा की दिल्ली इकाई के अध्यक्ष रहे संगीत समीक्षक रवींद्र मिश्र बताते हैं कि किशनजी को भयंकर गरीबी में रहने का अभ्यास था। वे एक मध्यवर्गीय परिवार से आए थे और उनके भाई और संबंधी अच्छी हैसियत में थे लेकिन उन्होंने अपनी स्थिति सदैव साधारण जन से ही जोड़कर रखी।

उनका जन्म शिक्षक पिता के पुत्र के तौर पर कालाहांडी स्टेट में 1930 को हुआ था और उन्होंने अपनी बीए., एमए की डिग्री नागपुर विश्वविद्यालय से ली थी। वे 1992 में उड़ीसा के संभलपुर क्षेत्र से जेल से चुनाव जीतकर तीसरी लोकसभा के सदस्य बने और उन्होंने सदन में कालाहांडी की भुखमरी पर जो ऐतिहासिक व्याख्यान दिया वह भूख से होने वाली मौतों पर आज भी बहस की नजीर पेश करती है। सरकार का कहना था कि अगर मरने वाले के पेट में कुछ भी अन्न है तो उसे भुखमरी कैसा कहा जा सकता है। इसी तरह सरकार उसके घर में कुछ धन और अनाज होने पर भी भुखमरी का दावा खारिज करना चाहा लेकिन किशन पटनायक ने इस क्रूर और अमानवीय तर्क की अपने सवालियों से धज्जियां उड़ा दीं। उनका कहना था कि आखिर किसी के पेट में कितना अनाज होने पर माना जाएगा कि उसके पास खाने को भोजन था? इसी तरह घर में कितना धन होने पर गरीबी की पुष्टि होगी। इस पर सरकार कोई पैमाना नहीं बना पाई और निरुत्तर हो गई। उनकी यही दलीलें तब भी अपनाई गईं जब नब्बे के दशक में कालाहांडी, बोलंबीर और कोरापुट (केबीके) में भूख से होने वाली मौतों का मामला गर्माया और पी. साईनाथ ने तीसरी फसल और बाद में आलोक तोमर ने हरा भरा अकाल जैसा शोध किया। लेकिन केबीके के अकाल के बारे में किशनजी की एकदम अलग दृष्टि थी। उनका कहना था कि अगर इस इलाके की समस्या का हल करना है तो उसे देश के बाकी इलाकों से कुछ समय के लिए काट लिया जाए। वहां का अकाल दूर हो जाएगा। गरीबी मिट जाएगी और भुखमरी दूर हो जाएगी। उनकी दृष्टि में सारी दिक्कत अनाज की सरकारी खरीद और बाहरी लोगों की लूट से पैदा हुई है। देश के तमाम इलाकों की समस्या को बाहरी लूट की इसी व्यवस्था की उत्पत्ति मानते थे। इसी को सच्चिदानंद सिन्हा आंतरिक उपनिवेशवाद के सिद्धांत के रूप में देखते हैं। एक सांसद के रूप में किशनजी का कार्यकाल बहुत सक्रिय और प्रभाव छोड़ने वाला रहा। उपचुनाव में जब संसद में डॉक्टर लोहिया पहुंचे तो उनकी ताकत कई गुना बढ़ गई और उन दो-तीन लोगों ने मिलकर नेहरू सरकार को लगभग झकझोर दिया था।

पांच साल बाद अपना कार्यकाल समाप्त होने पर उन्होंने दिल्ली में सर्वेंट क्वार्टर में रहना पसंद किया। हालांकि लोग चाहते थे एक फ्लैट किसी सांसद के नाम से आवंटित हो जाए और वे उसमें उसी तरह रहें जिस तरह दूसरे पूर्व सांसद रहते हैं। लेकिन उन्हें न तो सुविधा प्राप्त करने के लिए इस तरह का पिछला दरवाजा पसंद था और न ही सुविधाओं के लिए किसी तरह हमेशा संसद का सदस्य बने रहने के विचार को ठीक मानते थे। उनके सहयोगी रवींद्र मिश्र ने उनके साथ सामान्य श्रेणी में रेल की कई यात्राएं कीं और बताते हैं कि उस समय उनके पास टिकट लेने के बाद रास्ते

में खाने पीने के लिए महज एक-दो रुपए हुआ करते थे। तब वे लोग लइया चना लेकर खाया करते थे। आज जब सांसद हवाई जहाज में यात्रा करते हुए मारपीट करके सारे देश में चर्चित हो सकते हैं और संसद में विशेषाधिकार का सवाल उठा सकते हैं तब बंबई से दिल्ली तक अनारक्षित डिब्बे में एक पूर्व सांसद के सफर करने की लोग कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। आज के राजनेता इसे या तो सनक कहेंगे या दिखावा। उनकी नजर में इसका विचार और नैतिकता से क्या संबंध? पर किशन पटनायक ऐसे ही थे। वे ऐसी मिट्टी के ही बने थे। उनकी यही वैचारिक ईमानदारी थी जिसकी जमीन पर खड़े होकर वे समाजवादी विचारों की खेती कर रहे थे और उससे भी ज्यादा वे राजनीतिक नैतिकता के बीज बचा रहे थे। वही बीज जो कभी कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता रखते थे तो कभी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लोग। इसी जमीन पर खड़े होने के नाते वे नेहरू के निजी रहन सहन पर होने वाले खर्च का सवाल भी लोकसभा में उठा सकते थे और कालाहांडी की भुखमरी पर बेधड़क बहस भी कर सकते थे। डॉ. लोहिया से प्रेरित होकर उन्होंने संसद में आम आदमी के पक्ष में विपक्ष को खड़ा करने का जो वैचारिक माहौल बनाया उसी को बाद में संसद पहुंच कर डॉ. लोहिया ने धार दी। लोहिया के तीन आने बनाम पंद्रह आने के भाषण की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले किशन पटनायक ही थे। पंडित नेहरू के घर पर होने वाले खर्च की बहस को पहले उन्होंने ही उठाया था।

विचार की राजनीति और उसकी नैतिकता को जीने वाले किशन पटनायक अपने युवा साथियों से भी खुलकर बहस करते थे और उनके विचारों से भिन्नता को बुरा नहीं मानते थे। उन्होंने सच्चिदानंद सिन्हा और ईश्वरी बाबू के साथ किसान आंदोलन किताब संपादित की थी जिसमें से बाद में सिर्फ उन्हीं के लेखों का संकलन 'किसान आंदोलन की दशा और दिशा' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस टिप्पणीकार ने उस किताब का हवाला देते हुए जनसत्ता में लिखा कि भूमि सुधार का समाजवादी एजेंडा उसके प्रमुख विचारकों ने छोड़ दिया है। वजह साफ थी कि किशनजी और उनके साथियों ने दलील दी थी कि बांटने के लिए जमीन है ही कहाँ? यह सीधा हमला था। संयोग से जिस दिन लेख छपा उसी दिन गांधी शांति प्रतिष्ठान में उनसे भेंट हो गई। मैं थोड़ा डरा कि या तो बात नहीं करेंगे या बहस करेंगे लेकिन दोनों नहीं हुआ। वे एकदम सहज भाव से मिले और उतनी ही आत्मीयता दिखाई जितनी पहले दिखाते थे। उनकी यह आत्मीयता तब और पुष्ट हुई जब उन्होंने सहज भाव से मुझे सामयिक वार्ता के संपादक मंडल का सदस्य बना लिया और बाद में अपने कई लेखों में मेरे विचारों को उद्धृत किया। उसमें युवाओं के लिए आदर के साथ प्रेम का अद्भुत समन्वय भाव था। विचारों की दुनिया रचने वाले व्यक्ति से इससे ज्यादा और क्या पाया जा सकता है।

लेकिन वे अपने युवा साथियों से बहस भी करते थे खासकर उस समय जब उन्हें लगता था कि मतभेद गहरे हैं। जनसत्ता के ही एक साथी सत्येंद्र रंजन ने वैश्वीकरण पर उनकी चेतावनी का विरोध और मजाक उड़ाते हुए लिखा- प्रलयवादियों से सावधान। उनके इस लेख में यह स्थापना थी कि उदारीकरण से विज्ञान और प्रौद्योगिकी की तरक्की हो रही है दुनिया समृद्ध हो रही है और उसका विरोध करने वाले बेवजह हल्ला मचा रहे हैं। किशनजी ने उनकी बात को तवज्जो देते हुए उनकी एक एक बात का सिलसिलेवार जवाब दिया और कहा कि या तो यह प्रक्रिया मानव जाति और धरती के जीव जंतुओं को तबाह कर देगी या खुद ही विफल हो जाएगी। किशनजी ने लिखा कि अगर हमें वैश्वीकरण के इस प्रकोप से बचना है तो बाबा नूह की तरह एक नौका बना लेनी चाहिए

जिसमें जंतुओं और वनस्पतियों की सभी प्रजातियों के एक एक जोड़े को रख लेना चाहिए। रोचक बात यह है कि किशनजी के साथियों ने एक युवा साथी के जवाब में लिखे गए उस लेख को कुछ दिनों तक दबा दिया। उनका मानना था कि इससे उस युवा की बेवजह अहमियत बढ़ेगी। लेकिन जब किशनजी को यह पता चला तो उन्होंने साथियों को समझाया कि विचारों का टकराव होते देना चाहिए। इससे लोग जुड़ते हैं और समाज लोकतांत्रिक बनता है।

उदारीकरण और वैश्वीकरण के विरोध के लगभग हर बड़े आंदोलन को समर्थन देने के लिए किशन पटनायक पहुंचे रहते थे। एक बार इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गणित के प्रोफेसर बनवारी लाल शर्मा द्वारा गठित 'आजादी बचाओ आंदोलन' ने नब्बे के दशक के मध्य में इलाहाबाद, जौनपुर और बनारस के बीच मानव श्रृंखला का त्रिकोण बनाया। उसमें रामधीरज, डॉ. एके अरुण, वीपी श्रीवास्तव और प्रोफेसर कमल नयन काबरा सहित हम लोग यही चर्चा कर रहे थे कि अगर बनवारी लाल शर्मा, डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा और किशन पटनायक जैसे तीन ईमानदार, समझदार और कर्मठ श्रेष्ठ जनों का नेतृत्व इस आंदोलन को मिल जाए तो यह देश में विकल्प की नई राजनीति खड़ी कर सकता है। कुछ लोग आशंका जता रहे थे कि शायद किशनजी न आएंगे। कुछ लोगों का कहना था कि किशनजी के बनवारी लालजी से मतभेद हैं क्योंकि बनवारी लालजी राजनीतिक बात करने से बचते हैं। लेकिन किशनजी आए और उन्होंने वहां युवाओं की सभा को संबोधित किया। उन्होंने वैश्वीकरण के खतरे के बारे में इतना बढ़िया भाषण दिया कि उसे सुनने आए गोविंदाचार्य भी उनके मुरीद होकर गए। उड़िया शैली में बोली गई उनकी हिंदी में इतनी ताजगी होती थी कि थोड़ी बहुत कृत्रिमता कहीं खटकती नहीं थी।

किशनजी के साथ कुछ मंचों पर व्याख्यान देने और एक दो बार उनका इंटरव्यू लेने का भी अवसर प्राप्त हुआ है। लगा कि हर बार कुछ नया विश्लेषण सीखने और अभिव्यक्ति की नई शैली समझने का लाभ हुआ। एक बार विभिन्न राजनीतिक प्रश्नों पर उनसे लंबा इंटरव्यू लिया। वह इंटरव्यू योगेंद्र यादव के घर पर हुआ। किशनजी दमे के मरीज थे इसलिए वे हांफ भी गए लेकिन उन्होंने बातचीत विस्तार से की। जब दूसरे दिन वह इंटरव्यू अखबार में छपा तो वह बहुत छोटा था। उससे हमें भी निराशा हुई और उनको भी। फिर हम लोगों ने उनके विचारों को लेख का रूप देकर कहीं और प्रकाशित किया तो उसकी सार्थकता कायम हुई।

एक बार गाजियाबाद स्थित जनसत्ता सोसायटी में डॉ. प्रेम सिंह ने रवींद्र मिश्र के फ्लैट पर ही एक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया। उस शिविर में सच्चिदानंद सिन्हा, किशन पटनायक, प्रोफेसर आनंद कुमार, प्रोफेसर सुरेश शर्मा (सीएसडीएस), विनोदानंद प्रसाद सिंह, अफलातून, लिंगराज और दूसरे तमाम साथी जमा हुए। किशनजी कई सत्रों में बहुत बढ़िया बोले और सामान्य कार्यकर्ता को समझाने वाले अंदाज में बात रखी। जब लोग रात को शिविर में सोने की बजाय अपने अपने घरों को जाने लगे तो उन्होंने आपत्ति जताई और समझाया कि शिविर रात में भी साथ बिताने के लिए होते हैं तभी भाईचारा और एकता कायम होती है और समझ गहरी होती है। उस शिविर के दो सत्रों में अपना भी भाषण था और उन्होंने न सिर्फ उसकी तारीफ की बल्कि जहां असहमत थे वहां हस्तक्षेप भी किया। समाज में लोकतांत्रिक दृष्टि का विकास कैसे किया जाता है, नैतिकता कैसे कायम की जाती है और एक समाजवादी संस्कृति कैसे बनाई जाती है इसका मुकम्मल ज्ञान वे देते थे।

किशन पटनायक देश में समाजवादी विचारों की नैतिकता कायम करने में लगे हुए थे। इस नैतिकता में वे मुख्यधारा के दलों को कहीं खड़ा हुआ नहीं पाते थे। उन्हें वह घटना बहुत रास आती थी जब आचार्य नरेंद्र देव ने कांग्रेस पार्टी छोड़ने के साथ उत्तर प्रदेश विधानसभा से इस्तीफा दे दिया था और जाते जाते एक शेर पढ़ा था कि 'हमें न होंगे क्या रंगे महफिल किसे देखकर आप शरमाएगा।' एक तरह से किशनजी में आचार्य नरेंद्रदेव की नैतिकता थी। डॉ. लोहिया जैसा समाज परिवर्तन का आवेग और विचारों के सूत्रीकरण की सामर्थ्य थी और जयप्रकाश नारायण जैसी युवाओं में स्फूर्ति भरने की भाषण शैली थी। बस कमी थी तो समय और संगठन की जो उन्हें आजीवन प्राप्त नहीं हो सका इसीलिए वे न तो 1977 में जनता पार्टी के कुनबे के साथ गए और न ही 1998 में विश्वनाथ प्रताप सिंह के राष्ट्रीय मोर्चा के सदस्य बने। हालांकि वे आपातकाल में जेल में भी रहे और सार्वजनिक जीवन में शुचिता के लिए लड़ते लड़ते उसके प्रतिमान बन गए थे। इसी दृष्टि को लेकर उन्होंने 1980 में समता संगठन बनाया और देश के दलित, किसान, आदिवासी और मजदूरों को जोड़कर उनके लिए एक वैकल्पिक आंदोलन खड़ा करने में लगे रहे। इस संगठन को 1995 में उन्होंने समाजवादी जनपरिषद का रूप दिया। उनकी सोच थी कि दही के जामन की तरह समाजवादी विचारों और उसके वाहकों को बचाकर रखना होगा। आज जब समाजवादी विचारों और उसके वाहकों के भ्रष्ट होने का सिलसिला तीव्र हो गया है तब किशन पटनायक जैसे सरल, सहज किंतु विचारों के लिए ईमानदार और दृढ़ राजनेताओं की कमी बहुत अखरती है।

वे मजाक में कहते थे कि हमारी पार्टी कभी टूटेगी नहीं क्योंकि वह सत्ता में नहीं आने वाली है। इस बात पर हम लोगों को काफी हँसी भी आती थी और निराशा भी होती थी। अच्छा हुआ कि अन्ना आंदोलन उनके जीते जी नहीं हुआ और पार्टी टूटने की घटना उनके न रहने पर हुई। वरना सुनील की तरह उन्हें भी पक्षाघात हो सकता था। किशनजी जनांदोलनों को समर्थन और ऊर्जा देने के लिए अपनी सेहत की परवाह किए बिना देश के कोने-कोने में दौड़ा करते थे। एक बार उनकी पत्नी वाणी ने पूछा कि जब जानते हैं कि आपका संगठन चुनाव नहीं जीत सकता, न ही इस देश में क्रांति होने जा रही है, फिर किसलिए जगह-जगह दौड़ा करते हैं? इस पर उनका कहना था कि कहीं तो कुछ अच्छे लोग मिल जाएंगे। समाज में अच्छे लोगों से मिलते रहना अपने में बड़ा काम है। ऐसा किशनजी का मानना था। शायद समाज को उदार बनाए रखने के लिए, सहिष्णु बनाए रखने के लिए और समझदार बनाने के लिए कुछ लोगों की ऐसी सक्रियता जरूरी है। क्या कहीं जाना सिर्फ इसीलिए होना चाहिए कि कोई राजनीतिक और आर्थिक लाभ होने वाला है?

फिर भी किशन पटनायक को लालू प्रसाद, नीतीश कुमार और रामविलास पासवान के बीच एकता होते देखने की बड़ी इच्छा रहती थी हालांकि उन्होंने इसके लिए कभी कोई प्रयास नहीं किया। इसे वे बिहार के भविष्य के लिए बेहतर मानते थे। लालू प्रसाद के बारे में उनकी टिप्पणी गौर करने लायक है। किशनजी कहते थे लालू प्रसाद को देखने पर चंद्रगुप्त की याद आती है। वह भी पाटलिपुत्र में बैठता था और संभवतः उसकी भी नाक नक्श ऐसी ही रही होगी। जनता पर प्रभाव भी लालू की तरह जबरदस्त था। लेकिन फर्क यही है कि चंद्रगुप्त के दरबार में चाणक्य बैठता था और लालू के दरबार में चापलूस।

उनकी सहजता के कुछ किस्से फैजाबाद के पूर्व विधायक और समाजवादी पार्टी के जिलाध्यक्ष

जयशंकर पांडे सुनाते हैं। 1972 में फैजाबाद की दामोदरदास धर्मशाला में समाजवादी युवजन सभा का सम्मेलन हो रहा था। उस समय वहां किशन पटनायक, जनेश्वर मिश्र, राजनारायण, रामसेवक यादव, अनंतराम जयसवाल, ब्रजभूषण तिवारी, मार्कंडेय सिंह जैसे कई बड़े नेता पधारे थे। अवध और विशेषकर फैजाबाद में रामदाने की एक मिठाई मिलती है जिसे करारी लैया कहते हैं। जयशंकर पांडे ने किशन पटनायक को करारी लैया खिलाई जो उन्हें बहुत पसंद आई। फिर उन्होंने कहा कि जब मैं लौटने लगूं तो इस मिठाई को मेरे लिए थोड़ा पैक करा देना। करारी लैया फैजाबाद के हैदरगंज इलाके में बनती है और जयशंकरजी ने उनके लिए गुलाब जल वगैरह डलवाकर बनवाया और पैक करवाई। अवध के लोग जानते होंगे कि वह मिठाई साधारण लोगों की मिठाई है और न तो उसकी लागत ज्यादा है और न ही कीमत। समाजवादी नैतिकता के खेवनहार को सामान्य जन की वह मिठाई बहुत पसंद आई।

वैश्वीकरण और राजनीतिक जीवन के नैतिक पतन से लड़ते लड़ते किशन पटनायक थक गए थे। साथ ही दमे की बीमारी भी उन्हें परेशान कर रही थी। हालांकि वे इस बात को भी कह रहे थे कि यह वैश्वीकरण जल्दी ही पराजित होगा और संभवतः 2008 का समय होगा। इस बीच वे इसके विकल्प के लिए होने वाले आयोजनों में अपनी शुद्धता छोड़कर भी जाने लगे थे। मुंबई में 2003 के अंत में वर्ल्ड सोशल फोरम का सम्मेलन हुआ जिसका वैचारिक शुद्धता में यकीन करने वाले तमाम साथियों ने बायकाट किया। किशन पटनायक ने बायकाट नहीं किया। वे उस सम्मेलन में गए। वे उसके ठीक सामने अतिवामपंथी साथियों की तरफ से आयोजित 'मुंबई रेजिस्टेंस' में भी गए। उन्हें 2004 में निधन से पहले इस बात की खुशी और संतोष था कि एनडीए सत्ता से बाहर हो गया है और देश से फासीवाद का खतरा टल गया है लेकिन वैश्वीकरण के विरुद्ध लड़ाई समाप्त नहीं हुई थी। इस दौरान उन्होंने धर्मनिरपेक्षता का घोषणा पत्र शीर्षक से कई लेख लिखे जो उनकी बेचैनी और समाधान की तलाश के प्रमाण हैं।

लेकिन किशनजी दमे से परेशान थे। परेशानी का आलम यह था कि वे आधुनिक दवा पद्धति से ऊबकर देशी पद्धति के टोटकों में भी आराम ढूंढ रहे थे। फैजाबाद के जयशंकर पांडे बताते हैं कि सन् 2001 की बात है कि उन्होंने एक बार बनारस से फोन किया कि मैं आ रहा हूं और तुमसे खास काम है। जब वे फैजाबाद पहुंचे तो उन्होंने कहा कि यह बात किसी से मत कहना लेकिन उन्नाव में शायद कोई है जो कान छेदता है और दमा ठीक हो जाता है। जयशंकरजी उन्हें लेकर गए और कान छेदवाया। कुछ दिनों बाद उनके पास किशनजी का फोन आया कि वे काफी आराम महसूस कर रहे हैं। सन् 2004 के मध्य में हैदराबाद में किसी कार्यक्रम में थकान और बहस वगैरह से पैदा हुई बेचैनी से उनकी तबियत बिगड़ गई और फिर वे ठीक नहीं हो सके। राजनीति में नैतिकता और शुचिता का आग्रही एक समाजवादी चिंतक दमे की उसी बीमारी से गया जिससे ग्रसित होकर भारतीय समाजवादी आंदोलन के पितामह आचार्य नरेंद्रदेव गए। नरेंद्रदेव फैजाबाद के ही थे और किशनजी का फैजाबाद से एक रिश्ता बना था पर उनके विचार और ईमानदारी आने वाली पीढ़ियों के लिए एक मशाल की तरह से हैं। जब भी अंधेरा गहराएगा और नैतिकता ग्रहणग्रस्त होगी उन्हें ऐसे लोगों से ही रोशनी मिलेगी।



कवि, कलाकार और राजनेता

अरविंद कुमार सिंह

एक छोर पर इंदिरा गांधी का स्मारक है तो दूसरे छोर पर प्रधानमंत्री निवास। इसी से लगी कोने की कोठी पर विश्वनाथ प्रताप सिंह के नाम का बोर्ड लगा है। आगे पीछे कुछ और नहीं लिखा है। कभी यह कोठी दिल्ली में सत्ता की केंद्र होती थी। संसदीय राजनीति से वी.पी. सिंह के संन्यास लेने के बाद से यह पूरी तरह सन्नाटे से घिरी रहने लगी। कुछ बहुत करीबी लोग, किसान नेता और परिवारीजन ही आम तौर पर वहां नजर आते। इसी दौरान वीपी सिंह को राजनीतिक व्यस्तताओं से समय निकला तो उनका एक अलग रूप नजर आया।

लंबी राजनीतिक पत्रकारिता के दौरान की कई डायरियों को मैंने सहेजकर रखा है। डायरियां लिखना अपनी आदत कभी नहीं रही लेकिन बहुत से महत्वपूर्ण घटनाओं के कवरेज के नोट्स मैंने सुरक्षित रखे हैं। इनमें कुछ घटनाएं वीपी सिंह से जुड़ी रही हैं। एक शाम दफ्तर में अचानक फोन आया कि 6 मार्च 1995 को सायंकाल उनके घर पर आमंत्रित किया गया है। मुझे लगा शायद कोई राजनीतिक प्रयोजन होगा, कोई प्रेस कांफ्रेंस हो सकती है। जब कोठी पर पहुंचा तो देखा वहां काव्य गोष्ठी थी। कमरे में नीचे दरी बिछी थी और गिने-चुने श्रोताओं के बीच जो कवि कविता सुनाने बैठा था वह खुद वीपी सिंह थे। वे तीन घंटे तक वीपी सिंह कविताएं सुनाते रहे। फरमाइश पर फरमाइश होती रही। एक, दो तीन, चार, नहीं बल्कि दस कविताएं सुनाईं। उसी दौरान राधाकृष्ण प्रकाशन ने उनका एक कविता संग्रह 'एक टुकड़ा धरती- एक टुकड़ा आसमान' छपा था। उसका विमोचन नहीं हुआ था।

वैसे तो वीपी सिंह काफी दिनों से कविताएं लिख रहे थे लेकिन इसकी भनक कम ही लोगों को लगने दी थी। छपवाया तो बहुत बाद में। वे मानते थे कि कविताएं दंडबैठक की तरह नहीं होतीं कि रोज हो जाएं। उन्होंने अपनी कविताओं के नीचे तारीखें भी नहीं लिखीं ताकि इसकी राजनीतिक व्याख्या न हो सके कि ये किस मनोदशा के बीच रची गयीं। फिर भी राजनीतिक घटनाओं को करीब से देखने वालों के लिए यह कविताओं का मर्म समझ लेना कठिन नहीं था।

कविताओं की फरमाइश शुरू होती है। कहा जाता है कि आप अपनी पसंदीदा कविता सुनाइए। इस पर वीपी सिंह कहते हैं कि कविताएं छांटना टेढ़ा काम है। अपनी लिखी कविता हो या फिर पेंटिंग अपने बच्चे की तरह लगती है। सब अच्छी लगती हैं। खुद उनको चयनित करना कठिन काम है। फिर भी वे अपनी मरजी से एक कविता सुनाते हैं।

‘मुफलिस से
अब चोर बन रहा हूँ
पर उस भरे बाजार से चुराऊं क्या
यहां वही चीजें सजी हैं
जिन्हें लुटा कर मैं मुफलिस हुआ हूँ।’

आग्रह का दौर खत्म नहीं होता। वीपी सिंह कहते हैं कि लगता है आप लोग पूरी किताब ही सुन लीजिएगा। फिर भी आग्रह पर मेरी तस्वीर नाम की एक और कविता सुनाते हैं-

‘मेरी अंतिम पोज पर भी
यह (मेरी तस्वीर) मुस्कुराएगी
क्योंकि मैं चला जाऊंगा
यह रह जाएगी।’

इस काव्य गोष्ठी में वे चुनकर कई कविताएं सुनाते हैं। एक राजनेता कविता सुना रहा हो तो भी राजनीति पर चर्चाएं न हो यह कैसे हो सकता है। बैठक में इस पर चर्चाएं हुईं और तबके ज्वलंत मुद्दे यानी हवाला कांड पर भी। जनता दल सरकार के दौरान हुए समझौतों पर भी चर्चा हुई। वीपी सिंह ने कहा कि मैंने केवल तभी कुछ समझौते किए जब उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री था। बाद में वित्त मंत्री रहा या रक्षा मंत्री और प्रधानमंत्री मैंने कभी समझौता नहीं किया और काठ की कुरसी से मोह भी कभी नहीं पाला। आज राजनीति बदल रही है। मतलबियों से भी मतलब निकाल लेने वाला सबसे बड़ा नेता है।

विश्वनाथ प्रताप सिंह से मेरा परिचय 1983 में हुआ। तब मैं इलाहाबाद में जनसत्ता का संवाददाता था और मुलाकात का माध्यम के.पी. तिवारीजी बने थे, जो उस समय इलाहाबाद के सांसद थे। अगले ही साल तिवारीजी की ही खाली की सीट पर अमिताभ बच्चन सांसद बने, जिनके नाते इलाहाबाद की राजनीति से जो नया समीकरण बना उसने केंद्रीय राजनीति को भी प्रभावित किया। बाद में अमिताभ बच्चन को अपनी लोक सभा सदस्यता से इस्तीफा देना पड़ा और वीपी सिंह को कांग्रेस से। अमिताभ बच्चन के इस्तीफे से खाली सीट पर निर्दलीय चुनाव लड़कर वीपी सिंह संसद पहुंचे और उनके इर्दगिर्द ही विपक्षी एकता का नया अध्याय आरंभ हुआ। उस सारे दौर को मैंने बहुत करीब से देखा। सत्ता से अधिक उनके संघर्ष के दौर में एक पत्रकार के तौर पर बहुत मौकों पर साथ रहने के नाते एक स्वाभाविक आत्मीयता बन गयी थी। इस नाते बहुत से मौकों का साक्षी रहा और बहुत सी यात्राएं भी उनके साथ करने का मौका मिला।

भारत के प्रधानमंत्री, रक्षा मंत्री, वित्त मंत्री और बहुत से ओहदों पर रहने के अलावा वीपी सिंह देश के सबसे बड़े सूबे उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री भी रहे। लेकिन वे एक संवेदनशील कवि, एक अच्छे चित्रकार, छायाकार और मौलिक चिंतक थे। समाज में व्यापक बदलाव के भी पक्षधर थे। हालांकि उनके व्यक्तित्व का आकलन दो तरीकों से होता है। मंडल आयोग लागू होने के पहले के वीपी सिंह अलग और मंडल आयोग लागू होने के बाद के अलग। मंडल आयोग लागू होने के बाद उनके बहुत से करीबी लोग उनसे अलग ही नहीं हुए, उनके घोर विरोधी बन गए। उनको अति महत्वाकांक्षी और सत्तालोलुप तक कहा। उनके दौर की राजनीति को करीब से देखने वाले जानते हैं कि अगर वे सत्ता

से चिपके रहना चाहते तो चंद समझौतों से अपनी कुर्सी बचाए रख सकते थे। उन्होंने ऐसा नहीं किया और दबाव में झुके नहीं।

वीपी सिंह की राजनीति पर लाल बहादुर शास्त्री और हेमवतीनंदन बहुगुणा की छाप थी। राजनीति के आरंभ में इन दोनों नेताओं के वे स्नेहपात्र रहे। बाद में श्रीमती इंदिरा गांधी के भी काफी प्रिय रहे। उनकी राजनीति का सफर इलाहाबाद के जमुनापार के कंकरीले पथरीले रास्तों से शुरू हुआ। पहली लड़ाई घर में ही लड़नी पड़ी। आचार्य विनोबा भावे पहुंचे तो वीपी सिंह ने जमुनापार तथा फूलपुर की अपनी खेती की 30 हजार बीघा जमीन उनको दान कर दी। परिवार में खलबली मची और विनोबाजी ने भी कहा कि हम तो छठा हिस्सा लेते हैं, तुम बाकी का वापस ले लो, लेकिन वे नहीं माने और कहा कि दी हुई जमीन हम वापस नहीं लेगे। भूदान आंदोलन में वे कई राजे-रजवाड़ों के लिए प्रेरणास्त्रोत बने। तभी उनकी ख्याति लाल बहादुर शास्त्री तक पहुंची। वे उनसे इतना प्रभावित हुए कि प्रधानमंत्री रहने के दौरान उनके एक कार्यक्रम में शामिल हुए। इसी दौरान उनके बीच ऐसा गहरा रिश्ता बना कि श्रीमती ललिता शास्त्री ने उनको अपना बेटा ही मान लिया।

वीपी सिंह का जन्म 25 जून 1931 को इलाहाबाद में हुआ था। उन्होंने बीए, बीएससी और एलएलबी की उच्च शिक्षा वाराणसी, इलाहाबाद और पूना से हासिल की। मांडा के राजा बहादुर राम गोपाल सिंह ने उनको गोद लिया था। इलाहाबाद से मिर्जापुर मार्ग पर मांडा कोठी आज भी इतिहास की गवाह है। वे डइया के राजा भगवती प्रसाद सिंह के यहां जन्मे लेकिन 11 मार्च 1936 को मांडा राज महल में एक भव्य समारोह में राजा मांडा ने उनको गोद लिया। 1941 में जब वीपी सिंह महज 10 साल के थे तो राजा मांडा का निधन हो गया और मांडा की जागीर एक ट्रस्ट के हवाले हो गयी। मैनेजर तत्कालीन डिप्टी कलेक्टर अमर सिंह बने। कुछ खतरों के नाते उनका बचपन काफी सुरक्षा में बीता। वे इलाहाबाद में मांडा राजा के ऐश महल में रहे और वहीं हाईस्कूल तक की पढ़ाई पूरी की। बाद में उनकी उच्च शिक्षा बनारस, इलाहाबाद और पुणे में। छात्र जीवन से उनमें नेतृत्व के गुण दिखने लगे थे। वे बनारस के उदय प्रताप सिंह कालेज छात्र संघ के अध्यक्ष और इलाहाबाद विश्वविद्यालय छात्र संघ के उपाध्यक्ष भी रहे। 25 जून 1955 में सीता कुमारी से विवाह हुआ, जिससे उनके दो पुत्र अजेय और अभय सिंह हुए।

यह सही है कि वे राजसी शान के बीच पले थे। नाम के आगे राजा भी लगाया जाता था। लेकिन हकीकत में एक दिन भी जमींदारी की कुर्सी पर नहीं बैठे। वे बालिग हुए उसके पहले ही जमींदारी प्रथा समाप्त हो चुकी थी। अपनी पढ़ाई पूरी करने के बाद वे जब अपने गांव लौटे तो उन्होंने इलाहाबाद के कोरांव इलाके में सबसे पहले पिता के नाम पर स्कूल खोला। उन्होंने खुद ईंटें तक ढोयीं और खुद काफी दिनों तक बच्चों को पढ़ाया। विनोबाजी ने इसका शिलान्यास किया था। धीरे-धीरे इलाके में पांच कालेज उनके प्रयासों से खुले। बाद में उनके कदम राजनीति की ओर बढ़ने लगे। 1969 में राजा दिनेश सिंह की मदद से वे विधायक बन गए और धीरे धीरे हेमवती नंदन बहुगुणा के प्रिय पात्र बने। 1971 के लोकसभा चुनाव में बहुगुणाजी के सुझाव पर इंदिरा गांधी ने उनको फूलपुर से लोकसभा का उम्मीदवार बनाया, जिसमें वे जीते और केंद्र में वाणिज्य उपमंत्री और फिर संचार राज्यमंत्री बने।

1977 की जनता पार्टी की आंधी में कांग्रेस के तमाम दिग्गज नेताओं की तरह वीपी सिंह भी

हारे। इलाहाबाद से उनको जनेश्वर मिश्र ने पराजित किया लेकिन 1980 में वीपी सिंह ने जनेश्वर मिश्र को 70 हजार वोटों से हरा दिया। यह पारी सीमित रही और जून 1980 में उनको उत्तर प्रदेश मुख्यमंत्री बना दिया गया। वे 9 जून 1980 से 19 जुलाई 1982 के दौरान मुख्यमंत्री रहे लेकिन पूरा कार्यकाल घटनाओं से भरा रहा। चौधरी चरण सिंह के बाद वे उत्तर प्रदेश के दूसरे ऐसे मुख्यमंत्री थे जो प्रधानमंत्री पद तक पहुंचे।

मुख्यमंत्री रहने के दौरान उनके बड़े भाई और इलाहाबाद हाईकोर्ट के न्यायमूर्ति चंद्रशेखर प्रताप सिंह और भतीजे अजीत सिंह की हत्या एक डाकू गिरोह ने कर दी। शवयात्रा में तीस हजार से ज्यादा लोगों के साथ वीपी सिंह पूरी राह रोते रहे। बड़े भाई जिनको वे दादा भाई कहते थे, वे उनके परिवार के संरक्षक थे। उनको पढ़ाने-लिखाने से लेकर राजनीति में बढ़ाने में मदद की और जब तक जीवित रहे वीपी सिंह को घर गृहस्थी की चिंता नहीं हुई लेकिन उनकी मौत के बाद उनकी दुनिया बदल गयी। उन्होंने अंतरात्मा की आवाज पर मुख्यमंत्री का पद छोड़ दिया। किसी से न सलाह ली न इंदिरा गांधी को बताया। पद त्याग करने के बाद उन्होंने एक टिप्पणी लिखी थी जो 'रविवार' पत्रिका के 11 जुलाई 1982 के अंक में छपी। वह उनकी संवेदना और राजनीतिक हकीकत दोनों को दर्शाती है-

28 जून 1982. फाटक से निकला ही था कि कुछ उत्सुक चेहरे हाथों में कागज लिए फुटपाथ पर दिखाई पड़े। गाड़ी रोकी। आर्थिक सहायता, नौकरी और स्थानांतरण की दरखास्तें थीं। इनके दुखड़े दूर हो पाएंगे कि सचिवालय की आलमारियों में बंद हो जाएंगे..। लाल फीते की मुट्टी में सारा चीत्कार बंद हो जाता है। इनसान एक कागज बन जाता है। किस्मतों पर नंबर पड़ जाते हैं और इनके दूह पर खड़े होकर हम हर परेशान को सुखमय भविष्य के लिए आश्वस्त करते रहते हैं। वह मूक होता है और हम मुखर। जनता और सत्ता के बीच कोई खाई नहीं है, बस परदा है कागज का, दुर्ग सा दुर्भेद्य।

उनके इस्तीफे के बाद बहुतों को लगा कि अब उनकी राजनीति अस्ताचल की ओर जाने की वेला है। इंदिराजी को ऐसी बातें और ऐसे कदम पसंद नहीं थे। लेकिन सारे आकलन गलत निकले। जल्दी ही उनको उत्तर प्रदेश में कांग्रेस संगठन का नेतृत्व सौंप दिया गया। उनके नेतृत्व में उत्तर प्रदेश में चुनाव लड़ा गया और सरकार बनी। इंदिरा गांधी की हत्या के बाद उनको फिर से केंद्रीय राजनीति में जाना पड़ा। राजीव गांधी उन पर काफी भरोसा करने लगे थे और इसी नाते उनको राजीव गांधी की सरकार में 1985 से 1987 के बीच वित्त मंत्री बनाया गया। उन्होंने काले धन के खिलाफ ऐसी जोरदार मुहिम चलायी कि कई उद्योग घराने हिल गए। एक बड़े घराने ने राजीव गांधी पर काफी दबाव बनाने की कोशिश की लेकिन वीपी सिंह के वित्त मंत्री रहने तक वे सफल नहीं हो सके। बाद में वीपी सिंह को वित्त मंत्री पद से हाथ धोना पड़ा। उनको रक्षा मंत्री बनाया गया तो भी वे शांत नहीं रहे। रक्षा मंत्रालय में उन्होंने एचडीडब्ल्यू पनडुब्बी सौदे की जांच का आदेश दे दिया, जिसके बाद 12 अप्रैल 1987 को उनको यह पद भी छोड़ना पड़ा। विख्यात पत्रकार उदयन शर्मा से एक साक्षात्कार के दौरान पूछे सवाल पर उन्होंने दिलचस्प जवाब दिया। उन्होंने कहा कि मंत्री पद तो रेलगाड़ी के डिब्बे की तरह है। रेलगाड़ी के डिब्बे को घर नहीं मानना चाहिए। जो लोग ऐसा मान लेते हैं, उनको प्लेटफार्म आने पर उतरने में बड़ी तकलीफ होती है।

इस बीच में उनके राजीव गांधी से रिश्ते खराब होने लगे थे। उनके राजनीतिक विरोधियों ने भी राजीव गांधी को उनसे दूर करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। हालांकि वे पूरे राजनीतिक जीवन में

काफी अनुशासित रहे थे और कांग्रेस छोड़ना भी नहीं चाहते थे। एक साथ ऐसा आया कि पानी सिर से ऊपर आ गया और समय समीकरण ऐसे बने कि कांग्रेस से बगावत का झंडा उठाना पड़ा। बहुत कम लोग उनके साथ कांग्रेस से बाहर आए। तब भी उनके शुभेच्छु यही समझा रहे थे कि प्रचंड बहुमत से जीते राजीव गांधी की सत्ता को मुट्ठी भर लोगों और बिना साधन के डिगाना संभव नहीं होगा लेकिन वे नहीं माने। जब उन्होंने राजीव गांधी का साथ छोड़ा तो यह धमकी दी गयी कि उनकी पोलपट्टी खोल दी जाएगी। तमाम फाइलें तलाशी गयीं और आरोप लगाए गए। उसी दौरान उनके साथ मैं बलिया में चंद्रशेखरजी के इलाके में होने वाली संयुक्त विपक्ष की एक सभा को कवर करने गया था। कुछ लोगों ने उनसे इस मसले पर बात की तो वीपी सिंह ने बहुत तनावमुक्त लहजे में कहा कि सरकार में रहने के दौरान की जांच क्यों हो, मेरी जांच तो तब से कराई जाए जब मैं केजी में पढ़ा करता था।

उसी दौरान इलाहाबाद में अमिताभ बच्चन के इस्तीफे से खाली सीट पर 1988 में निर्दलीय परचा भरकर उन्होंने राजीव गांधी को खुली चुनौती दे डाली। हताशा और निराशा से जूझ रहे विपक्षी दलों को जैसे उनमें एक रोशनी दिखी। आम तौर पर सारे बड़े नेता पराजित घर बैठे थे। उन्होंने इस चुनाव में वीपी सिंह को अपना समर्थन दे दिया। पूरा चुनाव मोटर साइकिलों से बेहद सादगी से लड़ा गया। गांव-गिरांव में अपनी आपबीती बताकर वीपी सिंह ने हवा का रुख बदल दिया। हालांकि उस चुनाव में दिल्ली और लखनऊ की सरकार जोर शोर से लगी थी। उम्मीदवार भी लाल बहादुर शास्त्री के बेटे सुनील शास्त्री थे। हरियाणा से चौ. देवीलाल भी लाव लश्कर के साथ इलाहाबाद पहुंचे। इस चुनाव में बसपा नेता कांशीराम भी उतरे और काफी वोट हासिल किया लेकिन वीपी सिंह 1 लाख 20 हजार से अधिक वोटों से जीते।

कांग्रेस से निकलने के बाद उनके पास कोई संगठन नहीं था। उन्होंने जनमोर्चा बनाया और देश के तमाम हिस्सों में घूमने लगे। कांग्रेस से उनके पक्ष में गिनती के लोग निकले थे और विपक्षी नेता उनसे काफी सतर्क थे। लेकिन कर्नाटक के मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े ने उनके महत्व को आंकते हुए सबसे पहले समर्थन दिया। फिर तो ऐसी तस्वीर बनी कि 11 अक्टूबर 1988 को बंगलूरु में हुए एक अधिवेशन में जनता पार्टी, जनमोर्चा और लोकदल ने मिलकर जनता दल खड़ा किया जिसकी बागडोर वीपी सिंह के हाथ आयी। रामकृष्ण हेगड़े उपाध्यक्ष और अजित सिंह प्रधान महासचिव बने। साल भर में ही नौवीं लोकसभा के चुनाव आ गए और जनता दल 141 सीटों पर जीता। 6 दिसंबर 1989 को वीपी सिंह ने अन्य दलों के सहयोग से सरकार बनाई और चौधरी देवीलाल उप प्रधानमंत्री बने। भारतीय जनता पार्टी और वामपंथी दलों ने भी उनकी सरकार को बाहर से समर्थन दिया।

केंद्रीय गृह मंत्री मुफ्ती मोहम्मद सईद की बेटी रुबिया सईद को मुक्त कराने के बदले आतंकवादियों को छोड़ देने के फैसले पर उनकी सरकार की काफी आलोचना हुई। अयोध्या मुद्दे पर भी उनकी सरकार कुछ खास नहीं कर सकी। 7 अगस्त, 1990 को जब मंडल आयोग लागू किया गया तो हिंसक आंदोलनों और छात्रों के आत्मदाह ने वीपी सिंह की साख और छवि को चकनाचूर कर दिया। चौ. देवीलाल को चुनौती देने के लिए उन्होने कुछ लोगों की सलाह पर यह कदम उठाया लेकिन राजनीतिक दलों से सलाह-मशविरा नहीं किया। इसका आत्मघाती परिणाम निकला।

देवीलाल को पहले ही बर्खास्त करके एक चुनौती मोल ले ली थी। बाद में भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्री रोकना उनकी सरकार पर भारी पड़ा। भाजपा ने समर्थन वापस ले लिया और ऐसी स्थिति आ गयी कि 10 नवंबर 1990 को उनको प्रधानमंत्री पद से इस्तीफा देना पड़ा। जनता दल में टूट हुई और चंद्रशेखर जी प्रधानमंत्री बने।

सितंबर 1990 में अयोध्या मुद्दे पर मेरी लिखी एक छोटी सी खबर पर काफी हंगामा हुआ। वह खबर अयोध्या मुद्दे पर उनकी पत्नी के साथ होने वाली तकरार को लेकर थी। तमाम साधु संतों ने प्रधानमंत्री निवास पर चिट्ठी लिखकर सीता देवी को समर्थन दिया। खबर सही थी और इसे लेकर उन्होंने एक मीठी उलाहना दी और फिर सामान्य हो गए।

इसके आगे टूट का दौर रहा फिर भी 1991 के चुनाव में जनता दल के 56 सांसद जीते। इसमें से 22 उत्तर प्रदेश से थे लेकिन सत्ता के साथ वीपी सिंह के सबसे करीबी साथी दूर होते गए। विद्याचरण शुक्ल, आरिफ मोहम्मद खान, सत्यपाल मलिक, सोमपाल शास्त्री और अरूण नेहरू सबसे अलग रास्ता पकड़ लिया। जनता दल में भी संघर्ष ऐसा बढ़ा कि वीपी सिंह बेचैन हो गए। उसी दौरान अचानक 5 दिसंबर, 1994 को वीपी सिंह ने लोकसभा की सदस्यता से त्यागपत्र देते हुए संसदीय राजनीति से संन्यास लेने की घोषणा की। अपने संसदीय क्षेत्र फतेहपुर के मतदाताओं के प्रति आभार जताते हुए इस बात पर अफसोस भी व्यक्त किया कि वहां के लोगों के लिए वे कुछ नहीं कर पाए। कुछ दिनों के बाद उन्होंने इस बात का खुलासा किया कि मेरे पिछले सारे इस्तीफों की राजनीतिक वजहें रही थीं, लेकिन यह इस्तीफा मैंने निजी कारणों से और अपनी खुशी के लिए दिया है। मैं मूल रूप से एकांत प्रेमी हूं और उसी अकेलेपन में लौट जाना चाहता हूं। वे कुछ दिन शांत रहने के बाद फिर से किसानों के मुद्दे पर मुखर रहने लगे। अप्रैल 2006 में फिर से जनमोर्चा को खड़ा किया और राजबब्बर को उसका मुखिया बनाया। आखिरी सांस तक जनता के सरोकारों को लेकर वे सक्रिय रहे। दादरी बिजली परियोजना के लिए अधिग्रहीत जमीन पर किसानों के साथ ट्रैक्टर चलाया और गिरफ्तार हुए। मुख्यमंत्री मुलायम सिंह को झुकना पड़ा। उन्होंने इलाहाबाद से किसान जागरण यात्रा आरंभ की और दिल्ली के झुगगी वालों के लिए संघर्ष किया।

1986 में दिल्ली जाने के बाद उनको और उनकी राजनीति को काफी नजदीक से देखने और समझने का मौका मुझे मिला। उन्होंने कभी धन दौलत की राजनीति नहीं की। उनके लंबे राजनीतिक जीवन में विरोधियों ने भी उन पर उंगली नहीं उठायी। उनका संघर्ष व्यक्ति या व्यक्तियों से नहीं मुद्दों को लेकर रहा। चाहे वह राजीव गांधी रहे हों या चौ. देवीलाल इन पर कभी भी निजी तौर पर उन्होंने विषवमन नहीं किया।

यह अलग बात है कि 77 साल की आयु में जब वीपी सिंह का 2008 में निधन हुआ तो वे अखबारों में सुर्खियां नहीं पा सके। मुंबई में हुए देश के सबसे बड़े आतंकी हमलों के नाते उनकी मौत अखबारों में भीतरी पन्नों में दबकर रह गयी। अपने अनूठे व्यक्तित्व तथा अपने हिसाब से राजनीति करने की बेबाक शैली के नाते वे भारतीय राजनीति में बिसराए नहीं गए। जब भी मूल्यों की राजनीति पर बहस चलती है तो वह उन पर चर्चा के बिना अधूरी ही मानी जाती है।



हम सबके प्रेरणा पुंज रज्जू भैया

प्रमोद कुमार दुबे

जीवन की घटनाओं को परत दर परत चीरकर आर-पार बिचरने वाली स्मृति अग्नि है- विश्लेषण और सृजन की अग्नि। स्मृति की इसी अग्नि में संस्मरण पकता है- संस्मरण अर्थात् मनोमय इतिहास। संस्मरण बन पाते हैं वे व्यक्ति- जो अपनी प्रेरक भूमिका के कारण हमारे जीवन का अटूट हिस्सा बन स्मृति में संचित रह जाते हैं। जब हम उन्हें स्मरण करते हैं, अपने हिस्से मिले इतिहास के पन्ने पलटते हुए हम भावी पीढ़ियों को बहुत सी बातें बता पाते हैं। मेरी स्मृति में भी कुछ लोग संचित रह गए, उनमें एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय व्यक्तित्व होने के कारण रज्जू भैया का विशेष स्थान है। लाखों देशानुरागी जनों के प्रिय और श्रद्धेय रज्जू भैया इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर थे और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के शिखर व्यक्तित्व। उनका मूल नाम राजेन्द्र सिंह था।

रज्जू भैया के कुछ संस्मरण प्रारब्धवश मेरे हिस्से भी आ गए। प्रारब्ध यह था कि मेरे पिता अपने छात्र जीवन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबद्ध थे। यह बात मुझे बहुत बाद ज्ञात हुई थी। देश दशा से बेखबर मैं बालक काले रंग की एक ऊनी टोपी पहनकर चौथी-पांचवीं कक्षा में शनिवार के दिन स्कूल जाता था, इसलिए कि शनिवार के दिन स्कूल में जब हम बच्चे तकली से सूत कातते थे, सिर पर टोपी अनिवार्य थी। पूरे स्कूल के बच्चों के सिर पर सफेद सूती टोपी- गांधी टोपी होती और एक मात्र मेरे सिर पर काली ऊनी टोपी, वह भी मेरे सिर से कुछ बड़ी।

जब मैं कक्षा सातवीं में था, 1967 ई. में मेरे घर संघ के एक प्रचारक आए, उनका नाम था- गुरुशरणजी। तब मुझे ज्ञात हुआ कि मैं जिस टोपी को पहनता हूँ, वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की टोपी है। इसके बाद की जानकारी यह है कि 4 फरवरी 1948 को संघ पर प्रतिबंध लगने के बाद वह टोपी वर्षों से बक्से में बंद थी। 9 जुलाई 1949 को संघ प्रतिबंध से मुक्त हो चुका था, लेकिन उस टोपी के बाहर निकलने में लगभग सोलह वर्ष लग गए। जब मैंने तकली कातने के लिए मां से टोपी मांगी, उन्होंने मुझे वह टोपी दी थी। मां को क्या पता कि यह संघ की टोपी है। महात्मा गांधी की हत्या के बाद संघ पर झूठा आरोप लगा, संघ प्रतिबंधित हुआ और वह टोपी बक्से में बंद हो गई। मेरे जन्म के पहले यह इतिहास घट चुका था, प्रतिबंध का कुहरा पूरी तरह छंट चुका था। बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में मैं अबोध बालक संघ की टोपी पहनकर तकली नचाकर सूत कातता हुआ गांधी मार्ग पर बेरोक चल रहा था।

नौवीं कक्षा के दिनों की बात होगी, हमारे यहां रज्जू भैया का आगमन हुआ था। उनसे यह

मेरी पहली भेंट थी, जो कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष रूप में निरंतर बनी रही। उन दिनों रज्जू भैया उत्तर प्रदेश और बिहार के क्षेत्र प्रचारक थे। हम कुछ साथी उनके साथ छोटी लाइन की रेलगाड़ी से कार्यक्रम स्थल पर शहर जा रहे थे। मैं ट्रेन के डिब्बे में खिड़की की ओर रज्जू भैया के पास बैठा था। हमारे पास थैले में बिस्कुट, फल और एक थर्मस में दूध था। उस छोटे से सफर में जलपान की गतिविधि आरंभ हुई। मैं सबसे छोटा था, संभवतः इसलिए रज्जू भैया ने मुझे दूध से भरा थर्मस थमाया और कहा- दूध तुम पिओ। ढक्कन खुला हुआ था, मैं ने थर्मस में झांककर देखा, मुझे दिखा कि थर्मस दूध से भरा हुआ नहीं है, आधे से भी कम है। मैंने उसी अनुमान से मुंह में थर्मस उड़ोला। मेरा अनुमान गलत निकल गया, थर्मस दूध से भरा हुआ था। दूध भभककर गिरा, मेरी कमीज भींग गई। सब हँस पड़े। सबके हँसने का आशय अलग-अलग था। रज्जू ने प्रश्न किया- 'थर्मस में झांककर तुमने क्या देखा?' मैंने बताया- 'दूध कम था।' 'लेकिन, वास्तविकता क्या थी?' 'दूध से थर्मस भरा हुआ था।' 'जो दिखा, वह सच नहीं था। सच क्यों नहीं था, चूक क्यों हुई?' इन प्रश्नों का उत्तर मेरे पास नहीं था। उन्होंने पूछा- 'कन्नेक्स और कन्केव पढ़ा है- उत्तल और अवतल?' मैंने बताया- 'हां, जानता हूँ।' 'ठीक से नहीं जानते, ठीक से जानते, तो जो दिखा, उसे समझ जाते कि थर्मस के भीतर कलाई किया हुआ शीशा लगा है और वह कन्केव है- अवतल। अवतल में क्या होता है? किसी वस्तु का वास्तविक आकार छोटा और दूर दिखता है। यही हुआ, दूध कम दिख गया।' तब मैं कहां जानता था कि रज्जू भैया भौतिकी के विश्वविख्यात प्रोफेसर हैं और विशेष रूप से उनका अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र ऑप्टिक्स, हीट, थर्मोडायनेमिक्स इत्यादि रहा है, रमण स्पेक्ट्रा के अध्ययन और प्रयोग पर कार्य किया है। नोबेल विजेता प्रो. सी.वी. रमण उनके परीक्षक थे, उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर प्रो. रमण ने अपने साथ शोध कार्य के लिए बंगलोर बुलाया था। पर, रज्जू भैया के जीवन का लक्ष्य राष्ट्र आराधना था, राजनीति से ऊपर ऐसी आराधना जिससे स्वाधीन भारत की सनातन राष्ट्र चेतना जाग्रत और संस्थापित हो। इस कार्य में उनकी आत्मीय प्रेरणा से हजारों व्यक्ति प्रवृत्त हुए। सब के प्रति भ्रातृत्व ही उनका अनुशासन था। संघ के शीर्ष पद पर कार्य करते हुए भी वे सबके रज्जू भैया ही थे। उनका आत्मीय सान्निध्य हमें सहजता से उपलब्ध थी। यदि मैं स्वयं से प्रश्न करूं कि मैंने उनके अत्यल्प सान्निध्य से विशेष क्या सीखा, जिसकी अमिट छाप मेरे विचार और विधा सदा शेष रह गई? उत्तर होगा- धर्म और विज्ञान की संयुक्त दृष्टि।

दसवीं कक्षा के दिनों में मुझ पर संघ की शाखाओं के विस्तार का धुन सवार रहता था, संपर्क और सामाजिक भूमिका के साथ कम्युनिस्टों के क्लेश का सुख भी मिल रहा था। अपने परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण मैं अपने क्षेत्र में जहां भी संघ की शाखा के लिए गया, लोगों ने आदर से सहयोग दिया था। राष्ट्र भाव के अतिरिक्त मेरा कोई उद्देश्य नहीं था और आज भी नहीं है।

1970 में दीवाली के चार दिन पहले मैं गुब्बारे के बारूद से दुर्घटनाग्रस्त हो गया था। मेरे क्षेत्र के कम्युनिस्ट एमएलए ने बिहार विधानसभा में प्रश्न उठाया- एक जनसंघी के घर में बम बन रहा है और पुलिस प्रशासन मुँह देख रहा। उसके झूठे आरोप की बड़ी निंदा हुई, फिर भी वह क्षुद्र एमएलए मेरे दरवाजे आता और बाबा को कम्युनिस्ट साहित्य दे जाता था। मेरे बाबा सर्वमान्य व्यक्ति थे, किसी की उपेक्षा नहीं करते थे। उस कम्युनिस्ट को एक मैं ही फूटी आँखों नहीं सुहाता था, क्योंकि मैं संघ की शाखा लगाता था। वह संघ को जनसंघ समझता था। जबकि हम भी संघ के कार्य को राजनीति

से अलग किसी का वैर-विरोध नहीं मानते थे, हमारे संघ कार्य में सहज राष्ट्र भावना और खेल भावना ही प्रधान थी।

जब हमारे यहां संघ के नए प्रचारक आए- चन्द्रेश्वरजी, उनके व्यक्तित्व का बौद्धिक पक्ष प्रखर था। उनके हाथ में हमेशा पुस्तक रहती थी। उनसे बहुत सी जानकारियां मिलती थी। रज्जू भैया और उनके प्रवास के विषय में, देश की राजनीति के विषय में। उनके संपर्क में एक बेरोजगार युवक आया। वह मेरी शाखा में पहुंचा। वह प्रार्थना के समय पंक्तियों में नहीं, अलग-सबके आगे खड़ा हो गया। उससे मैंने पूछा- तुमने ऐसा क्यों किया? उसने बताया- चन्द्रेश्वरजी से उसकी बात हुई है। वह भी संघ का कार्य करेगा। मुझे अच्छा लगा। निकटता बढ़ी, तब उसने बताया कि वह नेता होना चाहता है। शाखाओं में विचरण करेगा तो नेता बन जाएगा, वह बिचरने लगा और शाखाओं को चरने लगा। पहली बार मैंने जाना कि व्यवसायी भी जनसंपर्क करते हैं और सामाजिक विश्वास का दोहन कर लेते हैं। नेताकांक्षी प्राणी संघ कार्य के लिए नहीं, बल्कि विशेष उद्देश्य के लिए होते हैं। उस पहले प्राणी ने मेरे क्षेत्र की शाखाओं को खा लिया, उसकी हरकतों से मेरी आलोचना दृष्टि विकसित हुई। आज भी मैं स्वयंसेवक को प्रथम वरीयता देता हूँ और नेता को उसके कर्मों के अनुसार ही मूल्यांकन करता हूँ।

1972 में मैं इंटरमीडियट का छात्र था। उन दिनों इन्दिरा गांधी की राजनीतिक परवान चढ़ रही थी। साल बीतते आंदोलन का वातावरण बनने लगा। 1973 में रेलवे वालों की हड़ताल और उसके बाद 18 मार्च 1974 से बिहार में छात्र आंदोलन आरंभ हो गया। 28 मार्च 1974 को जयप्रकाश नारायण ने छात्र आंदोलन का नेतृत्व सम्हाला। मेरे प्रचारक चन्द्रेश्वरजी का दायित्व बढ़ता जा रहा था। वह छात्र संघर्ष वाहिनी के संयोजक हो गए थे। उन्हीं दिनों इंटर की परीक्षा थी। जयप्रकाश ने छात्रों को परीक्षा छोड़कर आंदोलन में भाग लेने का आह्वान किया। हम छात्रों ने परीक्षा छोड़ी। मैं भी आंदोलन में सक्रिय हो गया, जहां तहां सभाएं होतीं, मैं भी भाषण देता। गोपालगंज के टाउन हॉल में मैंने पहला भाषण दिया, अखबार में उस भाषण का अंश और मेरा नाम छपा। मेरे गांव के लड़के अखबार में मेरा नाम पढ़कर उछलने लगे, वह अखबार लेकर मुझे दिखने आए। लेकिन, उन्हें क्या पता कि इसके कारण मेरा नाम पुलिस की सूची में दर्ज हो चुका था। मेरे पिता चिंतित थे। 1975 में पुनः इंटर के लिए विशेष परीक्षा की घोषणा हुई, मैंने बिना तैयारी के परीक्षा दी, उत्तीर्ण हो गया, लेकिन अच्छे अंक नहीं आए। 25 जून 1975 को आपातकाल की घोषणा हो गई और 4 जुलाई 1975 को संघ पर प्रतिबंध लग गया। सरकार के विरोधियों की गिरफ्तारी तेजी से होने लगी। मेरी गिरफ्तारी के लिए भी पुलिस पीछे पड़ी थी, मैं परिवारिक पृष्ठभूमि और छोटी उम्र के कारण बच रहा था। मेरे पिता ने मुझे बिहार से बाहर मामा के संरक्षण में उत्तर प्रदेश पढ़ने के लिए भेज दिया। बिहार छूटा और वह क्रांतिकारी परिदृश्य बिखर गया। पर, भूले नहीं- रज्जू भैया, गोबिन्दजी, शंकर तिवारी और कई लोग।

1976 से 1978 के दो वर्ष विज्ञान स्नातक की पढ़ाई के उन एकांत दिनों मैं कोलाहल से नीरव अध्यात्म की ओर प्रवृत्त हो गया- जप ध्यान और शास्त्रों के अध्ययन में मेरी गहरी रुचि हो गई। पढ़ाई में मन नहीं लगता, मन लग रहा था तो कविता लिखने में, भगवत चर्चा में। जब गांव जाता, संघ और आंदोलन संबंधी सूचनाएं मुझे उद्धेलित कर देतीं। सुनता कि- संघ के बहुत से पदाधिकारी

गिरफ्तार हो चुके हैं, रज्जू भैया भूमिगत हैं। इतिहास के भूमिगत भाग में ही संघर्ष और परिवर्तन के बीज अंकुरित होते हैं, फिर भी वह अनकहा रह जाता है। उन दिनों बाहर के शोर और भीतर के सन्नाटे के बीच मेरा मन भी स्वयं की भूमि और भूमिका की तलाश रहा था।

नब्बे के दशक की याद जरूरी है जिसमें मेरा युवा मन धर्म-संस्कृति के लिए संकल्पित हुआ और मैं रज्जू भैया की क्षत्र छाया में कार्यरत हुआ। इस दशक में साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र का मौसम अचानक गर्म हो उठा, जब 1983 में हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय ने अपने साहित्यकार समूह के साथ सीतामढ़ी, बिहार से अयोध्या और चित्रकूट तक 'जानकी जीवन यात्रा' की। इस साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा से विश्वविद्यालयों के शिक्षा-क्षेत्र में जमे हुए मार्क्सवादियों को भारी धक्का लगा। यह मेरे लिए अत्यंत सुखद घटना थी। वह 1984 का ही वर्ष था जब वाराणसी में पं. विद्यानिवास मिश्र के आयोजन में 'अज्ञेयजी' का भव्य स्वागत हुआ और इसी वर्ष 25 सितंबर को विश्व हिंदू परिषद के संयोजन में संतों ने सीतामढ़ी, बिहार से श्रीराम-जानकी रथयात्रा आरंभ की थी। 6 अक्टूबर 1984 को लाखों रामभक्तों ने संतों के नेतृत्व में अयोध्या के सरयू तट पर रामजन्मभूमि को मुक्त करवाने का संकल्प लिया और श्रीराम लला के द्वार पर अवैध रूप से लगे ताले को खोलवाने के लिए लखनऊ तक पदयात्रा की। 8 अक्टूबर 1984 को अयोध्या से श्रीराम-जानकी रथयात्रा लखनऊ चली। यह भारी उथल पुथल का दौर था। अमृतसर में लोंगोवाल के खिलाफ सेना ने ऑपरेशन ब्लू स्टार किया, जिसकी प्रतिक्रिया में 31 अक्टूबर 1984 को इंदिरा गांधी की हत्या हो गई। रथयात्रा रोक दी गई। दुबारा रामजानकी रथयात्रा 1985 की विजया दशमी से आरंभ हुई और दो साल बाद 1987 में उत्तर प्रदेश की मुलायम सरकार ने इस रथयात्रा को रोक दिया। 1991 में श्रीराम रथ नाम की एक रथयात्रा और सामने आई, जिसपर नेता विपक्ष लालकृष्ण आडवानी सवार थे। इस रामरथ यात्रा और श्रीराम जन्मभूमि मुक्ति यज्ञ का राजनीतीकरण हो गया। इस अभियान का धार्मिक-सांस्कृतिक चरित्र धूमिल हो गया। यह रथयात्रा आडवानी नहीं करते तब भी भाजपा को राजनीतिक लाभ अवश्य मिलता। हिंदू जागरण से विरोधी ताकतों में प्रतिक्रिया पहले भी हो रही थी। पर, वह अभी भी राजनीति से दूर थी। यह असहमति मैंने रज्जू भैया से व्यक्त की थी, उन्होंने विभिन्न प्रवृत्तियों के सहभाग का पक्ष लेते इन विषयों पर तटस्थ रहने के लिए कहा था, संभवतः इसलिए कि मैं धर्म-संस्कृति को अधिक महत्त्व देता था।

1 फरवरी 1986 को फैजाबाद जिला न्यायालय ने श्रीरामजन्म स्थान से ताला हटाने का आदेश दिया इसकी प्रतिक्रिया में 14 फरवरी 1986 को काश्मीर में लगभग सौ मंदिर क्षतिग्रस्त किए गए। इन खबरों से हर दिन काशी हिंदू विश्वविद्यालय के साथियों के बीच बहसें होती रहती थीं। ऐसा लगता था- जिस राम की आधारशिला पर हमारा अस्तित्व टिका हुआ है, वह जन-जन में व्याप्त तो है, लेकिन वह स्वाधीन भारत के राजनीतिक चरित्र में प्रतिष्ठित नहीं है। रामराज्य के आदर्शों की स्थापना शेष है।

एक दिन किसी छात्र ने मुझे जनसत्ता में छापा बनवारी का लेख पढ़ने के लिए दिया- उसमें मिथ के अंदाज में लिखा था- पांच हजार वर्ष पहले वाल्मीकि ने राम की कथा बनाई और पांच सौ वर्ष हुए तुलसी ने राम को जनमानस में पूज्य बना दिया, पढ़कर मैं उद्विग्न हो उठा। आए दिन सुनता था- रामायण मिथ है, ऐसी बातें मेरे लिए असह्य थी। एक आस्थावान सृजनशील साहित्य का विद्यार्थी

ऐसी विकृत धारणाओं का अंत चाहेगा ही। आत्मिक दायित्व से मैं यह सोचता रहता था कि राम कथा की वास्तविकता क्या है? संयोग ऐसा आया कि मुझे श्रीराम शर्मा आचार्य के दर्शनार्थ शांति कुंज, हरिद्वार जाने का सुअवसर मिला। तीन वर्षों तक एकांत तपस्या के उपरांत आचार्यजी ने काशी से चौबीस व्यक्तियों को बुलाया था। उन्हीं दर्शनार्थियों में भी शांति कुंज चला गया। जिस समय मैं उनका चरण स्पर्श कर रहा था, मेरे मन में रामायण के मूल स्रोत के विषय में तीव्र जिज्ञासा घुमड़ रही थी। वहां से लौटने के बाद मैंने कई महीने अध्ययन किया, रामायण को वेद का उपबृहण क्यों कहा जाता है? गायत्री से रामायण का संबंध क्या है, गायत्री को संवत्सर प्रतिमा क्यों कहा गया है, इस मंत्र के चौबीस अक्षरों के एक एक अक्षर पर वाल्मीकीय रामायण के हजार हजार श्लोकों की रचना का अभिप्राय क्या है? तब जितनी समझ थी उसके अनुसार एक आलेख लिखा- 'रामायण का स्रोत छन्द- गायत्री मंत्र'। उस आलेख को मैं आचार्यजी का प्रसाद मानता हूं। शाश्वत काल छंद पर आधारित रामायण की शिल्प संरचना देखकर मेरी जिज्ञासा शांत हो गई, लेकिन यहीं से वेदों की ज्ञान संपदा के प्रति लालसा बढ़ गई। उस आलेख का सरल संक्षिप्त रूप तैयार किया, जो 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुआ।

साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में रामजन्मभूमि का पक्ष मुखर नहीं था, उसके विरोध के स्वर अधिक सशक्त थे इसलिए मैं सांस्कृतिक आंदोलन की बात करने लगा। मैं चाहता था कि श्रीराम जन्मभूमि मुक्ति यज्ञ के साथ साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में भी आंदोलन हो, जिसमें हिन्दी साहित्य के युगप्रवर्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविता 'अयोध्या विलाप', महाकवि निराला की कविता 'राम की शक्ति पूजा' और 'अज्ञेय' की 'जानकी जीवन यात्रा' से सहयोग लिया जाए। एक अद्यतन बौद्धिक युग सृजित हो। मेरी दृष्टि में राम का चरित्र रंच मात्र भी सांप्रदायिक नहीं है, राम जिस वेद-धर्म के विग्रह हैं, वही सभी धर्मों का मूल है, उसकी उपेक्षा करके जीवन और जगत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आवश्यकता इस बात की है कि उसे स्पष्ट रूप से विश्व के समक्ष रखा जाए। इन वर्षों मैं शोध कार्य कर रहा था, शोध पूरा करके दिल्ली जाने का मन बना चुका था।

1989 के अंतिम माह में निजी कार्य से एक मित्र दिल्ली जा रहे थे, मैं भी उनके साथ दिल्ली आया, इस उद्देश्य से कि रज्जू भैया भेंट करूंगा, उनसे अपनी योजना बताऊंगा। अगले दिन मैं अकेले केशव कुंज पहुंचा। ज्ञात हुआ कि रज्जू भैया उपलब्ध हैं। मैं मिलने गया। वे मुझे भूले नहीं थे। तब रज्जू भैया संघ के सरकार्यवाह का दायित्व निभा रहे थे। मैंने उन्हें अपनी कार्य योजना बताई और यह भी कि मैंने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के लालित्य तत्त्व पर शोध कार्य पूरा कर लिया है। उसकी सांस्कृतिक स्थापनाओं का उद्देश्य वर्तमान सांस्कृतिक संघर्ष में सहयोगी होगा। रज्जू भैया आचार्य द्विवेदी से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे। उन्होंने कहा- 'जब दिल्ली आकर कार्य शुरू करना हो, पत्र लिखकर पता कर लेना कि दिल्ली में नानाजी और मैं कब एक साथ उपलब्ध होंगे?' मैं खुश था कि मैं इच्छित कार्य कर सकूंगा, लेकिन मेरे वश में कुछ नहीं था। मुझे दिल्ली तब आना था जब नानाजी और रज्जू भैया दोनों एक समय उपलब्ध हों। यह कार्य कौन करता? संयोग, नियति, विधाता या कहे- ईश्वर।

दिल्ली से लौटने के कुछ महीने बाद मैंने पत्र लिखा, यह जानने के लिए रज्जू भैया और नानाजी दोनों एक समय दिल्ली में कब उपलब्ध होंगे? रज्जू भैया के तत्कालीन सहयोगी शिवप्रसादजी ने

दिनांक 29.4. 1990 को पत्रोत्तर लिखा था- 'रज्जू भैया संघ शिक्षा वर्ग के प्रवास पर निकल गए हैं। अब वह दिल्ली 2 जून को वापस आएंगे, फिर 7 जून को पुनः निकलेंगे। आशा है 3 जून को मा. नानाजी भी दिल्ली में होंगे। वैसे उनका निश्चित कार्यक्रम दीनदयाल शोध संस्थान से पता चल सकता है।' वह पत्र आज भी मेरे पास सुरक्षित है।

पत्र मिलने के बाद मैं 1 जून 1990 को दिल्ली के लिए घर से निकला। 2 जून, शनिवार की शाम ढले दिल्ली पहुंचा। शिवप्रसादजी को अपने आने की सूचना देकर नानाजी की उपलब्धता जाने के लिए मैं दीनदयाल शोध संस्थान गया। संयोग से नानाजी उपलब्ध थे और डॉ. मुरली मनोहर जोशी भी। भोजन का समय था- रात्रि के आठ बज रहे होंगे। हम तीनों ने मूंग की खिचड़ी खायी थी। अगले दिन रज्जू भैया से मिला। उन्होंने मुझे फिर नानाजी के पास भेजा। नानाजी ने कहा- 'मैं चाहता हूं, ग्रामोदय विश्वविद्यालय चलो। तीन वर्ष काम करो। उसके बाद सांस्कृतिक आंदोलन का कार्य करना।' मैंने रज्जू भैया को नानाजी का कथन बताया। उन्होंने बड़ी दृढ़ता से कहा- 'नहीं, तुम्हें वहां नहीं, यहीं काम करना है।' सुबह का समय था, रज्जू भैया मेरा हाथ पकड़कर केशवकुंज के प्रांगण में नीचे ले आए, सीढ़ी पर शांत- सहज रूप से गणवेश में बैठे एक व्यक्ति के पास ले गए। वे महानुभाव रज्जू भैया को देखकर खड़े हुए। रज्जू भैया ने परिचय करवाया। मेरे आने का उद्देश्य बताया। वह थे 'पांचजन्य' के संपादक भानुप्रताप शुक्ल। रज्जू भैया के चले जाने के बाद भानुजी ने मुझसे पूछा- 'कुछ लिखा है?' मैंने उन्हें अपना हस्तलिखित आलेख दिया- रामायण का स्रोत छंद- गायत्री मंत्र। उन्होंने आलेख लिया, उसके पन्ने पलटकर कहा- 'पढ़ंगा। कुछ दिन 'पांचजन्य' में काम करो।' मैंने हामी भरी। उन दिनों अस्वस्थता के कारण भानुजी ने 'पांचजन्य' के संपादन का कार्य-भार तरुण विजय को सौंप दिया था और स्वयं सलाहकार संपादक थे। 'पांचजन्य' में कार्य आरंभ हुआ। 'पांचजन्य' का एक साप्ताहिक संस्करण निकलता है और दूसरा विशेष अंक। मैं अंक के लिए कार्य करने लगा। मेरा पहला कार्य 19 अगस्त 1990 को छपे 'अपना पूर्वाचल अंक' से आरंभ हुआ। उसमें मेरा विशेष आलेख छपा- पूरे राष्ट्र से अभिन्न है पूर्वाचल की संस्कृति और बीहड़, शंकरदेव, रुक्मिणी-रुक्मवीर, परशुराम कुंड आदि अनेक सांस्कृतिक विषयों सहित पूर्वाचल की ज्वलंत सामयिक समस्याओं पर सामग्री तैयार हुई। उस अंक में मेरे काम से एक ओर यह सिद्ध हो रहा था कि रज्जू भैया के माध्यम से आया हुआ यह व्यक्ति अयोग्य नहीं है, दूसरी ओर अव्यक्त रूप में पैदा रहा था विरोध और कटुता। भानुजी मेरी प्रशंसा करने लगे थे। उनकी प्रशंसा कटुता की आग में घी का काम कर रही थी और मैं स्वभाव से बेसुध था, क्योंकि मेरे मन में सांस्कृतिक आंदोलन से कम कुछ उपजता ही नहीं था। इधर 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में 2 सितंबर 1990 को रामायण का स्रोत छंद संक्षिप्त रूप में छपा। मैंने भानुजी को दिखाया, खूब प्रसन्न हुए। वह मूल आलेख पढ़ चुके थे। उन्होंने कहा था- बहुत दिन के बाद ऐसा लेख पढ़ने को मिला है।

दूसरे अंक का बारी आई- अस्मिता अंक की। यह अंक रामजन्मभूमि पर केन्द्रित था। इस अंक के लिए भानुजी ने मुझसे छोटे- बड़े छह लेख लिखवाए थे। 'निराला' की विख्यात कविता- 'राम की शक्ति पूजा' पर आधारित हनुमान और सीता को लेकर लिखे गए लेख, श्रीराम के अर्थशास्त्र और रामजी के अन्य पक्षों पर भी। भानु जी ने रामजी पर मेरे लिखे हुए कुछ लेखों को अपनी बारीक लेखनी से संपादित किया था, इतनी आत्मीयता से कि मानो वह उनके हों। यह सच था कि वे लेख

मेरे नहीं थे, मैं तो बस लेखक था या साझे का लेखन कह लें, क्योंकि वे लेख रामजी को समर्पित थे। यह मूल भाव हम दोनों समझ रहे थे। इसी का परिणाम था कि अस्मिता अंक धरोहर बन गया। छह रुपये की उस पत्रिका के बारे में मैंने सुना कि लोगों ने पंद्रह रुपये में खरीदी। कितने ही पत्र-पत्रिकाओं ने उन लेखों को साभार छापा। मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी, मैं भानुजी के पास होता था। वे मुझे अंतरंग विचार-विमर्शों में शामिल रखते थे अपने साथ विश्व हिंदू परिषद ले जाते थे, जब वे अशोक सिंहलजी के पास बातचीत के लिए जाते मुझे भी साथ ले जाते। दत्तोपंत टेगड़ीजी के पास ले जाते। मैं सब जगह जाता, लेकिन उन प्रसंगों के राजनीतिक आशय में मेरी कोई रुचि नहीं थी। मेरा कार्य सांस्कृतिक था और वही आज तक है।

रज्जू भैया जब भी केशव कुंज में उपलब्ध रहते उनसे मिलने जाता उनकी प्रसन्नता और आत्मीय मार्गदर्शन मुझे अनुप्राणित करतीं। उन्होंने मुझे अटलजी के यहां जाते रहने के लिए कहा था, मैं यदाकदा 6- रायसीना अटलजी के आवास पर जाता था। जब मैं पहली बार मिलने गया, उन्होंने कहा- 'मैं सोच रहा था, इतना महत्वपूर्ण लेखक मुझसे अब तक मिलने क्यों नहीं आया?' मैंने बताया- 'रज्जूभैया का आदेश है कि मैं आपके पास जाता रहूं।' अटलजी ने व्यंग्य किया- 'अन्यथा नहीं आते?' 'क्यों नहीं, आता ही।' कई बार उनसे मिलना हुआ और कुछ ऐसी घटनाएं भी हुईं, जिससे मुझे राजनीति की जटिलता का अनुभव हुआ। ऐसे विरोधाभासी प्रसंगों का पूर्वाभास भी हुआ जो भविष्य में प्रकट होने वाले थे।

मैं साउथ एवेन्यू के एक फ्लैट में बड़ी बेचैन मानसिकता में रहने लगा था। 'पांचजन्य' में चोट बढ़ गई थी। एक ओर विचार सृजन से बोझ था, दूसरी ओर तरुण विजय का उत्पीड़न। साप्ताहिक 'पांचजन्य' की संपादकीय पृष्ठ के लिए मुझे भानुजी ने लेख लिखने लिए कहा था, विषय था 'राम और रोटी'। भाजपा इस मुद्दे पर चुनाव लड़ने जा रही थी। वह लेख 12 मई 1991 को छपा। मेरे विचार से राम और रोटी नहीं, राम की रोटी अर्थात् धर्म का अर्थ उचित होता पर, वह समय इतना सजग नहीं था। मैं कलह की मार से घायल रहता था, जबकि रामजी के अतिरिक्त मेरे सपने में भी राजनीतिक पद भोग नहीं था, तब न जाने क्यों सूझियां चुभाई जा रही थी। मैंने आजिज होकर 'पांचजन्य' जाना छोड़ दिया।

रज्जू भैया भव्य प्रेरणा पुंज थे। उन्होंने मुझे पढ़ने के लिए एक पुस्तक दी थी, उसका नाम था- 'ई इज्जल्टु एमसी एस्क्वायर इज्जल्टु ब्रह्म।' आधुनिक विज्ञान पर आधारित उस पुस्तक में ब्रह्म सत्य की स्थापना की गई थी। उस पुस्तक को पढ़ने के बाद मैंने चार किशोर वैज्ञानिक उपन्यास लिखे और उन दिनों एक लेख- 'विज्ञान की कसौटी पर कसनेवाला धर्म' जो 14 नवंबर 1993 को 'पांचजन्य' के हिंदुत्व अंक में प्रकाशित हुआ।

मा. बालासाहेब देवरस ने 1994 में रज्जू भैया को सरसंघचालक का दायित्व दिया। रज्जूभैया जैसे थे- तब भी वैसे ही थे- सबके भ्राता, सबके सुहृत्। नए सामाजिक और राजनीतिक युग की रचना में उनका समर्पित योगदान करोड़ों भारतवासियों के लिए पथ और पाथेय है। यह वास्तविकता है कि जितना होता है उतना लिखा नहीं पाता, जितना लिखा, उतना दिखा नहीं पाता। मनोगत इतिहास का भी यही सच है।



प्रेम की सांकरी गली में वाजपेयी का विराट व्यक्तित्व

उमेश चतुर्वेदी

युधिष्ठिर से यक्ष ने जिंदगी की उलटबांसियों को लेकर न जाने कई सवाल पूछ डाले थे, वे सवाल जिनका उत्तर 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' की परिधि में जिंदगी गुजारने वाला व्यक्ति शायद ही दे पाता। दौर चाहे जो भी रहा हो, आपाधापी की जकड़न के बावजूद जिंदगी में खुशबू भरने और उसे फैलाने की कोशिशें मनुष्य की सहज चाहत रही है। यक्ष ने व्यावहारिकता के कांटों के बीच जिंदगी की खुशबूदार पंखुड़ियों के खिलते रहने के राज जानने की कोशिश युधिष्ठिर से की, लेकिन वह एक सवाल से चूक गया था। धर्मराज की ओर उसे एक और सवाल का तीर छोड़ना था। शायद इसी बहाने दुनिया जान लेती कि आखिर शिखर पर शून्य के बावजूद हर महत्वाकांक्षी व्यक्ति उसी शून्य में समाने की कोशिश में क्यों जुटा रहता है। शून्य की विराटता को लेकर भारतीय मनीषा को कोई संदेह नहीं रहा है। वह शून्य को ब्रह्मांड माना है, जहां जाकर विलुप्त हो जाना अंततः इस जीवन की नियति है। तो क्या यह शून्यवाद, जिसे जैन दर्शन स्यादवाद कहता है, मुक्ति का अंतिम पड़ाव है। शिखर की किसी भी शिखरयत से जब भी राब्ता पड़ता है, इस सवाल की अनुगूंज अंदर काफी देर तक गूंजती रहती है। हर बार उसे इसका जवाब नहीं मिलता और जिंदगी की अंतहीन आपाधापी में ही फिर खो जाता है, अगले व्यक्तित्व से मुलाकात की घड़ियां आने तक।

लोकतांत्रिक समाज में प्रेस को चाहे जितना ताकतवर, महत्वपूर्ण मान लिया जाए, व्यावहारिकता की पथरीली राह पर उसका अंग रिपोर्टर मामूली हस्ती ही होता है। दुर्भाग्यवश इस पथ के कई राही इस कड़वी हकीकत को सहजता से स्वीकार नहीं कर पाते। बेशक जिंदगी का अंतिम सत्य शून्य में ही समाना है। फिर भी एक सत्य यह भी है कि संतों को छोड़ दें तो शायद ही कोई इनसान होगा, जिसे वित्तेषणा, पुत्रेष्णा और लोकेष्णा की चाहत नहीं होगी। लोकेष्णा यानी कीर्ति की चाहत में कलम और कैमरा आज के दौर के बड़े हथियार हैं। शायद यही वजह है कि उन पत्रकारों, जिनके हाथों में ये दोनों या इनमें से कोई एक भी हथियार होता है, उससे राजनीति, साहित्य, अर्थ और सिनेमा आदि की शिखर शिखरयतें या शिखर की ओर बढ़ती हस्तियां तवज्जो देना नहीं भूलतीं लेकिन कलम और कैमरे का हथियार जैसे ही हाथ से छिटकता है, हस्तियों की नजर में वही व्यक्ति कौड़ी का तीन हो जाता है। बहरहाल कलम की इसी ताकत ने मुझे भी देश और दुनिया के कई शिखर पुरुषों से कई बार घंटों के लिए तो कई बार महज कुछ मिनटों के लिए रू-ब-रू होने का मौका दिलाया। ऐसी ही शिखरयत रहे हैं पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी।

मतभेद और तार्किक विरोध लोकतांत्रिक समाज का आभूषण है। पंच परमेश्वर की सोच वाले देश में हमने पश्चिमी मॉडल के जिस लोकतंत्र को स्वीकार किया है, उसने मतभेद की बजाय मनभेद को बढ़ावा दिया है। राजनीतिक विचारधाराओं के बीच मतभेद स्वाभाविक हैं, लेकिन उनका आधार सिर्फ और सिर्फ वैचारिक ही होना चाहिए लेकिन सोशल मीडिया के उफान के दौर में एक-दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति कुछ ज्यादा ही बढ़ी है। इस दौर में औपचारिकता को छोड़ दें तो विपरीत या विरोधी विचारधाराओं और उसकी बड़ी हस्तियों को नीचा दिखाने या उसके प्रति असम्मान प्रकट करने में आज लोगों को हिचक नहीं रही। इसके बावजूद अटल बिहारी वाजपेयी को लेकर कट्टर से कट्टर विपक्षी भी असम्मान जाहिर करने की कोशिश नहीं करता। अटलजी के व्यक्तित्व की विराटता और उनके सौम्य स्वभाव का ही असर है कि उन्हें भारतीय जनता पार्टी की हर मौके पर मुखालफत करने वाली कम्युनिस्ट पार्टियां भी उनके प्रति सम्मान को सार्वजनिक तौर पर प्रकट करने में पीछे नहीं रहतीं, बेशक इसके लिए वे 'गलत पार्टी में सही आदमी' का ही जुमला क्यों न इस्तेमाल करती रही हों। सबको साथ लेकर चलने का उनका गुण ही था कि वे अपने उरूज के दिनों में भी सहज स्वीकार्य थे और अब भी हैं। जिसने अपनी पूरी जिंदगी सार्वजनिक कर्म में गुजारी हो, उसके लिए जीवन के आखिरी पड़ाव ही क्यों ना हों, सार्वजनिक भूमिका से अलग रह पाना आसान नहीं होता।

बड़े व्यक्तित्वों से गहरा नाता होना अपने प्रयासों पर कम ही निर्भर करता है। नियति का खेल कहीं ज्यादा होता है। इसे नियति का ही खेल कहेंगे कि रिपोर्टर के तौर पर ही उनका थोड़ा-बहुत सानिध्य मिल पाया। उनकी सबसे पहली छवि 1995 की आज भी अपने मानस पर अमिट है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की पहली विधानसभा में भारतीय जनता पार्टी को जीत हासिल हुई थी। कृष्णानगर के विधायक और पेशे से डॉक्टर हर्षवर्धन स्वास्थ्य मंत्री थे। उन्होंने दिल्ली को गुटका मुक्त बनाने की कोशिश शुरू की थी। इसका गुटका लॉबी विरोध कर रही थी। 1996 के लोकसभा चुनाव आने वाले थे। भ्रष्टाचार और धोखाधड़ी के आरोपों से जूझ रही तत्कालीन प्रधानमंत्री नरसिंह राव की सरकार के बारे में माना जा रहा था कि वह दोबारा चुनकर नहीं आने वाली है। अर्जुन सिंह और नारायण दत्त तिवारी की अगुआई में कांग्रेस में विद्रोह हो चुका था। उन दिनों अटल बिहारी वाजपेयी को भावी प्रधानमंत्री माना जाने लगा था। इन्हीं दिनों गुटका लॉबी ने देश भर के पान विक्रेताओं को समझाया कि अगर गुटका पर पाबंदी लगी तो उनकी रोजी-रोटी मारी जाएगी और उसके लिए एक सम्मेलन दिल्ली के मावलंकर हॉल में किया। उस सम्मेलन का उद्घाटन करने बतौर नेता प्रतिपक्ष वाजपेयी ही पहुंचे थे। जैसे ही वाजपेयी मंच पर पहुंचे, हॉल में बैठे देश भर से आए पान विक्रेताओं ने हल्ला-गुल्ला शुरू कर दिया। इससे वाजपेयी परेशान नहीं हुए। अपनी आंखें नचाते हुए उन्होंने देवताओं की पूजा में प्रयोग होने वाला एक मंत्र पढ़ा, 'तांबूल पत्रं, पूगीफलं समर्प्यामि।' वे यहीं नहीं रुके। उन्होंने अपनी बात जारी रखी, 'मैंने तो सोचा था कि पान बेचने वाले भाइयों का सम्मेलन है तो मेरा स्वागत पान और सुपारी से होगा लेकिन यहां तो माहौल तनावपूर्ण है।' इसी बीच एक व्यक्ति सभा में खड़ा हो गया और उसने गुस्से में वाजपेयी से सवाल पूछ लिया, 'शराब पीने पर पाबंदी नहीं लग रही और गुटका पर आपकी सरकार प्रतिबंध लगाने जा रही है।' अब तक हास्य और व्यंग्य से लोगों को संभालने की कोशिश कर रहे वाजपेयी अचानक से गुस्से में भर उठे। उन्होंने डांटते हुए उस व्यक्ति से कहा, 'शराब की बात मत करना' और हॉल में सन्नाटा छा गया था।

वाजपेयी के बोलने पर एक बार और हॉल में सन्नाटा होते देखा गया। दिल्ली के तालकटोरा इंडोर स्टेडियम में दिल्ली की मदनलाल खुराना सरकार की वर्षगांठ पर कार्यक्रम था। नवंबर 1995 की गुलाबी ठंड के बीच दिल्ली में एक तरफ भारतीय जनता पार्टी जहां अपनी सरकार की सालगिरह मना रही थी, वहीं दूसरी तरफ विपक्षी कांग्रेस काला दिवस मना रही थी। लोकतंत्र में विपक्ष की मर्यादा के पक्षधर रहे वाजपेयी इससे व्यथित थे। उन्होंने अपने भाषण में इस बात का खास तौर पर जिक्र किया। उन्होंने तब कहा था, 'आज दिल्ली के लोकतांत्रिक कदम की सालगिरह है, लेकिन कुछ लोग इसे काला दिवस के रूप में मना रहे हैं। वे भूल रहे हैं कि हम चाहें तो उनके किसी सालगिरह पर पूरी दिल्ली को काले रंग से पाट सकते हैं लेकिन हम ऐसा नहीं करेंगे।'

वाजपेयी का मानवीय रूप रिपोर्टर के रूप में मैंने बार-बार महसूस किया। साल 2002 की बात है। प्रधानमंत्री निवास में वरिष्ठ पत्रकार और तत्कालीन राज्यसभा सांसद दीनानाथ मिश्र की दो किताबों के विमोचन का कार्यक्रम था। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि वरिष्ठ पत्रकार एस.एन. विनोद थे। शायद फरवरी का कोई दिन था। पिछली रात को बारिश हुई थी। दिल्ली की रीति है। नवंबर में बारिश के बाद ठंड बढ़ती है और फरवरी में ओले और बारिश के बाद कुछ दिनों के लिए ठंड तो बढ़ती है, फिर वह धीरे-धीरे अपनी तासीर खो देती है। एक तरह से माघ-फागुन की दिल्ली की बरसात बसंत के आगमन का संकेत होती है। तो उस साल भी बसंत अपने आगमन का संकेत दे चुका था। ऐसे माहौल में प्रधानमंत्री निवास के लॉन की मखमली घास पर पुस्तकों के लोकार्पण का शानदार कार्यक्रम हुआ। उन दिनों संघ लोकसेवा आयोग के सामने जारी देश के सबसे लंबा धरने को हटा दिया गया था। बहुत कम लोग जानते हैं कि भारतीय भाषाओं को संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं का माध्यम बनाने के लिए शुरू इस धरने के पीछे अटल बिहारी वाजपेयी और वरिष्ठ पत्रकार अच्युतानंद मिश्र का दिमाग था। राजकरण सिंह अब इस दुनिया में नहीं हैं, उनके और पुष्पेंद्र चौहान की अगुआई में यह धरना चला। जब 1998 में वाजपेयीजी ने प्रधानमंत्री के तौर पर शपथ ली तो राजकरण और पुष्पेंद्र की उम्मीद बढ़ी कि उनकी बरसों पुरानी वह मांग पूरी हो जाएगी, जिसके लिए उन्होंने संसद में पर्चे फेंके और विज्ञान भवन में राष्ट्रपति डॉक्टर शंकरदयाल शर्मा से सीधा सवाल-जवाब किया। जिसके लिए उनका पुलिस ने कई बार अपनी तेल पिलाई लाठियों से स्वागत किया और उनका धरना वहां से हटाकर शाहजहां रोड पर ही दूसरी तरफ जबर्दस्ती कर दिया गया था। इससे अच्युताजी भी परेशान थे। उन दिनों वे जनसत्ता के कार्यकारी संपादक थे। दीनानाथ मिश्र की किताबों के लोकार्पण कार्यक्रम में अच्युताजी भी उपस्थित थे।

वाजपेयीजी अच्छे मेजबान रहे हैं। चाहे वे नेता प्रतिपक्ष रहे हों या सामान्य सांसद या प्रधानमंत्री, उनके घर में कोई कार्यक्रम हुआ, लोग जुटे, उनके स्वागत में पारंपरिक भारतीय परिवार के मुखिया की तरह जुटे रहते। उस दिन भी वे आए अतिथियों को नाश्ते के लिए आग्रह करके खुद ले जा रहे थे। चाहें उसे पहचानते हों या नहीं, सबके साथ उनका एक समान व्यवहार था। उस दौरान मैं अच्युताजी के साथ खड़ा था। जिस दिन यह कार्यक्रम था, उसके कुछ ही दिनों पहले अनिल सक्सेना को प्रधानमंत्री कार्यालय में बतौर सूचना निदेशक जिम्मेदारी मिली थी। अनिल सक्सेना इन दिनों रेलवे के अतिरिक्त महानिदेशक सूचना हैं। मैं अच्युताजी से अनिल सक्सेना का परिचय करा ही रहा था कि वाजपेयीजी अतिथियों से नाश्ते का आग्रह करते-करते हमारे पास आ गए। हमारे पास आते ही उन्होंने छूटते ही अच्युताजी से पूछा, 'अच्युता बाबू क्या हो रहा है..' अच्युताजी शायद उस

वक्त भी भाषा सत्याग्रहियों के साथ हुए दुर्व्यवहार को ही सोच रहे थे। उन्होंने तपाक से उत्तर दिया, 'वाजपेयीजी, यूपीएससी (भाषा सत्याग्रही) बच्चे सोच रहे हैं कि क्यों न धरना अब प्रधानमंत्री निवास के सामने ही शुरू कर दिया जाय।' देश के सत्ता केंद्र का सर्वोच्च प्रतिनिधि संभवतः इस जवाब के लिए तैयार नहीं था। वाजपेयीजी कुछ वक्त के लिए तो इस जवाब से चुप रह गए लेकिन करीब तीस सेकंड में ही वे संभल गए। अपने चिरपरिचित खिलंदड़े अंदाज में उन्होंने अच्युताजी की बांह पर हाथ रखा और मेरी ओर इशारा करते हुए कहा, 'नौजवान के साथ खड़े हैं...चलिए कुछ रबड़ी-जलेबी खाइए..फिर बात होगी।' और हमें तकरीबन जबर्दस्ती नाश्ते के प्लेट की ओर लेकर चले गए। उस दिन महसूस हुआ कि हालात को कुशलता से संभालना और कड़ी से कड़ी बात को अपने अंदाज में ढाल लेना आसान नहीं होता। राजनीति, जहां कदम-कदम पर दांव-पेंच चले जाते हैं, जहां हर कदम पर गड्ढे में गिरने का खतरा होता है, वहां यही गुण सर्वोच्चता की सीढ़ी की ओर ले जा सकता है। वाजपेयी अगर शिखर पर पहुंचे तो इसी वजह से नीलकंठ उनका सहज स्वभाव रहा और गरल पान करते भी रहे...लेकिन उफ तक नहीं किया।

वाजपेयी से जुड़ी दूसरी घटना अब तक जेहन में ताजा है। संभवतः 2001 की बात है। दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान यानी एम्स की कार्यकारिणी में संसद के प्रतिनिधियों का चुनाव हो रहा था। उन दिनों तृणमूल कांग्रेस की नेता ममता बनर्जी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का हिस्सा थीं। जार्ज फर्नांडिस के तहलका कांड में आरोपी होने के बाद इस्तीफा दे चुकी थीं और मंत्रिमंडल में वापसी को लेकर खींचातानी कर रही थीं। जाहिर है कि पत्रकारों के मन में उन्हें लेकर सवाल उछल रहे थे। आम तौर पर प्रधानमंत्री के पास पत्रकारों की पहुंच नब्बे के बाद से कम होती गई है। संसद सत्र के दौरान प्रधानमंत्री को अपने सवालों के घेरे में लेने की गुंजाइश पत्रकारों को कुछ ज्यादा इसलिए मिल जाती है कि संसदीय कार्य के लिए प्रधानमंत्री को कई बार सामान्य सांसदों की तरह जाना होता है। संसद भवन के प्रथम तल पर बाहरी गलियारे में लोकसभा की प्रेस गैलरी के पास टी बोर्ड की एक चाय की दुकान है। संसद कवर करने वाले पत्रकार खाली वक्त में यहां चाय पर राजनीतिक और खबरिया चर्चाओं में मशगूल रहते हैं। उस दिन भी कुछ ऐसा ही माहौल था। तभी अचानक वहां सादी वर्दी में सुरक्षाकर्मी तैनात होने लगे। पत्रकारों को लग गया कि प्रधानमंत्री एम्स की कार्यसमिति के सदस्य के चुनाव में वोट डालने आने वाले हैं। उन्होंने अपने सवालों के तीरों की धार तेज करनी शुरू कर दी। तभी सादी वर्दी में वहां तैनात सुरक्षाकर्मी ने एक महिला पत्रकार को डांट दिया, 'चुप रहो...कोई सवाल नहीं..' उन दिनों अपनी हालत कुछ किशोरवय पत्रकार जैसी थी। उत्साह कुछ ज्यादा ही कुलांचे मारता था। उस सुरक्षा कर्मी से भिड़ गया, मैंने तर्क दिया कि संसद भी उसे सवाल पूछने से रोक नहीं पाएगी। बहरहाल हमारी इस भिड़ंत का शायद वाजपेयीजी को आभास हो गया था। जब वे वोट देकर लौटे तो मेरे साथ दो-तीन पत्रकार चिल्ला पड़े, 'प्रधानमंत्रीजी, हमारे कुछ सवालों का जवाब दीजिए।' उनके कानों में जब यह आवाज पहुंची, तब पत्रकारों और उनके बीच करीब बीस फीट का फासला था। वे वहीं रुक गए और मुस्कुराते हुए कहा, 'बड़ी गरमी है..' वाकई उस दिन गरमी थी और बजट सत्र का दूसरा हिस्से की संसदीय कार्यवाही चल रही थी। उस दिन कश्मीर घाटी में छत्तीसिंहपुरा में आतंकियों के हाथों मारे गए सिखों पर तत्कालीन गृह मंत्री लालकृष्ण आडवाणी कोई बयान देने वाले थे। वाजपेयीजी पत्रकारों की ओर बढ़ आए। उन्होंने कहा, 'इतनी गर्मी में आप लोग बाहर क्या कर रहे हैं? अंदर प्रेस गैलरी में चलिए।'

पानी पीजिए और आडवाणीजी कोई बयान देने वाले हैं, उसे सुनिए।' कुछ पत्रकारों ने सुरक्षाकर्मियों के रोक-टोक के गुस्से के चलते ममता वाला सवाल दोहराया लेकिन वाजपेयीजी स्नेहिल स्कूल मास्टर की भूमिका में आ चुके थे। तकरीबन सबको प्यार से हांकते हुए प्रेस गैलरी लेकर चले गए।

अब तो संसदीय प्रक्रिया में प्रधानमंत्री को भी भाषण देते वक्त टोकाटाकी करने से विपक्षी सदस्य बाज नहीं आते। जिस वेस्ट मिंस्टर पद्धति की संसदीय व्यवस्था हमने अपनाई है, उसमें संसद के किसी भी सदन में प्रधानमंत्री के बोलते वक्त टोकने की परंपरा नहीं है। अगर प्रधानमंत्री किसी सदस्य के बोलने की कोशिश के बीच बैठ जाता है तो इसका मतलब यह है कि वह उस सदस्य को सुनना चाहता है। अगर नहीं बैठता तो इसका मतलब यह माना जाता है कि प्रधानमंत्री बोलेंगे, लिहाजा सदस्य को बैठ जाना चाहिए लेकिन साल 2000 में गुजरात से एक कांग्रेसी सांसद ने प्रधानमंत्री के भाषण के बीच में टोकना शुरू कर दिया। वाजपेयीजी इससे व्यथित हुए और उन्हें प्रणाम करके बैठ गए। उनके इस कदम से प्रेस गैलरी से लेकर लोकसभा तक में सन्नाटा छा गया। तब उन्हें मनाने की शुरुआत कांग्रेस के तत्कालीन मुख्य सचेतक प्रियरंजन दास मुंशी ने की। उन्होंने कहना शुरू किया, 'वाजपेयीजी, कलकत्ता के परेड ब्रिगेड ग्राउंड में आपका भाषण सुनने के लिए मैं बोलपुर से साइकिल से आया था। मैं तब से आपकी इज्जत करता हूँ।' अगली बारी रामविलास पासवान की थी। उन्होंने कहा, 'वाजपेयीजी आपके भाषण का मैं पुराना फैन हूँ। मैं खगड़िया में बोरा लेकर आपको सुनने गया था।' पूरे सदन में इस तरह का कोरसगान शुरू हो गया। इसमें विपक्षी कांग्रेस के नेता भी शामिल थे। इससे प्रधानमंत्री को टोकने वाले गुजराती सांसद शर्मिदा हो गए। उन्होंने वाजपेयीजी से माफी मांगी। इसके बाद वाजपेयीजी ने अपना भाषण शुरू किया।

वाजपेयी से जुड़ी एक और घटना याद आ रही है। 1995 में साहित्य अकादेमी के सचिव इंद्रनाथ चौधरी थे। उन दिनों साहित्य अकादेमी की ओर से हर महीने एक कार्यक्रम होता था, कवि से मिलिए। इस कार्यक्रम में एक कवि को बुलाया जाता, उनका काव्यपाठ होता और उस पर परिचर्चा होती। दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में हुए इस कार्यक्रम को भी मैंने बतौर रिपोर्टर कवर किया था। इस कार्यक्रम में वाजपेयीजी को बतौर भावी प्रधानमंत्री बुलाया गया। उन्होंने इस दौरान कई कविताएं सुनाईं। उसमें राम पर भी एक कविता थी। काव्यपाठ के बाद वाजपेयीजी से सवाल जवाब शुरू हुआ। तब एक महिला उन दिनों गोष्ठियों में बहुत सक्रिय रहती थीं और खुद को दलित वर्ग का बताते हुए खूब सवाल-जवाब करती थीं। वाजपेयीजी वाली गोष्ठी में भी वह मौजूद थीं। उन्होंने वाजपेयीजी से एक सवाल किया, 'वाजपेयीजी, आपने राम को लेकर कविता सुनाई। अपनी असल जिंदगी में आप ही राम नहीं बन पाए या आपको सीता नहीं मिल पाई?' कोई दूसरा नेता होता तो शायद चिढ़ जाता लेकिन वाजपेयी तो ठहरे वाजपेयी। अपने चिर-परिचित अंदाज में कुछ देर तक चुप रहे...इस दौरान अपना सिर झुकाए रहे। वैसे भी मंच पर वे अकेले बैठे थे। कुछ देर बाद उन्होंने सिर उठाया और उस महिला की तरफ मुस्कुराते हुए देखा और जवाब दिया, 'आइए, मिलकर हम दोनों इस सवाल का जवाब ढूँढें।' पूरा हाल ठहाकों से भर उठा। वह महिला झेंप गईं।

वाजपेयी की जिंदगी हास्य, गंभीरता और सहजता से भरे गुणों की खान रही है। जो भी उनसे मिला होगा, जिसने उन्हें दूर से भी देखा होगा, सबके पास उनके व्यक्तित्व को गुनने-समझने के लिए कुछ ना कुछ अलहदा अनुभव जरूर होगा।



एक असंभव व्यक्तित्व प्रभाष जोशी

राम बहादुर राय

करीब 27 साल प्रभाष जोशी का सहयोगी रहा। वह अनुभव जीवन भर की थाती है। इसे अगर सौभाग्य न भी कहें तो यह जरूर कहना है कि शायद ही कोई अवसर ऐसा आया हो जब मुझे यह लगा हो कि वे किसी अनुचित काम के लिए कह रहे हैं। अनुचित को यहां स्पष्ट करने की जरूरत है। नहीं तो अकारण भ्रम होगा। अनुचित से आशय अखबार में लिखने-पढ़ने की आजादी पर रोक से है। यही नहीं वे व्यवहार, विचार और सरोकार में ऊंची प्रेरणाओं से भरे पूरे रहते थे। यह सब उनमें दिखता था और उनके आचरण में प्रकट भी होता था। यही कारण था कि पत्रकारिता हो या समाज कार्य या राजनीति सबमें उनके साथ रहते हुए भी कभी मुझे किसी असमंजस में नहीं रहना पड़ा। यह बात अलग है कि इससे मुझे अपने कुछ पुराने मित्रों को अवश्य खोना पड़ा। प्रभाषजी के साथ रहते हुए इस बात का आज आनंद भी अनुभव होता है कि अपने निर्णयों में अपनी कसौटी का पालन करता रहा। उसमें कोई उनके कारण अड़चन नहीं आई। हो सकता है कुछ लोग सोचें कि क्या यह संभव है? इसी अर्थ में प्रभाष जोशी एक असंभव व्यक्ति थे।

प्रभाषजी से कितना कुछ सीख पाया इसका आंकलन करना कठिन है। यह अनुभूति का विषय है। उसे संस्मरण में भी समेटना लगभग असंभव है। जब ऐसा कोई अवसर आता है तब प्रभाषजी से बातचीत याद आती है। उनका सहज और आत्मीय व्यवहार चित्रवत प्रकट होता है। वे बातूनी थे। अक्सर ऐसे लोग आत्मकेंद्रित होते हैं। बातचीत में भी खुद को केंद्र में रखते हैं। वह इसीलिए उबाऊ हो जाती है। इससे भिन्न प्रभाषजी अपने बारे में बिलकुल बात नहीं करते थे। कोई पूछे तो उसका बहुत संक्षिप्त और सटीक उत्तर देकर बड़ जाते थे। उनकी बातचीत का विषय पत्रकारिता, लोक और शास्त्रीय गीत, संगीत और परंपरा के अलावा राजनीति तथा राजनीतिक व्यक्ति होते थे। जिनसे उनका संपर्क बना था। मुझ याद है कि देवीलाल के किस्से वे सुनाते थे। वे उस समय के किस्से थे जब जनता सरकार बनी थी। फिर देवीलाल उनकी चर्चा के केंद्र में आए जब वे विश्वनाथ प्रताप सिंह के समर्थन में खड़े हुए। यात्रा चाहे जितनी देर की हो वे बात करते हुए थकते नहीं थे। वही ज्यादा बोलते थे। प्रसंग खुद खोज लेते थे। वह पत्रकारीय भी होता था और राजनीतिक भी। उनमें कई अद्भुत गुण थे। एक यह कि चुनौती को भांपने और पूरा दम लगाकर उसे पछाड़ देने की। उनके पढ़ने-लिखने के विषय विविध थे। नए-नए विषय चुन लेते थे। उस पर शोधक की भांति सामग्री जुटाते थे। जो भी पढ़ते थे उसे पढ़ने के बाद एक ओर रख देते थे। याददाश्त पक्की थी। इसलिए अपने पढ़े हुए को दोबारा देखने की उन्हें जरूरत नहीं पड़ती थी। तथ्य के लिए वे उसे

सहायक सामग्री बना लेते थे। विश्लेषण और निष्कर्ष उनका अपना होता था। यह क्रम आजीवन चला। भूमंडलीकरण की शुरुआत में उन्होंने आजादी से पहले के स्वदेशी साहित्य को पूरा पढ़ा। अपने निष्कर्ष निकाले। उसे बोलना और लिखना शुरू किया। तब उनको सुनने के लिए लोग उमड़ पड़ते थे। सुनकर स्वदेशी के उमंग से भर जाते थे। अनुभव करते थे कि उनमें भारत सरकार की उस नीति (अनीति) से लड़ने का बल अपने आप आ गया है। यही वह मोड़ था जब प्रभाष जोशी के रूप में पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर को दूसरा आचार्य नरेंद्रदेव मिला। उन्हें सुनते हुए और काम करते हुए देखने पर कभी यह नहीं लगा कि उन्होंने विश्वविद्यालय से डिग्री न लेकर कोई गलती की। इक्के-दुक्के पत्रकारों ने इसकी चर्चा छेड़ने की कभी-कभार कोशिश की। उसे महत्वहीन माना गया। मुद्दा बनने का तो सवाल ही नहीं था। कारण बहुत साफ था। प्रभाषजी ने अपने स्वाध्याय से जो ग्रहण किया और उसे आत्मसात् किया उसके सामने किसी विश्वविद्यालय की डिग्री पासंग भर भी नहीं बैठती।

वे गहरे रूप में पारखी व्यक्ति थे। किसी को परखने का उनका अपना पैमाना था। उसमें राग-द्वेष विलकुल नहीं होता था। अपने अनुभव से वे निर्णय करते थे। किसी के कहने पर शायद ही कोई फैसला उन्होंने किया हो। बहुत लोगों का ख्याल है कि उनसे मेरा संबंध जेपी आंदोलन के समय से रहा होगा। यह सही है कि उन्हें दूर-दूर से उन दिनों देखता रहा। लेकिन भेंट जिसे कहते हैं वह हुई जनसत्ता अखबार के दफ्तर में। दूसरों की तरह मुझे भी उस चयन प्रक्रिया से गुजरना पड़ा जिसे हिंदी पत्रकारिता में प्रभाष जोशी ने पहली बार अपनाया था। जैसे ही यह बात बाहर आई कि मुझे उन्होंने रिपोर्टर के लिए चुना है कि एक खास राजनीतिक क्षेत्र में बहुत बेचैनी पैदा हुई। उस समय मुझे इसकी कोई भनक नहीं लगी। बहुत सालों बाद एक दिन प्रभाषजी ने यह बात बताई। जब वे मुझ पर पूरा भरोसा करने लगे थे। इस कारण ज्यादातर वे बातें बताते थे जो उनके मन की होती थीं। किसने कब और क्या कहा, यह उन्हें याद रहता था। जो बताया उससे जान सका कि पांच बड़े यानी राष्ट्रीय ख्याति के नेता अलग-अलग उनसे यह कहते रहे कि रामबहादुर राय को जनसत्ता में रिपोर्टर बनाकर आप बड़ी भारी भूल कर रहे हैं। वे लोग उनके निर्णय को बदलवाने के लिए जितने तर्क, कुतर्क और भ्रामक बातें मेरे बारे में बता सकते थे वह सब बताया।

यह बात अलग है कि प्रभाषजी ने अपने निर्णय नहीं बदला। इसका एक कारण यह भी रहा होगा कि चयन प्रक्रिया में उनकी हर कसौटी पर खरा उतरा था। उसे बदलना अन्याय करना होता। वह उनके स्वभाव में नहीं था। अपनी याददाश्त पर जोर डालकर भी नहीं पाता कि उन नेताओं के कहे का उन पर कोई असर पड़ा। वे विचारों में खुले थे। अलग-अलग वैचारिक पृष्ठभूमि के लोगों को जनसत्ता से जोड़ा। भिन्न विचारधारा से उनको न परहेज था और न किसी प्रकार का भय। विचार के स्तर पर वे अपने में पक्के थे। ऐसा ही व्यक्ति आत्म विश्वासी होता है। उसे अपने पर इतना भरोसा होता है कि अपने विरोधी या प्रतिद्वंदी की भी बात छिड़े तो उसकी शुरुआत वह प्रशंसा से करता है। ऐसे लोग होते विरले हैं। प्रभाषजी उनमें से एक थे। ऐसे ही लोग व्यक्ति के सद्गुणों को देख पाते हैं और उसे उभारने में अपनी भूमिका सहायक की बना लेते हैं। दूसरों के लिए खुले हुए थे। अखबार में पत्रकार के आंकलन का आधार उनका दूसरा था, विचारधारा नहीं थी। पत्रकारीय मापदंड आधार थे। कौन व्यक्ति कितना ईमानदारी और लगन से अखबार के लिए काम करता है इसकी वे पूरी खबर रखते थे।

‘क्या प्रभाष ने तुम्हें माफ कर दिया?’ राधाकृष्ण ने मिलते ही पूछा। गांधी शांति प्रतिष्ठान के

अपने दफ्तर में वे बैठे थे। इस समय जनसत्ता में हूँ। यह सुनते ही उन्होंने पूछा था। उनसे मिलने अकसर जाता रहता था। उनके सवाल पर मैं क्या जवाब देता, चुप रह गया। जवाब दे सकता था। लौटते हुए एक्सप्रेस बिल्डिंग के रास्ते सोचता रहा कि प्रभाषजी मुझसे कभी नाराज भी रहे। पांच साल पहले की उन घटनाओं को याद करने लगा जब जनसत्ता से नवभारत टाइम्स गया था। उन पत्रों को फिर से पढ़ा जो-जो प्रभाषजी ने तब मुझे लिखे थे। वे निजी होने के बावजूद प्रभाषजी की पत्रकारिता के सरोकार को समझाते हैं। वे पत्र मेरे लिए अमूल्य धरोहर हैं।

उस समय प्रभाषजी का मत था कि मुझे नवभारत टाइम्स में नहीं जाना चाहिए। उन्होंने मुझे समझाया। अपने निवास के छत पर टहलते हुए देर तक बात की। समझाते रहे कि नवभारत टाइम्स में विचार आधारित पत्रकारिता के अवसर नहीं हैं। वहां अमेरिकी पत्रकारिता हावी है। वे चाहते थे कि जनसत्ता से इस्तीफा देने का विचार छोड़ दूं। उनके इस आग्रह के बावजूद एक दिन मैंने अपना इस्तीफा उन्हें सौंपा। उन्होंने उसे रख लिया और घर जाते समय यह पत्र मुझे पकड़ाया। जिसमें उन्होंने लिखा- 'प्रिय राय साहब, आपका संकोच, आपका असमंजस और आपकी दुविधा मेरी समझ में आती है।'

'एक बार नवभारत के लिए हां कहकर ना करना अगर आपको अपने वचनभंग का प्रश्न लगता है तो जनसत्ता छोड़ना भी आपके लिए मुश्किल होना चाहिए जिसकी शुरुआत से आप जुड़े रहे और जिसे बनाने में इतनी निष्ठा और सपर्पण से आपने योगदान किया। प्रतिबद्धता और आस्था को समझने वाले आप जैसे आदमी के लिए फिर भी बिना किसी मजबूर करने वाले कारण के अपना अखबार न छोड़ना किसी हां से ज्यादा महत्वपूर्ण होना चाहिए। दुआ साब (एच. के. दुआ) अभी बंबई जाकर इंडिया पोस्ट में निहाल सिंह को ना कहकर आए हैं और मैं तो बावजूद सारे वैयक्तिक राग और पुरानी हां के नई दुनिया जाने के बजाए जनसत्ता पर आने भविष्य को दांव पर लगा बैठा क्योंकि वह मेरे लिए आस्था का प्रश्न है। बाहरी प्रतिष्ठा और अंदरूनी आस्था के बीच अगर एक को चुनना हो तो मैं आस्था को चुनूंगा क्योंकि वह मेरी अपनी है। बाहरी प्रतिष्ठा बाजार भाव है जिसके लिए अपने अंदर के मूल्य को नष्ट नहीं करते। पता नहीं, मैं गलत भी हो सकता हूँ, लेकिन नवभारत को ना करने से आपकी प्रतिष्ठा गिरेगी नहीं बल्कि बढ़ेगी कि आपने अपनी निष्ठा के मुताबिक निर्णय लिया। अठारह साल से मैं भी दिल्ली के अखबारी बाजार के किनारे बैठा उतार-चढ़ाव देखता रहा हूँ। बाजार भाव तो कई लोगों के उठे और गिरे लेकिन प्रतिष्ठा और इज्जत उन्हीं की रही जो अपनी आस्था पर टिके रहे।'

'आपने मुझे कहा कि अगर आपके जाने को विश्वासघात माना जाएगा तो आप नहीं जाएंगे। आप चले भी जाएं तो भी मैं नहीं मानूंगा कि आप विश्वासघात कर सकते हैं। अगर मैं आपको गलत नहीं समझता होऊं तो कहूंगा कि आप ऐसा कर सकने वाले आदमी नहीं हैं। पीकेजी (तब इंडियन एक्सप्रेस के एक प्रबंधक और रामनाथ गोयनका के रिश्तेदार) मुझसे महीनों से कह रहे थे कि नवभारत वाले आपको खिसकाने की कोशिश कर रहे हैं। और मुझे कभी विश्वास नहीं हुआ कि आप जा सकते हैं और मुझे बिना बताए जा सकते हैं। इसलिए जब व्यासजी ने पिछले महीने कहा कि आपका लेटर वहां टाइप हो रहा है तो मुझे लगा वह ऑफर करने के लिए होगा इसलिए नहीं कि आप पहले ही हां कर चुके हैं। जो हो बाद में व्यासजी और बनवारी ने बताया कि आप अक्टूबर में ही हां कर चुके थे लेकिन मानते थे कि इसमें ठोस कुछ नहीं है। मैंने अक्टूबर से मई की एक-एक घटना को विश्लेषण करके समझने की कोशिश की लेकिन ऐसा एक भी वाक्य या वाक्या मुझे समझ

नहीं आया कि जिसने आपको जनसत्ता से उखाड़कर नवभारत में जाने के लिए प्रेरित किया हो।’

‘जो हो, मैं मानता हूँ कि आपके जाने से जनसत्ता में आस्था का घात जरूर होगा। यह मैं आपको दो बार कह चुका हूँ कि आपसे हां करवाना जनसत्ता को तोड़ने की कोशिश का एक हिस्सा है। काक, आचार्यजी और आप, वे मानते हैं कि जनसत्ता के स्तंभ थे और हैं और तो इनको ‘खिसकाने’ (जैसा कि प्रदीप कहता था) से जनसत्ता गिरा नहीं तो लड़खड़ा जरूर जाएगा। मैं मानता हूँ कि आप जैसे आदमी के लिए इसके आर-पार देखना मुश्किल नहीं है। और इसी अर्थ में यह आस्था का घात होगा कि जब रामबहादुर राय को जनसत्ता छोड़ने के लिए तैयार किया जा सकता है तो जनसत्ता को भी तोड़ा जा सकता है। इसी अर्थ में यह एक अखबार छोड़कर दूसरे में किसी पत्रकार का जाना नहीं है। मुझे इंडियन एक्सप्रेस के उन लोगों तक ने कहा कि आपको जाने से मैं रोकूँ जिनसे शायद आपकी कभी बात भी नहीं हुई होगी। ये सारे लोग शायद आपकी खबरें भी नहीं पढ़ पाते होंगे। उन्होंने आपको सिर्फ काम करते देखा है। आपको अपनी यह प्रतिष्ठा और सम्मान मेरा राय में ज्यादा मूल्यवान लगना चाहिए।’

‘बाहर के जिन लोगों को भरोसा नहीं होता कि आप जनसत्ता छोड़ रहे हैं वे कहते हैं कि शायद इसलिए छोड़ रहे हैं कि आपको विशेष संवाददाता नहीं बनाया। और चूंकि नवभारत वाले ऐसा कर रहे हैं इसलिए शायद आप जा रहे हैं। बाजार लोगों को इसी तरह तौलता है। मैं चूंकि ऐसे मोल भाव को बरसों से देख रहा हूँ और आपकी मामले की ही नहीं और भी कई किस्सों की असलियत जानता हूँ इसलिए भी कहना चाहता हूँ कि ना कहने से प्रतिष्ठा भंग के संकट से उबरिए।’

‘मैंने जानबूझकर व्यावसायिकता के तर्कों को अलग रखा है। मेरे लिए यह व्यक्तिगत रूप से दुखदायी है कि आपको उन तर्कों से तौलूँ। अगर पत्रकारिता सिर्फ व्यवसाय है तो हमें उसकी आजादी और उसके मूल्यों की बात नहीं करना चाहिए। अगर करते हैं तो मानना चाहिए कि कुछ लोगों के लिए आस्था और अभिव्यक्ति ज्यादा महत्वपूर्ण है लेकिन ऐसे लोगों की इज्जत और उनकी जरूरतों की चिंता भी करनी चाहिए। मुझे नहीं लगता है कि इन दोनों बातों पर मेरे मन में आपके लिए कोई कमी रही हो। मैं इतने दिनों से जानने की कोशिश कर रहा हूँ कि आखिर जनसत्ता या हम लोगों में ऐसा क्या हो गया है कि रामबहादुर राय को जाना पड़े? मुझे तमाम आत्म निरीक्षण और छानबीन के बावजूद कोई जवाब नहीं मिलता इसलिए आपकी इस्तीफे के जवाब में यह सवाल मैंने पूछा था। मुझे लगता है कि यह पूछने का हक मुझे है। जनसत्ता के चीफ रिपोर्टर से नहीं राम बहादुर राय से ‘-सस्नेह, प्रभाष जोशी।’ यह पत्र 11 जून, 1986 का है। मेरे 31 मई के इस्तीफे के बाद यह पत्र उन्होंने लिखा था।

इस पत्र के बाद 27 जून को फिर इस्तीफा भेजा। उसे उन्होंने यह मानकर मंजूर कर लिया कि रुकेगा नहीं। दूसरा कोई संपादक होता तो वह सचमुच इतना नाराज हो जाता कि जीवन भर मन में इसकी गांठ बना लेता। लेकिन प्रभाषजी ने मेरे साथ जो बडप्पन दिखाया वह कभी भूल नहीं सकता। आखिरी इस्तीफे के बाद मुझे बुलवाया। थोड़ी देर बात की। और कहा कि ‘आप जा रहे हो इसका दुःख है। यह रहेगा। इसे रखने का मुझे अधिकार है या नहीं? दो बार पूछा। उस समय कुछ और बातें भी उन्होंने मुझे समझाई। जैसे यह कि पैदा होते वक्त बच्चा क्यों रोता है। इसका पूरा शास्त्र सुनाया। 30 जून, 1986 की विदाई बैठक में भी वे बोले और यह दोहराया कि ‘ये क्यों जा रहे हैं मुझे नहीं मालूम, अगले दिन शाम साढ़े आठ बजे एक्सप्रेस बिल्डिंग से मुझे साथ लिया।

सुजान सिंह पार्क के एंबेस्डर होटल पहुंचे। वहां दास प्रकाश में खाना खिलाया और उस दौरान घर परिवार के अलावा अपने पिताजी की दुर्घटना में हुई मृत्यु को भी बार-बार याद करते रहे। वहां से मुझे बाबा खडग सिंह मार्ग पर पहुंचाया जहां रहता था और अपनी शुभकामनाएं दी। ऐसा प्रभाषजी ही कर सकते थे।

डेढ़ महीने बाद अचानक उनका यह पत्र मिला। 'जनसत्ता के आपके दूसरे दोस्तों ने भी कहा होगा। आपका वचन पूरा हुआ। अब नया काम करने अपने घर लौट आइए। यह काम आपको पढ़ने, यात्रा करने और सार्थक खोजबीन की खबरें लिखने की फुरसत और अवसर देगा। दस अरुण शौरियों के बजाए एक रामबहादुर राय का घर में स्वागत करना ज्यादा सुखद और स्फूर्तिदायक है।' यह पत्र 15 अगस्त, 1986 का है। उस समय ही चंडीगढ़ का संस्करण निकालने की प्रभाषजी तैयारी कर रहे थे। मेरे जवाब का उन्होंने इंतजार किया। मेरे लिए फिर एक बार दुविधा का क्षण आया। सोचा और तय किया कि पद और पैसे के लिए जल्दी-जल्दी अखबार बदलना उचित नहीं होगा। इसके बाद ही उन्होंने चंडीगढ़ जनसत्ता के स्थानीय संपादक की खोज शुरू की।

प्रधान संपादक राजेंद्र माथुर के बुलावे पर नवभारत टाइम्स गया था। क्यों गया था, यह बताना यहां प्रासंगिक नहीं है। यह सूचना देना जरूरी है कि राजेंद्र माथुर से मेरा परिचय पुराना था। यह तो नहीं कहूंगा कि भावी राजनीतिक उथल-पुथल को भांप लिया था और उसमें एक पत्रकार की भूमिका अदा करने वहां गया था। यह जरूर कहूंगा कि वैसा अवसर जब उपस्थित हुआ तो माथुर साहब ने नवभारत टाइम्स की पुरानी रीति-नीति से भिन्न मुझे लिखने की पूरी आजादी दी। असामयिक उनका निधन हो गया। तारीख थी, 9 अप्रैल, 1991। उसके बाद एक दिन जनसत्ता गया। प्रभाषजी से कहा कि वापस आना चाहता हूं। उन्हें दो बार मैंने निराश किया था। उसका उनके मन में कोई मलाल नहीं था। तुरंत कहा कि तुम आओ। तुम्हारे आने पर जनसत्ता में राष्ट्रीय समाचार ब्यूरो बनाएंगे। ऐसा ही उन्होंने किया भी। पहली बार 1991 में जनसत्ता का समाचार ब्यूरो बना प्रभाषजी ने देखा था कि नवभारत टाइम्स के पांच सालों में मैं अपने स्वधर्म पर बना रहा। जनसत्ता में वापसी पर कुमार प्रशांत ने एक चिट्ठी भेजी। जिसमें लिखा कि राजनीतिकों की घर वापसी सुना था। पत्रकारिता में यह पहली बार हो रहा है। प्रभाषजी में समझाने की अपार क्षमता थी। असहमति और विरोध का फर्क वे जानते थे। असहमति पर उन्हें एतराज नहीं था। इतना अवश्य था कि वे मानते थे कि समझ जाने पर असहमति दूर हो जाएगी। न मानने पर भी ववे अपनी हार नहीं मानते थे। अगर लोगों के कहने पर जाते तो वे जनसत्ता में मुझे रिपोर्टर भी नहीं बनाते। मैं मानता हूं कि 1983 की जुलाई में उनसे जो नाता जुड़ा वह नदी-नाव संयोग नहीं था। पत्रकारिता में मैं उसी तरह आया था जैसे फिसल पड़े तो हर गंगे। उसी डुबकी के बाद की यात्रा तीर्थकर संपादक प्रभाष जोशी की छाया में उनके न रहने पर भी चल रही है। पुरोहित संपादक बहुत हैं। वे तो तीर्थकर संपादक थे। पत्रकारिता में लोग बदलनते रहे प्रभाष जोशी बिना बदले बने रहे इसीलिए अनमोल थे। उसी बल पर बेहतर भारत के लिए एक पत्रकार के रूप में जीए।

एक दिन की बात है, हम हरियाणा में किसी सेमिनार के लिए जा रहे थे। एक प्रोफेसर साहब साथ में थे। उन दिनों जनसत्ता में ब्यूरो प्रमुख का दायित्व मेरे उपर था। प्रभाषजी के साथ हम एक कार में सफर कर रहे थे। पूरा प्रसंग याद नहीं है लेकिन एक बात न भुलाने लायक है। इसलिए वह याद है और हमेशा याद रहेगी। प्रोफेसर ने मुझसे पूछा कि अखबार में सबसे कठिन काम क्या

है? उनको जवाब क्या दूं, इस सोच में पड़ गया। संभवतः सही जवाब दे पाना मुश्किल था। क्योंकि तब किसी काम को कठिन मानता ही नहीं था पर सवाल है तो उसका जवाब भी होना ही चाहिए। उस असमंजस से प्रभाषजी ने निकाला। कहिए कि हस्तक्षेप किया। बोले- 'दूसरों से काम लेना सबसे कठिन है।' यह वाक्य छोटा है। इसका संदेश बहुत बड़ा है। शास्त्र की भाषा में बोध वाक्य है। व्यवहार में यह कुंजी है। इससे जटिल बातें भी सुलझ सकती हैं। वास्तव में यह सूत्र वाक्य है। इसका सही भाष्य समस्या को समाधान में बदल सकता है। उन्होंने अपने सहयोगियों को सिखाया कि कठिन काम भी कैसे सरल तरीके से किया जा सकता है।

वे जहां भी रहे वहां अपनी छाप छोड़ी। जिन लोगों ने उनके साथ काम किया वे एक बात जरूर बताएंगे। अगर कोई उनसे पूछे। उस बात पर कोई विवाद नहीं है। संदेह नहीं है। जिन्होंने उनके साथ काम नहीं किया, सिर्फ दूर से देखा है वे भी यही मानते हैं कि प्रभाषजी जो काम भी अपने हाथ में लेते थे उसे खून पसीना एक कर पूरा करते थे। ऐसा न कर सकने वाला जल्दी ही उनके नजरों से गिर जाता था। व्यक्तिगत संबंधों में कोई खटास नहीं आती थी। वे इतने सजग थे कि अपने हर सहयोगी के बारे में पूरा जानते थे। यही बात उनके संबंधों के संसार पर भी लागू होती है। वे जानते थे कि कौन सा रिपोर्टर मर्यादाएं तोड़ रहा है। एक दो बार की चेतावनी से अगर वह नहीं सुधरा तब उसे बुलाकर वे इस्तीफा मांगते थे। चाहे जो भी तीसमार खां रहा हो उसकी हिम्मत नहीं पड़ती थी कि वह मना कर दे।

जनसत्ता अखबार के वे संस्थापक संपादक थे। बारह साल प्रधान संपादक रहे। उस दौरान हर रिपोर्टर को पूरी स्वतंत्रता दी। इसे दो उदाहरणों से समझ सकते हैं। पहला उदाहरण है, दूसरे रिपोर्टर का। जो पंत अस्पताल के निदेशक के भ्रष्टाचार की खबरें दे रहा था। वे छपती थी, जबकि उनसे प्रभाषजी का व्यक्तिगत संबंध भी था। उस डॉक्टर की शिकायत पर प्रभाषजी ने कहा कि खबरें नहीं रूकेंगी। यह हो सकता है कि आपके बचाव में मैं एक संपादकीय लिख दूं। उन्होंने लिखा भी। क्या ऐसा कोई उदाहरण ढूंढे भी मिलेगा? दूसरा मेरा अपना अनुभव है। जैन हवाला कांड की खबर सबसे पहले जनसत्ता में छपी। यह तो ज्यादातर लोग जानते हैं। जिसमें पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी सहित तमाम बड़े नेताओं के नाम थे। उस समय की वह सबसे चर्चित खबर थी लेकिन कम लोग यह जानते हैं या कह सकते हैं कि कोई नहीं जानता कि वह खबर जनसत्ता में छप सकी तो इसलिए क्योंकि प्रभाष जोशी प्रधान संपादक थे। एक संपादक ने उसे तीन दिन तक रोके रखा था। जब मैंने इस बारे में प्रभाषजी से बात की तब उन्होंने उसे पहले पेज पर छापने के निर्देश दिए।

उनकी विचारधारा गांधी की थी। वह इसलिए नहीं थी कि उस समय उसकी गूंज बहुत थी। इसलिए थी क्योंकि उन्हें गांधी को पढ़ते हुए यह लगा कि उन्होंने वही लिखा है जो उनके मन में है। चाहे सभ्यता हो या संस्कृति इन सब बातों में उन्होंने गांधी को अपने मन के करीब पाया। वे पत्रकारिता करने नहीं निकले थे। राष्ट्रीय नवनिर्माण की विचारधारा ने उन्हें समाज कार्य से जोड़ा था। शुरुआत ग्राम सेवा से की थी। जिसके अगले पड़ाव पर वे पत्रकारिता में आए। अगर यह दोनों नहीं होता तो वे परिव्राजक होते। बदले रूप में यही उन्होंने अपने आखिरी दिनों में यात्राओं के जरिए किया। उन यात्राओं के अनेक संस्मरण हैं। वह फिर कभी।



धर्मवीर भारती : कुछ यादें, कुछ बातें

प्रकाश दुबे

जिन लोगों ने बीसवीं सदी का बोरीबंदर देखा है, उन्हें विश्वास नहीं होगा कि पाकिस्तानी हमलावर ने पूरे इलाके को कितना बदल दिया है? मुंबईकर भूमिगत रास्तों से चलने के आदी हो गए हैं। टाइम्स आफ इंडिया की इमारत के सामने पहले जैसी भीड़ नहीं लगती। उन दिनों टाइम्स समूह की पुरानी इमारत को बोरीबंदर की बुढ़िया कहकर याद किया जाता था। तल मंजिल पर छापखाना था। मशीन की घड़घड़ाहट सुनकर आने जाने वाले रुक जाते। कौतूहल से छपाई देखते। टाइम्स की इमारत में कौतूहल पैदा करने वाली कई चीजें थीं। दूसरी मंजिल पर व्यंग्य चित्रकार आर. के. लक्ष्मण बैठते थे जिन्हें अधिकांश टाइम्सकर्मियों ने शायद ही किसी से बात करते देखा हो। दूसरी मंजिल पर दैनिक समाचार पत्रों के पत्रकार खुले हाल में और संपादक गलियारे के परली तरफ बने कैबिन में बैठते थे। चौथी मंजिल पर धर्मयुग, सारिका, माधुरी, इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इंडिया जैसी पत्रिकाओं के कार्यालय थे। धर्मवीर भारती चौथी मंजिल पर बैठते थे। प्रतिष्ठित कवि, साहित्यकार, राजनेता तथा फिल्मी हस्तियों में भारतीजी से मिलने की होड़ रहती। भारतीजी से मिलना किसी अतिविशिष्ट व्यक्ति से मिलने जैसा था। गहमागहमी के बावजूद तस्वीर का दूसरा पहलू एकदम विपरीत था। भारतीजी के कदम रखते ही धर्मयुग परिसर में सन्नाटा छा जाता। धर्मयुग में हमेशा ही पत्रकारिता और साहित्य विधा के नामी लोग कार्यरत रहे। संपादक भारतीजी का बुलावा आने पर उनके दिल की धड़कन बढ़ जाती। कैबिन में प्रवेश करते समय चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगती थीं। 1980 के दशक में मेरी *नवभारत टाइम्स* में नियुक्ति हुई। धर्मयुग और संपादक धर्मवीर भारती को पहले ही ध्यानपूर्वक पढ़ चुका था। *नवभारत टाइम्स* में कदम रखा। भारतीजी से संबंधित चर्चा सबसे अधिक सुनने मिली। बातचीत का सार था कि टाइम्स समूह में भारती बहुत खतरनाक व्यक्ति हैं। सहयोगियों पर बरसते हैं। मनमोहन सरल जैसे सहायक संपादक तक फटकार की चपेट में आने से नहीं बचते। भारतीजी के साथ काम करना मानसिक शांति को अलविदा कहना है। धर्मयुग से *नवभारत टाइम्स* में खिसकाए गए भारती-पीड़ित पत्रकार खलनायकी छवि का बखान करते। हमें बताया गया कि सुरेन्द्र प्रताप सिंह यानी एसपी जैसे पत्रकार को भारतीजी ने धर्मयुग से अन्यत्र रवाना कर दिया था। अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीजी समूह के ताकतवर संपादक थे। प्रबंधन उनके निर्णय नहीं टालता था। भारती-पीड़ित पत्रकारों में कन्हैयालाल नंदन भी थे जिनकी मां मरणासन्न थीं। भारतीजी का आदेश था कि धर्मयुग का अंक छोड़ने से पहले कार्यालय मत छोड़ना।

अंक छोड़कर जाने का अर्थ होता था-ताजा अंक छप जाने के बाद। नंदनजी देर रात तक सिर खपाते रहे।

मुझे राजनीतिक और मंत्रालयीन यानी प्रशासनिक समाचारों का संकलन करने का दायित्व मिला। दोपहर दो बजे *नवभारत टाइम्स* पहुंचता। संपादक के साथ बैठक होती। बैठक में संपादक के सिवा अधिकतम चार व्यक्ति रहते। एक दिन पहुंचते ही संपादक ने कहा-जाओ। तुम्हें भारतीजी ने याद किया है। बैठक के बजाय चौथी मंजिल चढ़ गया। भारतीजी से तब तक मेरा प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। *धर्मयुग* में छपता रहता था। गणेश मंत्री या सरलजी फोन पर लिखने का विषय बतला देते। भारतीजी के कृतित्व और प्रताड़ित-पत्रकार-पक्ष द्वारा बताई गई छवि से मुंबई पहुंचकर परिचित हुआ इसलिए मुलाकात से पहले मन में झिझक या कहा जाए थोड़ी सी घबराहट थी। बुलाने का कारण किसी ने नहीं बताया। चौथी मंजिल पर पहुंचा तो कैलाश सेंगर, अवधेश व्यास, ओमप्रकाश सिंह, अनुराग चतुर्वेदी, हरीश पाठक आदि ने कनखियों से देखा। मन ही मन कल्पना करने लगा- ये सब क्या सोच रहे हैं? क्या यह-जाओ बेटा आज तुम्हारी बारी है। मन को दिलासा दी-मेरे संपादक तो हैं नहीं। सरलजी और गणेश मंत्री संपादक के कक्ष के निकट बाहर बैठते थे। मंत्रीजी ने देखा। कहा-चलो भारतीजी से मिल लो। उनके पीछे पीछे कक्ष में गया। भारतीजी पान चबाते हुए डाक देख रहे थे। मंत्रीजी ने कहा-ये हैं प्रकाश दुबे।

मैंने नमस्कार किया। भारतीजी बोले-इतने दिन हुए आकर मिले नहीं? वाणी में माधुर्य था। मैंने काम चलाऊ सफाई दी-आते ही काम में लग गया। आवास की तलाश में जुटा हूँ। भारतीजी ने प्रश्न किया-भंडारा जिला देखा है? सहमति में सिर हिलाया। वहां एक गांव में अकस्मात पेड़ों में आग लग जाती है। लोग भयभीत हैं। पता लगाकर *धर्मयुग* के लिए लिखो। भारतीजी की बात सुनकर चुप रहा। *धर्मयुग* के लिए विनोबा, सेवाग्राम आदि पर लिखना आसान था। भूत-प्रेतों से मुलाकात में रुचि नहीं थी। काम की बात अलबत्ता इतनी थी कि इस बहाने नागपुर जाने का मौका मिल रहा था। मोना नागपुर में थीं। इनकार करने का साहस नहीं था। कक्ष से बाहर आया। मंत्रीजी ने गांव का ठीक ठीक नाम लिखवाया। *नवभारत टाइम्स* के संपादक ने बात सुनकर इतना ही पूछा-कब जाओगे? भंडारा से लगभग 25 किलोमीटर दूर गांव की घटना थी। नागपुर के पत्रकार अनभिज्ञ थे। विवेकवादी संगठन में सक्रिय रहा। भूत-प्रेत के अस्तित्व पर भरोसा नहीं करता। एडवोकेट महेश पांडे के साथ गांव पहुंचा जिसका नाम इस समय याद नहीं आ रहा है वहां पेड़ों की कुछ डालियां झुलसी थीं। गांव वाले समय नहीं पा रहे थे। तस्वीरें खींचीं। नागपुर के विवेकवादियों के अपने तर्क थे। नागपुर के मूनलाइट स्टूडियो में तस्वीरें बनाने को दीं। वर्माजी ने बताया-सब बेकार हैं एक भी छपने लायक नहीं। फोन कर मंत्रीजी को सूचित किया। मंत्रीजी ने कहा-फोटो तो चाहिए। वरिष्ठ पत्रकार जयंत हरकरे से अनुरोध किया। भाऊ समर्थ की याद आई। भाऊ जाने माने चित्रकार। अनेक पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ भाऊ के चित्रों से सजते। उन्होंने पूछा- चित्र क्यों चाहिए? कारण सुनते ही कहा-मेरे चित्र नहीं छपेंगे। भाऊ ने किसी लघु पत्रिका में बड़े घरानों की रंगीन पत्रिकाओं पर रोष प्रकट करते समय *धर्मयुग* की जमकर खिंचाई की थी। उसके बाद उनका *धर्मयुग* से नाता टूट चुका था। मुझे इस बात की पहले जानकारी नहीं थी फिर भी मैं हठ कर चित्र बटोर ले गया। *धर्मयुग* पहुंचकर मंत्रीजी को सामग्री थमाई। चौंक कर उन्होंने पूछा-तुमसे ये चित्र लाने किसने कहा था? किस्सा समझने के

बाद क्या बोलता? मंत्रीजी ने कहा-जाकर भारतीजी को दो। भारतीजी देखते ही भाऊ के चित्र पहचान गए। घूरकर देखा। मैंने स्पष्टीकरण दिया कि भरी दुपहरी में फोटो खींचे थे। प्रिंट ठीक नहीं आए। भारतीजी कुछ नहीं बोले। सामग्री उनकी मेज पर थी। न उत्तेजित हुए, न डांटा और न सामग्री फेंकी। नभाटा के सहकर्मियों की बातचीत से बनी धारणा धुल गई थी। समझ में आया कि भारती का संपादक पक्ष इस्पात की तरह कठोर था। उनके शब्दकोश में सर्वोत्तम से नीचे कोई शब्द नहीं था। अपने सहयोगियों से वे उत्कृष्टतम रचना, संपादन, आकल्पन चाहते थे। खोट नजर आने पर उनका संपादक शिव के तीसरे नेत्र का रूप धारण कर लेता। इसके विपरीत उनका साहित्यकार रचनाकारों के प्रति मृदुल भावन से लबालब था। अच्छे-अच्छे रचनाकारों की सामग्री *धर्मयुग* से छोटी सी परची के साथ वापस की जाती। इबारत होती-आपकी रचना अच्छी है। हम प्रयोग नहीं कर पा रहे हैं। वापस भिजवा रहे हैं ताकि अन्यत्र उपयोग में ला सकें। मुझे नहीं पता, भारतीजी किसी रचना को रद्दी की टोकरी के हवाले करते थे, या नहीं? इसलिए मानकर चलता हूं संपादक भारती भले कठोर हो, लेखक भारती प्रत्येक रचनाकार, शब्दकार का सम्मान करते थे। अनेक वरिष्ठ साहित्यकारों से स्वयं बात कर रचनाएं मंगाते। पंडित विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय जैसे ललित लेखकों के प्रति उनके मन में बहुत सम्मान था। भारतीय भाषाओं के अनेक रचनाकारों को *धर्मयुग* ने प्रकाशित किया। विज्ञान, सैन्य सामग्री जैसे विषयों पर *धर्मयुग* के विशेष अंक प्रकाशित हुए। जयंत विष्णु नर्लीकर ने हिंदी जगत को विज्ञान से परिचित कराया। योगेश माथुर ने सेना पर विशेष सामग्री दी। बांग्लादेश युद्ध के दौरान भारतीजी ने सीमा पर जाकर मुक्तिवाहिनी का शौर्य और समर्पण देखा था। *धर्मयुग* के बांग्लादेश मुक्ति विशेषांक ने बिक्री का कीर्तिमान स्थापित किया था।

बचपन में अमराई में समय बीता हो तो आजीवन अमराई मन में छाई रहती है। ऐसा ही कुछ भारतीजी के साथ हुआ। निराला, पंत, महादेवी आदि मंच पर कविता पढ़ने वाले कवि नहीं थे। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि कवि सम्मेलनों में आमंत्रित किए जाते थे। जाते भी थे। कवि और लेखक भारती मात्र गेयता को कविता नहीं मानते थे। सार्थक रचनाओं से प्रभावित होते थे। फूहड़ सम्मेलनों से क्षुब्ध रहते थे। साहित्यिक श्रेष्ठता उनके जीवन का हिस्सा बन चुकी थी, उसी तरह, जिस तरह सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की पहचान दाढ़ी थी या जवाहरलाल नेहरू की टोपी। नेहरूजी का नाम लेते ही आंखों के समक्ष टोपी वाला चेहरा कौंध जाता है। आंतरिक परिधान की तरह श्रेष्ठता का भाव शायद भारतीजी के जीवन का अंग बन चुका था। मेरा अनुमान है कि भारतीजी में उत्कृष्टता के आग्रह को अहंकार समझने वाले समकालीन साहित्यकार एवं पत्रकार या तो इस तथ्य से अनभिज्ञ थे अथवा अस्वीकार करने के लिए राजी नहीं थे। साहित्य और राजनीति दोनों में पैठ रखने वाले कुछ व्यक्ति मानते थे कि भारतीजी विचारशील हैं परंतु बेहद अंतर्मुखी। एक बार समाजवादी नेता लाडली मोहन निगम ने कहा-सरकार बदलते ही कई साहित्यकारों ने रंग बदला। भारतीजी ने न तो यह जताने का प्रयास किया कि वे समाजवाद पर कितनी आस्था रखते हैं और न उन्होंने सत्ता से निकटता का प्रयास किया। वे राज्यसभा में नामजद हों तब भी संसद आना और वहां मुखर होने से बचेंगे। मैं इस टिप्पणी से पूरी तरह सहमत नहीं हूं। अमिताभ बच्चन पर *धर्मयुग* ने मुखपृष्ठ कथा तैयार की। निर्णय से सहमत लोग दस दलीलें दे सकते हैं। मसलन-बच्चनजी से संबंध। पुष्पाजी और बच्चों का अमित अमिताभ मोह आदि आदि। अमिताभ को मुखपृष्ठ सौंपना, वह भी पुष्पाजी की कलम से लिखे लेख के लिए,

साहित्यकार भारती का निर्णय नहीं माना जा सकता। पत्रकार संपादक भारती की दूरदर्शिता की प्रशंसा करने वालों से भी असहमति जताऊंगा। उसी संस्थान से अंग्रेजी में प्रकाशित *फिल्मफेयर* और हिंदी में *माधुरी* पत्रिका सिनेमा को समर्पित थी। फिल्म क्षेत्र में प्रतिभाओं का अभाव नहीं था। दिलीप कुमार या संजीव कुमार पात्रता, गुणवत्ता एवं योग्यता में निस्संदेह किसी से कम नहीं थे। कवि शैलेन्द्र, साहिर लुधियानवी यहां तक कि मजरूह सुल्तानपुरी साहित्य-सार्थकता का शिखर छूने वालों में रहे। कुछ को भारतीजी की कृपा का प्रसाद मिला होगा। साहिर से हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी वाले बयान पर तो मुठभेड़ हुई। भारतीजी ने धर्मयुग को शस्त्र का रूप देकर साहिर और गंगा-जमुनी भाषा की बात करने वालों के विरुद्ध धर्मयुद्ध छेड़ दिया। दोनों पक्ष उत्तेजित थे। भारतीजी अपने पड़ोसी मित्र राही मासूम रजा की राह सही मानते थे। वे इस तर्क को सुनने तक के लिए तैयार नहीं थे कि साहिर-नीले गगन के तले लिखा करते हैं। इतिहास के पन्ने पलटने वाले जानते होंगे कि विवाद बहुत पुराना है। महात्मा गांधी ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति (वर्धा) को हिंदुस्तानी अपनाने का सुझाव दिया। उनके सुझाव का भद्रंत आनंद कौसल्यायन, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन आदि ने कड़ा विरोध किया।

गुजरात के कच्छ अंचल में सूखे के प्रभाव पर मैंने लेख लिखा। कच्छ के मुसलमान दुग्ध व्यवसाय संभालते हैं। चारे की समस्या के कारण दुधारू पशुओं को बेचने की विवशता से त्रस्त थे। मैंने ऐसे ही परिवार का किस्सा लिखा। परिवार प्रमुख ने गाय बेची तो बच्चों सहित परिवार के अन्य सब सदस्यों ने भोजन त्याग दिया। परिवार प्रमुख को गलती का अहसास हुआ। उसने जाकर खरीदार के हाथ जोड़े और अपनी गाय वापस लाया। उसी लेख में गुजराती कवि मनसुख भाई वाघेला की कविता का अंश जोड़ा। लेख प्रकाशित होने के बाद भारतीजी ने बुलाया। देर तक पूछताछ करते रहे। उनकी उत्सुक, नम आँखों में से भावुक साहित्यकार झांक रहा था। भारती की भावुकता का यह चेहरा मेरी कल्पना से परे था। बरसों पहले खान अब्दुल गफ्फार खां-सरहदी गांधी भारत यात्रा पर पहुंचे। उनकी सेवाग्राम यात्रा पर *धर्मयुग* में आलेख भेजा। साथ में भेजे पत्र में मंत्रीजी को अपनी भावना से अवगत कराया-भारतीजी के ययाति को मैंने सरहदी गांधी में प्रत्यक्ष देखा। अंतिम दिनों की वही निराशा। हताशा। भारतीजी की सरहदी गांधी से मुलाकात नहीं हुई। बारंबार पढ़े और कल्पना में देखे भारती रचित ययाति को मैंने सरहदी गांधी में साक्षात्-सदेह सम्मुख पाया। सेवाग्राम आश्रम में विचारों में खोए सीमांत गांधी का जीता-जागता चित्र जयंत हरकरे ने खींचा था। भारतीजी ने *धर्मयुग* में स्थान देकर सिर्फ मुझे ही प्रोत्साहित किया, ऐसी बात नहीं है। *धर्मयुग* की चक्की में पिसकर सचमुच महीन आटा निकला। *धर्मयुग* से बाहर जाने वाले पत्रकारों ने अपना और पत्रकारिता का नाम उज्वल किया। *धर्मयुग* में छपने से प्रोत्साहित कई पत्रकार, साहित्यकार उत्कृष्टता की ओर बढ़े। इसका कारण यह था कि महीनों पूर्व सामग्री तैयार करने के बावजूद भारतीजी कुछ न कुछ सामयिक सामग्री देते। पाठक को अखबारों से हटकर सामग्री मिलती। नागपुर शहर में किसानों की समस्या पर ध्यान दिलाने के लिए दिंडी निकाली गई। मराठी में 'दिंडी' का प्रयोग धार्मिक अर्थ में पावन आयोजन के लिए किया जाता है। आज से 35-37 वर्ष पूर्व देश भर के किसान आंदोलन पर भारतीजी ने सामग्री मंगाई। पाठकों के समक्ष बिना लाग-लपेट सत्ता की निरंकुशता का विवरण प्रस्तुत करा दिया। निजी विचार को उन्होंने पत्रिका के कलेवर पर हावी नहीं होने दिया। इसका साक्षी मैं भी हूँ। आज की रथ यात्रा पर सबका ध्यान जाता है। तीन दशक पहले गंगाजल की यात्रा का आयोजन विश्व हिंदू परिषद ने

किया था। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने परदे की पीछे रहकर मदद की। धर्मयुग में सचित्र विवरण पढ़कर लोग चौंके होंगे। यह मैं क्यों तय करूँ कि यह भारतीजी की पत्रकार दृष्टि की दूरदर्शिता थी या कुछ और? कभी कभार यह जरूर लगता था कि लोहिया-जयप्रकाश के संघर्ष से प्रभावित इलाहाबादी भारती को केसरिया विचार प्रभावित नहीं, तो आकर्षित अवश्य करने लगा था। हालांकि वे बिहार के संपूर्ण क्रांति आंदोलन से गहरे तक प्रभावित थे। जय प्रकाश नारायण के आंदोलन के प्रति भारतीजी की स्पष्ट सहानुभूति थी। मुनादी कविता में भारती की आत्मा झलकती है।

आपातकाल लागू होने के अगले दिन *टाइम्स आफ इंडिया* समूह के मुंबई स्थित संपादक लंच रूम में मिले। टाइम्स इमारत की छठवीं मंजिल पर सभी संपादक साथ दोपहर भोजन करते थे। गिरिलाल जैन, खुशवंत सिंह, कमलेश्वर आदि आपातकाल के पक्षधर थे। टाइम्स के सुंदरराजन ने शोक-सूचना का अंग्रेजी में प्रारूप तैयार किया जो अगले दिन दैनिक टाइम्स आफ इंडिया में निधन वार्ता में छपा। डेमोक्रेसी-लोकतंत्र के निधन की चतुराई से तैयार की गई सूचना टाइम्स समूह में कार्यरत आपातकाल विरोधी भावना की अभिव्यक्ति थी। *दिनमान* के संपादक रघुवीर सहाय, आपातकाल के विरोध में संपादकीय खाली छोड़ने वाले राजेन्द्र माथुर सहित मैदानी संघर्ष में सक्रिय गणेश मंत्री, गिरधर राठी सहित अनेक परिचित पत्रकारों की तरह भारतीजी मुखर नहीं थे। साहित्यकारों का एक वर्ग मानता था कि पसंद-नापसंद के आधार पर साहित्यकारों में भारती गुट बन चुका है। *सारिका* के संपादक कमलेश्वर का गुट अलग था। गुटबाजी या प्रशंसक वर्ग की जानकारी साहित्य-सेवी जानते होंगे। यह सच है कि भारतीजी प्रख्यात व्यंग्यकार शरद जोशी से नाखुश थे। या जोशीजी भारतीजी से रुष्ट थे। जोशीजी धर्मयुग के पन्नों से लापता थे। भारत भवन की गतिविधियों के घोर विरोधियों में जोशी, अनिल कुमार आदि अनेक साहित्यकार सक्रिय थे। प्रशासक एवं कवि अशोक वाजपेयी हर उस रचनाकार को निबटाने में जुटे थे जो भारत भवन का विरोध कर रहा था। भोपाल के ताल का यह विरोध साहित्यकारों के शब्द खटोले पर बैठकर मुंबई सहित पूरे भारत में फैल चुका था। इंडियन एक्सप्रेस ने *हिंदी एक्सप्रेस* पत्रिका आरंभ की। शरद जोशी ने संपादन संभाला। धर्मयुग और हिंदी एक्सप्रेस के बीच साहित्यकार बिरादरी बंटी। जोशीजी ने ट्रक के पीछे लिखी इबारतों पर मुखपृष्ठ-कथा तैयार की। सराही गई। नामी साहित्यकार जोशीजी से मिलने नरीमन पाइंट स्थित एक्सप्रेस टावर में पहुंचे। मैं वहीं बैठा था। साहित्यकार का नाम न पूछें। उन्होंने जोशीजी को उकसाया। कहा-आप भारतीजी का मुकाबला नहीं कर सकते। इक्का-दुक्का चीजें छपने से भारतीजी का सिंहासन नहीं डोलता। *हिंदी एक्सप्रेस* का भरोसा नहीं, कितने दिन मुकाबले में टिक पाएगा? जोशीजी का उत्तर जानने के लिए उत्सुक पाठक विचार करें कि भारतीजी का आभामंडल कितना प्रभावशाली था?

भारतीजी के संपादन की विशेषता यह भी रही कि वे सामयिक सामग्री के लिए पूरी ताकत लगा देते थे। शरद पवार महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री थे। हमेशा की तरह मुझे दो बजे संपादक का निर्देश मिला और मैं भारतीजी के दरबार में हाजिर हो गया। दरबार कहना उचित नहीं होगा क्योंकि कि दो वरिष्ठ सहायक संपादकों को छोड़कर शायद ही कोई उनके कक्ष में ठीक से प्राणवायु प्राप्त करता था। भारती ने पवार का साक्षात्कार लेने का आदेश दिया। कब तक? मेरा प्रश्न था। बुधवार तक। कुल जमा चार दिन में मुलाकात कर लिखकर देना है। मैंने तुरंत कहा-यह तो नहीं होगा। धूरकर देखा। क्यों

नहीं हो पाएगा। जी, वह मुख्यमंत्री है। भारतीजी ने सख्त स्वर में कहा-मैं कुछ नहीं जानता। आप कर सकते हैं। करो। मैं भी बच्चों की तरह अड़ गया। दलीलें देने लगा कि क्यों संभव नहीं है। भारतीजी इस तरह के तर्क सुनने के आदी नहीं थे। बोले- आप जानें। करना तो है तब मैं समझा। मन ही मन कहा-बेटा बहुत कुदकते थे कि भारतीजी अतिप्रसन्न हैं। भुगतो। शायद शरद पवार भी भारतीजी के हठ से वाकिफ रहे होंगे वरना मंत्रालय से मुख्यमंत्री निवास के बीच कार में फटाफट उत्तर न देते। राजेन्द्र माथुर, सुरेन्द्र प्रताप सिंह, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, राम मनोहर त्रिपाठी, विश्वनाथ सचदेव, मधुसूदन आनंद, विष्णु खरे, सूर्यकांत बाली, अच्युतानंद मिश्र, आलोक मेहता जैसे अनेक संपादकों से बहुत कुछ सीखने मिला। भारती मेरे संपादक नहीं रहे। पत्र-पत्रिका में सर्वप्रथम, सबसे अलग और सर्वोत्कृष्ट सामग्री देने के लिए किस सीमा तक जाया जा सकता है? भारतीजी की कार्यप्रणाली से मैंने यह सबक सीखा।

व्यक्ति के रूप में भारती कितने मिलनसार थे? इस प्रश्न का उत्तर उनके निकटवर्ती दे सकते हैं। पुष्पाजी के लेखों और संस्मरणों से उनकी मिलनसारिता और अपनों के प्रति लगाव की झलक मिलती है। सार्वजनिक साहित्य-सभाओं और कवि सम्मेलनों के प्रपंच में पड़ने से भारतीजी बचते थे। अच्छे कवि होने के बावजूद कवि सम्मेलनों में जाना टालते थे। मेरा अनुभव तो यही है। नागपुर में हरीश अड्यालकर और अन्य कुछ साथी लोहिया अध्ययन केन्द्र में वैचारिक आयोजन करते थे। सरदार अटल बहादुर सिंह, वल्लभ दास डागा आदि का पूर्ण सहयोग था। सुधीर सक्सेना, विनायक कराड़े, गोपाल नायडू, जयशंकर के कारण अभिव्यक्ति साहित्यिक संस्था के रूप में पहचान बना रही थी। हम सबने मिलकर गजानन माधव मुक्तिबोध विचार सत्र नाम से वैचारिक व्याख्यानों की नींव डाली। हम कवि सम्मेलन करना चाहते थे जिसमें नामी कवि प्रखर रचनाएं सुनाएं। भारतीजी से मिला। उनसे नागपुर के आयोजन के लिए आग्रह किया। भारतीजी ने आयोजनों से मोहभंग की स्वीकारोक्ति के साथ कहा-एक कवि फूहड़ रचना से आयोजन का स्तर गिरा देता है। बहरहाल संवाद के लिए अध्ययन केंद्र में आने का आश्वासन दिया। विजय तेंडुलकर, शरद जोशी, गणेश मंत्री सहित अनेक मान्यवर आए। भारतीजी का कार्यक्रम पक्का नहीं हो सका।

बीसवीं सदी अवसान की ओर बढ़ रही थी। उसके साथ ही भारतीजी की ऊर्जा और प्रभाव दोनों की प्रखरता कम हो रही थी। भारतीजी ने बेनेट कोलमैन कंपनी को औपचारिक लहजे में अलविदा नहीं कहा। उन्होंने आना छोड़ दिया था। कलानगर के उनके निवास और *धर्मयुग* संपादक के कक्ष में अबोलापन बढ़ा। अपरिचय में बदला। कक्ष बंद रहने लगा। जिस इमारत की पांचवीं मंजिल पर बैठने वाले प्रशासक, प्रबंधक और नीति-निर्माता स्वामी भारती के हर शब्द को निर्णय मानते थे, उन्होंने सुनवाई बंद कर दी। औपचारिक विदाई नहीं। धीरे धीरे लोगों को यही पता लगा कि भारतीजी अब नहीं आएंगे। बड़े प्रकाशन से संपादकों की विदाई कई बार निर्मम घाव छोड़ती है। भारतीजी के आसपास मुंबई में संपादकीय करने वाले हों या दिल्ली के संपादक। इस कड़वे यथार्थ से साक्षात्कार करते रहे हैं इसलिए यही मानूंगा कि भारतीजी स्वयं गए। भगाए नहीं गए। उनके स्थान पर गणेश मंत्री संपादक बने। सामाजिक तानेबाने और राजनीतिक विषयों पर बेहद संतुलित आंकलन करने वाले मंत्रीजी *धर्मयुग* में भारतीजी के परम विश्वासपात्र पत्रकार और कलानगर के पड़ोसी ही नहीं थे। भारतीजी उन्हें सर्वाधिक सुयोग्य सहयोगी मानते थे। प्रबंधन ने इतना ध्यान रखा। *धर्मयुग* के बगैर

धर्मवीर भारती अधिक नहीं जी सके। धर्मवीर भारती की अनुपस्थिति से *धर्मयुग* का अस्त होने लगा। प्रबंधन *धर्मयुग* को बंद कर ही माना। *धर्मयुग* तथा हिंदी के परिचित लेखक विंग कमांडर अशोक मोटे कहा करते हैं कि दो ही संपादक ऐसे हुए जिनका नाम काम से जुड़ा। *धर्मयुग* उनमें से एक है।

आजकल के चलतू साक्षात्कारों में घिसे-पिटे सवाल दोहराए जाते हैं। ऐसा ही प्रश्न है-भारतीजी के जीवन, मेरा मतलब है, संपादकीय जीवन से क्या सीख मिलती है? पहला तो दार्शनिक उत्तर यही है कि अपने तरीके से जीवन जियो। खुन्नस रखने वाले रखें। निजी जिंदगी में चोरी-चोरी ताकने वाले अफवाहें फैलाते रहें। बाकी रह जाएगा आपका योगदान। साहित्य, कला सहित किसी भी क्षेत्र में। दूसरा गहरे तक सालने वाला प्रश्न है कि ययाति के रचनाकार पर ययाति के अंतिम दिनों की निराशा ने नीड़ बसा लिया था? सच या झूठ? निश्चित ही, अंतिम दिनों में उन मिलने वालों से पिंड छूटने लगा था जो छपने की ललक के साथ मिला करते थे। सत्ता के सिंहासन से उतरकर जब आप दूर कहीं निकल जाते हैं तब कई चेहरे खिसक जाते हैं। यह याद दिलाते हुए, कि जीवन नश्वर है भारतीजी का निधन हुआ। उनके अंतिम संस्कार में ऐसे अनेक व्यक्ति अनुपस्थित थे जो भारतीजी के कारण लोकप्रिय, महान, जनसेवी या कुशल कलाकार की पहचान पा सके। उनके अनुयायी कहलाने वाले गिनती के लोग सीधे श्मशान घाट पहुंच गए। लपटों की संख्या से शोक प्रकट करने वालों की संख्या कम रहीं। लोगों को सूचित करने, अंतिम संस्कार की तैयारी में तालमेल बिठाने का काम स्वेच्छा से राम मनोहर त्रिपाठी ने किया वरना अपने स्वभाव के अनुरूप चुपचाप चले गए होते।

त्रिपाठीजी राष्ट्रीय नेता बन चुके थे। उनका कविरूप राजनीतिक परिधान की चमक में छिप गया था। त्रिपाठीजी ने बाद में कभी कहा-मैं कैसे भूल जाता कि व्यक्ति धर्मवीर भारती का निधन नहीं हुआ? हिंदी ने महान साहित्यकार खोया है। त्रिपाठी से कुर्ला निवास में यह बात सुनकर मुझे कवि भारती का बोआई का गीत याद आया-

*मैं बोऊंगा बीरबहूटी, इंद्रधनुष सतरंग। नए सितारे, नई पीढियां, नए धान का रंग
कांधा देने के लिए चार अपने पर्याप्त हैं और बोआई तो एक किसान भी कर लेता है।*



असमय विदा हुए एक महानायक की याद

राजेश बादल

आपातकाल लग चुका था। देश आजाद होने के बाद पहली बार प्रेस सेंसरशिप लगा दी गई थी। मैं कॉलेज में पढ़ता था। साथ में स्थानीय दैनिक शुभ भारत और दैनिक जागरण के साथ संवाददाता के रूप में पत्रकारिता की पारी शुरू कर चुका था। सेंसरशिप के चलते सारे पत्रकारों का खून खौल रहा था। दरअसल उन दिनों हर खबर को छापने से पहले जिला प्रशासन के एक वरिष्ठ अधिकारी से बाकायदा सील लगवाकर इजाजत लेनी होती थी। यह प्रक्रिया बेहद अपमानजनक थी। वह डिप्टी कलेक्टर बड़ी हेकड़ी दिखाते हुए खबरों अप्रूव करता था। हम लोग खून का घूंट पीकर रह जाते। हालांकि बाद में उदार जिला कलेक्टर आए। वे सेंसरशिप के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने हम लोगों को ऑफ द रिकॉर्ड खबर प्रकाशन की पूरी आजादी दे दी। केवल सरकारी रिकॉर्ड में कुछ प्रतियां छापकर जमा करानी होती थीं। उन दिनों नई दुनिया अखबार अपनी निर्भीक नीति के कारण हम लोगों का चहेता बन गया था। जिस दिन आपातकाल लगा, उस दिन अखबार के संपादक राजेंद्र माथुर ने संपादकीय वाली जगह कोरी छोड़कर विरोध प्रदर्शन का नायाब नमूना पेश किया था। वो हमारे हीरो बन गए थे। छतरपुर जिले में उन दिनों नई दुनिया अगले दिन सुबह आता था- याने चौबीस घंटे लेट। फिर भी लोग बेताबी से उसका इंतजार करते थे। नई दुनिया ने अपनी स्वतंत्र पत्रकारिता की लाज बचाकर रखी थी। ऐसे में उस समाचारपत्र का संवाददाता बनने की होड़ थी। मैंने राजेंद्र माथुर को एक चिट्ठी लिखी। चिट्ठी में संवाददाता बनने का अनुरोध था। कोई उत्तर नहीं आया। मैंने कुछ दिन बाद फिर पत्र लिखा। उसका भी कोई उत्तर नहीं। फिर मैं करीब करीब हर महीने- पंद्रह दिन में चिट्ठी लिखता रहा। साल भर बाद एक पोस्टकार्ड आया। संवाददाता बनाने से मना किया था। लिखा था, छतरपुर बहुत दूर है। डाक से समाचार पहुंचते-पहुंचते पुराने हो जाएंगे। फिर भी मैं अपना अनुरोध पत्र भेजता रहा। आखिरकार एक दिन नई दुनिया से मुझे एक फॉर्म मिला। लिखा था इसे भरकर भेज दीजिए। फिर विचार करेंगे। मैं फूलकर कुप्पा था- मानो मुझे संवाददाता बना ही दिया गया हो पर कुछ नहीं हुआ। मैं थोड़ा थोड़ा निराश होने लगा। इसी बीच आपातकाल हटाने का ऐलान हुआ और आम चुनाव की भी घोषणा हो गई। एक दिन मुझे राजेंद्र माथुर का तार मिला। चुनाव सामग्री और बुंदेलखंड इलाके का चुनावी विश्लेषण मांगा था।

छतरपुर जैसे छोटे से कस्बे में किसी नौजवान पत्रकार को नई दुनिया के प्रधान संपादक का तार। साइकिल उठाकर शहर के परिचितों को दिखाता फिर। मेरे जैसे कस्बाई पत्रकार के लिए

यकीनन गर्व की बात थी। उन दिनों नई दुनिया हिंदी पत्रकारिता का सर्वश्रेष्ठ नाम था और राजेंद्र माथुर भारतीय हिंदी पत्रकारिता का सबसे बड़ा नाम। राजेंद्र माथुर देश भर के पत्रकारों- संपादकों के प्रेरणा स्रोत बन गए थे। इसके बाद उन्होंने सात मुद्दों की शृंखला लिखी। भारतीय हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में यह एक दस्तावेज है। बहरहाल मैंने आलेख भेजा। छप गया। नई दुनिया और राजेंद्र माथुर से रिश्ते की शुरुआत हो गई। मैं लिखता। माथुर साहब हर दूसरे तीसरे आलेख पर अपनी राय देते। वे पत्र खुद लिखा करते थे। इन पत्रों ने मेरा हौसला बढ़ाया। अलबत्ता संवाददाता बनने का औपचारिक पत्र मुझे कभी नहीं मिला। मेरे लिखे रिपोर्टाज छप रहे थे- मेरे लिए यही बहुत था।

इसी बीच एक भारतीय हिंदी पत्रकारिता के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना घटी। इस घटना से मेरे पत्रकारिता जीवन में नया मोड़ आया। हुआ यह कि छतरपुर में नए कलेक्टर ने ज्वाइन किया। एक दिन उनका कुत्ता बंगले से निकलकर सड़क पर आ गया। एक ट्रक उसे कुचलकर चला गया। इससे कलेक्टर का पारा सातवें आसमान पर जा पहुंचा। उन्होंने एसपी को निर्देश दिया कि उस ट्रक को खोजकर ड्राइवर को गिरफ्तार किया जाए। सारे नाकों पर तलाशी अभियान चला। जिले भर की पुलिस ट्रक ढूँढने में लगी रही। वायरलेस पर सैकड़ों संदेश दौड़ते रहे। स्थानीय अखबारों में इसकी आलोचना हुई कि डाकू समस्या से जूझ रहे जिले में पुलिस इतना समय, ऊर्जा और संसाधनों अगर डाकू विरोधी अभियान में लगाती तो शायद कुछ गिरोह पकड़ में आ जाते। एक कुत्ते के लिए सरकारी साधनों का इस तरह इस्तेमाल बेजा है। इस पर कलेक्टर इतने खफा हुए कि उन्होंने जनसंपर्क अधिकारी को बुलाकर डांटा और हम लोगों को पहली चेतावनी मिली। इसके कुछ समय बाद बाद एक पुलिस इंस्पेक्टर पर एक महिला से दुष्कर्म का आरोप लगा। इसके एक दिन पहले एक बच्ची के साथ भी दुष्कर्म की वारदात हुई थी। दोनों घटनाओं के विरोध में एक जुलूस निकला। इस पर पुलिस ने गोली चलाई। अनेक घायल हुए। घटना की मजिस्ट्रेटी जांच हुई। जांच रिपोर्ट में पुलिस को दोषी पाया गया। एक अधिकारी भी दोषी ठहराया गया। उस अधिकारी को कलेक्टर बचाना चाहते थे। कलेक्टर के इसमें निजी हित थे। उन्होंने जांच रपट ठंडे बस्ते में डाल दी।

उन दिनों दैनिक शुभभारत के साथ हम लोग जुड़े थे। शुभभारत के संपादक श्यामकिशोर अग्रवाल, मैं, शिवअनुराग पटेरिया और विभूति शर्मा जैसे नौजवान पत्रकारों का हमारा समूह था। इसी बीच खबर मिली कि जिस जांच रिपोर्ट को कलेक्टर दबा रहे हैं, वह हासिल हो सकती है। शिवअनुराग पटेरिया को रिपोर्ट की कॉपी मिल गई। वह शुभभारत में छपी। फिर क्या था। कलेक्टर बौखला गए। वो चाहते थे कि हम उन्हें जांच रिपोर्ट का स्रोत बताएं। हमने मना कर दिया। इसके बाद तो उन्होंने सारे हथकंडे अपनाने शुरू कर दिए। हम लोगों को धमकाया जाने लगा, हमारे अभिभावकों को नौकरी खोने की चेतावनी दी गई। श्याम के पिता की किराना दुकान थी। उस पर छापे पड़े। फर्जी केस बनाए गए। कॉलेज के प्राचार्य पर हमें कॉलेज से निकालने का दबाव डाला गया। हमारे खिलाफ हमारे ही शहर में लाउडस्पीकर पर दिन भर प्रचार होता था। जीना मुश्किल हो गया था। मैं उन दिनों अपने चाचाजी के घर रहता था। चाचाजी को एक और शिक्षक ने कलेक्टर के इशारे पर चेतावनी दी कि अपने भतीजे को घर से निकालो अन्यथा उनके खिलाफ कार्रवाई की जाएगी। चाचाजी परेशान हो गए। इसी तरह विभूति और पटेरिया के साथ भी हुआ। शुरू में तो पुलिस कलेक्टर के निर्देश पर काम कर रही थी लेकिन बाद में पुलिस अधीक्षक को लगा कि हमारे

साथ गलत हो रहा है तो उन्होंने हमें समर्थन दिया। इससे कलेक्टर और भड़क गए। उन्होंने किराए पर लिए गुंडों की फौज हमारे खिलाफ उतार दी। ये गुंडे उत्तर प्रदेश के झांसी जिले से लाए गए थे। आत्मसमर्पण कर चुके कुछ डाकुओं का सहारा भी हमें दहशत में डालने के लिए किया गया। हमने विरोध में एक दिन अखबार बंद रखे। एक दिन अखबार का पहला पन्ना केवल विरोध दिवस लिख कर खाली छोड़ा। इस बीच ज्यों ज्यों कलेक्टर हमारे खिलाफ होते गए, हमें समाज और पत्रकार बिरादरी का समर्थन मिलता गया। इक्का दुक्का पत्रकारों को छोड़, जो कलेक्टर से विज्ञापन लेते थे, हथियारों के लायसेंस और तबादलों में दलाली करते थे। उस समय के एक बड़े राजनेता भी हमारे खिलाफ हो गए थे। एकबारगी तो लगने लगा कि शहर छोड़ दें। पानी सर से गुजर गया तो हम करीब पंद्रह-सोलह पत्रकार बस में सवार होकर भोपाल आ गए। आपको बताऊँ-हमें 27 रुपये भोपाल तक का किराया भी भारी था। डिपो मैनेजर अरुण श्रीवास्तव ने हमें आधे किराए का पास दिया और बचे पैसे हमें कई दिन बापू की कुटिया में खाना खाने के काम आए। उन दिनों न्यू मार्केट के इस ढाबे में हम तीन या चार रुपये में भरपेट खाना खा लेते थे। ठहरने की निःशुल्क सुविधा हमें कामरेड कपूरचंद घुआरा और शंकरप्रताप सिंह के विधायक निवास में मिल गई थी। तीन चार दिन भटके। भोपाल के बड़े बड़े पत्रकारों तक ने हमें घास नहीं डाली। तब विजयदत्त श्रीधर और आंचलिक पत्रकार संघ ने बहुत साथ दिया। एक दिन प्रतिपक्ष के नेता सुंदरलाल पटवा के पास पहुंचे। उन्होंने सारी कहानी सुनी। पटवाजी हैरत में थे कलेक्टर की करतूतें जानकर। उनके प्रयास से एक दिन विधानसभा में इस मसले पर अनेक घंटे धुआंधार बहस हुई। जिस दिन यह बहस हुई, हमारे पास खाने तक के पैसे नहीं बचे थे और एक दिन पहले ही हम रोडवेज की बस से छतरपुर लौट गए थे। बहस के बाद शाम करीब छह बजे मुख्यमंत्री अर्जुनसिंह ने विधानसभा में मामले की न्यायिक जांच का ऐलान किया। भारत की आजादी के बाद पत्रकारों की प्रताड़ना का यह पहला और आखिरी मामला है, जिसमें न्यायिक जांच कराई गई। मैंने और अनेक मित्रों ने अपने अपने अखबारों में जमकर लिखा। हमें भरपूर समर्थन मिला। इस पूरे मसले पर मैंने लगातार नई दुनिया, देशबंधु ब्लिट्ज, करंट, ज्ञानयुग प्रभात, दीनोदय, दैनिक जागरण और रविवार जैसे पत्र पत्रिकाओं में लिखा। तब तक राजेंद्र माथुर नई दुनिया के प्रधान संपादक हो गए थे। उन्होंने और रविवार के संपादक सुरेंद्रप्रताप सिंह ने बहुत सहयोग किया। उन्होंने संपादकीय भी लिखे। सरकार पर भारी दबाव बना। मुझे इसका फायदा मिला। एक दिन माथुर साहब का पत्र मिला। लिखा था- इंदौर मिलने आइए। आने जाने का किराया दे देंगे। मैं उस अलौकिक अखबार के दफ्तर में जा पहुंचा। जिस अखबार का संवाददाता न बन सका, उसका उप संपादक बनने का प्रस्ताव। लॉटरी खुल गई। राजेंद्र माथुर के प्रति मन श्रद्धा से भर गया।

नई दुनिया ने मुझे संपादकीय विभाग में बतौर प्रशिक्षु उप संपादक काम करने का ऑफर दिया। मैंने ज्वाइन कर लिया। इस बीच सरकार की घोषणा के मुताबिक न्यायाधीश देवीप्रसाद पांडे आयोग ने छतरपुर में काम शुरू किया। इसमें गवाही के लिए मैं इंदौर से आता था। हमारे साथी जगदीश तिवारी ने इस केस की पैरवी के लिए महीनों तक अपनी वकालत बंद रखी। जगदीश तिवारी दिल्ली से प्रकाशित जनयुग के संवाददाता भी थे। जब आयोग ने अपनी रिपोर्ट दी तो जहां तक मुझे याद आता है, जांच के सात बिंदुओं में से साढ़े छह आरोप सही पाए गए थे। आधा आरोप इसलिए सिद्ध

नहीं हो पाया क्योंकि एक गवाह कलेक्टर के दबाव में गवाही देने नहीं आया था। इस तरह जांच आयोग के जरिए हमें जीत मिली। अफसोस राज्य सरकार ने आयोग की सिफारिशें तो मानी लेकिन कलेक्टर की सीआर में कोई प्रतिकूल टिप्पणी दर्ज नहीं की गई और हम लोग लड़ाई जीतकर भी हार गए थे। राजेंद्र माथुर ने इस मामले में तीखे संपादकीय लिख कर सरकार को हिला दिया था।

उन दिनों अविभाजित मध्य प्रदेश समेत देश भर में इस मामले की गूंज थी और हम लोगों को दूर दूर तक पत्रकारों के संघर्ष पर व्याख्यान के लिए बुलाया जाता था। हमारे लिए यह बहुत बड़ी बात थी। हां एक बात और है कि जब हम लोगों के उत्पीड़न की खबर इंडियन एक्सप्रेस समेत देश के तमाम राष्ट्रीय अखबारों में छपी तो प्रेस कौंसिल ऑफ इंडिया ने सुओ मोटो इसकी जांच कराने का फैसला किया। जांच समिति आई। उसने जांच की तो उसमें भी हमारे सारे आरोप सही पाए गए। ऐसा नहीं होता कि दो अर्ध न्यायिक एजेंसियां एक समय में एक ही मामले की जांच करें, लेकिन इस मामले में ऐसा हुआ। इस तरह भारत में प्रेस की अभिव्यक्ति का अपने किस्म का यह अनोखा मामला है। तो इस मामले ने पत्रकारिता में अपने सरोकारों के लिए न केवल संघर्ष का रास्ता दिखाया, बल्कि रोजगार का द्वार भी खोला। मैं उन दिनों रेडियो में कैजुअल अनाउंसर और महाराजा महाविद्यालय में अनुबंध के आधार पर इतिहास पढ़ा रहा था। स्वर्गीय राजेंद्र माथुर को मेरे मामले में श्रेय जाता है कि उन्होंने दिशा ही बदल दी।

पत्रकार के तौर पर बुंदेलखंड जैसे पिछड़े इलाके से अंग्रेजी में लिखने का अवसर कम ही आता था। यू.एन.आई और पी.टी.आई के लिए केवल स्थानीय खबरें ही भेजीं थीं। माथुरजी ने ज्वाइन करते ही संपादकीय पन्ने के लिए एक आलेख अनुवाद करने दिया। अगर मुझे याद है तो वह आलेख कुलदीप नैयर का था। शायद वे मेरी अंग्रेजी जांचना चाहते थे। जाहिर था- मैं उनकी अपेक्षा पर खरा नहीं उतरा। इसके बाद उनका आदेश था - रोज सुबह घर आओ। मैं अनुवाद सिखाऊंगा। अगले दिन सुबह से किराए की साइकिल लेकर पांच किलोमीटर दूर उनके घर जाता और वे मुझे अंग्रेजी पढ़ाते। करीब तीन महीने उन्होंने पढ़ाया। गुरु के रूप में राजेंद्र माथुर मेरे सामने थे। दिन गुजरते रहे। वे अखबार की हर विधा में मुझे पारंगत देखना चाहते थे। कुछ दिन बाद उन्होंने मुझे भोपाल संस्करण का स्वतंत्र प्रभार दे दिया। देखते ही देखते संस्करण का प्रसार दोगुना हो गया। इसके बाद उन्होंने ग्रामीण रूपकों के पृष्ठ-परिवेश की जिम्मेदारी भी मुझे सौंप दी। मुझे काम में मजा आने लगा था। मेरे शीर्षक और ले आउट उन्हें बहुत पसंद आते थे। मैं केवल सोने के लिए अपने दड़बे में जाया करता था। बाकी समय दफ्तर में ही बीतता था। कुछ दिन बाद मुझे डेस्क से कुछ ऊब सी होने लगी। मैंने एक दिन उनसे कहा, अब तक मैंने रिपोर्टिंग में काफी समय बिताया है। संभव हो तो रिपोर्टिंग में लगा दें। वो मान तो गए, लेकिन इस शर्त पर कि मैं अपने अन्य सारे काम भी करता रहूंगा। मुझे एक नई साइकिल दी गई। यह साइकिल अनेक दिन तक कार्यालय में चर्चा का विषय बनी रही। शायद मैं पहला रिपोर्टर था, जिसे नई साइकिल खरीदकर दी गई थी।

राजेंद्र माथुर भाषा की शुद्धता और शब्दों के इस्तेमाल को लेकर बहुत संवेदनशील थे। अकसर संपादकीय विभाग में इस पर बहस छिड़ जाती कि अमुक शब्द किस तरह लिखा जाना चाहिए। माथुर साब भी उस बहस में शामिल होते थे। अंततः किसी वाक्य और अनुवाद में सर्वश्रेष्ठ शब्द के चुनाव पर ही सहमति बनती थी। फिर भी उन्होंने एक नए ढंग की कक्षा शुरू की। प्रूफरीडर से लेकर प्रबंध संपादक तक इसमें हिस्सा लेते। विश्वविद्यालय के हिंदी प्राध्यापकों से लेकर विद्वानों तक हमें पढ़ाने

आते। हमारी हिंदी ठीक करते। इन कक्षाओं में काफी मशक्कत के बाद अखबार की स्टाइल शीट तैयार हुई। मेरे खयाल से देश में आज भी किसी समाचारपत्र में ऐसा नहीं होता। इसी वजह से राजेंद्र माथुर स्कूल से निकले पत्रकार आज भी भाषा और शब्दों की गरीबी का सामना नहीं करते।

उन दिनों रविवार देश का सर्वश्रेष्ठ साप्ताहिक था। संपादक थे सुरेंद्रप्रताप सिंह। पत्रकारों के बीच वो एसपी के नाम से लोकप्रिय थे। एसपी किसी काम से इंदौर आए। दोनों शिखर संपादकों की बैठक रविवार में यायावर की डायरी स्तंभ के लेखक बसंत पोतदार के मार्तंड चौक वाले घर में हुई। मैं बसंत दा के घर मौजूद था। बसंत दा ने ही मेरी मुलाकात एसपी से कराई। मुलाकात के दौरान एसपी ने माथुर साब से कहा कि राजेश को रविवार के लिए मध्य प्रदेश का संवाददाता बनाना चाहते हैं। क्या रविवार के लिए नई दुनिया से मुक्त कर सकेंगे। राजेंद्र माथुर ने सीधे तौर पर न तो नहीं कहा लेकिन रविवार के लिए नई दुनिया में रहते हुए रिपोर्टिंग की अनुमति दे दी। इस तरह रविवार में मेरी रिपोर्टिंग शुरू हो गई। क्या आज के भारत में कोई संपादक इस तरह की अनुमति दे सकता है?

बहरहाल, रविवार के साथ रिपोर्टिंग के दौरान कभी न भूलने वाला एक वाक्या है। हुआ यह कि उन दिनों मध्यप्रदेश के कद्दावर मुख्यमंत्री अर्जुन सिंह पर भारतीय जनता पार्टी ने भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप लगाए। एसपी ने उस पर एक कवर स्टोरी मांगी। मैंने भेजी। छपते ही हड़कंप मच गया। नई दुनिया पर मुझे नौकरी से निकालने का दबाव आया। सरकारी विज्ञापन बंद करने की धमकी दी गई। माथुर साब पर मुझे निकालने का दबाव बढ़ता गया। मैंने तय किया कि मैं इस्तीफा दे दूंगा। माथुरजी पर आंच नहीं आनी चाहिए। मैंने एसपी को कोलकाता फोन लगाकर जानकारी दी। एसपी ने कहा, राजेश! चिंता मत करो। माथुरजी का सम्मान मेरा अपना सम्मान है। मैं तुम्हारा रविवार में नियुक्ति पत्र भेज रहा हूँ। शाम होते होते टेलेक्स पर रविवार का संदेश आ गया। मैं माथुरजी के पास गया और उन्हें सारा हाल बताया। माथुरजी हँस पड़े। बोले, तुम्हें इस्तीफा देने की जरूरत नहीं है। देना ही पड़ेगा तो मैं दूंगा और मैनेजमेंट को जब माथुरजी ने अपने इस्तीफे की पेशकश की तो सारे लोग परेशान हो गए। माथुरजी और नई दुनिया एक ही सिक्के के दो रूप थे। बताने की जरूरत नहीं कि न मेरी नौकरी गई और न माथुरजी को इस्तीफा देना पड़ा। क्या आज के दौर में आप ऐसे संपादक की कल्पना भी कर सकते हैं?

राजेंद्र माथुर के संपादन की क्या मिसाल दूँ। किसी भी आलेख की संपादित प्रति देखिए। आप दंग रह जाएंगे। उनके पास आलेख की आत्मा से खिलवाड़ किए बिना उसे छोटा करने का अद्भुत कौशल था। एक और बात। संपादकीय लिखने के बाद उसे किसी दूसरे उप संपादक को संपादित करने के लिए देते थे। मेरी सीट उनकी कुर्सी के ठीक पीछे थी। अपना लेख या संपादकीय लिखने के बाद वो मेरी तरफ उसे बढ़ा देते। पहली बार जब उन्होंने मुझे संपादन के लिए प्रति दी तो मैं हक्का-बक्का रह गया। माथुरजी के लिखे हुए को मैं संपादित करूँ? उन्होंने मेरी झिझक पकड़ ली। बोले भूल जाओ कि तुम संपादक के लेख को संपादित कर रहे हो। तुम संपादक हो और तुम्हारे सामने एक आलेख है। हालांकि उसके बाद भी कई दिन तक मैं उनके संपादकीय और आलेख डर-डरकर संपादित करता रहा। इसी बीच वे 1982 में नवभारत टाइम्स के प्रधान संपादक बनकर दिल्ली जा पहुंचे। उनके जाने के बाद नई दुनिया प्रबंधन ने मुझ पर भरोसा किया। करीब साल भर बाद मैं उसी कुर्सी पर बैठकर काम कर रहा था, जिस पर माथुर साहब बैठते थे। मेरे लिए इससे बड़ा

और क्या हो सकता था? भोपाल संस्करण संपादकीय पृष्ठ, संपादक के नाम पत्र, रविवारीय संस्करण, मध्य साप्ताहिक और एक तरह से पूरे अखबार का ही जिम्मा मुझ पर आ गया था।

जिस दिन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या हुई, उस दिन सुबह सुबह खबर मिल गई थी। अभय छजलानीजी के मार्गदर्शन में हम लोग सारे दिन छोटे आकार का अखबार निकालते रहे। अगले दिन मैंने माथुरजी को सारे अखबार डाक से भेजे। आप यकीन नहीं करेंगे- उन्होंने सारे अखबारों में लाल स्याही से अपने निशान लगाकर मेरे पास भेजे इस टिप्पणी के साथ कि वो अंक और बेहतर कैसे बनाए जा सकते थे। इसके चंद रोज बाद सदी की भीषण मानवीय त्रासदी भोपाल में गैस कांड के रूप में सामने आई। उस रात और अगले कुछ दिन हम लोगों ने गैस कांड का खास कवरेज किया। उस दिन माथुर साब दिल्ली से इंदौर आए हुए थे। उन्हें खबर मिली तो सीधे नई दुनिया आए। हम लोग उन्हें अचानक देखकर चौंक गए। क्या दिलचस्प नजारा था। उन्होंने उसी कुर्सी पर बैठकर नवभारत टाइम्स के लिए अपना विशेष संपादकीय दिल्ली भेजा, जिस पर नईदुनिया के दिनों में लिखते थे। पहले की तरह मैंने उस आलेख का संपादन किया और दिल्ली भेजा। उस दिन मन बार-बार यही मनाता रहा- काश! माथुरजी हमेशा की तरह लिखते रहें। हम उन्हें देखते रहें।

सिलसिला चलता रहा। माथुर साहब जब इंदौर आते, मैं मिलने पहुंच जाता। वे बड़े उत्साह से नवभारत टाइम्स में हो रहे बदलावों का जिक्र करते थे। एक दिन (शायद 28 जुलाई 1985) दिल्ली से उनका फोन नई दुनिया के दफ्तर आया। मैं उन दिनों तक अखबार की अनेक जिम्मेदारियां संभाल रहा था। माथुरजी ने कहा -एक सप्ताह के भीतर जयपुर पहुंचो। नवभारत टाइम्स (जयपुर संस्करण) शुरू करने जा रहा था। माथुर साहब एक नए अंदाज और अवतार में थे। उन दिनों नवभारत टाइम्स में प्रवेश के लिए लिखित परीक्षा और साक्षात्कार देना जरूरी था लेकिन मेरे लिए उन्होंने कहा, जिसे मैंने तैयार किया है, उसे किसी परीक्षा की आवश्यकता नहीं। मैं सीधे ही जयपुर ज्वाइन करने पहुंचा था। ये था उनका भरोसा।

मैंने मुख्य उप संपादक के रूप में नवभारत टाइम्स (जयपुर) ज्वाइन किया। इसके बाद अगले पांच - छह साल उनके मार्गदर्शन में एक बार फिर काम किया। देश की राजनीति में वह राजीव गांधी के चमत्कारिक उत्थान और असमय-अवसान का काल है। राजेंद्र माथुर ने पंजाब में आतंकवाद, आपरेशन ब्लू स्टार, इंदिरा गांधी की हत्या, राजीव गांधी- लोंगोवाल समझौता, भारत की दुनिया भर में बेहतर होती स्थिति, श्रीलंका में शांति सेना, जनतादल का उदय, बोफोर्स विवाद, कंप्यूटर युग की शुरुआत, कश्मीर में अशांति का एक भयानक दौर, राजीव गांधी की धुंधलाती छवि, बीजेपी की रथयात्रा और चंद्रशेखर की अस्थिर सरकार पर जिस तरह अपनी कलम चलाई, उसकी मिसाल कम से कम हिंदी पत्रकारिता में तो दूसरी नहीं है। जयपुर में इन्हीं दिनों बछावत वेतन आयोग की सिफारिशों को लागू करने की मांग को लेकर जयपुर नवभारत टाइम्स में हड़ताल हुई। तालाबंदी की नौबत आ गई। हम लोगों का तबादला दिल्ली कर दिया गया। राजेंद्र माथुर ने मुझे फीचर संपादक बनाया और रिपोर्टिंग की जिम्मेदारी भी सौंपी। उनके भरोसे पर खरा उतरा। जयपुर में तालाबंदी खत्म हुई। एक बार फिर हम लोग जयपुर में थे। जयपुर का नवभारत टाइम्स और वहां की संपादकीय टीम को माथुर सारे संस्करणों में श्रेष्ठ मानते थे। इसलिए यह संस्करण उनका हमेशा चहेता बना रहा। तालाबंदी के बाद तो नवभारत टाइम्स ने उत्कृष्ट पत्रकारिता के अनेक कीर्तिमान गढ़े। राजेंद्र माथुर की कलम ने पाठकों को दीवाना बना दिया। भारत में आज भी संपादक प्रधानमंत्री से मिलने और उनके साथ

चाय पीने के लिए लार टपकाते हैं लेकिन राजेंद्र माथुर को राजीव गांधी ने न जाने कितने बार बुलाया और वो कभी नहीं गए। कहते थे मेरा राजनीतिक रिपोर्टर आपसे मिलेगा।

राजेंद्र माथुर और सुरेन्द्र प्रताप सिंह की जोड़ी ने देश की हिंदी पत्रकारिता को ऐसे सुनहरे दिन दिखाए, जो उस दौर के हिंदुस्तान में लोगों को चमत्कृत कर रही थी। इससे पहले सन 1982 से 87-88 तक राजेंद्र माथुर ने नवभारत टाइम्स के पन्नों पर जितने प्रयोग किए वे अद्भुत और चौंकाने वाले थे। अखबार के संस्करण दिल्ली और मुंबई से निकलकर पटना, लखनऊ और जयपुर जैसे प्रादेशिक अवतारों में प्रकट हुए। बताने की जरूरत नहीं कि इन अखबारों ने निष्पक्ष, निर्भीक और जिम्मेदार पत्रकारिता के एक से बढ़कर एक नमूने पेश किए। भारत की आजादी के बाद कभी ऐसा नहीं हुआ था। करीब-करीब हर संस्करण एक लाख प्रसार संख्या छू रहा था। उस दौर में यह एक करिश्मा ही था। एक तरफ पत्रकारिता के नित नए कीर्तिमान रचते राजेंद्र माथुर तो दूसरी तरफ पत्रकारिता को साबुन बनाकर बेचने की कोशिश करता प्रबंधन। एक ओर नाविक राजेंद्र माथुर जहाज को फुल स्पीड पर दौड़ाने के प्रयास में तो दूसरी ओर जहाज के पेंदे में किए जा रहे छोटे-छोटे सुराख। एक तरफ पत्रकारिता की ऊंचाई छूते पेशेवर तो दूसरी तरफ लोकप्रिय पत्रिकाओं की होती हत्या। वह एक भयावह दौर था। विडंबना यह कि- उनके निधन के बाद सारे संस्करण बंद हो गए। कोई संपादक चला ही नहीं पाया। संवेदनाओं के किसी धरातल पर कलम का यह महानायक इस दौर के क्रूर चेहरे को महसूस करता रहा और अभिमन्यु की तरह अकेला मुकाबला करता रहा।

बहरहाल! उन्नीस सौ नब्बे और इक्यानवे के दरम्यान देश की राजनीति के साथ पत्रकारिता भी उथलपुथल से गुजर रही थी। नवभारत टाइम्स में अगली पीढ़ी प्रबंधन में आई, बाजार का दबाव बढ़ने लगा। माथुर साब पहली बार कुछ कुछ असहज नजर आ रहे थे। मेरी जिंदगी में भी नई शुरुआत हो चुकी थी। श्रीमती मीता बादल मेरी जिंदगी में आ चुकी थीं। वो मध्यप्रदेश के दमोह में कॉलेज प्राध्यापक थीं। हम दोनों करीब पांच साल से अकेले अकेले दिन काट रहे थे। मैंने माथुर साहब से अनेक बार अनुरोध किया कि मुझे भोपाल कार्यालय में विशेष संवाददाता के तौर पर स्थानांतरित कर दें जिससे हम लोग साथ रह सकें। किन्हीं वजहों से ऐसा नहीं हो पाया। एक दिन शायद तीस मार्च उन्नीस सौ इक्यानवे को माथुरजी का संदेश मिला- इस्तीफा दे दो। भोपाल में नई दुनिया के समाचार संपादक/ विशेष संपादक के पद पर काम का प्रस्ताव था। उनकी चिंता थी कि हम लोगों की गृहस्थी की गाड़ी पटरी पर आ जाए। उनका संदेश यह भी था कि चार अप्रैल को सुबह आठ बजे शताब्दी एक्सप्रेस से मैं उनके साथ भोपाल चलूं। वह खुद मेरे नई जिम्मेदारी संभालने के मौके पर साथ रहना चाहते थे। मेरे लिए जीवन का वह अनमोल क्षण था। शताब्दी में भोपाल तक यात्रा के दौरान उस समय की पत्रकारिता और बाजार के बढ़ते दबाव पर लंबी चर्चा हुई। सारी बात लिखना संभव नहीं। हां- कह सकता हूँ कि राजेंद्र माथुर अनमने थे और अपने राज्य लौटना चाहते थे। उनके पास माखनलाल चतुर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय संस्थान के महानिदेशक पद पर काम का न्यौता भी था। माथुरजी ने मुझे नई दुनिया में अपराहन तीन बजे ज्वाइन कराया और किसी कार्यक्रम में चले गए। अगले दिन तमिलनाडु एक्सप्रेस से उन्हें दिल्ली लौटना था। रात साढ़े आठ बजे भोपाल के मुख्य रेलवे स्टेशन पहुंचे। तमिलनाडु एक्सप्रेस तीन घंटे लेट थी। हम लोग करीब तीन साढ़े तीन घंटे प्लेटफॉर्म के बाहर दूर एक अँधेरे में बेंच पर बैठे गपशप करते रहे। दो दिनों में माथुरजी ने अपने आठ-दस घंटे में अपनी ज्ञानगंगा से मेरी झोली भर दी थी। उतना तो मैंने पंद्रह साल में उनसे नहीं

पाया था। गाड़ी आई। मैंने उन्हें विदा किया। वो एसी कोच के दरवाजे पर खड़े देर तक हाथ हिलाते रहे, मैं हाथ उठाए विदाई देता खड़ा रहा। देर तक। ट्रेन जब चली गई तो मेरा मन भारी था। लग रहा था दौड़कर वापस ट्रेन पकड़ लूं और माथुर साहब से कहूं, मुझे आपके साथ ही दिल्ली काम करना है पर यह संभव न था। मैं भारी मन से अपने को लाश की तरह उठाए लौट पड़ा। वह पांच अप्रैल उन्नीस सौ इक्यानवे की रात थी।

अगले दो तीन दिन नई दुनिया में और बीते। मुझे रोज ही बेचैनी होती। उस रात स्टेशन पर राजेंद्र माथुरजी की बातें, उनकी बेचैनी, उनकी उद्विग्नता सब कुछ याद आता। लगता ट्रेन पकड़ूं और माथुर साब के पास पहुंच जाऊं। लगता था-मुझे वो याद कर रहे हैं। चार दिन बाद याने नौ अप्रैल को दोपहर बारह बजे के आसपास कार्यालय पहुंचा। जाते ही प्रबंध संपादक राजेंद्र तिवारीजी ने खबर दी- राजेश! रज्जू बाबू चले गए। मैं हक्का बक्का। काटो तो खून नहीं। मन चीख उठा। ऐसे कैसे जा सकते हैं माथुर साब। अभी उस रात तो उन्होंने अपने भविष्य की योजना बताई थी। बहुत काम बाकी था। छप्पन साल की उमर में चले गए। जहां से उन्होंने मेरा सफर शुरू कराया, वहीं छोड़कर चले गए। तब से आज तक कोई दिन ऐसा नहीं जाता, जिस दिन उनकी याद न आती हो। उनका लेखन कई-कई बार पढ़ चुका हूं। हर बार यादों की फिल्म आँखों के सामने नाचने लगती है। राजेंद्र माथुर के साथ काम करने का अनुभव अनमोल मोती की तरह मेरे पास है। वे जितने अच्छे पत्रकार थे, उससे अच्छे लेखक। जितने अच्छे लेखक थे, उससे अच्छे संपादक। जितने अच्छे संपादक थे, उससे अच्छे इनसान। किसी भी देश को ऐसे देवदूत बार बार नहीं मिलते।

कुछ साल पहले मैं एक पत्रकारिता संस्थान में गया। छात्रों से बातचीत के दौरान मैंने उनसे राजेंद्र माथुर के बारे में पूछा। अफसोस कम छात्र ही थे जो राजेंद्र माथुर के बारे में ठीक-ठाक जानकारी रखते थे। मेरे लिए यह सदमे से कम नहीं था। कहीं न कहीं बड़ी गलती हुई है। नई पीढ़ी अगर माथुर साहब का लिखा नहीं पढ़ रही है, उन्हें नहीं जान रही है तो हम लोग भी कम जिम्मेदार नहीं हैं। एक तो उनके लेखन को सामने लाने में देरी हुई। दूसरे पत्रकारिता पाठ्यक्रमों में राजेंद्र माथुर को जगह नहीं मिली। तीसरा टेलीविजन पत्रकारिता ने माथुर साहब को कहीं गुम कर दिया। यह गलती अब भी ठीक की जा सकती है। यह सोचकर मैंने तय किया कि अगर नई पीढ़ी के पत्रकार माथुरजी को नहीं पढ़ना चाहते तो कम से कम उनके बारे में न्यूनतम जानकारी तो रखें। मैंने राजेंद्र माथुर पर वृत्तचित्र बनाने का फैसला किया। फैसला तो कर लिया, लेकिन जो हमारे बीच से करीब दो दशक पहले जा चुका हो, उस पर फिल्म बनाना आसान नहीं था। बहुत कुछ सामग्री मेरे पास थी, लेकिन उनकी आवाज, उनके विजुअल्स खोजना आसान नहीं था। तीन साल भटकता रहा। कई बार लगता- फिल्म नहीं बन पाएगी। फिर अंदर से ताकत जुटाता और खोज में लग जाता। श्रीमती मोहिनी माथुर और नईदुनिया के पूर्व प्रधान संपादक आलोक मेहता ने अपने खजाने से माथुरजी पर कुछ दुर्लभ सामग्री निकाली। फिल्म का पहला शो इंदौर के प्रेस क्लब में हुआ, जिसके कभी राजेंद्र माथुर अध्यक्ष रहे थे। उनके नाम पर सभागार भी वहां है। फिल्म का शो इसी ऑडिटोरियम में हुआ। तब से कोई दस बारह विश्वविद्यालयों में, पच्चीस ज्यादा मीडिया संस्थानों में यह फिल्म दिखाई जा चुकी है। अब तो राजेंद्र माथुर और उनके बारे में सब कुछ सामने लाना यही मिशन रह गया है।



तुझे हम वली समझते, जो न वादाख्बार होता

प्रियदर्शन

यह 1993 का साल रहा होगा जब राजेंद्र यादव से मैं पहली बार मिला। मुझे मेरे एक मित्र ने अक्षर प्रकाशन बुलाया था। खुद उन्हें वहां पहुंचने में देर हो गई। मुझे मालूम था कि अक्षर प्रकाशन राजेंद्र यादव का है, लेकिन ये एहसास नहीं था कि मुझे वे वहां मिल जाएंगे। मैं बिलकुल रोमांचित था। जिस लेखक को बचपन से पढ़ता रहा था, वह मेरे सामने बैठा है। 'सारा आकाश', 'अनदेखे अनजाने पुल', 'उखड़े हुए लोग' जैसे उपन्यास, उनकी कहानियां, उनके अनुवाद और उन दिनों लिखे गए उनके विचारोत्तेजक संपादकीय, सब जैसे जेहन में नाच रहे थे। इतने बड़े लेखक से रूबरू होने का यह मेरा पहला अनुभव था।

करीब घंटे भर से ऊपर चली वह मुलाकात खत्म हुई तो दो बातें मेरी समझ में आईं। राजेंद्र यादव वक्ता ही नहीं, श्रोता भी बहुत अच्छे हैं। भले ही वे उन दिनों कहानियां न लिख रहे हों, लेकिन उनके भीतर का कहानीकार जैसे सामने वाले को कुरेदता रहता था। वे ध्यान से मुझे सुनते रहे। मैं भी अपना उन दिनों तक का पढ़ा-लिखा सारा ज्ञान जैसे उड़ेल देने पर आमादा था। अब कभी-कभी सोचता हूँ- खुद को कुछ साबित करने की वह बेताबी राजेंद्र यादव को कैसी लगी होगी? बहरहाल, उस दिन की चर्चा में उन्होंने मुझे एक उपन्यास दिया- विकास कुमार झा का 'मैक्लुस्कीगंज' कि मैं इसकी समीक्षा लिख दूँ। मुझे याद है कि मैंने उस उपन्यास की बहुत तीखी आलोचना लिखी- अब समझ में आता है कि वह शायद कुछ असंतुलित भी हो गई थी, उन्होंने उसे छपा नहीं। मैं कुछ निराश हुआ। मैंने तय किया कि 'हंस' में आगे से नहीं लिखूंगा लेकिन 'हंस' का आकर्षण दुर्निवार था। राजेंद्र यादव इधर-उधर कार्यक्रमों में मिलते रहे, मुझे दफ्तर आने का न्योता देते रहे और उनसे लगातार संवाद बना रहा। इसके बाद उन्होंने फिर एक उपन्यास दिया- मराठी लेखक आनंद यादव का 'नटरंग'। इस बार मैंने यह उपन्यास पढ़ते हुए राजेंद्र यादव के पसंदीदा उपन्यास सुरेंद्र वर्मा के 'मुझे चांद चाहिए' से इसकी तुलना की और इसे बेहतर करार दिया।

राजेंद्र यादव के हाथ में समीक्षा सौंपते हुए जब मैंने इस बात की चर्चा उनसे की तो वे फिर कुछ निराश लगे- कहा कि दोनों दो अलग तरह के उपन्यास हैं, उनकी तुलना ठीक नहीं है। मैं फिर कुछ मायूस हुआ, लेकिन मैंने कहा कि वे इसे पढ़ लें। दो दिन बाद मैंने उनको फोन किया। उनकी आवाज बदली हुई थी- 'यार तुमने तो कमाल का लिखा है, पूरा छाप रहा हूँ, तुम लगातार कुछ लिखा करो।'

इसके बाद लगातार लिखने का तो नहीं, लेकिन उनसे लगातार बातचीत करने का सिलसिला ऐसा बना जो उनसे फिर लगातार बना रहा। यहां इस बात का मुझे पूरा-पूरा एहसास है कि राजेंद्र यादव की मंडली बहुत बड़ी थी और बहुत सारे लोग ऐसे थे जो उनसे लगभग हर रोज मिला करते थे, लेकिन मुझसे उन्होंने एक अलग सा रिश्ता बनाया था। हो सकता है कि यह एहसास भी बहुत सारे लोगों को हो कि उनसे राजेंद्र यादव का बिलकुल अलग सा रिश्ता रहा और इसे भी उनकी शख्सियत की खासियत की तरह देखा जाना चाहिए। बहरहाल, जब पहली बार जब एक शाम उन्होंने मुझे अपने घर भोजन का न्योता दिया तो खाने के पहले पीने की मेज सजी। जब मैंने उन्हें बताया कि इस मामले में मैं कच्चा-बच्चा जैसा कुछ हूँ और नहीं पीता तो उन्होंने कहा- सत्यानाश लेकिन इसके बाद उन्होंने मुझ पर पीने का दबाव नहीं डाला। मेरे लिए डाइट कोक मंगवाई और फिर हम घंटों बैठे रहे। इसके बाद भी उनके घर से मुझे न्योता आता रहा- लेकिन अकसर नाश्ते का। हम पराठे-सब्जी और तरह-तरह के अचारों और चाय के साथ दुनिया भर के साहित्य की सात्विक चर्चा किया करते।

हिंदी के किसी दूसरे लेखक के घर हम इतनी बार नहीं आए-गए जितना राजेंद्र यादव के घर। कुछ करीबी मित्रों के अलावा जो दूसरा ऐसा घर रहा जहां हम बात-बेबात बेहिचक जाते रहे, वह वरिष्ठ पत्रकार राजकिशोर का रहा। उनसे भी बिलकुल आश्वस्तिकर पारिवारिक रिश्ते रहे लेकिन इन दोनों को छोड़ किसी भी तीसरे लेखक के घर इस हद तक जाना नहीं हुआ।

जाहिर है, इस अपनेपन में राजेंद्र यादव की उस बहुख्यात लोकतांत्रिकता का बहुत बड़ा हाथ रहा जिसका जिक्र अक्सर सब लोग करते हैं। यह सच है कि वे बड़ी सहजता से हर किसी से बिलकुल मित्रवत बात करते थे- कुछ इस तरह कि हर किसी के भीतर उनका करीबी होने का भाव पैदा हो जाता था लेकिन ऐसा नहीं कि राजेंद्र यादव सिर्फ दिखावे के लिए ऐसा करते थे। वे वाकई इस मैत्री को बहुत खास ढंग से निभाते भी थे। उनकी इस मित्र सूची में वैसे बहुत सारे युवा लेखक और पत्रकार थे जिनमें राजेंद्र यादव को कोई बौद्धिक संभावना दिखाई पड़ती थी। ऐसे लेखकों के लिए 'हँस' के पन्ने हमेशा सुलभ थे। राजेंद्रजी के अपने वैचारिक खेल तब भी चलते रहते। कई बार वे बड़ी बारीकी से दूसरों से वह कहलवा लेते जो वे खुद कहना चाहते थे। जब मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'चाक' छपकर आया तो उन्होंने मुझे उसे पढ़ने को कहा। उसके बाद अगले कई दिन तक वे मुझसे इस उपन्यास पर बात करते रहे- बताते रहे कि कैसे वह हिंदी में पहले लिखे गए उपन्यासों से अलग और आगे का है। इसके बाद उन्होंने मुझसे इसकी समीक्षा लिखवाई। इस क्रम में दो और किताबें- मैत्रेयीजी का ही 'इदन्नमम' और प्रभा खेतान की 'पीली आंधी' भी इसमें शामिल हो गई। 'चाक' पर तब तक छपी शायद वह पहली समीक्षा थी। मैंने उस उपन्यास की भूरि-भूरि तारीफ की। आज भी वह उपन्यास मुझे प्रिय है।

मैंने अपने उत्साह में पुरानी लेखिकाओं पर बहुत आक्रामक टिप्पणी की- कृष्णा सोबती और मृदुला गर्ग तक के बारे में लगभग अशिष्ट ढंग से लिखा। अब मुझे लगता है कि इससे बचना चाहिए था- सिर्फ शराफत या शिष्टता के तकाजे से नहीं, बल्कि इस वजह से भी कि इन लेखिकाओं की रचनाओं के संदर्भ ऐसी सख्त टिप्पणी उनके साथ न्याय नहीं थी। संभव है, कोई दूसरा संपादक होता तो वह इसे संपादित करता या कम से कम मुझे सुझाव देता कि इसे चाहूँ तो बदल दूँ लेकिन राजेंद्र

यादव ने ऐसा कुछ नहीं किया। वह समीक्षा जस की तस छपी। जाहिर है, वे शायद ऐसा ही चाहते थे।

बहरहाल, राजेंद्र यादव की बहुचर्चित लोकतांत्रिकता भर का मामला होता तो शायद उनके व्यक्तित्व में वह चुंबक नहीं होता जिसकी वजह से लोग उनकी ओर खिंचते चले जाते थे। हमारे बीच ऐसे बहुत सारे लोग होते हैं जो बिलकुल दिल खोलकर मिलते हैं और यारबाश कहे जा सकते हैं। राजेंद्र यादव की शखसियत में जो बौद्धिक चौकन्नापन था, जो उदात्त नफासत थी- वह बाकी जगह दुर्लभ थी। वे अपनी उपस्थिति का कोई दबाव बनाए बिना अपना आभामंडल बनाए रखते थे। शायद यही वजह थी कि जिस भी महफिल में वे होते, महफिल के सिरमौर होते। वे पुरानी किताबों की चर्चा करते, नई घटनाओं पर बहस करते, जो लिखा या पढ़ा जा रहा है, उस पर उनकी बारीक नजर होती, और अकसर वे अपने काम की चीज निकाल लेते।

इसका एक उदाहरण भी याद आ रहा है। 1998 के आसपास मेरी पत्नी स्मिता ने एक कहानी लिखी- 'त्रिज्या'। कहानी मुझे सपाट लगी- शिल्पविहीन और कुछ बोल्ड। उसने राजेंद्र यादव को कहानी दी। यादवजी ने मुझसे पूछा कि कहानी कैसी है। मैंने अपनी राय बेलाग बता दी। यादवजी कहानी लौटाने लगे। स्मिता ने आग्रह किया- छोटी सी कहानी है, आप पढ़ तो लीजिए। शायद उसका मन रखने के लिए राजेंद्र यादव ने वह कहानी रख ली।

अगली सुबह बिलकुल सात-आठ बजे उनका फोन आया- मुझे अपने प्रिय संबोधन, राक्षस, दानव या कुंभकर्ण जैसे कुछ से नवाजते हुए उन्होंने घोषित किया कि स्मिता की कहानी बहुत ही अच्छी है। अगले अंक में वह कहानी छपी और उस पर जितनी चिट्ठियां आईं शायद उतनी मेरी अब तक की सारी कहानियों पर नहीं आईं। मैत्रेयी पुष्पा, अनामिका और दूर्वा सहाय जैसी लेखिकाएं उस कहानी को अब भी याद करती हैं।

यह लिखते-लिखते एक और बात याद आ रही है जिससे उनकी रचनात्मक समझ का कुछ अंदाजा मिलता है। साल 1995 में मैं सलमान रुश्दी के उपन्यास 'मिडनाइट्स चिल्ड्रेन' का अनुवाद कर रहा था। यह बहुत जटिल उपन्यास था जिसमें कई जगहों पर उपयुक्त अनुवाद की चुनौती कलम रोक लेती थी। मैंने तय किया कि कुछ शब्दों पर दूसरों से राय लूंगा। ऐसा ही एक शब्द आया, 'रेवरेंड मदर'। उपन्यास में यह अमीना नाम की एक महिला के लिए इस्तेमाल किया गया था जो अपनी उम्र के उत्तरार्द्ध में कुछ दबंग भी है, खासी मोटी भी और कुछ कर्कश भी। उसे बाकी लोग 'रेवरेंड मदर' के नाम से पुकारते हैं। मैं तय नहीं कर पा रहा था कि इसका अनुवाद क्या करूं। पवित्र मां या पाक अम्मी जैसा अनुवाद बहुत अटपटा लग रहा था। हिंदी के एक विख्यात कवि-आलोचक और संपादक रहे लेखक ने सुझाव दिया कि इसको मुकद्दस अम्मी कर दूं लेकिन यह अनुवाद भी जंच नहीं रहा था। मैंने राजेंद्र यादव से बात की। उन्होंने चुटकी बजाने का भी समय नहीं लिया और कहा कि इसको 'अम्मी हुजूर' कर दो। मैं हैरान था, ऐसा उपयुक्त और लगभग शाब्दिक अनुवाद हममें से किसी और को क्यों नहीं सूझा?

आम तौर पर जिसे हम लोकतांत्रिकता कहते हैं, उसमें भी कई बार आलोचनाओं के लिए जगह नहीं होती। उदार से उदार लोग अपनी हल्की आलोचना को दिल पर ले बैठते हैं लेकिन कम से कम मेरा अनुभव राजेंद्र यादव के मामले में भिन्न रहा। उनकी दो किताबों 'हासिल और अन्य

कहानियां' तथा 'अब वे वहां नहीं रहते' की मैंने सहारा समय में बहुत तीखी आलोचना लिखी। अपने हिसाब से दोनों संग्रहों की धज्जियां उड़ा दीं। मुझे डर था कि राजेंद्र यादव नाराज होंगे लेकिन वे हँस रहे थे। उन्होंने यह भी माना कि उनकी आलोचना में जो कुछ लिखा गया है, वह सही है।

उनकी शिखरयत में कुछ था जो पकड़ में नहीं आता था, जो उनको दूसरों से अलग करता था। शायद मानव मन की सूक्ष्मताओं और जटिलताओं को वे कहीं बहुत गहराई से महसूस करते और पकड़ पाते थे। उनके पास बहुत ही समृद्ध भाषा थी जो बहुत जटिल और संश्लिष्ट स्थितियों को बड़ी आसानी से लिख सकती थी। वे मूलतः मध्यवर्गीय संस्कारों में पले-बढ़े और उनके साहित्य लेखन पर इन संस्कारों की बहुत गहरी छाप है। उनकी बहुत सारी अविस्मरणीय रचनाएं इन्हीं संस्कारों के साये में निकली हैं और हममें से बहुत सारे लोगों को अच्छी लगती हैं। इन कथाओं में जो विद्रोह है, वह भी मध्यवर्गीय चरित्र का है, और इसलिए लुभाता है। कई बार यह लगता है कि अपने मध्यवर्गीय जीवन से विद्रोह का रास्ता राजेंद्र यादव इसी मध्यवर्गीय साहित्य में खोजते हैं।

राजेंद्र यादव लेकिन धीरे-धीरे बदलते हैं। खासकर स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर मध्यवर्गीय जीवन के पाखंड उनके भीतर असंतोष पैदा करते हैं। कहीं यह एहसास भी है कि इसी पाखंड की वजह से वे वह मनचाहा जीवन नहीं चुन पाए जो उनके लिए स्वाभाविक था। धीरे-धीरे वे इस पाखंड से परदा हटाते हैं। एकाध साक्षात्कारों में वे अपने निजी भटकावों का जिक्र करते हैं और उनसे उत्साहित हिंदी का पाखंडी मध्यवर्ग इसे अपने चरित्र पर टिप्पणी की तरह देखने की जगह राजेंद्र यादव के निजी भंडाफोड़ की तरह देखने लगता है। यह उन पर छिंटाकशी की शुरुआत का दौर था। इस दौर में राजेंद्र यादव से मैं कई बार मिला। वे कुछ विचलित देखते थे, लेकिन अपने संशयों को जैसे एक ठहाके से बुहार देने की कोशिश करते थे। एक बार मैंने उनसे शिकायत की कि आपने जो मूल मुद्दे उठाए, वे पीछे रह गए, निजी विवाद और खुन्नस हावी हो गए। उन्होंने तत्काल कहा कि ये उनकी नहीं, हिंदी समाज की कमजोरी या सीमा है। अब तक उनकी संगत में मैं कुछ डीठ हो चुका था। मैंने कहा कि मुझे लगता है कि उन्हें भी ऐसी निजी चर्चाओं और टिप्पणियों में सुख मिलता है। हमेशा की तरह इस सवाल का जवाब उन्होंने एक गगनभेदी ठहाके से दिया।

वैसे यह बाद की बात है। मध्यवर्गीय लेखक राजेंद्र यादव के रूपांतरण की प्रक्रिया इसके पहले ही शुरू हो चुकी थी। हँस के संपदक के तौर पर हिंदी साहित्य में पैठी मध्यवर्गीयता का अतिक्रमण कर उन्होंने स्त्री और दलित विमर्श की जो जगह बनाई, उसके लिए उनका शुरू में बहुत मजाक बनाया गया, कई लेखक उनके विरोध में हँस में न लिखने का ऐलान कर बैठे, लेकिन अंततः आज हम पाते हैं कि राजेंद्र यादव की दृष्टि ने साहित्य के नए इलाकों से जो नई पौध खड़ी की, उसकी उपेक्षा अब संभव नहीं है।

दरअसल यह एक बड़ी विडंबना रही कि राजेंद्र यादव जीवन और साहित्य के बीच का फासला पाटने की कोशिश करते रहे और बीच में कहीं कुचल दिए गए। उनकी मृत्यु से कुछ साल पहले उनके एक सम्मान के मौके पर आयोजित एक कार्यक्रम में अब दिवंगत दलित लेखक तुलसीराम ने धूमिल की कुछ पंक्तियां उद्धृत की थीं जिन्हें धूमिल ने राजकमल चौधरी के लिए लिखा था। तुलसीराम ने कहा कि इसे राजेंद्र यादव के संदर्भ में भी पढ़ा जा सकता है- 'उसे जिंदगी और शायरी के बीच/कम से कम फासला रखते हुए जीना था/यही वजह थी कि एक की निगाह में वो हीरा आदमी

था/तो दूसरे की निगाह में कमीना था।' उस दिन भी राजेंद्र यादव यह सुनकर बाकी दर्शक दीर्घा के साथ ठठा कर हँसे थे। अपना तथाकथित खलनायकत्व उन्हें कभी-कभी एक परिपार्श्व जैसा लगता था जिसमें उनके भीतर के हीरे की चमक कुछ और निखर कर आती थी। उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर केंद्रित जो एक मोटी सी किताब साधना अग्रवाल और भारत भारद्वाज ने संपादित की, उसका नाम ही रखा- 'हमारे युग का खलनायक।' बहुत संभव है, यह नाम उन्हें राजेंद्र यादव ने सुझाया हो। वे खुद रूसी कवि और उपन्यासकार लेमेंतेव के एक उपन्यास का अनुवाद 'मेरे युग का नायक' के नाम से कर चुके थे।

दरअसल यह उनका खुलापन, नए से नए लोगों से मिलने का उत्साह, उसको बिलकुल अपना बना लेने की आत्मीयता- इन सब खासियतों ने उन्हें बिलकुल मौजूं बनाए रखा था। उनके पास हमेशा युवा लोगों का एक हुजूम होता। हालांकि राजेंद्र यादव ने यश के अलावा शायद ज्यादा कुछ संचय नहीं किया। 'हंस' के नाम पर कुछ पुरस्कार भले लिए हों, लेकिन मोटे तौर पर पद और पुरस्कारों के मोह से बचे रहे। कायदे से उनको किसी भी कृति पर साहित्य अकादेमी सम्मान मिल सकता था, मगर नहीं मिला। उनके व्यक्तित्व में निहित एक प्रतिरोधी तत्व सा था जो सत्ताओं को शायद बहुत रास नहीं आता था।

मगर उन्हें प्रसार भारती का सदस्य बनाया गया। कई युवा लोगों को लगा कि यह तो बहुत बड़ी उपलब्धि है। ऐसी ही एक हल्की-फुल्की चर्चा के दौरान जब सब उनसे दावत मांग रहे थे तब मैंने अलग से उनसे पूछा- क्या वाकई उन्हें यह उपलब्धि उनके लेखन से बड़ी लगती है? उन्होंने इस अप्रत्याशित सवाल पर मेरी ओर चौंककर देखा। मैंने कहा कि एक लेखक के तौर पर उनकी जो ख्याति और कीर्ति है, वह बनी रहेगी, लोग प्रसार भारती का यह पद भूल जाएंगे। वे हँसने लगे। उन्होंने कहा कि इन लड़कों को आनंद लेने दो, मेरे लिए बस यह एक नई दुनिया से परिचय भर का मामला है- मैं इससे बहुत गौरवान्वित महसूस कर रहा हूँ, ऐसा कुछ नहीं है। आखिरी वर्षों में वे बीमार भी रहने लगे थे। उनको कई बार अस्पताल में भर्ती होने की नौबत आई लेकिन यादवजी जीवत से सबका सामना करते रहे। इस युद्ध में बेशक, उनके बहुत सारे मुरीद उनके साथ रहे। उनको संजीव के नेतृत्व में कुछ उत्साही मित्रों ने एक लाख रुपये की थैली भेंट करने का निश्चय किया। काम आगे बढ़ा, हालांकि यह बहुत बड़ी रकम नहीं थी, मगर इसके लिए पैसा जुटाना पड़ा और अंततः मयूर विहार पेज-1 के आकाश दर्शन अपार्टमेंट के परिसर में उनके लिए एक छोटा सा आयोजन हुआ।

वे बड़ी मुश्किल से चलकर आए थे। उन्हें देखकर मेरा दिल बैठा जा रहा था। मुझे लगा कि शायद यह उनसे आखिरी भेंट हो रही है। उन्होंने अपना वक्तव्य शुरू ही इस बात से किया- 'तो सफर यहां तक चला आया है।' वह एक आत्मीय दोपहर थी जिसमें नामवरजी भी शामिल थे।

राजेंद्र यादव ने फिर अपने शुभचिंतकों को गलत साबित किया। वे न सिर्फ ठीक हुए, बल्कि अपनी सामान्य दिनचर्या तक भी लौटे। शायद इसलिए भी कि बीमारी के तनाव को वो अपने ऊपर हावी होने नहीं देते थे। बहरहाल, जिंदगी अपने ढब पर लौट रही थी और राजेंद्र यादव भी अपने अंदाज में वापस आ रहे थे। उनकी जिंदगी फिर 'हंस', 'हंस' के लिए चुनी जाने वाली कहानियों और वहां बनने वाले किस्सों के बीच चल पड़ी थी।

मगर जिस खल व्यक्तित्व को राजेंद्र यादव कभी-कभी मजाक में ओढ़ लिया करते थे, वह उनके आखिरी वर्षों में उनसे कुछ ज्यादा ही चिपक गया था। इस दौर में उनके निजी भटकाव उनके वैचारिक आग्रहों पर हावी होते दिखे, पत्र-पत्रिकाओं में उन पर चटखारी चर्चा शुरू हो गई, उनके खिलाफ जैसे एक मुहिम चल पड़ी। इस मुहिम में बहुत कुछ योगदान उस किताब का था जिसे वे एक नवोदित लेखिका के जरिए लिखवा रहे थे और जिसे उनकी बची-खुची कुंठा का परिणाम माना जा रहा था। इन सबके बीच उन्हें एक पुलिस केस भी झेलना पड़ा, अपनों और परायों की लानत-मलामत भी। फिर एक सुबह किसी मित्र के आए फोन ने बताया कि वे अपनी भी और दूसरों की भी कुंठाओं का बोझ उतारकर चल दिए हैं- इस बार वापस न लौटने के लिए।

यह एक महान नायक का त्रासद अंत था। शेक्सपियर की शोकांतिकाओं में जिस 'फेटल फ्लॉ'- सांघातिक कमजोरी- की सैद्धांतिकी का जिक्र मिलता है, वह हमारे प्रिय लेखक के व्यक्तित्व में भी दिख रही थी। बहुत बहादुर और महान मैकबेथ, किंग लीयर, हेलमेट या अँथेलो अपनी एक मानवीय कमजोरी की वजह से मारे गए- कोई अति महत्वाकांक्षी साबित हुआ, कोई अति संदेहवादी, कोई संशयवादी- और सबको जीवन की एक कमजोर घड़ी में नियति ने जकड़ लिया।

राजेंद्र यादव की सांघातिक कमजोरी क्या थी-क्या लड़कियाँ, जैसा कि बहुत सारे लोग इशारा करते हैं? यह बहुत ही सतही समझ है। यह सच है कि भारतीय मध्यवर्ग में मर्द मदांधता की जो सड़ांध है, और जिसकी वजह से किसी पुरुष का लड़कियों से स्वाभाविक संबंध तक विकसित नहीं हो पाता और अंततः एक क्रूर पाखंड और नकली आदर्शवाद के सहारे जीवन और संबंधों को ढोते रहने का चलन आम मान लिया जाता है, वहाँ राजेंद्र यादव एक ऐसी दुनिया की कामना कर रहे थे जहाँ पारस्परिक बराबरी और सम्मान का संबंध हो। इस क्रम में वे उस पाखंड की धजियाँ भी उड़ा रहे थे जो उनके भीतर भी पैठा हुआ था और दूसरों में भी मौजूद है। लेकिन दूसरों ने सिर्फ उनका तमाशा देखा, अपना अँधेरा नहीं देखा। आखिरी दिनों में उन पर लगभग संगसारी सी की गई। वे अब नहीं हैं तो न कोई आईना दिखाने वाला बचा है और न पत्थर फेंकने वाला। क्या इतिहास है कि इसी दौरान हिंदी समाज का कुंठावमन अपने चरम पर जारी है यह कहना उचित नहीं होगा कि अच्छा हुआ वे चले गए, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि वे इस समय होते तो अपना पक्ष चुनते उनको समय नहीं लगता। दरअसल वे जीवन भर एक लेखक ही रहे- हमेशा अपने किरदार, अपनी स्थितियाँ, अपनी कहानी और अपना पक्ष चुनते हुए। उनमें कभी संशयग्रस्त हेलमेट दिखता और कभी मोहग्रस्त लीयर, कभी वे मोहन राकेश को बड़ी शिद्दत से याद करते, कभी कमलेश्वर की उदास आलोचना करते। लेकिन अंततः उनकी धूनी अक्षरों की दुनिया में ही रमनी थी। अक्षर भले उनके प्रकाशन का नाम हो, लेकिन उनके प्राण दरअसल अक्षरों में बसते थे। शायद यही बल था जिसकी वजह से वे जीवन में दी हुई सीमाओं का भी अतिक्रमण करते रहे और साहसपूर्वक सबका सामना भी करने की कोशिश की। शायद बार-बार दुहराया गया गालिब का शेर उन पर भी सही उतरता था- 'ये मसाइले तसव्वुफ, ये तेरा बयान गालिब/तुझे हम वली समझते जो न वादाख्यार होता।'



स्वर्ग में पांच दिन

असगर वजाहत

हो सकता है यह संस्मरण आपको बिलकुल पसंद न आए क्योंकि यह मेरे सन् 1992 से 97 तक हंगरी प्रवास पर केंद्रित है। ये कहा जा सकता है कि ये तो काफी पुरानी बात है। आज का हंगरी 1997 के हंगरी से बहुत अलग है लेकिन कभी-कभी पुरानी बातें और पुराने प्रसंग भी वर्तमान को समझने में सहायक होते हैं और वैसे भी यह नहीं कहा जा सकता कि पुरानी बातें, किस्से और प्रसंग रोचक नहीं हो सकते।

इस संस्मरण में हंगरी का इतिहास नहीं है न यह हंगेरियन समाज का सामाजिक या राजनीति का कोई अध्ययन है। न इसमें हंगेरियन साहित्य और कलाओं का कोई विशद विश्लेषण किया गया है। यह रचना केवल मेरे अनुभवों पर आधारित है। हंगरी प्रवास के दौरान मैंने जो कुछ देखा और जो मुझे रोचक लगा उसे अपने शब्दों में लिख दिया।

हंगरी का समाज योरोप के अन्य समाजों की तुलना में बहुत रोचक है क्योंकि हंगेरियन अपने आपको मूल रूप से एशिया का मानते हैं। यह पक्की तौर पर माना जाता है कि 8वीं-9वीं शताब्दी के आसपास मध्य एशिया के उरल पहाड़ों के आसपास बसी एक जनजाति पश्चिम की ओर चली गई थीं। यह जनजाति अपने आपको मजर कहती थी। लंबे समय तक यह भी माना जाता था कि यह हूण जाति के जिसका एक बड़ा हिस्सा योरोप की तरफ चला गया था और दूसरा हिस्सा भारत की तरफ आ गया था। समाजशास्त्रीय आधार पर की गई खोज की बुनियाद पर अब ये माना जाने लगा है कि वे हूण नहीं बल्कि मजर थे। यह बात दूसरी है कि हंगरी का नाम हूण से ही पड़ा है। पर हंगेरियन भाषा में हंगरी को हंगरी नहीं कहा जाता। उसका नाम मजर 'सागवान' है। तुर्की भाषा में हंगरी को 'मजारिस्तान' कहते हैं जो मजर से बनाया गया।

एक समय था जब योरोप के चर्चों में यह प्रार्थना की जाती थी कि हे भगवान! हमें हंगेरियन लोगों के जहरीले तीरों से बचा। यह वह युग था जब मध्य एशिया में मजर समुदाय नया-नया आया था। वे मुख्य रूप से पशु पालक थे। उनकी धार्मिक मान्यताएं भी बहुत स्पष्ट न थीं। वे योरोप के देशों पर लूटमार करने के लिए आक्रमण किया करते थे।

10वीं शताब्दी के आसपास मजर जनजाति ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था और इस प्रकार वे योरोप की मुख्य धारा में शामिल हो गए थे। सन् 1000 में उनके राजा स्टीफेंशन प्रथम ने ईसाई

* हंगरी प्रवास 1992-1997 पर केंद्रित संस्मरण

धर्म स्वीकार कर लिया था और कोक द्वारा उन्हें मान्यता मिल गई थी। इसके बाद उनके इतिहास की एक बड़ी घटना मंगोल आक्रमण (1240-1242) है। जिसके कारण अपार क्षति हुई थी। अगली बड़ी घटना (1526) में तुर्कों का आक्रमण था। जिसमें हंगेरियन पराजित हो गए थे और हंगरी के बड़े भाग पर तुर्कों का कब्जा हो गया था। सन् 1699 में जर्मनी के हब्सबुर्ग शासकों ने तुर्कों को हराकर हंगरी पर अधिकार जमा लिया था। यह वह समय था जब आस्ट्रिया और हंगरी समान रूप से शासन में शामिल थे। यह व्यवस्था प्रथम विश्वयुद्ध से पहले तक चलती रही। यह वह युग था जब हंगरी का योरोपीयकरण हो गया था।

पहले विश्वयुद्ध में हंगरी जर्मनी, जापान और इटली गुट के साथ था जिसकी इस युद्ध में पराजय हो गई थी। नतीजे में हंगरी का बड़ा हिस्सा दूसरे देशों को दे दिया गया था और यही दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भी हुआ था। मतलब यह कि दो विश्वयुद्धों ने जर्मनी के आकार को बहुत छोटा कर दिया था। इसके बाद हंगरी सोवियत यूनियन के एक तरह से अधिकार में आ गया था और सन् 1956 में इसके विरुद्ध एक क्रांति भी की गई थी जिसे सोवियत यूनियन में क्रूरता से दबा दिया था। सोवियत यूनियन के पतन के बाद 1989 में यहां लोकतंत्र स्थापित हो गया था। यही वह समय था जब मैं हंगरी गया था। मतलब यह कि हंगरी में लोकतंत्र की स्थापना की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी जिसका मैं साक्षी बना।

हंगेरियन जिप्सी (सिगानी पार्लियामेंट)

माफ करें हंगरी में जिप्सियों को जिप्सी नहीं कहा जाता, यह शब्द कुछ अपमानजनक माना जाता है। जिप्सियों के लिए सम्मानजनक शब्द 'रोमा' या 'सिगानी' हैं। लेकिन भारत में इन शब्दों को समझने वाले शायद कम ही हों इसलिए जिप्सी शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। जिप्सी से मतलब उत्तर भारत की विशेष रूप से राजस्थान और पंजाब की वे घुमंतू जनजातियां जैसे बंजारे आदि हैं, जो सैकड़ों साल पहले घुमते-घामते योरोप की ओर निकल गए थे और अब वही बस गए हैं। जिप्सी योरोप के प्रायः सभी देशों में हैं। यहां तक कि कुछ अमेरिका भी पहुंच गए थे।

पूरा हॉल खचाखच भरा हुआ था। मंच पर भी सभी कुर्सियां भरी हुई थीं। मैं और मारियाजी पीछे बैठ गए थे। मंच पर कार्यवाही शुरू हो चुकी थी। भाषण आदि हंगेरियन भाषा में हो रहे थे जिन्हें मैं नहीं समझ पा रहा था। मारियाजी मुझे यहां लाई थीं। यहां हंगेरियन जिप्सियों की पार्लियामेंट हो रही थी। सभी चेहरे सौ फिसदी भारतीय चेहरे लग रहे थे। सांवला या गहरा सांवला रंग, काले बाल, काली आंखें और डीलडौल जो उत्तर भारत के लोगों का होता है।

मारियाजी मुझे हिंदी में थोड़ा-थोड़ा बता रही थी कि क्या बोला जा रहा है। यहां पूरे देश के जिप्सी जमा थे और अपने-अपने क्षेत्र की समस्याओं पर बातचीत कर रहे थे। हंगरी में जिप्सी सबसे बड़ी 'मैनारटी' है। एक मोटे अनुमान के अनुसार वे लगभग आबादी का तीन प्रतिशत हैं। कुछ आंकड़ों के अनुसार उन्हें आबादी का पांच-दस प्रतिशत भी माना जाता है।

कोई नहीं जानता की 13वीं-14वीं शताब्दी में ये दो पंजाब और राजस्थान से क्यों चले गए थे। कुछ का मानना है कि उनके जाने का कारण भारत में होने वाले राजनीतिक परिवर्तन से और कुछ ये कहते हैं कि अपनी घुमंतू प्रवृत्ति के कारण वे चले गए थे। वे मूल रूप से भारत के ही हैं जिसका प्रमाण उनकी भाषा भी है जो हिंदी, पंजाबी, मारवाडी आदि के शब्दों से निर्मित है। उसमें हंगेरियन

भाषा और रोमानी भाषा के शब्द भी आ गए हैं। जिसके कारण उसका मूल रूप बदल गया है।

हंगेरियन इतिहास में उनका पहला उल्लेख 14वीं शताब्दी के आसपास मिलता है। 18वीं शताब्दी में हंगरी की सम्राज्ञी मारिया थेरिसा (Maria Theresa, 1740-1780) के समय में जिप्सी आबादी पर कुछ ध्यान दिया गया था। एक अध्यादेश के अनुसार ये आदेश दिया गया था कि जिप्सियों के लिए सिगानी या जिगुनर (Zigeuner) शब्दों का प्रयोग न किया जाए बल्कि उन्हें 'नए किसान' या 'नए हंगेरियन' कहा जाए। मारिया थेरिसा ने जिप्सियों की बहू-विवाह पथा पर भी पाव बंदी लगा दी थी और आदेश दिया था कि उनके बच्चे उनसे लेकर हंगेरियन किसान परिवारों में पाले जाएं। जोजफ द्वितीय ने (Joseph II) ने 1783 में जिप्सियों की भाषा बोलने पर भी पाबंदी लगा दी थी। जिप्सियों को हंगेरियन समाज में मिला लेने की यह बलात कोशिश प्रारंभ में काफी हद तक सफल हुई थी। 19वीं और 20वीं शताब्दी में जिप्सी पुनः अपनी परंपराओं और संस्कृति की ओर लौट गए थे।

जिप्सी आम तौर से गांवों में रहते हैं, लेकिन बड़ी संख्या में वे शहरों में भी बस गए हैं। हंगेरियन लोगों की तुलना में जिप्सी आबादी अधिक तेजी से आगे बढ़ रही है। जिप्सी हंगेरियन लोगों की तुलना में अशिक्षित और गरीब हैं। इस कारण सामाजिक रूप से पिछड़े हुए हैं। इस स्थिति ने सामाजिक तनाव पैदा कर दिए हैं।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हिटलर ने यहूदियों की ही हत्याएं नहीं कराई थीं, बल्कि जिप्सी लोगों को भी गैस चैंबरों में डाला गया था। एक अनुमान के अनुसार हंगरी के 28 हजार जिप्सियों की हत्या कर दी गई थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हंगरी में बनी कम्युनिस्ट सरकारों ने जिप्सियों के उत्थान के लिए कई योजनाएं चलाई थीं। इन योजनाओं का कुछ तो अंतर पड़ा था लेकिन उनकी अशिक्षा और पिछड़ापन पूरी तरह दूर नहीं हो पाया था और आज भी जिप्सी 'प्रश्न' हंगेरियन समाज और राजनीति का एक प्रमुख मुद्दा है। जिप्सी लोगों के प्रतीक आम लोग पर हंगेरियन समाजों में कई प्रकार के पूर्वाग्रह देखे जा सकते हैं। ऐसा नहीं है कि ये पूर्वाग्रह बेबुनियाद हैं लेकिन इनके कारण अनेक प्रकार के सामाजिक तनाव पैदा होते हैं।

हंगरी में जिप्सी समस्या का इतिहास पुराना है। 17वीं शताब्दी में भी विदेशियों को सतर्क किया जाता था कि जिप्सी बड़े चोर हैं। सन् 1856 में जीडियोन एक (Gedeon Ach) ने लिखा था-ओला जिप्सियों में बहुत से ऐसे हैं जो अपने टेंट आदि लेकर घुमते रहते हैं...वे गांव की सीमा पर ठहर जाते हैं। यद्यपि गांव वाले अपने सुअर, बत्तख, सब्जियों और यहां तक कि कुत्तों तक पर भी कड़ी निगाह रखते हैं लेकिन वे गायब हो जाते हैं....।' सन् 1885 में विसप्रिम (Veszprem) के एक अधिकारी ने शिकायत की थी कि घुमंतू जिप्सी बहुत गड़बड़ करते हैं और सभी गांवों के लोग उनके आने से डर जाते हैं। यह समस्या 20वीं शताब्दी तक जारी रही। सन् 1928 के आसपास जिप्सियों को गिरफ्तार करके निकतम पुलिस स्टेशन ले जाया जाता था। कुछ को जेल में बंद कर दिया जाता था और कुछ सुधार घरों में भेज दिए जाते थे जहां वे हमेशा के लिए नहीं रखे जा सकते थे और जैसे ही वे छूटते थे अपना पुराना काम शुरू कर देते थे।

कादार की कम्युनिस्ट सरकार ने पहली बार जिप्सियों की समस्या को गंभीरता से लिया था। समाजवादी व्यवस्था ने चूंकि कोई व्यक्ति बेरोजगार नहीं था इसलिए जिप्सियों को भी रोजगार दिया

गया था। लेकिन निजी खेती खत्म हो जाने के कारण और बड़े-बड़े सामूहिक फार्म बन जाने की वजह से जिप्सियों को अपने परंपरागत कामों को करने के अवसर कम हो गए थे।

समाजवादी सरकार के समाप्त हो जाने के बाद निजीकरण का दौर शुरू हुआ था। जिप्सियों के प्रति दबी हुई भावनाएं मुखरित हो गई थीं। हंगरी में प्रायः यह माना जाने लगा था कि जिप्सी बहुत बच्चे पैदा करते हैं ताकि उन्हें अधिक सरकारी सहायता मिल सके। यह माना जाने लगा था कि जिप्सी सोसाइटी पर बोझ हैं वे अपराधी होते हैं। अनपढ़ हैं और गंदे रहते हैं। जिप्सियों से दूर और अलग रहने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई थी। निजीकरण के दौर में अर्थव्यवस्था में जो परिवर्तन आ रहे थे उसके कारण बेरोजगारी बढ़ रही थी। इस बढ़ती हुई बेरोजगारी का अधिक प्रभाव जिप्सी आबादी पर पड़ रहा था।

सन् 1989 में समाजवादी व्यवस्था के समाप्त हो जाने के बाद कुछ 'रेसिस्ट ग्रुप' सक्रिय हो गए थे जो जिप्सियों पर हमले किया करते थे। जिप्सी के विरुद्ध घृणा प्रचार खुले आम शुरू हो गया था। अशिक्षित, कमजोर और समाज के हाशिए पर रहने वाले जिप्सी लोगों के लिए अपने आपको बचा पाना मुश्किल हो गया था। मानव अधिकार समूहों ने यह रिपोर्ट की है कि सन् 1995 के बाद जिप्सियों के प्रति हिंसात्मक घटनाएं बढ़ी हैं। इन घटनाओं पर पुलिस ने उचित कार्रवाइयां भी नहीं की। 'स्किन हेड' नाम की एक फासीवादी संस्था ने कई जगह जिप्सी समुदाय पर हमले किए थे।

शिक्षा के क्षेत्र में भी जिप्सियों के साथ भेदभाव बढ़ता जाता है। गरीबी के कारण कम ही जिप्सी बच्चे स्कूल पहुंच पाते हैं। स्कूल में चूंकि वे गरीब और अशिक्षित परिवारों से पहुंचते हैं इसलिए दूसरे बच्चों की तुलना में वे बहुत भिन्न होते हैं। उन पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता होती है इसलिए उन्हें ऐसी कक्षाओं में भेजा जाता है जहां मंद बुद्धि के बच्चे होते हैं। कुछ स्कूल जिप्सी बच्चों को लेना पसंद नहीं करते क्योंकि इस कारण हंगेरियन अभिभावक अपने बच्चों को उन स्कूलों में नहीं भेजते हैं। इस तरह के कुछ स्कूल 'जिप्सी फ्री' स्कूल हो जाते हैं।

समाजवादी व्यवस्था के समाप्त हो जाने के बाद 'लेबर मार्केट' पर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं रह गया था। इस कारण मजदूरों और कारिगरों बड़े पैमाने पर छटनी कर दी गई थी। 'हंगेरियन एकेडमी ऑफ साइंसेज के इंस्टीट्यूट और सोशयॉलोजी' की एक रिपोर्ट के अनुसार 1980 के आसपास जिप्सियों की 'लेबर मार्केट' सिमटने लगी थी। यद्यपि बेरोजगारी पूरे देश में फैल गई थी लेकिन जिप्सियों पर इसका बहुत भारी प्रभाव पड़ा था। उद्योग-धंधों, कारोबार तथा दुकानों और रेस्टोरेंट आदि के निजीकरण के कारण जिप्सी लोगों के लिए नौकरी पाना और कठिन हो गया है।

हंगरी के शहरों को छोड़कर दूसरे इलाकों में हंगेरियन और जिप्सी अलग-अलग इलाकों में रहते हैं। शहरों में भी पुराने और गरीब इलाकों में जिप्सी निवास करते हैं।

हंगरी में जिप्सी समस्या के समाधान के लिए भी अनेक प्रयास किए जा रहे हैं। कुछ स्वयं सेवी संस्थाएं, अंतरराष्ट्रीय संगठन और ई.यू. इस दिशा में बहुत प्रयत्नशील हैं। कुछ सार्थक और गंभीर कदम भी उठाए गए हैं।

हंगेरियन संगीत और कलाओं में जिप्सियों का बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। हंगरी के बहुत से विख्यात गायक और संगीतज्ञ जिप्सी हैं। एक समस्या ये भी है कि जो जिप्सी धनवान या विख्यात हो जाते हैं उनमें से अधिक अपने आपको जिप्सी मानने से इनकार कर देते हैं।

हंगेरियन शब्द में चोरी शब्द आ गया है। चोरी का वही अर्थ है जो हिंदी में है। कहते हैं यह शब्द जिप्सियों के माध्यम से हंगेरियन भाषा तक पहुंचा है। जिप्सियों को शांति चोर और उठाईगीर माना जाता है। इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव भी हुआ। हंगरी के एक रेस्टोरेंट में बैठा किसी विशेष हस्ती से बातचीत कर रहा था। मैंने अपना बैग बराबर वाली कुर्सी पर रख दिया था। मैं बातचीत में इतना डूब गया था कि बैग की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दे रहा था। यह समझ रहा था कि बैग बिलकुल मेरे बराबर वाली कुर्सी पर बहुत निकट रखा हुआ है और सुरक्षित है लेकिन कुछ देर बाद जब उठा तो देखा बैग गायब है। कुछ देर पहले मेरे पीछे से जिप्सी लोगों का एक ग्रुप निकला था। यह उसी का काम होगा। बैग में मेरे जरूरी कागज और आई.डी. कार्ड था। उसी समय मैंने पुलिस में जाकर रिपोर्ट करवाई थी। ये जानकर आश्चर्य हुआ था कि हंगेरियन पुलिस भी हमारी पुलिस जैसी बहुत उदासीन है। बहुत सहाजता और बहुत निर्लिप्त भाव से रिपोर्ट लिख ली गई थी लेकिन मामला यहां खत्म नहीं हुआ था। अगले दिन मेरे पास किसी का फोन आया था कि उसे मेरा आई.डी. कार्ड किसी 'डस्टबिन' में पड़ा हुआ मिला है और मैं फलां-फलां रेस्टोरेंट में जाकर फलां-फलां आदमी से अपना आई.डी. कार्ड ले सकता हूं। यह जानकारी पाकर मैं बहुत खुश हुआ था कि चोर का पता लग जाएगा। मैं भागा-भागा पुलिस स्टेशन गया था ताकि अपने साथ पुलिस को लेकर उस रेस्टोरेंट में जाऊं और पुलिस चोर को गिरफ्तार कर लें लेकिन पुलिस ने मेरा साथ चलने से इन्कार कर दिया था और यह कहा था कि मैं रेस्टोरेंट जाकर अपना आई.डी. कार्ड ले लूं। मैं तयशुदा दिन और समय पर उस रेस्टोरेंट में गया था जो एक घटिया इलाके में काफी घटिया-सा शोरोजो था। वहां एक जिप्सी लड़का बैठा था जो अच्छा खासा नशे में लग रहा था। इस लड़के ने मुझे बताया था कि उसने आई.डी. कार्ड एक डस्टबिन में पड़ा पाया था। यह एक बिलकुल झूठी और गढ़ी हुई बात लग रही थी। मुझे यकीन था कि वह चोरों को जानता है या चोरी में शामिल था। बहरहाल उसने मुझसे कहा कि आई.डी. कार्ड मिल जाने की खुशी में मैं उसे बीयर पिलाऊं। इस तरह मैं भी वहां बैठ गया था और उस जिप्सी लड़के ने बीयर के तीन-चार बड़े-बड़े गिलास खाली कर दिए थे। इसके बाद उसने कहा था कि शोरोजो में काम करनी वाली लड़की को भी मैं पांच सौ फोरन्ट दे दू क्योंकि उसने आई.डी. कार्ड को खोजने में बहुत मदद की है। ये भी झूठ ही था लेकिन मुझे यह समझने में देर नहीं लगी कि वह मुझसे पांच सौ फोरन्ट लेना चाहता है। खैर, पैसे दे-दिलाकर और कार्ड लेकर मैं आ गया था।

एक विलक्षण प्रोफेसर

कल्पना कीजिए कि एक विद्वान अपने दोनों हाथों में दो-दो घड़ियां बांधते हैं। जिस कमरे में बैठते हैं। उस कमरे में हर दीवार पर दो-दो, तीन-तीन घड़ियां लगी होती हैं। उन्होंने जीवन में सिर्फ दो रंग के कपड़े पहने हैं। वे कहते हैं कि काला और सफेद को छोड़कर बाकी रंग महिलाओं के लिए हैं। उन्होंने पिछले 20 साल से कोई अखबार न पढ़ा हो लेकिन अखबारों को जमा करते रहे हैं और कहते हैं कि जब समय मिलेगा तब पढ़ूंगा। वे उस समय तक घर से बाहर नहीं निकलते जब तक उनकी जेब में एक लाख फोरेन्ट न हों। हंगेरियन विद्वानों के संदर्भ ग्रंथ में उन्होंने अपनी हाबी सेक्स लिखवाई है। वे आठ-आठ घंटे लगातार संस्कृत व्याकरण पढ़ा सकते हो। उन्हें हंगेरियन झील बलातोन से प्रेम हो और इसमें तैरना उन्हें सबसे अधिक पसंद हो। ये विलक्षण हंगेरियन भाषा की

प्रोफेसर तोन्तीशी चाबा हैं। जब में हिंदी पढ़ाने बुदापैशत पहुंचा तब वे विभाग के अध्यक्ष थे। मारियाजी के माध्यम से मुझे उनका पहला संदेश यह मिला था कि मेरी उनसे भेंट न हो सकेगी। मैं अपना काम शुरू कर दूं और जो कक्षाएं मुझे दी गई हैं। उन्हें पढ़ाने लगूं। मेरा और मारियाजी का कमरा तीसरी मंजिल पर था और प्रोफेसर तोन्तीशी चाबा का कमरा दूसरी मंजिल पर था। इसलिए छः-सात महीने बीत गए लेकिन उनके दर्शन तक न हुए। अचानक एक दिन उनका संदेश मिला कि वे मुझसे मिलना चाहते हैं। यह जानकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और मैंने मारियाजी से पूछा कि इसका क्या कारण है। उन्होंने बताया जिन लड़कों को आप हिंदी पढ़ाते हैं उन्हें प्रोफेसर साहब संस्कृत पढ़ाते हैं और शायद लड़कों से ही उन्हें आपके बारे में कुछ जानकारियां मिली हैं जिसके आधार पर उन्होंने आपसे मिलने का फैसला किया होगा।

प्रोफेसर चाबा से पहली मुलाकात बिलकुल औपचारिक रूप में शुरू हुई थी लेकिन धीरे-धीरे वह अनौपचारिक हो गई थी। मारियाजी के माध्यम से बातचीत हो रही थी। वे हिंदी नहीं जानते थे। संस्कृत में बात करने का सवाल ही नहीं था। दूसरी जिन भाषाओं का उन्हें ज्ञान था वे हंगेरियन, ग्रीक और लैटिन थी। इन भाषाओं की मैं ए बी सी डी भी नहीं जानता था इसलिए बातचीत मारियाजी के माध्यम से हो रही थी।

इस बातचीत के दौरान उन्होंने मुझे अपने बारे में काफी कुछ बताया था। एक प्रसंग मुझे बहुत रोचक लगा था। उसे बताना चाहता हूं-प्रोफेसर साहब का जन्म एक संभ्रांत परिवार में हुआ था। उनके पिता अध्यापक थे जो अनेक भाषाएं जानते थे। लेकिन उनकी असमय मृत्यु हो गई थी। प्रोफेसर साहब के ऊपर 14 साल की उम्र में ही पूरे परिवार की जिम्मेदारी आ गई थी। परिवार के पास संपत्ति थी लेकिन राजनैतिक कारणों से उनके सारी संपत्ति चली गई थी और हद यह हो गई थी। उनके पास अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए पैसे तक न थे। वे पैसे उधार लेने के लिए अपने इलाके के एक यहूदी व्यापारी के पास गए थे। उन्हें मालूम था कि यहूदी व्यापारी बिना कोई सामान गिरवी रखे पैसे नहीं देगा। प्रोफेसर साहब ने जब यहूदी व्यापारी से पैसे मांगे तो उसने ये कहा कि तुम अपने स्कूल की मार्कशीट और रिजल्ट आदि लेकर मुझे दिखाओ तब मैं यह फैसला करूंगा। अगले दिन प्रोफेसर साहब ये सबकुछ लेकर उसके पास पहुंचे। व्यापारी ने देखा कि वे पढ़ाई में बहुत तेज हैं। हर कक्षा में उनकी प्रथम श्रेणी आई है। यह देखकर व्यापारी ने उनको चांदी के ग्यारह सिक्के दिए। ब्याज वगैरह की बात पूछने पर उसने कहा कि जब तुम्हारे पास पैसे हों तब जितना चाहो उतना वापस कर देना। उसके इस व्यवहार से प्रोफेसर साहब इतना प्रभावित हुए कि पढ़ाई पूरी करने के बाद जब उन्हें नौकरी मिली तो उन्होंने यहूदी व्यापारी को इतना पैसा लौटाया जो मूल और ब्याज से बहुत अधिक था।

प्रोफेसर चाबा ग्रीक लैटिन और संस्कृत के प्रकांड पंडित माने जाते हैं। उन्होंने इन तीनों भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि संस्कृत ग्रंथ 'शुक सप्तति' का हंगेरियन में अनुवाद भी किया है। फारसी के प्राचीन शिलालेखों के साथ-साथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र के कुछ अंशों का उनके द्वारा किया गया रूपांतर भी कम महत्वपूर्ण नहीं माना जाता।

प्रोफेसर चाबा से पढ़े छात्र बड़े गर्व से कहते हैं कि उन्हें प्रोफेसर तोन्तीशी चाबा ने पढ़ाया है। इसकी वजह यह है कि प्रोफेसर साहब छात्रों की इतनी रगड़ाई और घिसाई कर देते हैं कि वे कहीं कच्चे

नहीं पड़ते। बताया गया कि एक बार संस्कृत व्याकरण की क्लास पांच-छः घंटे तक बढ़ती चली गई। प्रोफेसर साहब जाड़ों के मौसम में तेज हीटिंग करके क्लास रूम के अंदर पढ़ा रहे थे। छः घंटे के बाद एक लड़की बेहोश हो गई। प्रोफेसर साहब ने कहा कि इस लड़की को बाहर वाले कमरे में जाकर लेटा दो लेकिन इस कमरे का दरवाजा इतना न खोलना कि बाहर से ठंडी हवा अंदर आ जाए।

प्रोफेसर साहब को पढ़ाने का शौक जुनून तक है। उनका मानना है कि पढ़ाना उनके लिए प्रार्थना जैसा है और उनके छात्र संसार में जहां भी कहीं जाते हैं। अपना नाम पैदा करते हैं। वे कहते हैं कि संस्कृत पढ़ने और पढ़ाने का उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। उन्होंने एक साक्षात्कार ने बताया था- संस्कृत तथा भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य ने मेरे व्यक्तित्व को, मेरे विचारों को बहुत परिमार्जित किया है। मैं जब दिन में दस-दस घंटे एकाग्रता के साथ एकांत में बैठ कर संस्कृत व्याकरण पढ़ता था तो लगता था कि यह एक निस्सीम पर्वत है, जिसे मैं एक-एक तिल करके खोदने का प्रयास कर रहा हूँ। उसमें मैं जब सफल हो गया तो मुझे लगा कि अब संसार में कौन-सा ऐसा काम है जो मैं नहीं कर सकता। आप समझे? जहां तक विचारों और मान्यताओं का प्रश्न है मैं भारतीय संस्कृति और दर्शन की मूल अवधारणा यानी 'समन्वय' से बहुत प्रभावित हुआ हूँ। धार्मिक सहिष्णुता तथा सह-अस्तित्व के दर्शन ने भी मुझे कम आकर्षित नहीं किया।'

हाथों में दो-दो घड़ियां बांधने और कमरों की दीवारों पर घड़ियां लगाने का कारण वह ये बताते थे कि अगर समय का इतना गहरा आभास उन्हें न होता रहे तो वे समय के बंधनों से मुक्त हो जाते हैं।

1956 की क्रांति : एक राजनयिक और 'पेंटर'

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान हंगेरियन और जर्मन सेना को हरा कर लाल सेना सन् 1945 में हंगरी पर अधिकार जमा लिया था और हंगरी सोवियत यूनियन के प्रभाव क्षेत्र में आ गया था। सोवियत यूनियन के दबाव के कारण हंगरी में कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हो गई थी और यह सरकार पूरी तरह स्टेलिन के तानाशाही ढंग पर चलने लगी थी। विरोधियों को गिरफ्तार करने, प्रताड़ित करने, फांसी पर लटका देने, लेबर कैम्पों में भेज देने का काम बड़े पैमाने पर जारी हो गया था। इस सरकार के मुख्या मातियाश राकोसी (Matyas Rakosi) थे जो अपनी विशेष पुलिस एबीएस के माध्यम से हर तरह का अत्याचार कर रहे थे। लोगों को जबदस्ती सरकारी खेती के लिए मजबूर किया जा रहा था। देश की आर्थिक स्थिति खराब थी। नौकरियों की कमी थी। असंतोष और विरोध के उत्तर में अत्याचार किए जाते थे। धर्म और धार्मिक संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया था। चर्च के बड़े पादरी गिरफ्तार कर लिए गए थे। सभी शिक्षा संस्थाओं पर सरकार पूरा नियंत्रण हो गया था। इसी पृष्ठभूमि में 1956 की क्रांति शुरू हुई थी जो हंगेरियन सरकार और सोवियत यूनियन के नियंत्रण के विरुद्ध थी। क्रांति छात्रों के एक आंदोलन से शुरू हुई थी जिसके अंतर्गत एक नई सरकार बन गई थी जो 23 अक्टूबर से लेकर 10 नवंबर, 1956 तक रही। सोवियत सेनाओं के बरबर हस्तक्षेप से यह क्रांति दबा दी गई। इस क्रांति के नेता इम्रे नाजी (Imre Nagy) और उनके बहुत से समर्थकों को फांसी दे दी गई। लाखों लोग देश छोड़कर भाग गए।

क्रांति के इन्हीं दिनों में एक महत्वपूर्ण घटना घटी जिसका प्रभाव हंगरी की भावी राजनीति पर पड़ा। इस घटना का संबंध भारत से है और भारत हंगेरियन संबंधों में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका भी मानी जाती है।

सन् 1956 तक हंगरी में पूरा भारतीय दूतावास नहीं था। केवल एक राजनयिक अपने छोटे से स्टॉफ के साथ भारत-हंगेरियन 'डिप्लोमेसी' का जिम्मेदार था। 34 वर्षीय एम.ए. रहमान बुदापैशत में भारत के 'चार्ल-डी अफेयर' थे। वे हंगेरियन क्रांति को बहुत गंभीरता से देख और समझ रहे थे। उनका हंगेरियन क्रांतिकारियों से भी संवाद था और मजेदार बात यह है कि इस संवाद का माध्यम रहमान साहब का विश्वसनीय ड्राइवर डिरिचशेल (Drechschel) था। जर्मन मूल का यह ड्राइवर पढ़ा-लिखा ही बल्कि बुद्धिजीवी था। उसके माध्यम से रहमान साहब को पूरी गतिविधियों का पता चलता रहता था और वे भारत सरकार को बहुत सच्चाई और निष्पक्षता से यह सूचित करते रहते थे कि सोवियत प्रभाव के कारण राकोसी की सरकार लोगों पर अत्याचार कर रही है यह विद्रोह दरअसल जनता का विद्रोह है जिसे पूरे देश का समर्थन प्राप्त है।

4 नवम्बर को बड़ी संख्या में सोवियत सेना हंगरी में घुस आई। देश भक्त सेना ने संघर्ष जारी रखा जिसके नतीजे में लगभग द्वाइ हजार हंगेरियन और सात सौ सोवियत सैनिक मारे गए और सोवियत समर्थक सरकार सत्ता में आ गई। क्रांति के लोकप्रिय नेता इम्रे नाजी और उनके कुछ सहयोगियों को जून, 1958 में फांसी पर चढ़ा दिया गया और दूसरे क्रांतिकारियों की धर पकड़ शुरू हो गई। यह सब जानकारियां रहमान साहब को अपने विश्वस्त ड्राइवर के माध्यम से मिल रही थी।

रहमान साहब को बुदापैशत आए बहुत समय नहीं हुआ था। रोजा दोम में दूतावास की इमारत में पुताई वगैरह हो रही थी। उसी वक्त एक नौजवान दूतावास में आया वह 'चार्ल डी अफेयर रहमान साहब से मिलना चाहता था। रहमान साहब बाहर ही खड़े थे। नौजवान ने उनसे कहा कि वह लेखक है और बुद्धिजीवियों के उस ग्रुप का सदस्य है जो सोवियत गुलामी से मुक्ति चाहते हैं। रहमान साहब का ड्राइवर इस नौजवान लेखक के बारे में शायद उन्हें पहले ही बता चुका था इसलिए रहमान साहब को यह समझने में देर नहीं लगी कि वह कौन है। नौजवान लेखक बहुत साफ ढंग से बातें करने लगा। उसने बताया कि वह भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नाम क्रांतिकारियों का एक संदेश लाया है। चूंकि नेहरू के सोवियत संघ से अच्छे संबंध हैं इसलिए नेहरू सोवियत यूनियन की हंगेरियन नीति पर प्रभाव डाल सकते हैं। युवा लेखक बात कर ही रहा था कि दूर से चमड़े की जॉकित पहने दो आदमी आते दिखाई दिए। रहमान साहब को लगा कि हो-न-हो ये लोग सोवियत गुप्तचर हैं जो युवा लेखक की तलाश में यहां तक आए हैं। अचानक रहमान साहब ने युवा लेखक से कहा कि तुम अंदर जाओ और पुताई का काम करो। युवा लेखक अंदर चला गया गुप्तचर विभाग के लोगों को यह लगा कि वह भी दूतावास में पुताई करने वाले लोगों में है। गुप्तचर चले गए और दूतावास में इस लेखक का उपनाम 'पेंटर' पड़ गया।

पेंटर लुक छिपकर रहमान साहब से लगातार मिलता था और उन्हें दमन के पूरे घटनाचक्र की जानकारियां देता था। उसके सभी साथी यह मानते थे कि इस विकट स्थिति में केवल नेहरू हैं जो उनकी सहायता कर सकते हैं और नेहरू तक पहुंचने का माध्यम भारतीय दूतावास है जो लगातार हंगरी में होने वाली घटनाओं की जानकारी दिल्ली को दे रहा है।

उस समय सोवियत यूनियन में के.पी.एस. मेनन भारत के राजदूत थे जिनका सोवियत नेताओं से घनिष्ठ परिचय था। सोवियत यूनियन की विदेश नीति में भारत का विशेष महत्व था यह बात नेहरूजी को पता थी और सोवियत यूनियन के नेता भी जानते थे। मास्को में ही भारत के मिलेद्री

अताशी ब्रिगेडियर नलिन नानावती थे जो सोवियत यूनियन के एक बहुत शक्तिशाली व्यक्ति जरनल सर्वो के साथ टेनिस खेला करते थे। जरनल सर्वो एन.के.वी.डी. (सोवियत संघ का गुप्तचर विभाग) के हेड थे। ये दोनों लोग सोवियत नेताओं पर प्रत्याप्त प्रभाव डाल सकते थे।

इस बीच मई 1957 के आसपास 'पेंटर' को भी गिरफ्तार कर लिया गया था और सबको पक्का विश्वास था कि 'पेंटर' को भी फांसी की सजा दी जाएगी। रहमान साहब तक इन गतिविधियों की सूचना लाने वाला ड्राइवर भी गिरफ्तार हो गया था। रहमान साहब ने हंगरी के विदेश मंत्रालय और दूसरे बड़े अधिकारियों से बातचीत करके ड्राइवर को जमानत दिला दी। गुप्तचर विभाग को यह शंका थी कि रहमान साहब का ड्राइवर ही क्रांतिकारियों और रहमान साहब की बीच की एक कड़ी है। उन्हें यह भी पता था कि 'पेंटर' के गिरफ्तार हो जाने के बाद 'पेंटर' की पत्नी और रहमान साहब के बीच की कड़ी भी ड्राइवर ही था। पर रहमान साहब की अथक कोशिशों से वह छुट गया था। रहमान साहब ने तुरंत ड्राइवर को अपनी सरकारी मर्सडीज गाड़ी में छिपाया जिस पर डिप्लोमैटिक प्लेट लगी हुई थी। गाड़ी सीधी आस्ट्रिया सीमा तक पहुंच गई। सीमा पर तैनात हंगरी पुलिस के सिपाहियों ने गाड़ी की तलाशी ली लेकिन वे ड्राइवर को नहीं खोज सके और वह वियाना पहुंच गया जहां एक नया भविष्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

रहमान साहब अपनी रिपोर्टों की माध्यम से यह लगातार बता रहे थे कि हंगेरियन क्रांतिकारियों और विशेष रूप से 'पेंटर' की जान बचाना बहुत जरूरी है। प्रधानमंत्री नेहरूजी की समझ में भी यह बात आ गई थी और उन्होंने मास्को में भारतीय राजदूत और ब्रिगेडियर नानावती को इस काम पर लगा दिया था। इन दोनों की कोशिशों का नतीजा निकला। 2 अगस्त, 1958 को अदालत में 'पेंटर' का केस सुनकर उसे आजीवन कारावास की सजा सुनाई।

दूना और गंगा में बहुत पानी बहा। समय तेजी से बीता। सन् 1989 में हंगरी सोवियत प्रभाव से आजाद हो गया। सन् 1991 में हंगरी में पहले निष्पक्ष चुनाव हुए और देश के नए राष्ट्रपति ने पार्लियामेंट में कहा- 'सन् 1956 के उन महीनों में बुदापैशत का भारतीय दूतावास क्रांति का दूतावास बन गया था।'

हंगरी के नए राष्ट्रपति गिंज आरपाद सरकारी दौरे पर जब दिल्ली आए थे तो उन्होंने सबसे पहले रहमान साहब से मिलने की इच्छा व्यक्त की थी। विदेश मंत्रालय ने रहमान साहब से संपर्क किया था और उन्हें हंगरी के राष्ट्रपति से मिलने का निमंत्रण दिया गया था लेकिन राष्ट्रपति का कहना था कि वे स्वयं रहमान साहब के घर जाकर उनसे मिलेंगे। ये प्रोटोकॉल के खिलाफ था लेकिन हंगरी के राष्ट्रपति रहमान साहब के घर जा के उनसे मिले थे।

ये राष्ट्रपति कोई और नहीं वही 'पेंटर' था जिसकी फांसी की सजा रहमान की कोशिशों से आजीवन कारावास में बदल गई थी।



ऐसा कहां से लाऊं कि...

लीलाधर मंडलोई

*सब कहां! कुछ लाला-ओ-गुल में नुमायां हो गईं
खाक में, क्या सूरतें होंगी कि पिन्हां हो गईं। (गालिब)*

कुछ सूरतें जिंदगी में बेहद अहम होती हैं किंतु विलुप्त हो जाती हैं। दरअसल उन पर इस कारण नहीं लिखा जाता कि समाजी तौर पर उनकी सूरत, नुमायां न हो सकी। लेकिन आपकी जिंदगी में उस नामालूम शख्स ने एक कोई ऐसी रोशनी, कोई ऐसी छाप छोड़ दी कि आप उसे अपने तई तो मानते हैं, जानते हैं लेकिन उसे उजागर करना गवारा नहीं करते। कुछ लोग आपकी जिंदगी में इतना ज्यादा शरीक होते हैं कि अकेले में, ख्वाब में आकर, दुःख में उबारकर एक धौल जमाते हैं और गायब हो जाते हैं। हां, जाते-जाते बकौल गालिब आपके कान में न सही... हवा में यह कहते हुए फिर आने का वादा करने से चूकते नहीं

किस वास्ते अजीज नहीं जानते मुझे?

ला' लो- जमर्दो-जरो-गौहर नहीं हूं मैं।

कहने का अर्थ कि अगर वह बाजार की कीमत में पन्ना, सोना, मोती जैसा नहीं इसलिए वो भला आपके-मिरे लिखे में क्यूंकर अजीज होगा? महोदवी वर्मा के संस्मरण ऐसे हद से बेहद सामान्य किरदारों पर हैं और साहित्य में उनकी कीमत पन्ना, सोना, मोती से कहीं अधिक है...

मैंने अपने जन्मस्थान सतपुड़ा के ऐसे ही किरदारों, यहां तक पेड़-पौधों, जीव-जंतुओं पर लिखा है जिनके बिना मेरा कोई वजूद नहीं। आज मैं एक ऐसे दोस्त पर लिख रहा हूं जिसे कोई नहीं जानता हमारी दुनिया में। न हम उन्हें अपनी ब्रांडेड दुनिया में अहम मान पाते हैं लेकिन त्रिलोचन की इस पंक्ति को याद करता आया हूं -

दुनिया को सपने से अलग नहीं मानता' भले ही वह दुनिया दुनियादार होती कहीं-से-कहीं पहुंच गयी।

मेरे दोस्त का नाम है बच्चू दादा ऊर्फ सी.के.पाल उर्फ नब्बे ढाई का बाबू। वह खुद को बार-बार कहता था कि 'नब्बे ढाई का बाबू' है। म.प्र. सरकार के पी.डब्ल्यू.डी का नौकर। जिला बदर। स्वभाव से विद्रोही...। कुछ-कुछ गुंडई स्वभाव लेकिन वह नमूदार होता तो बेहद गरीब लोगों के पक्ष में। वह उन लोगों में शामिल था जिसने एक सभा में चाणक्य कहे जाने वाले मुख्यमंत्री की सभा में जूता उछाल दिया था... तब यह संगीन अपराध था...। यह वह जानता था और भाग खड़ा हुआ कि पुलिस

उस तक न पहुंच सके। वह बिन किसी को बताए छत्तीसगढ़ रवाना हो गया। रिश्तेदारी में लोग थे कुछ। महीनों चुपचाप रहा। पीछे छूट गए कागज मंगाए मसलन स्कूल के सर्टिफिकेट और वह नब्बे ढाई का बाबू हो गया। घर से दूर बना रहा और किराए पर इधर-उधर रहता रहा। 1976 में जब मैं रेडियो की नौकरी में रायपुर पहुंचा तो जिंदगी में बेधड़क शामिल हो गया। हम तीन थे- बच्चू दादा, मैं और लक्ष्मेंद्र चोपड़ा। पहले बैरन बाजार के डेढ़ कमरे के मकान में, पहले तल्ले पर। मकान मालिक भैंसों वाला था तो दूध शुद्ध था उससे अधिक शुद्ध गोबर और भैंस के मूत्र की दिव्य गंध, जो हमारे रसोई पर राज करती थी। नीचे भैंसों की पनाह और ऊपर छड़े-मुश्तंडे की सराय।

बच्चू दादा भोपाल के मूल रहवासी थे। लिली टाकीज के सामने और छोटे तालाब से लगे एक ढाबे में दोस्तों के साथ कमाते थे, और खाना बनाने की कला में पारंगत थे। बच्चू दादा चिकन, मटन, मछली बनाने में अपना शानी रखते थे...। उनको करी, तरी, शोरबा बनाने के कई गुर मालूम थे। एक तरी में वे शाकाहारी और मांसाहारी दोनों तरह के लोगों को दीवाने से आगे स्वाद का गुलाम बनाने का हुनर जानते थे। हम तीनों में लच्छू ऊर्फ लक्ष्मेंद्र शाकाहारी था। हम दोनों मांसाहार के शौकीन थे सो लच्छू की पसंद शाक-सब्जी तक महदूद। ससुरा सच्चा पंजाबी मुंडा हुआ होता तो खाने-पीने की दुनिया दूसरी होती... पर जो थी खूबसूरत थी... हम एक तरी बनाकर उसके लिए शाकाहारी इंतजाम कर लेते थे... यानी शरारती ढंग का जुगाड़ हो जाता था। लच्छू हम लोगों में थोड़ा एलीट स्वभाव का था और बाकायदा सरकारी मिजाज का ज्यादा था। उसकी सोच बच्चू की तलछट वाली न थी, न मेरी आदिवासी समझ-सोच वाली...। पर हमारी दुनिया में एक अनकामन सा कॉमन प्वाइंट था...। हमने मकान बदला और 23 जनता फ्लैट, राजा तालाब में शिफ्ट हो गए...। जहां हम बिछुड़ने तक रहे।

यहां का यादगार रसोई आख्यान मेरे जेहन में है। बैरन बाजार का एक प्रसंग है... लच्छू ऊर्फ लक्ष्मेंद्र की पंजाबी कढ़ी। हम दोनों का अनुभव था कि वह रसोई में इसलिए नहीं झांकता कि उसके स्वभाव में खाना-बनाने का थकाऊ-उबाऊ दुगुर्ण न था। कुछ-कुछ इरादतन दूरी बनाना उसकी मजबूरी थी। एक दिन जाने कैसे हमारी जिद में आकर उसने कहा कि चलो क्या याद रखोगे पंजाबी कढ़ी बनाता हूं। सो हाजिर है लच्छू की रेसिपी, बनाने का शिल्प और लोट-पोट हो जाने की हद तक कढ़ी बनने तक का आख्यान। लच्छू शेफ ने पहले दही को पतला किया पानी डालकर, फिर उसमें कच्चा बेसन मिलाया तो गुठले पड़ गए। अब उसे मथना-मिलाना और न हो पाने से खीझना। इस प्रक्रिया में उसके छींटों का सुंदर शिल्प धरती पर। साक्षात लोक चित्रकारी का अद्भुत नमूना...। हम जाते-झांकते-मुस्कियाते और लौट आते...। बच्चू खुलकर हँसने में कंजूस बना रहता। सीनियर था हमसे... सो पूरा निर्वाह।

दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं तांका-झांकी में पाया कि बेसन और दही या कहेँ छाछ का शानदार मिलन लड़ाई झगड़े के बाद हो गया। वह बच्चू और मुझसे कुछ न पूछ सकता था सो एकल गायन में लगने के अलावा न राग था, न राग की सृष्टि सम्भव। अब एक स्टोव था पुराना और अल्मुनियम की बड़ी-सी देगची... जिसमें लच्छू की पंजाबी कढ़ी को आकार लेना था। जो दिव्य, द्रव्य आधार उसने बनाया था, वह देगची के गले तक भरा था... और स्टोव की आग में मद्धिम से तीव्र लय में उफनता और बाहर की तरफ ताक-झांक करने को बेचैन। भाई ने उसमें गोभी के टुकड़े और पंजाबी बड़ी को

भी बिना किसी गणित की समझ के डाल दिया। आग तेज थी और एक पीला ज्वालामुखी उबलकर बाहर आने लगा। मरता क्या न करता। चोरी से वह पंजाब की उद्विग्न कढ़ी घर के दूसरे बर्तनों में मसलन मंझोली, छोटी देगची, कढ़ाई, लोटे, मग में निकलने लगी...। पिसनहारी की जादुई मढिया में, जो था बस निकल रहा था... नमक डालने के बाद न गोभी के टुकड़े पक रहे थे न पंजाबी बड़ी। कोई जतन न सूझ सकता था... न सूझ रहा था... बस पंजाबी कढ़ी के लिए घर में बाल्टी, गिलास बचे थे...।

हम रसोई में खड़े होकर यह नजारा देख रहे थे। एक आनंद का माहौल था...। कोई दुःख नहीं न ताना... न छींटकशी...। बच्चू ने उसे कहा भाई मियां चलो अब उठ भी जाओ... बहोत हुआ लेकिन तुमने पंजाबी कढ़ी खिलाने का सोचा, ये मर्दों वाली बात है और यह हसीन ख्वाब अब फिर कभी पूरा करेंगे... एक कटोरी बची है और दो-एक बर्तन रसोई में...। सो कटोरी में कढ़ी यानी पंजाबी कढ़ी को चख तो लेते हैं... तीनों ने चखा लेकिन वह पकी न थी... कढ़ी और पंजाबी कढ़ी... इतनी आसान न थी... कि पंजाबी मुंडे बना लें... हम दोनों ने कहीं मन में सोचा... इसके लिए पंजाबी कुड़ी जरूरी है। यह बंदा अकेला रहा तो न वैसा पंजाबी है और न कभी हो पाएगा। बमुश्किल कढ़ी चखकर हमने कपड़े पहने और बाजार में कुछ खाने की तलाश में निकल गये... पंजाबी कढ़ी तब से आज तक पीछा कर रही है...।

बच्चू दादा बड़े थे इसलिए गंभीर... रिश्तों की नजाकत को गहरे तक समझने वाले। ठोकरों के बीच उन्हें जीवन मिला था नब्बे ढाई का। पी.डब्ल्यू.डी. में स्टोरकीपर थे सो ऊपर की कमाई थी। लेकिन वह हराम की कमाई थी सो घर में उस पैसे का कुछ न आता। बाहर के दोस्तों की शराब, खाने के लिए मटन-चिकन-पनीर आदि आते। बियर की पूरी कैरिट...। और मक्खन के पैकेट। बियर के साथ बच्चू शाही ढंग से मक्खन चाटते और बीड़ी नान-स्टॉप फूंकते। किसी जरूरतमंद को उसी पैसों में से उधार के नाम पर मदद...। जो लौटने न थे... न बच्चू को कभी मांगना न था। इस पैसे में कुछ लड़कियां, कुछ अधेड़ औरतें हकदार थीं, जो बच्चू के मन को पढ़ सकती थीं।

बच्चू का रहन-सहन बड़ा मजेदार था। एक तो उसका रंग कोयला खान के मजूर सा था कृष्ण से भी अधिक कृष्ण। गाढ़ा और तपा हुआ। वह टेरिकाट का काला पेंट और रूफेद कमीज पहनता था। यानी एक ही ड्रेस। घर में एक लुंगी और पीली-धब्बों से भरी बनियाइन। चप्पल की जगह स्लीपर। ऑफिस के लिए फीते वाले काले जूते। औरतों में लोकप्रिय। उसके पास वक्त कम था। दांत मांजने से नहाने तक डेढ़-दो मिनट बहुत। हम इतवार को बाथरूम का दरवाजा बाहर से बंद कर देते और उसकी चुप्पी को तोड़ देते। वह माकड़े, बेनकड़े, बापकड़े की प्यारी और हर दिल अजीज आवाज में गालियां बकता.. और दरवाजा खोलने पर कहता... माकड़े मैंने फिर भी नहाने में उससे ज्यादा वक्त जाया नहीं किया... पेस्ट, साबुन, पानी बरबाद नहीं किया... नब्बे ढाई का बाबू हूं और गालियों में तो कोई खर्च होता नहीं... कहो तो साफ-साफ हूं.. और हम एक साथ हँसते...। बच्चू न होता तो हम सचमुच के बाबू मनहूस होते... जैसे कि हमारे दूसरे दोस्त हो गए। फाकामस्ती में आवारागर्दी का हुनर मुझे उसी से मिला। हम दोनों बरसते पानी में रात 9 बजे के बाद निकलते और भुट्टे खाते... भंगोड़े-भजिये ढूँढते भले ही बाबूलाल टॉकीज की गली में घुसना पड़े। वैसे भी बच्चू के साथ फिल्म की थर्ड क्लास की टिकिट के लिए धकापेल वाली लाइन के तजुर्बे में हमने

मस्त-बदमस्त जिंदगी का स्वाद खूब चखा था। और बच्चू तो जैसे इन्हीं कमालों का दूसरा नाम था। यह कोई 1983 की बात थी। दीवाली का दिन था। दुर्योग से बरसात हो रही थी। हम कढ़ी, चावल, रसेदार सब्जी, पुड़ी बना चुके थे। लिज्जत पापड़ तले जा चुके थे। मैं और बच्चू बाजार निकल गये। कुछ मोमबत्ती खरीदी। लक्ष्मी-गणेश की मिट्टी की मूर्तियां और लाई-बताशे। और ढेर से पटाखे। हमारा नियम था कि जब पटाखों की आवाज मंद पड़ती तब हमारे पटाखों की धुंआधार बरसात शुरू होती। बरसते बादलों के बीच हम दीवाली का सामान लिये रिक्शे से घर पहुंचे। फ्लैट में पहुंचे। पूजा का सामान लच्छू महाराज को सौंपा। बच्चू पटाखे निकालने लगा और जोर से चीखकर 'माकड़े.. .. पटाखे गीले हो गये। खैर... देखता हूं क्या हो सकता है। वह रसोई वाले कमरे में गया। उसी के सामने बाथरूम टॉयलेट था...। हमने सोचा खाना गर्म करने के इरादे से गया है। उसने स्टोव जलाया... और जाने किस जोम में तवे में पटाखे रखकर जलते स्टोव पर रख दिए। हम बाहर के एक अदद कमरे में थे। एकाएक धड़ाम-धड़ाम-धड़ाम आवाजें आने लगीं। हमें समझने में देर हुई तब तक पूरी रसोई भयानक रूप से पटाखों के धमाकों में गूंज रही थी... हम चीखने-रोने की हद तक बच्चू को पुकार रहे थे... रसोई में जाने को होते तो धड़ाम-धड़ाम और कुछ न दिखने वाला धुंआ फ्लैट को घेर चुका था... हमारी सांसें मानो आसमान पर और बच्चू की कोई आवाज नहीं। जब भीषण शोर रूका तो धुंए के गुबार से बच्चू का आना दिखा। हमने उसे सब तरफ से छूकर देखा... वह बोला माकड़ों मैं बाथरूम में घुस गया था सो बच गया। शुरू में ही जब उछलते-उचकते पटाखे लगे और मैं बाथरूम में जा घुसा...। बोला वह 'यह दीवाली का आगाज था। चलो देखो... खाना-वाना बचा या नहीं। रसोई में खाना बर्तनों में बहोत कम दीवारों पर नयी सज-धज, धुंए की गंध में किसी बड़े चित्रकार के अनेक रंगों से बनी कृति में मुस्किया रहा था...। हम भी जोर से हँसे और वैसी ही रसोई को छोड़कर, दुबारा दीवाली मनाने की गरज से, बाजार की तरफ कूच करने के लिए बाहर निकले तो पड़ोसी घेरे खड़े थे... और माजरा क्या हुआ, जानने को बेचैन थे... 'हम सब ठीक हैं' कहते हुए चुपचाप खिसक लिए।

रात बारह के आस-पास। खाना खाकर और पटाखे लेकर लौटे। लोग जब सोने की तैयारी में थे, हम पटाखों की एक और धूम-धड़ाम करने में जुट गये थे। यह सब बच्चू का दिल-गुरदा था। बीहड़ भी, दिलेर भी और मस्तमौला।

बच्चू के अनेक किस्से हैं जिसके बिना हमारी दास्तान, कम-से-कम मेरी अधूरी है। उस दौर की इसे पहली किश्त मानें। लंबी दास्तान है, फिर कहूंगा... लिखूंगा.. अभी तो इस शेर को सुनें और खोजें

*'आइना क्यों न दूं, कि तमाशा कहें जिसे
ऐसा कहां से लाऊं कि तुझ सा कहें जिसे।'*



श्वेत-क्रांति के जनक

सुधीर सक्सेना

पाव सदी पहले की बात है, अलबत्ता लगता है, मानो कल की ही बात हो... हम आणंद में थे। आणंद यानी दुग्ध और दुग्ध-उत्पादों की पाट नगरी। डेयरी उद्योग की शीर्ष-स्थली। दूध की गंगोत्री। वह नवंबर की सर्द सुबह थी। आणंद दूधिया रोशनी में नहाया हुआ था। धूप परिंदों की मानिंद पंख फड़फड़ा रही थी। श्वेत क्रांति ने आणंद को वैश्विक-मानचित्र में उभारकर सुर्खियों से बेहिसाब नवाजा था। नक्शे में बिंदुवत आणंद में दुग्ध का सिंधु लहराने का यह करतब कर दिखाया था डॉ. वर्गीस कुरियन ने...

जिज्ञासाओं से ओतप्रोत उत्सुकता ही डॉ. कुरियन से मिलाने के लिए भोपाल से आणंद जाने का सबब बनी थी। रेल-पांत भोपाल और आणंद को जोड़ती थी। राजकोट एक्सप्रेस से सांझ ढले रवाना होकर हम सुबह आणंद में थे और उसी रोज जब घड़ी के कांटे 11.30 बजा रहे थे, हम डॉ. कुरियन के चैंबर में थे। मंझोले आकार की मेज के एक ओर वे थे और दूसरी ओर मैं। उनका कद दरम्यानी था, लेकिन उनकी शख्सियत उनके कद से कई गुना बड़ी थी; बड़ी, चमकीली और प्रेरक। श्वेत-क्रांति के संदर्भ में कहें तो हम धवल व्यक्तित्व के रू-ब-रू थे।

सौम्य चेहरा। गंदुमी रंग। करीने से कोरे गये धूपछांही केश। सफाचट मूंछें और लबों पर तिरती मुस्कान से चेहरा कुछ अधिक ही स्निग्ध लगता था। सामान्य से चौड़ा ललाट। तजुर्बे से उभरी लकीरें। मुस्कुराने पर फैल जातीं होठों की कथई कोरें और तब उभर आतीं उन्हें घेरती वक्र रेखा। सामान्य वेशभूषा। चटख रंग की पतलून और हल्के रंग की सूती बुशर्ट। उनकी आंखों में चमक थी और उनकी यह द्युति चौंधियाती नहीं, लुभाती थी। उनका कक्ष भी आज के कॉर्पोरेट चैंबरों-सा लकदक न था। वह उन्हीं के व्यक्तित्व के अनुरूप था। सादा और आरामदेह। ऐसा जहां हवा फिरकनी खा सकती थी और जो दोपहर यकबयक बिजली गुल हो जाने पर भी रोशन रहता था।

वह सन् 1992 का साल था। नवंबर का महीना। संभवतः पहला पखवाड़ा। मैं जानता था कि डॉ. कुरियन श्वेत-क्रांति के पुरोधे हैं। उन्हें श्वेत-क्रांति का पितामह या पुरोधे भी कहा जाता था। वे सत्तर के हो चुके थे, लेकिन उम्र उन्हें छूकर गुजर गयी थी। वह वहां ठहरी न थी कि उनमें जड़ता व्यापती। बातचीत के पेश्तर उन्होंने कैफियत दी कि उनकी हिंदी अच्छी नहीं है। मैंने कहा- 'मेरी अंग्रेजी अच्छी नहीं है। शायद आपके हिंदी ज्ञान से कहीं ज्यादा खराब...'। हम दोनों हँसे। इस हँसी और शुरुआती संवाद ने बातचीत और वातावरण को यूँ सहज और आत्मीय किया कि आधे घंटे के लिए निर्धारित हमारी मुलाकात तकरीबन डेढ़ घंटे चली। सिर से सिरा जुड़ता गया। यदि स्मृति धोखा

नहीं दे रही तो जनसंपर्क के आला-अधिकारी गांगुली नामक बंगाली सज्जन विस्मित थे और आनंदित भी। 'माया' में प्रकाशित डॉ. कुरियन का विस्तृत साक्षात्कार उन्होंने हाउस-जर्नल में आद्योपांत अंग्रेजी में तर्जुमा कराकर छापा और बड़े दिनों तक उनसे पत्राचार बना रहा। डॉ. कुरियन से दूधिया उजास में हुए फेनिल-संवाद के टुकड़े आज भी याद हैं। वह धवल व्यक्तित्व क्या कोई भूलने की चीज है?

कहां केरल। कहां गुजरात। केरल उनकी जन्मभूमि और गुजरात कर्मभूमि। जन्मना ईसाई। कर्मणा महानायक। आणंद तब छोटा-सा गांव था। आवागमन और संचार के साधनों से रिक्त। मगर उनका मिशन उन्हें धुर दक्षिणी तटीय प्रदेश से पश्चिम के तटीय प्रांत में ले आया। जब वे आणंद आए, तब पच्चीस साल के सजीले नौजवान थे। भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज और मिजाज से अनभिज्ञ। उनका चेहरा विजातीय था और खानपान भिन्न। कोई उन्हें रहने के लिए ठौर देने को तत्पर न हुआ। आत्माराम पटेल के संकल्प ने उन्हें बांधे रखा। कार-गैराज में रहने और स्टोव पर खुद खाना पकाने से उनके आणंद वास का प्रारंभ हुआ। इस शुरुआती विरक्ति और उपेक्षा के बावजूद उनके मन में आणंद के प्रति कोई कटुता न पनपी। उनका मिशन उनकी ताकत था। श्वेत-क्रांति का जज्बा उनका जुनूं बना। कालीकट में जन्मे कुरियन सन् 1943 में मद्रास विश्वविद्यालय, चेन्नै से अभियांत्रिकी में उपाधि लेकर जमशेदपुर चले गए थे, मगर मद्रास, बिहार या केरल उनका भविष्य न था। चुपचाप उनकी बाट जोह रहा था गुजरात का खेड़ा जिला।

डॉ. वर्गीस कुरियन का अतीत में गोते लगाना दिलचस्प था। जब-तब वे पुलक से भीग उठते थे। किसी के साथ अनुभवों और रिश्तों को साझा करना भी विरल अनुभूतियां जगाता है। वे बताने लगे- खेड़ा जिला तब बेहद पिछड़ा हुआ था। लोगबाग इसे लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल के कारण जानते थे। जब आजादी मिली, तब खेड़ा में एक भी सड़क पक्की न थी। उसके नाम पर फकत एक डेयरी थी, जिसे कोई पारसी सज्जन चलाते थे। मुंबई और ब्रिटिश आर्मी को मिल्क और मिल्क प्रोडक्ट यहीं से जाते थे। तब का लोकप्रिय 'पोल्सन' मक्खन वहीं बनता था, किंतु मुनाफे के फेर में कंपनी दूधियों और किसानों को बहुत कम रकम का भुगतान करती थी। किसानों ने हड़ताल की तो सरदार पटेल का उन्हें नेतृत्व और मार्गदर्शन मिला। सरदार ने अपने विश्वासपात्र अनुयायी त्रिभुवनदास पटेल को दायित्व सौंपा कि वे उन्हें सहकारिता की छतरी तले लाएं। समय के साथ पोल्सन मक्खन गया, पारसी सज्जन भी गए, मगर गांधीवादी त्रिभुवनदास बहुत बाद तक एक कुटी में रहते रहे। वे आणंद की कथा के महत्वपूर्ण पात्र हैं।

डॉ. कुरियन सरदार पटेल, लालबहादुर शास्त्री, आत्माराम पटेल और त्रिभुवनदास सरीखों को आजीवन कृतज्ञ भाव से याद करते रहे, मगर आणंद की गाथा के केंद्रीय पात्र का नायक तो वे स्वयं हैं। आणंद में आज क्या नहीं है? वह राष्ट्रीय डेयरी डेवलपमेंट बोर्ड (एनडीडीबी) और अनुषंगी संस्थानों का मुख्यालय है। 'अमूल' ब्रांड ने उसे बेहिसाब शोहरत बख्शी है। आणंद अब चौड़ी सड़कों और फुटपाथों का आधुनिक शहर है, वहां आधुनिक वास्तुशैली में निर्मित एनडीडीबी मुख्यालय व अन्य भवन हैं, वहां विद्यापीठ है, अनेक संस्थान व दफ्तर हैं, परिवहन और संचार क्रांति की कहानी कहती इमारतें व उपकरण हैं। वहां खुशहाली की इबारतें पढ़ी जा सकती हैं। सन् 60 के दशक में कुछ हजार के आणंद की आबादी अब 15 लाख के करीब होगी। भारत में डेयरी की धवल वर्णमाला में 'अ' से अमूल है और 'आ' से आणंद। बाद बाकी सब बाद में...

मैं थोड़ी देर को सन् 1992 में लौटता हूं। डॉ. कुरियन एनडीडीबी के आविर्भाव की कथा सुना

रहे हैं : श्वेत-क्रांति की कथा का अथ प्रथमोध्याय। वे कह रहे हैं- 'बोर्ड गर अपनी स्थापना के लिए सीधे-सीधे किसी का ऋणी है, तो वे हैं लालबहादुर शास्त्री। शास्त्रीजी सन् 1964 में खेड़ा आए थे। उन्होंने सरसरी दौरे के बजाय रात गांव में बितायी। एक सामान्य कृषक का आतिथ्य कुबूल किया। देर रात तक मूंज की खाट पर बैठकर किसानों से बातें कीं। सरकारी डेयरियों का हश्च वे देख रहे थे। 'अमूल' की सफलता से वे विस्मित हुए। सफलता का राज जानने को वे और गहरे धंसे।' पाठक-मित्रों, क्या आप जानते हैं कि शास्त्रीजी ने जो राज जाना, वह क्या था?

वह अधूरा राज बकौल डॉ. कुरियन यह था कि 'अमूल' का प्रबंधन किसानों के हाथों में था। मगर समूचा राज यह है कि कृषक-प्रबंधन को डॉ. कुरियन जैसे जीवट भरे लगनशील व्यक्ति का नेतृत्व और फ्रेंडली-गाइडेंस हासिल था। शास्त्रीजी ने प्रांत-प्रांत में आणंद को दोहराने का निश्चय किया। अगले ही वर्ष एनडीडीबी अस्तित्व में आ गया। जमीन से उठकर शीर्ष तक पहुंचे शास्त्रीजी ने बोर्ड की बागडोर डॉ. कुरियन को सौंपी, जो तब 'अमूल' में महाप्रबंधक थे। शास्त्रीजी ने आणंद पैटर्न की स्थापना के लिए सारे राज्यों के मुख्यमंत्रियों को खत भी लिखे किंतु अधिकांश राज्यों में नौकरशाही को आणंद की अनुकृति रास नहीं आयी।

वर्ष 1966 में शास्त्री के काल कवलित होने से डॉ. कुरियन के मिशन को आघात तो लगा, किंतु वे हताश न हुए। छोटे कद के बड़े प्रधानमंत्री की स्मृति प्रेरणा बनी। विचारमंथन ने 'ऑपरेशन फ्लड' की नींव डाली। सन् 1968 में मुंबई, कोलकाता, दिल्ली और मद्रास में एक साथ 'ऑपरेशन फ्लड' का सूत्रपात हुआ। डॉ. कुरियन के मानस से प्रसूत यह मेगा प्रोजेक्ट था; एक ऐसा महत्वाकांक्षी और क्रांतिकारी प्रोजेक्ट, जो शुरू तो हुआ, लेकिन उसके लिए फंड नदारद था।

'सवाल था, अब क्या हो?' डॉ. कुरियन अतीत के पन्ने पलटने लगे। समय उड़ रहा था, मगर फाइलें रेंग रही थीं। डॉ. कुरियन ने न जाने कितनों के दरवाजे खटखटाए। कहीं नवाचार से विरक्ति आड़े आयी, तो कहीं लालफीताशाही। वे समझ गए कि टूटे तिलों से तेल नहीं निकलेगा। राज्य सरकारों से मिली निराशा ने अद्भुत युक्ति सिरजी। सन् 1970 तक वे केंद्र सरकार को योजना के क्रियान्वयन के लिए तैयार कर चुके थे। फंड के लिए उन्होंने विश्व खाद्य कार्यक्रम (वर्ल्ड फूड प्रोग्राम) से संपर्क साधा। बकौल डॉ. कुरियन- 'इट वाज ए ग्रैंड सक्सेस। वर्ल्ड फूड प्रोग्राम ने मुझे सूचना दी कि वह हमें पांच सालों में 126000 टन मिल्क पाउडर और 42000 टन बटर ऑयल दानस्वरूप देगा। इस आयल और पाउडर को वे समुद्र में डंप करने के मूड में थे, लेकिन हमने उन्हें मना लिया। हमने इसे बाजार में बेचा और इससे हमें 95.40 करोड़ रुपयों की आय हुई।'।

डॉ. कुरियन की इस हिकमत को क्या कहेंगे? 95 करोड़ रुपयों की इस गाढ़ी कमाई ने उनके हाथ यूं मजबूत किए कि उन्होंने फिर पीछे मुड़कर न देखा। इससे 'ऑपरेशन फ्लड' को गजब का प्रवाह और नैरंतर्य मिला। बीस साल के भीतर ही यह योजना 170 मिल्कशेडों, 64000 गांवों में फैल गयी। करीब साढ़े सात लाख मेंबरों को इसने परिधि में समेट लिया। ढाई सौ लीटर दूध-संग्रह का यह आंकड़ा बीस साल बाद 143 लाख लीटर तक जा पहुंचा। अमूल डेयरी और 'ऑपरेशन फ्लड' की कथा यकीनन बिंदु से सिंधु की गाथा है। इस दरम्यान कारोबार 1000 करोड़ रुपयों को लांघ गया। 'अमूल' का नाम घर-घर में पहुंच गया। उसने सरहदों को फलांगा। उसने सफलता ही अर्जित नहीं की, वरन कामयाबी का मानक रचा। इस पूरे दौर में डॉ. कुरियन ने कभी घड़ी की सुइयां नहीं देखीं। सुइयां अपनी गति से सरकीं, मगर डॉ. कुरियन के कामों, मुलाकातों और दौरों की गति ऐसी

थी कि सुइयां धीमी पड़ गयीं। वे उनकी गति से गति न मिला सकीं।

डॉ. कुरियन ने चमकीली बड़ी लकीर खींची; दूधिया लकीर। पर उनका उपक्रम लकीर खींचने तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने लगातार दायरा भी बढ़ा किया। वे त्रिज्या बढ़ाते गए। दूध, दूध से दुग्ध उत्पाद। फिर तेल, सब्जियां, वैक्सीन और नमक तक। बिक्री केंद्र पोर्टब्लेअर तक में खुल गया। आणंद, गुंटूर और जलगांव का दूध कलकत्ते तक जाने लगा। दूध, दुग्ध उत्पादों और खाद्य तेलों की आपूर्ति रक्षा मंत्रालय को होने लगी। पैनी नजर, सतत् निगरानी। कलकत्ता में मदर डेयरी। बड़ौदा में सुगम डेयरी। दिल्ली में फल और सब्जी परियोजना। सूरत में पैकेजिंग केंद्र। हैदराबाद में वैक्सीन निर्मात्री ईकाई। भावनगर में वनस्पति उत्पाद ईकाई। सन् 1991 में बोर्ड ने साबरमती क्षेत्र में अगारियों से एक लाख मीट्रिक टन नमक खरीदा और 'हंसा' ब्रांड नाम से बाजार में उतार दिया।

'तेलिया राजा मुझसे नाराज हैं'- डॉ. कुरियन ने हँसते हुए कहा था। बात सही थी। तेलिया राजाओं का बस चलता, तो वे डॉ. कुरियन को आणंद से दफा कर दम लेते। दरअसल, डॉ. कुरियन बाजार में 'धारा' तेल लाने से तेलिया राजाओं की आंखों की किरकिरी बने थे। मूंगफली की बंपर फसल के लिए विख्यात सौराष्ट्र के तेलिया राजाओं ने सन् 80 के दशक में मनोहरसिंह जडेजा के कस-बल ढीले कर दिए थे। तेल लॉबी कलाइयां तर करने का खेल बखूबी जानती थी। उसने पांसे भी फेंके। इसी तरह बहुराष्ट्रीय निगमों को 'अमूल' की सफलता कभी रास न आयी।

यह अकारण नहीं है कि एनडीडीबी को डॉ. कुरियन की जागीर बताकर उन्हें हटाने या उनके पंख कतरने का खेल आणंद से दिल्ली तक अनेक बार खेला गया। उसे आरके अमीन, चिमनभाई गामित और चिमनभाई मेहता सरीखे नेताओं का समर्थन मिला। कहने को चिमनभाई पटेल के भी तेलिया राजाओं से अच्छे और गहरे रिश्ते थे, लेकिन बेहतरीन कामों और बेनुक्स आचरण की वजह से डॉ. कुरियन का बाल-बांका न हुआ। कांग्रेसी राज में केंद्रीय शिखर नेतृत्व उनका कमोबेश प्रशंसक बना रहा। श्वेत-क्रांति से उन्हें ख्याति और सम्मान मिला। राष्ट्र ने उन्हें पद्मश्री, पद्मभूषण और कृषि रत्न से नवाजा। सामुदायिक नेतृत्व के लिए उन्हें रैमन मैग्सेसे अवार्ड मिला, तो नीदरलैंड के युवराज क्लाउस ने उन्हें कार्नेगी फाउंडेशन के 'वेटलर पीस प्राइज' से सम्मानित किया।

ढेरों तमगे, खिताब और अलंकरण डॉ. कुरियन के खाते में दर्ज हुए, लेकिन ये सब उनमें अहंकार न जगा सके। वे आडंबर और अहंकार से विरत रहे। आत्मश्लाघा उनमें रंच मात्र न था। वे अपने नहीं, अपने उपक्रमों के बारे में बातें करते थे। 'अमूल' का उजला विस्तार उन्हें सुख देता था; असीम सुख। उन्होंने शादी नहीं की। वे आजीवन अविवाहित रहे। उनका मिशन ही उनकी संगिनी था। उनका सदानीरा मिशन ही उनका स्मारक है; सतत् प्रवहमान और जीवंत।

आणंद में उनसे हुई मुलाकात अविस्मरणीय रही। यह एक ऐसी मुलाकात थी, जिसने उनसे फिर से भेंट की इच्छा जगायी थी। दैवयोग से यह इच्छा फलीभूत न हुई। वे कर्मयोगी थे। कर्हें तो अनासक्त कर्मयोगी। उनकी जीवनी लिखने की साध भी पूरी न हो सकी। 'ऑपरेशन फ्लड' की निरंतरता उनकी चिंता थी और इच्छा भी। बातचीत के समापन में उन्होंने कहा भी था कि व्यक्ति नहीं, मिशन कालजयी होते हैं। उनके मिशन ने ही उनके जीवन को सार्थकता दी।

आणंद जाओ तो डॉ. कुरियन बरबस याद आते हैं। आणंद में उनका परिमल व्याप्त है। 'ऑपरेशन फ्लड' उनका धवल स्मारक है। उनसे भेंट साहस और संकल्प से माड़ती थी। काश, उनसे एक नहीं, अनेक बार मुलाकात हुई होती। ●

मेरे जीवन में महात्मा गांधी

प्रहलाद रामशरण

आज से अस्सी साल पहले मॉरिशस के एक छोटे से ग्राम में जहां न कोई नाई, न दर्जी, न पंसारी की दुकान थी, मेरा जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था। वहां केवल एक सावर्जनिक नल था और उसी के पास था एक आर्य समाज का मंदिर, जहां मैंने स्वर, व्यंजन और बारहखड़ी सीखी थी। वहां से पांच-छह किलोमीटर की दूर पर था सरकारी स्कूल, जहां हिंदी नहीं, अंग्रेजी, फ्रेंच, भूगोल और गणित, क्रयोली माध्यम से पढ़ाई जाती थी जो हमारी समझ से परे की बात थी इसलिए अकसर एक ही कक्षा में दो-दो वर्ष बिताने पड़ते थे।

मैं इसी ग्राम में जब दस साल का हुआ तब भारत स्वतंत्र हुआ। 15 अगस्त 1947 को पास के दूसरे ग्राम में एक पंडित द्वारा भारत का स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया था, जिसमें भाग लेने के लिए, मेरे अपाहिज-दर्जी मामा द्वारा सिली गांधी टोपी पहनकर, मेरे भाई और मैं शामिल हुए थे। उसी उत्सव में मैंने एक भजन सुना था- 'यह हिंदी का झंडा आता है, सोने वालों जाग चलो।' यह गीत और इसका तर्ज 1910 से मॉरिशस में आर्यसमाज के पंडितों द्वारा, इस प्रकार से गाया जाता- 'यह ओम् का झंडा आता है, सोने वालों जाग चलो।' उस पंडित ने इस गीत के शब्द को बदलकर, अपने हित के लिए इसका प्रयोग किया था, यह बात बहुत आगे चलकर मुझे पता चली थी।

भारत की स्वतंत्रता के कुछ महीने बाद, जब महात्मा गांधीजी की हत्या हुई, यह तब की घटना है। मेरे पिताजी ने एक दूसरे ग्राम की पहाड़ी के ढलान पर चावल की खेती की थी। चावल फूटने लगा था और उसे चिड़ियों से सुबह-शाम बचाना पड़ता था। परिवार ने मुझे उसी ग्राम में रहने वाले मामा के घर छोड़ दिया था जिससे प्रतिदिन सवेरे ही मैं खेत पर चिड़ियों को भगाने चला जाता था। माताजी और पिताजी, आठ-नौ बजे, दूसरे ग्राम से भोजन लेकर आते थे। वे दिन भर खेत में निराई करते और तीसरे पहर को घर लौट जाते थे। मैं अकेले संध्या तक खेत में रह जाता था। गांधीजी की हत्या के दूसरे दिन, मैं सुबह से खेत में माताजी-पिताजी का इंतजार कर रहा था। आठ-नौ बजा, दस-ग्यारह फिर बारह बज गए, किंतु पिताजी-माताजी को न आते देखकर और भूख तथा प्यास से मैं घबरा गया तब, कोई एक-डेढ़ बजे, बड़े भाई को भोजन लेकर आते देखा। मैंने उनसे पूछा- 'मामा-पापा काहे खेत में काम करे नय अयलन जौ? भाई ने उत्तर दिया- 'तू नय जानेले। भारत में गांधी को मार देवल गैलबा। आज कोई काम पर नय गैलबा। गांव में जुलूस निकलल बा। सब लोग

गावत बा- 'रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम।' उस समय के ग्यारह साल के बालक को क्या पता था कि गांधीजी कौन थे, और उसी गांधी पर, वही बालक बड़ा होकर- किताब लिखकर लेखक के रूप में प्रसिद्ध होगा!

गरीबी के कारण, माध्यमिक शाला में फीस न चुका पाने के कारण, मुझे माध्यमिक स्कूल की शिक्षा से वंचित रहना पड़ा किंतु पढ़ाई करने के दृढ़ संकल्प से प्रेरित होकर, दिन भर तरह-तरह की मजदूरी करता और रात को देर तक पढ़ाई करता। इस प्रकार के दैनंदिनी जीवन जीकर 1965 में सरकारी स्कूल का हिंदी अध्यापक बना। तब भी बी.ए. तक की पढ़ाई करने के उद्देश्य से ट्यूशन द्वारा पढ़ाई जारी रखी। इसी अभियान के दौरान, महात्मा गांधीजी की जन्म शताब्दी आई और मॉरिशस की सरकार ने इसे मनाने की विधिवत् योजना बनाई। उन दिनों जिस स्कूल में मैं अध्यापन कर रहा था, उसके गैर भारतवंशी मुख्याध्यापक से मैंने कहा कि- महात्मा गांधीजी के जन्म दिवस पर स्कूल में मैं एक चित्र प्रदर्शनी करूंगा किंतु निर्धारित दिन से पूर्व मुझे उस स्कूल से शिक्षा मंत्रालय ने तबादला करके दूसरे स्कूल में भेज दिया। जिस दिन उस स्कूल से मेरी विदाई का समारोह किया गया, उस दिन मैंने अपने विदाई भाषण में- महात्मा गांधीजी के जीवन दर्शन पर एक भाषण अंग्रेजी में दे दिया, जिससे सुनकर मुख्याध्यापक ने कहा- 'मुझे मालूम नहीं था कि मेरे (स्टॉफ) अध्यापकों में एक भाषण दाता भी है।'

इसके अतिरिक्त उसी समय, स्थानीय हिंदी लेखक संघ ने 'गांधी स्मृति' नामक पुस्तक के लिए सामग्री मांगी और मैंने गांधीजी पर एक लेख दिया 'दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधीजी का कार्यकाल।' यही नहीं, इसी- जन्मशताब्दी के अवसर पर, नई दिल्ली स्थित अंतरराष्ट्रीय सहयोग परिषद् ने एक अंतरराष्ट्रीय निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया था, विषय था- 'भारत और आपके देश का सांस्कृतिक संबंध।' मैं मॉरिशस का एकमात्र प्रतियोगी था जो उसमें भाग लेकर पुरस्कृत हुआ था और लगभग एक साल बाद वह पुरस्कार लेने नई दिल्ली पहुंचा था। 19 जुलाई 1970 को नई दिल्ली के मावलंकर भवन में तत्कालीन रेल मंत्री गुलजारीलाल नंदा के कर कमलों से पुरस्कार लेकर, श्री वेंकटेश्वर कालेज में बी.ए. की पढ़ाई के साथ-साथ तीन हिंदी पुस्तकें लिखकर 1973 में मॉरिशस लौटा था। मैंने अभी पुरस्कृत निबंध में बताया था कि 1901 में मोहनदास करमचंद गांधी मॉरिशस पधारे थे और उन्होंने अपने एकमात्र भाषण में यह कहा था कि 'हमें अपने बच्चों की शिक्षा (पढ़ाई) पर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि शिक्षा के जरिए ही, हम अपने देश की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेकर अपने अधिकारों के लिए लड़ सकेंगे।'

मॉरिशस के अपने अल्प प्रवास के समय मोहनदास करमचंद गांधी को पता चला गया था कि उनके देशवासियों की सेवा के लिए एक योग्य बैरिस्टर की आवश्यकता है। छह साल बाद उन्होंने बड़ौदा के निवासी एक योग्य मणिलाल डॉक्टर बैरिस्टर को मॉरिशस भेजा। इस महान व्यक्ति ने तत्कालीन, नेतृत्वहीन भारतवंशियों की सेवा पांच साल तक की। अपने लंबे मॉरिशस प्रवास काल में उन्होंने 'हिंदुस्तान' समाचार पत्र को जन्म दिया, हिंदी शिक्षण की शुरुआत की, आर्यसमाज जैसी शक्तिमान संस्था को जन्म दिया। उन्होंने ही पूना से 'हिंदुस्तानी' के संपादन के लिए पं. आत्माराम विश्वनाथ को आमंत्रित किया और उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में 'वंदे मातरम्' गीत के जरिए,

देश के भारतवंशियों के हृदय में नवजागरण का बीज बोया। 1923 में उन्होंने 'मॉरिशस का इतिहास' 350 पृष्ठों का ग्रंथ और 1936 'हिंदू मॉरिशस' 450 पृष्ठ का ग्रंथ लिखकर, मॉरिशस के भारतवंशियों का गौरवगान किया। वे आजीवन अविवाहित रहे और मॉरिशस में हिंदी और हिंदुत्व का प्रचार-प्रसार करते रहे। उनका देहांत वहीं पर हुआ।

डॉ. शिवसागर रामगुलाम जिनका जन्म 1900 में हुआ था, और डॉक्टरी शिक्षा पाने के लिए विलायत गए थे, 1931 में उनकी भेंट महात्मा गांधी से हुई थी। मॉरिशस लौटकर वे महात्मा गांधी और मणिलाल डॉक्टर के बताए मार्ग पर चलकर भारतवंशियों का नेतृत्व कर रहे थे और जब भारत गणराज्य बना तब 26 जनवरी 1950 को डॉ. रामगुलाम ने मणिलाल डॉक्टर को पुनः उस महोत्सव में भाग लेने के लिए बुलाया। हवाई अड्डे पर, डॉ. रामगुलाम ने मणिलाल डॉक्टर के पैर पर साष्टांग दंडवत करके, उनसे आशीर्वाद लेकर, देश की राजनीति में सक्रिय रूप से पदार्पण किया। कहना न होगा कि उन्होंने गांधीवादी विचारधारा को अपनाकर, 1968 में मॉरिशस को आजाद किया। जब आजादी का दिन चुनने का प्रश्न आया, तो गांधीवादी डॉ. शिवसागर रामगुलाम ने, महात्मा गांधी के 'नमक सत्याग्रह' का दिन चुना, अर्थात् 12 मार्च 1968 को, उन्होंने स्वतंत्र मॉरिशस को एक झंडा, एक संविधान और एक कल्याणकारी राज देकर, हमेशा के लिए, मॉरिशस के राष्ट्रपति पद के अधिकारी बने।

बी.ए. करके लौटने के बाद, मैं शिक्षाधिकारी बना और तभी बीसवीं सदी में मॉरिशस के भारतवंशियों के उत्थान-पतन विषय गहराई से शोध करना प्रारंभ किया। इसके साथ-साथ नए तथ्यों से अपने ग्रंथों को सजाना प्रारंभ किया और एक के बाद एक मेरी पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं। मैंने अपने अनुसंधान के दौरान यह देखा कि मोहनदास करमचंद गांधी की विचारधारा से और मणिलाल डॉक्टर के पांच वर्षीय कार्यों से मॉरिशस के भारतवंशियों के जीवन में अभूतपूर्व विकास और परिवर्तन आया है। यदि 1901 में मोहनदास करमचंद गांधी और 1907 में उनके दूत मणिलाल डॉक्टर मॉरिशस नहीं आए होते, तो आज हम मॉरिशस के भारतवंशी जिस बेहतर स्थिति में हैं, शायद उस उन्नतिशील-प्रगतिशील अवस्था में नहीं होते। अतः मेरी लगभग 75 कृतियों और 'इंद्रधनुष' के 36 विशेषांकों में मॉरिशस के भारतवंशियों के जीवन की इसी विकास यात्रा का उल्लेख विस्तार से हुआ है, जिसे पढ़कर, मॉरिशस के साथ-साथ, देश-विदेश के विद्वान-विदुषी (आह्लादित) चमत्कृत हो जाते हैं।

यही नहीं, मैंने अपने शोध के दौरान यह देखा कि मॉरिशस का एक विद्वान महात्मा गांधीजी के मॉरिशस आगमन को लेकर बेबुनियाद बातों का प्रचार-प्रसार करता रहा, जिसका संशोधन करना आवश्यक था क्योंकि उस विद्वान ने मणिलाल डॉक्टर के कार्यों को नजरअंदाज करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से ऐसा किया था। अतः इस विषय पर मैंने गहराई से अनुसंधान करके, मोहनदास करमचंद गांधी के मॉरिशस आगमन को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पाठकों को जानकर आश्चर्य होगा कि क्या 1901 में और क्या आज भी, मॉरिशस के समस्त समाचार-पत्र, दैनिक अथवा साप्ताहिक केवल फ्रेंच में निकलते थे और आज भी निकल रहे हैं। आश्चर्य की बात यह है कि उन फ्रेंच भाषी पत्रों में मोहनदास करमचंद गांधी के आगमन पचास तक प्रवेश मिले हैं

जिसे मैंने यथोचित ढंग से अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। उस विद्वान की विडंबना तो यह है कि उन्होंने उन पचास प्रविष्टियों का उल्लेख न करके अपने पक्षपातपूर्ण मंतव्यों से मॉरिशस के साथ-साथ, देश-विदेश के पाठकों को इस महत्वपूर्ण विषय पर गुमराह किया है।

‘महात्मा गांधी और मॉरिशस पर उनका प्रभाव’ पुस्तक का प्रथम अंग्रेजी संस्करण 1995 में प्रकाशित हुआ था। 2001 में इसका फ्रेंच संस्करण और 2011 में इसी ग्रंथ का संशोधित एवं संवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ था। अतः इसी संशोधित एवं संवर्धित संस्करण का हिंदी रूपांतर हाल में प्रकाशित हुआ है। इस गंभीरता पर अभी हाल में मॉरिशस के राष्ट्रीय अभिलेखागार से एक दस्तावेज उपलब्ध हुआ है जो राजधानी पोर्ट लुईस के मारनी विभाग से प्रकाशित किया गया। उस दस्तावेज अनुसार 29 अक्टूबर 1901 को मोहनदास करमचंद गांधी अपने समस्त परिवार सहित मॉरिशस पधारे थे। दस्तावेज में वर्णित श्री और श्रीमती गांधी बच्चे (5) अर्थात् मोहनदास करमचंद गांधी, कस्तूरबा और बच्चे हीरालाल (जन्म 1888), मणिलाल (जन्म 1892), दामदास (जन्म 1894) और देवदास (जन्म 1900) किंतु देवदास शिशु होने के नाते यात्री नहीं गिने गए थे, इसीलिए कोष्टक में (5) अंकित हुआ है। यही नहीं एम.के. गांधी परिवार सहित प्रथम दर्जे (श्रेणी) में और पांच अंग्रेज यात्रियों के साथ आए थे जिनमें एक कप्तान और दो लेफ्टिनेंट और दो अन्य अंग्रेज यात्री थे। आज तक किसी भी मॉरिशसवासी को उपर्युक्त जानकारी नहीं रही है कि महात्मा गांधीजी अपने पूरे परिवार के साथ नौशेरा जहाज के प्रथम श्रेणी में मॉरिशस पधारे थे।

1988 से मॉरिशस में हमने ‘इंद्रधनुष’ नाम की शोध पत्रिका का विशेषांकों का प्रकाशन आरंभ किया और 1999 तक केवल हिंदी भाषा में निकलता रहा। 2000 से अब तक यह मॉरिशस की तीन मुख्य भाषाओं (हिंदी, अंग्रेजी, फ्रेंच) में निकलती आ रही है। मोहनदास करमचंद गांधी, डॉ. शिवसागर रामगुलाम, मणिलाल डॉक्टर, पं. आत्माराम विश्वनाथ आदि के अद्भुत कार्यों पर हमने ‘इंद्रधनुष’ के विशेषांक निकाले हैं। ‘इंद्रधनुष’ पत्रिका के जरिए हमने मॉरिशस के इतिहास के साथ-साथ वहां के हिंदी साहित्य को एक सही दिशा देने का प्रयास किया है।



शांतिनिकेतन के मोहनलाल वाजपेयी

अमृतलाल वेगड़

1948 के जुलाई के प्रथम सप्ताह में 20 वर्ष की आयु में कला का अध्ययन करने में शांतिनिकेतन जा पहुंचा। कला भवन के कच्चे आवास में अपना सामान रखकर मैं सीधे वाजपेयी से मिलने गया। उनका घर पास में ही था। वे मूलतः नबलपुर के पास नर्मदा नट पर स्थित मंडला के थे और वहां प्रवेश दिलवाने में मेरी सहायता की थी। घर के बाहर ठिठककर खड़ा हो गया। वे अत्यंत मधुर कंठ से आदि शंकराचार्य का नर्मदाष्टक गा रहे थे। हालांकि उस समय शाम हो रही थी लेकिन उनके कंठ से निकले इन श्लोकों को सुनना भोर में भैरवी सुनने से कम मोहक नहीं था। मैं मंत्रमुग्ध होकर सुनता रहा।

तब से आज तक अनेक स्थानों में अनेक स्वरों में मैं नर्मदाष्टक सुन चुका हूँ किंतु वह मिठास कहीं नहीं मिली। हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका शिवानी उनकी छात्रा रहीं। उन्होंने लिखा है 'वाजपेयी अलमस्त गुरु थे। हिंदी के अलावा वे मेरे संगीत शिक्षक भी थे। उनका कंठ बड़ा ही मधुर था। गालिब की गजलें बुंदेलखंडी लोकगीत और फाग बड़े ही भावपूर्ण ढंग से गाते थे। मेरी लेखनी सदैव कृतज्ञ रहेगी- हजारी प्रसाद द्विवेदी की और मोहनलाल वाजपेयी की।'

जब गान समाप्त हुआ तब अंदर गया। ऊंचा छरहरा बदन, आश्चर्यजनक रूप से सुघड़ नाक-नकश, काली आंखें और भरपूर बालों के कारण वे अपनी उम्र से पांच साल छोटे लग रहे थे। मैं झुककर उनके पांव छूने गया पर उन्होंने मुझे बीच में ही मृदुभाव से थाम लिया। मैं उनका छात्र तो नहीं था क्योंकि मैं कला भवन में था और वे हिंदी भवन में, किंतु मेरा उनके प्रति सदा वही भाव रहा जो एक छात्र का गुरु के प्रति रहता है। उनका व्यक्तित्व किसी को भी अपनी ओर अनायास खींच लेता था। मुझे देखकर बहुत खुश हुए। बाद में उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखा, 'जबलपुर मेरी मातृभूमि है और वह मेरे निकट सदा ही उस मंजूषा की तरह है जिसमें मनुज अपनी मूल्यवान धरोहर को बड़ी साध से रख छोड़ता है।'

शांतिनिकेतन में 5 वर्ष रहा। प्रायः रोज ही रवीन्द्र संगीत सुनने मिल जाता। किंतु शांतिनिकेतन जाते ही सबसे पहले मैंने जो सुना, वह था नर्मदाष्टक। क्या विधाता इशारों-इशारों में मुझे बता रहा था कि आगे जाकर मुझे कौन-सा काम करना है? लेकिन मुझ मंदबुद्धि को यह इशारा समझने में 30 साल लग गए। नर्मदा की पदयात्राएं 50 की आयु में शुरू कर पाया।

वाजपेयी से मैं मिलता रहता था। कभी हिंदी भवन चला जाता। वहां पं. हजारी प्रसाद द्विवेदीजी

के भी दर्शन हो जाते। कभी घर चला जाता जहां सुदर्शना देवी से भेंट होती।

वाजपेयी अत्यंत सुरुचि-संपन्न व्यक्ति थे। उनमें एक प्रकार का आभिजात्य था जो उनकी वाणी, वार्तालाप और वेशभूषा सभी में दिखाई देता था। उनका सान्निध्य अत्यंत सरस, ज्ञानवर्धक और आत्मीयतापूर्ण हुआ करता था। वे ज्ञान की ऊंची से ऊंची बात को सहज ढंग से कह जाते थे। हिंदी, अंग्रेजी और बांग्ला पर उनका असाधारण अधिकार था। बोलचाल और पत्रों में बुदेलखंडी शब्दों का सुंदर प्रयोग करते। पत्र-लेखन को उन्होंने कला का दर्जा दे रखा था। साफ-सुथरी मेज पर हिंदी और अंग्रेजी दोनों के टाइपराइटर रहते। यात्रा में पोर्टेबल टाइपराइटर रहता। एक उंगली से टाइप करते। बहुत पहले से ही वे राइटर्स क्रैम्प के शिकार हो गए थे, हाथ से लिखना उनके लिए संभव नहीं था। दस्तखत भी मुश्किल से कर पाते। पत्र को सीधे टाइप करने की उनमें अप्रतिम क्षमता थी। पत्र टाइप करने के पूर्व पूरे पत्र की एक स्पष्ट कल्पना उनके मन में रहती होगी। कहीं कोई काट-छांट नहीं, रद्दोबदल नहीं। पूरा पत्र सधा हुआ होता। उन्होंने कभी कोई पत्र जैसे-तैसे नहीं लिखा। फिर वह छोटा-सा पोस्टकार्ड ही क्यों न हो। उसमें भी वही परिष्कृत रुचि, शब्दों की दक्षता और भावों को जगाने वाली निपुणता। उनके पत्र पढ़कर आनंद की अनुभूति होती है- विशुद्ध साहित्यिक आनंद। इनमें हमें उनके साहित्य की एक मोहक छवि मिलती है। कुछेक पत्र उनकी आत्मकथा के बिखरे पन्ने जैसे हैं। उनके पत्रों का विनोद और उर्जस्वल उत्साह हमें लुभाता है। अचानक आए विचारों के अंकुर हमें चकित करते हैं। अधिकांश पत्र संक्षिप्त हैं। शायद उनका विश्वास रहा हो कि आप जितना कम बोलेंगे आपकी उतनी ही अधिक सुनी जाएगी। संचार-क्रांति के इस युग में पत्र-लेखन प्रायः समाप्त हो गया है। ऐसे में उनके पत्रों का महत्व और भी बढ़ जाता है।

कलाभवन के हमारे छात्रावास में कुछ कच्ची झोंपड़ियां भी थीं जो सीनियर छात्रों को दी जाती थीं। एक बार इन कच्चे आवासों में चूहों का उपद्रव बहुत बढ़ गया। परेशान होकर मैं एक चूहादानी ले आया। इस पर मैंने एक विनोदपूर्ण लेख लिखा और उसे हिंदी भवन में आयोजित छात्रों की साहित्य सभा में पढ़ा। अध्यक्ष थे मोहनलाल वाजपेयी। लेख में मैंने लिखा था, किसी ने हमें बताया कि चूहों की मूंछों के बाल से ब्रश बहुत अच्छे बनते हैं। अतः चूहों को दूर ले जाकर छोड़ने से पहले मेरे मित्रों ने पकड़े गए तीन चूहों की मूंछें काट लीं। जब चूहों की मूंछें काटी जा रही थीं, तब मैं अपनी मूंछों पर ताव दे रहा था।

मैं मूंछें नहीं रखता था, ऐसा विनोद मैं लिखा था। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में वाजपेयीजी ने कहा, 'अमृतलाल के लेख से हमें पता चला कि कभी उनकी मूंछें थीं। दूसरे लेख में वे यह बताएं कि अगर थीं तो कहां गईं। आशा है चूहे नहीं कुतर गए होंगे।'

3 दिसंबर 1952 को हम लोगों ने कला भव में आचार्य नंदलाल बसु का 70वां जन्मदिन मनाया। समारोह के अध्यक्ष थे वाजपेयी। नंदबाबू पोस्टकार्ड साइज के सादे कार्डों पर अत्यंत सुंदर स्केच बनाया करते थे। नंदबाबू पर अनेक लेख लिखे गए थे, किंतु वे सभी उनके चित्रों पर थे। मैंने उनके कार्डों पर लेख लिखा। शीर्षक था- 'आचार्य नंदलाल बसु के कार्ड।' वाजपेयीजी को लेख इतना अच्छा लगा कि उसे उन्होंने हैदराबाद भेज दिया जो उस समय की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'कल्पना' के अगस्त 1953 के अंक में सचित्र छपा।

अपने अध्यक्षीय भाषण में वाजपेयी ने कहा, 'हिंदी भवन में मैं नया-नया आया था। हजारी

प्रसादजी ने रोज ही मिलना होता था। एक बार उन्होंने कहा, 'हम लोग एक काम करें। अंग्रेजी में 'विश्वास भारती क्वार्टरली' और बांग्ला में 'विश्वभारती पत्रिका' त्रैमासिक प्रकट होते हैं। क्यों न हम लोग हिंदी में भी एक त्रैमासिक निकालें।' इस योजना को गुरुदेव का आशीर्वाद पहले ही मिल चुका था। दोनों तैयारी में जुट गए। एक सर्कुलर छपवाया। एक चिट्ठी के साथ पहला सर्कुलर गांधीजी को भेजा गया। अनेक राष्ट्रीय नेताओं और देश के अनेक विद्वानों को भेजा गया। सबसे पहला जवाब गांधीजी का आया जो आज भी शांति निकेतन के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें उन्होंने 'भाई हजारी प्रसाद' की चार पंक्तियों में अपनी हार्दिक शुभकामनाएं दी हैं। कम जवाब आए और चंदा तो और भी कम। फिर भी 1940 से हिंदी 'विश्वभारती पत्रिका' का प्रकाशन शुरू हो गया। पहले ही अंक में आचार्य नंदलाल बसु का एक महत्वपूर्ण लेख छपा। पंडितजी (हजारी प्रसादजी) और मैं नंदबाबू के पास गए और उनसे कहा कि कृपया रवीन्द्रनाथ के चित्रों के बारे में एक लेख हमें दीजिए न! उन दिनों रवीन्द्रनाथ के चित्रों के बारे में लोग बहुत कम जानते थे और समझते तो और भी कम। मास्टरमोशाय (नंदबाबू) अच्छा लिखते थे- बहुत ही अच्छा। तय हुआ कि हम लोग प्रश्न पूछेंगे और मास्टरमोशाय उनका उत्तर देंगे। लिखकर हम लोग उन्हें दिखाते और जब वे सही पाते तो हम उसका हिंदी अनुवाद करते। इस प्रकार यह लेख सर्वप्रथम हिंदी 'विश्वभारती पत्रिका' में छपा। मास्टरमोशाय महान कलाकार होने के साथ ही मौलिक चिंतक भी हैं।'

विनोद दा (महान चित्रकार विनोद बिहारी मुखर्जी और हमारे अध्यापक) से तो उनके घनिष्ठ संबंध थे। एक बार कहने लगे, 'हिंदी भवन के म्यूरल (भित्ति चित्र) बनाते समय विनोद दा मानो इस पृथ्वी पर नहीं थे। वे एक दूसरे ही लोक में थे। पूरा हॉल खाली कर दिया गया। पंडितजी ने कहा- हमें कोई जल्दी नहीं, आपको जितना समय लगे, खुशी से लीजिए। विनोद ने पंडितजी से कहा कि आप लोग इन संतों के वचन काटकर मुझे दीजिए ताकि मैं उन्हें म्यूरल में दिखा सकूँ। हजारी प्रसादजी ने जो दोहे छांटकर दिए, वे दोहे अमूल्य हैं। हिंदी साहित्य के रत्न हैं।

म्यूरल का काम पूरा हो गया। एक दिन की बात है। शाम अभी हुई नहीं थी। मास्टरमोशाय आए। उस समय हिंदी भवन में मैं अकेला ही था। मुझसे बोले, वाजपेयी, विनोद के म्यूरल कहां हैं? मैं उन्हें ले गया। एक छोर से दूसरे छोर तक, आहिस्ता-आहिस्ता सभी म्यूरल देखे। बाहर आकर बोले- बड़ो भालो काम होये छे। (बहुत बढ़िया काम हुआ है) बाद में यह बात मैंने विनोद दा को बताई। सुनकर देर तक चुपचाप बैठे रहे, कुछ बोले नहीं। मानो समाधि लग गई।

हमारे मूर्तिकला के अध्यापक थे रामकिंकर बैज- महान मूर्तिकार। विनोद दा और किंकरदा दोनों ही मास्टरमोशाय के छात्र थे और अब वे दोनों ही महान कलाकार थे। एक बार किंकरदा के बारे में वाजपेयी ने कहा- किंकरदा के घनिष्ठ संपर्क में मैं नहीं आया। किंतु एक बार की बात है कला भवन के छात्रों ने एक सभा का आयोजन किया और मुझे सभापति बनाया। सभा में किंकरदा के बोलने की कोई बात नहीं थी। हठात् किंकरदा बोले कि मैं कुछ बोलना चाहता हूँ। सभा ठीक ही चल रही थी, पता नहीं किंकरदा क्या कह दें, कहीं कोई बखेड़ा खड़ा न हो जाए। खैर, उन्होंने बोलना शुरू किया। वे चित्र और मूर्ति के बीच का अंतर समझाने लगे। पेटिंग फ्लेट सरफेस पर होती है, टू-डाइमेंशनल होती है और स्कल्पचर? हा, हा, हा! ठहाकर हँसे। स्कल्पचर, हा, हा, हा। फिर हँसे। फिर बोले- यह जो मां है.... सोई हुई है.... पास में बच्चा लेटा है... बच्चा चीत्कार कर

उठता है.... मां नींद में है, नींद में ही बच्चे को स्तन दे देती है.... बच्चा उसे पकड़ लेता है... तृप्ति के साथ स्तनपान करता है.... मानो सब कुछ मिल गया.... यह जो बच्चे का मां के स्तन को पकड़ना है, यही है स्कल्पचर।

सुनकर रोमांच हो आया था।

संभवतः 1950 की बात है। भूदान आंदोलन के सिलसिले में दादा धर्माधिकारी आए थे। पहले उनका भाषण बोलपुर में हुआ, फिर शांतिनिकेतन में। दादा को मैं जबलपुर में सुन चुका था। अद्भुत वक्ता थे। चीना भवन के प्रांगण में आयोजन था। काफी अध्यापक और छात्र आए थे। वाजपेयी भी आए थे। अपने भाषण में रवीन्द्रनाथ की कविताएं मूल बांगला से सुनाकर उन्होंने श्रोताओं को चकित कर दिया। और उनका जो अर्थ किया, वह तो और भी चकित कर देने वाला था। मेरे बंगाली मित्रों ने कहा कि ऐसा तो हमने कभी सोचा ही न था। दादा गांधीवादी विचारक थे। 'कला के लिए कला' सिद्धांत को नहीं मानते थे। उनका कहना था कि कला जीवन के लिए होनी चाहिए। इस बात को उन्होंने इस प्रकार कहा-

एक सेठ था। एक बार ताजमहल देखने गया। साथ में अपने ड्राइवर को भी लिया। उसे भला ताजमहल देखने का मौका कब मिलेगा? ताजमहल दिखाते हुए सेठ ने कहा, 'यह दुनिया की सबसे सुंदर इमारत है। पूरी की पूरी संगमरमर से बनी है। इसकी दीवारों में अद्भुत नक्काशी की गई है। सारी दुनिया से लोग इसे देखने आते हैं।' सुनकर ड्राइवर ने कहा, 'यह सब तो ठीक है। लेकिन यह क्या? क्या यह कोई धर्मशाला है? पाठशाला है? या कोई अस्पताल है?' सेठ ने कहा, 'यहां मुमताज महल का शब दफनाया गया है।' ड्राइवर ने कहा, 'क्या? दुनिया की सबसे खूबसूरत इमारत, पूरी की पूरी संगमरमर से बनी इमारत, आखिर एक श्मशान है?'

शांति निकेतन के छात्रों! तुम्हारी कला सुंदर से सुंदर हो, अद्भुत हो, पर ऐसा न हो कि अंत में श्मशान निकले।'

इसी के साथ उन्होंने अपना भाषण समाप्त किया। उनकी अद्भुत भाषा मुझे याद नहीं, पर आशय यही था। भाषण में वाजपेयी जी शुरू से ही उपस्थित थे। उन्होंने कहा, 'यह साहित्य है। इसे छपना चाहिए।' कवि भवानी प्रसाद मिश्र और वाजपेयीजी अभिन्न मित्र थे। जबलपुर में कॉलेज में साथ पढ़े थे। भवानी प्रसाद मिश्र भी गांधीवादी थे और दादा धर्माधिकारी के बहुत बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने लिखा है, 'जो दादा को एक बार भी सुन चुके हैं, वे जानते हैं कि उनका बोला हुआ शब्द किस प्रकार एक अरसे तक भीतर गूंजता रहता है। काका कालेलकर के साथ 'सर्वोदय' में लिखते थे- तो समझ में आया, जिसे विचार करना आ गया और भाषा जिसके इशारे पर उठती-बैठती है- वह कैसा लिखते हैं।... एक धिक्कार हिंदी वालों को। विनोबा, काका साहब और दादा ने हिंदी को कितना दिया है- विचार और भाषा दोनों की दृष्टि से, मगर ये इनको अपनाते का ख्याल ही अपने मन में नहीं जगा पाए हैं। एक विधि जैसे हमारे तटों पर लहरों में आती है और टकराकर लौट जाती है। मगर कब तक? एक दिन हम लहरें तो लहरें इनकी छिटकी हुई बूंदों को भी मोतियों की तरह बीनते फिरेंगे।'

एक बार हजारी प्रसादजी ने और वाजपेयीजी ने सोचा कि हिंदी में एक नाटक खेला जाए। इसके लिए प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' चुनी गई। नाटक कोई 40-45 मिनट का होगा।

हजारी प्रसादजी ने उस कहानी का नाट्य-रूपांतर किया। रिहर्सल शुरू हुए। एक लड़की थी प्रतिभा अग्रवाल। वह हिंदी भवन की छात्रा थी। वह बनी वाजिद अली शाह। वाजिद अली जरा जनाना किस्म के जनाब थे। कोई लड़की अगर वाजिद अली शाह बनती है, तो उसमें यह भाव अनायास आ जाएगा। फिर उसका डील-डौल भी अच्छा खासा था। वाजपेयी का उसमें डबल रोल था। नवाब बने हमारे कला भवन के दो छात्र अद्भुत थे ये दोनों। नियत संवाद तो बोलते ही थे, स्वतः स्फूर्त संवाद भी बोल जाते थे जो बड़े सटीक और सजीव होते थे। मंच-सज्जा किंकरदा की थी। कम संसाधनों से उन्होंने लखनऊ के नवाबों के महल का हू-ब-हू माहौल खड़ा कर दिया। नाटक बहुत सफल रहा। बाद में प्रेमचंदजी के बेटे ने किसी से इस नाटक के बारे में सुना तो उन्होंने वह नाट्य रूपांतर मंगवाया। बाद में इसका अनुवाद भी हुआ और वह तो छपा भी।

कॉलेज के दिनों से ही वाजपेयीजी, श्री अरविंद और श्री माताजी के भक्त रहे। शांति निकेतन से छुट्टियों में प्रायः पांडिचेरी चले जाते। श्री अरविंद और श्री माताजी के साथ उनके आंतरिक तार ऐसे जुड़े थे कि रिटायर होते ही पत्नी सुदर्शना के साथ पांडिचेरी चले गए। वाजपेयी के ही शब्दों में, 'लोग हमें प्रायः पूछते कि आप तो शांति निकेतन के लोग हैं, शांति निकेतन छोड़कर यहां कैसे आए।' मेरी भक्ति शुरू से ही रवीन्द्रनाथ और श्री अरविंद के प्रति समान भाव से रही। जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ के चरणों में नत हुआ हूं, उसी प्रकार श्री अरविंद और श्री मां के चरणों में भी नत हुआ हूं। मेरे गुरु दोनों जगहों पर हैं। मुझे दोनों जगह समान आश्रय मिला है। ये दोनों ही स्थान मेरी जीवनधारणा में रच-बस गए हैं।' पांडिचेरी से 30 मार्च 1988 को मुझे लिखे एक पत्र में उन्होंने लिखा था, 'मैं और सुदर्शना अधिकतर यहां आश्रम में ही रहते हैं, शांति निकेतन जाना कम ही होता है तथापि शांति निकेतन आज भी हमारा नीड़ है। पांडिचेरी आकाश/पंछी को तो दोनों का ही प्रयोजन होता है न।'

एक बार दीक्षांत समारोह में डॉ. राधाकृष्णन आए थे। आम्रकुंज में भव्य समारोह हुआ था। सभी विभाग देखते हुए वे हिंदी भवन पहुंचे। मैं वहां था। उन्होंने हजारी प्रसादजी से पूछा, 'राष्ट्रभाषा के रूप में आप किसे चाहेंगे- हिंदी को या हिंदुस्तानी को?'

पंडितजी ने नम्रतापूर्वक कहा, 'हिंदी को।'

मैं संभवतः तृतीय वर्ष में रहा पंडितजी शांति निकेतन छोड़कर बनारस हिंदू विश्वविद्यालय चले गए। वाजपेयी 1955 से 1959 तक रोम विश्वविद्यालय में हिंदी के प्रोफेसर रहे। वाजपेयी और सुदर्शनाजी जल्दी ही इतालवी बोलना सीख गए। वहां के अधिकारी इनके काम से इतने प्रसन्न थे कि उन्हें और भी रहने के लिए कहा गया लेकिन उन्हें अपने शांति निकेतन की बहुत याद आई थी। देखिए यह पत्र, 'शांति निकेतन से बेहद लगाव हो गया है। कितना लगाव हो गया है इसका ठीक-ठीक पता मुझे तब चला, जब मैं इटली में था। वहां रहते होम-सिकनेस के विषाद ने मुझे घेर लिया। मन में बार-बार विचार आता, अगर सात दिन के लिए शांति निकेतन हो आऊं तो यहां बरस पर बरस रह सकता हूं। सात दिन न सही, केवल तीन दिन के लिए शांति निकेतन जा सकूँ तो फिर यहां रहा जा सकता है। कहां जाने की इच्छा हुई? शांति निकेतन मध्यप्रदेश में घर है, बंधु-बंधव हैं, नाते-रिश्तेदार हैं, लेकिन याद सताती थी शांति निकेतन की। तब समझ में आया कि शांति निकेतन मेरे व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग हो चुका है। विदेश जाकर मानो मैंने शांति निकेतन

का आविष्कार किया।

अपना अध्ययन पूरा करके मैं घर जबलपुर आ गया। लेकिन वाजपेयी से संपर्क टूटा नहीं, और भी प्रगाढ़ हो गया। जब वे और सुदर्शनाजी जबलपुर आए थे तो हमारे घर भोजन करने पधारे थे। हम दोनों भी पांडिचेरी उनके घर हो आए थे। देखिए यह पत्र- प्रिय बहन कांता, प्रिय अमृतभाई, तुम दोनों तो हवा के झोंके की तरह आए और निकल गए, पर चले जाने पर अचानक इतना सूना लगेगा, इसका अंदाज नहीं था। गुसाईजी ने दुर्जन-सज्जन से मिलने-बिछुड़ने की बात थोड़े से परिहास के सुर में बड़े अनूठे ढंग से कही थी- मिलन एक दारुन दुःख देहीं। बिछुरत एक प्रान हर लैही।

परिक्रमा तुम करते हो, फल हम उठाते हैं। रेवा- प्रदक्षिणा के सहारे तुमने तटवर्ती सहज-सरल जीवन-यात्रा को बड़ी ममता से अपने लेखों और चित्रों में बांध लिया है। तुम्हारे पांव और तुम्हारी कलम दोनों गतिशील बने रहें, यही कामना है। (23.01.1996)

एक बार मेरी पत्नी कांता पुत्र-परिवार तथा अन्य स्वजनों के साथ दक्षिण भारत की लंबी यात्रा पर निकली थी। यह दल अचानक वाजपेयीजी के घर जा पहुंचा। तब आया यह पत्र-

हम लोग कहानियों में सुनते हैं, एक किस्म की मैजिक कार्पेट होती है जिस पर लोग बैठते हैं और वह उन्हें जहां चाहो, उड़ा ले जाती है। कल दोपहर को कुछ ऐसा ही हुआ। घंटी बजी और हमने दरवाजा खोला तो देखा कि तीर्थयात्रियों की एक टोली सामान उतार रही है। पहले तो मैंने पहचाना नहीं, क्योंकि ऐसे किसी के आने की आशा नहीं थी, मगर जब कांता ने परिचय दिया तब तो फिर क्या कहते हैं? कल तो ऐसा लगा कि आनंद कोई अप्राप्त वस्तु नहीं, वह बहुत थोड़े-से उपकरणों से बिलकुल अनायास ही सुलभ हो सकता है मगर मैजिक कार्पेट का एक दोष है; वह जैसे अचानक ले आई है, वैसे ही अचानक उड़ाकर वापस भी हो जाती है। रात होते न होते जब सब कुछ सूना हो गया तब हम सोचने लगे, क्या कोई सचमुच आया था? शायद यथार्थ और कल्पना के बीच कोई ऐसी दुर्लभ दीवार नहीं होती जैसी लोग कहते हैं। तमाम वृत्तांत जब मुसाफिर लौटें, तब उन्हीं से सुनना।

मैंने पहली गलती यह की कि कांता को पहचाना नहीं दूसरी यह कि उन लोगों को बाहर खाने के लिए पठाए दे रहा था। यह तो गनीमत हुई कि कोई बाहर जाने के लिए हिला नहीं और तब तक सुदर्शना ने मंच पर प्रवेश करके मुझे विंगज में खड़ा कर दिया। बात बिगड़ते-बिगड़ते संभल गई। कांता को तो सुदर्शना अपने परिचय की गिनी-चुनी आदर्श गृहिणियों में गिनती हैं।

‘सौंदर्य की नदी नर्मदा’ की प्रस्तावना इस बार साथ है- वह जिस लायक भी हो। प्रस्तावना शब्द के भीतर ही मेरा उत्तर छिपा हुआ था- यानी प्रस्ताव को ना हो जाना चाहिए, मगर ऐसा हुआ नहीं। सुनो भाई, मुझसे यह सब कभी नहीं बनता था और अब तो बेहद कठिन हो गया है इसलिए मेरी ‘ना’ बहुत वाजिब ही मानी जानी चाहिए थी पर न मैं ना कर पाया, न तुमने करने दी। काम किसी तरह से हो गया। इतनी लंबी न होनी चाहिए था प्रस्तावना को, मगर आजकल शायद बुढ़ापे के प्रभाव से मैं कुछ ज्यादा ही बोलने लगा हूँ लेकिन जब जान ही गया तो अब बोलना बंद करता हूँ। प्यार लो- भैया

उस अद्भुत प्रस्तावना के केवल कुछेक वाक्य यहां दे रहा हूँ-

चित्र की साधना करते-करते अमृतलाल ने भाषा को किस प्रकार साध लिया, यह एक रहस्य

है। अवश्य ही वे कोई भारी-भरकम भ्रमण-वृत्तांत लिखने नहीं बैठे; उनकी गायकी ध्रुपद की नहीं, लोक गीत की है, जिसमें मनुष्य के सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव, धूप-छाँह कब आते और चले जाते हैं- आहट ही नहीं मिलती। यह सहज भाषा की सिद्धि है, जिसे सजने-संवरने का आग्रह होता है, न प्रयोजन। अमृतलाल के शब्दचित्र और रेखाचित्र बहुत घनिष्ठ सजातीय हैं। रेखाचित्र पुस्तक की सज्जा नहीं, पसंद हैं, वे अनुभव और अनुभूति के क्षणों को जीती-जागती धरोहर के रूप में संरक्षित किए हुए हैं। समय उनमें जैसे रूक गया है, पर अपने हृदय की धड़कन के साथ। नर्मदा के नाते ये सभी मानो अमृतलाल के बहुत अपने हैं- 'नावे सबै राम के मनियत सुहद सुसेव्य जहां लो।' नदी-नाव-संजोग से न जाने कितने लोगों के साथ अमृतलाल का परिचय होता है, जिनसे अविस्मरणीय शब्दचित्र उसने अपनी सधी हुई कलम से आंक दिए हैं। उन्होंने जो कुछ देखा-सुना और जाना-बूझा, अतुलनीय है। उनकी पदयात्रा के साथ एक अंतर्यात्रा भी चलती रही है। उनकी पदयात्रा अभी भले ही समाप्त न हुई हो पर अपने आप में पूरी है। ओस के कण में जितना भी आकाश प्रतिबिंबित होता है, वह आकाश ही है इसलिए अपने आप में पूरा है तथापि अमृतलाल के अंतर के किसी कोने में अतृप्ति बनी हुई है, तो उसे वहां बने रहने का अधिकार है : 'जनम अवधि हम रूप निहारिनु, नयन न तिरपत भेल।'

इसी पुस्तक की एक प्रस्तावना रमेशचंद्र शाह ने भी लिखी है। वाजपेयी की प्रस्तावना मैंने उन्हें भेजी तो उन्होंने लिखा- वाजपेयी की लिखी हुई प्रस्तावना पढ़कर मैं अभिभूत हूं। इससे बढ़िया, इससे अधिक मर्मस्पर्शी और न्यायकारी प्रस्तावना लिखी नहीं जा सकती। मुझे व्यक्तिगत तौर पर भी इस बात का बड़ा संतोष है कि जिस पुस्तक ने मुझे इतना परितोष दिया, उसका आमुख एक मर्मग्राही, सचमुच लेखक के स्वभाव और अभिव्यक्ति की विशिष्टता को उद्घाटित करने में सक्षम, गुणग्रहण प्रवण, समीक्षकीय पैठ और रसिक सहृदयता दोनों से भरपूर, विद्वत् के हाथों लिखा गया है। मेरा यह उल्लसित कृतज्ञ साधुवाद आप वाजपेयी तक अवश्य पहुंचा दें। मैं, सच, बहुत ही आनंदित हूं इसे पढ़कर।

जिनकी लिखी केवल एक प्रस्तावना रमेशचंद्र शाह जैसे बड़े लेखक को इतना आह्लाद दे सकती है, तो साहित्य तो उनके सृजन से समृद्ध ही होता लेकिन नहीं लिखा क्यों? पढ़िए-

'मेरे मन में इस तरह का भाव कभी नहीं रहा कि दुनिया को देने के लिए मेरे पास कुछ विशिष्ट है और अगर मैं यह प्रदान नहीं करूंगा तो दुनिया इससे वंचित रह जाएगी। कुछ सर्जकों के मन में इस प्रकार की व्याकुलता रहती है। मेरे मन में इस तरह का विचार कभी नहीं रहा। अपने आपको साहित्यकार कहने में मुझे संकोच होता है। हां, साहित्यकारों का साहचर्य अवश्य मिला, इसके चलते साहित्य का रस भी मिला। मेरी योग्यता से अधिक मिला। मुझे कुछ देना है- यह विचार मन में कभी आया ही नहीं, आज भी नहीं। स्नेही जन अवश्य पूछते हैं कि अब तो आप रिटायर हो गए, बहुत कुछ लिख सकते हैं। यह उनका बड़प्पन है जो मुझमें ऐसी योग्यता पाते हैं लेकिन मुझे नहीं लगता कि मेरे पास कुछ विशेष है जो मुझे साहित्य जगत को दे ही देना चाहिए।'

ऑब्जेक्शन माई लॉर्ड। यह तर्क हमें स्वीकार नहीं। आपने लेखक के नाते समाज को अपना ऋण नहीं चुकाया।

शांतिनिकेतन से सेवानिवृत्त होने के बाद 1986 में जब पांडिचेरी स्थाई रूप से चले गए तब

पत्नी सुदर्शना छाया की भांति उनके साथ हो लीं। पुत्र-परिवार का सहज स्वाभाविक आकर्षण इन दोनों के संकल्प को डिगा न सका। कोई 17 बरस तक पांडिचेरी में रहने के बाद 2000 में वे पुनः शांतिनिकेतन वापस आ गए। अंत-अंत तक वाजपेयीजी की विनोद-वृत्ति बनी रही। एक आंख की ज्योति पहले ही चली गई थी और दूसरी में केटेरेक्ट और ग्लूकोमा दोनों थे। मुझे फोन पर कहा, 'मेरी आंख में केटेरेक्ट और ग्लूकोमा का मणिकांचन योग हुआ है।'

87 वर्ष की आयु में 2003 में उनका निधन हुआ। जिनमें शील और मेधा का मणिकांचन योग हुआ था ऐसे वाजपेयीजी अपनी प्रतिभा का कोई स्थायी चिह्न छोड़े बिना इस संसार में से चले गए। अद्भुत प्रतिभा के धनी होते हुए भी उन्होंने एक खामोश इनसान होना पसंद किया, जिसे सफलता या प्रसिद्धि का लालच छू तक न सका। जो आंतरिक सौंदर्य को प्राप्त कर लेते हैं उन्हें भला और क्या चाहिए?

उनके निधन के कोई तीन वर्ष बाद सुदर्शनाजी के दो पत्र आए-

प्रिय भाई,

कई बार ऐसा हुआ है- वे चुपचाप आँखें बंद किए लेटे हैं और अचानक कहते- वो पुस्तक जरा देना तो। मैं पूछती, कौन-सी? कहते-अरे वही जो जिसे थोड़ा-सा पढ़कर मन प्रसन्न हो जाता है। मैं फिर पूछती, कौन-सी? अरे वही जो मुझे अत्यंत प्रिय है। मैं कहती- 'सौंदर्य की नदी नर्मदा?' कहते- हां, हां, वही। सुदर्शना

अब दूसरा पत्र-

प्रिय भाई, इनके विदा लेने के कुछ दिन पहले की यह लेखनी है। मुझे याद है एक दिन ये छत पर बैठे थे। अभी सूर्य डूबा नहीं था। अचानक उन्होंने कहा- जरा कलम देना। मैं थोड़ा चकित हुई कि लिखना इनका प्रायः बंद है। अचानक क्या मौज आ गई। खैर मैंने कलम ला दी। सामने पुराना-सा कागज का टुकड़ा पड़ा था। उसी को खींचकर यह कुछ लिख डाला, सो आपको भेज रही हूँ। सुदर्शना (20.03.2006)

वाजपेयी ने कांपती उंगलियों से लिखा था-

प्यारे अमृतलाल भाई, 'अमृतस्य नर्मदा' की दो प्रतियां मिली।' यानी हम मालामाल हो गए। बहुत सार्थक नाम दिया है तुमने- तुम नर्मदा के और नर्मदा तुम्हारी। दोनों को कोई कैसे अलग करे? बहुत सुसंपादित हैं पुस्तकें। बस, पढ़ते ही रहना। उधर कोई कविता लिखे तो स्वर्गीय भवानी प्रसाद मिश्र जैसी।

पढ़कर आँखें भर आईं। जाते-जाते मुझे अपने स्नेहाशीष देते गए और अपने प्रिय कवि और मित्र भवानी प्रसाद मिश्र को याद करते गए।

मेरे पास वाजपेयीजी के कई पत्र हैं- अधिकांश साफ-सुथरे कागज पर टाइप किए हुए- सर्वांग सुंदर और त्रुटिहीन। लेकिन पुराने बदरंग-से कागज के टुकड़े पर लिखा आधा-अधूरा और बिना हस्ताक्षर वाला यह पत्र तो अविस्मरणीय है। कागज का टुकड़ा पुराना है तो है। 'मोल करो तलवार का, पड़ा रहने दो म्यान!'



गाकर पढ़ानेवाले मास्साब

ज्ञानप्रकाश विवेक

हमारा स्कूल जो कि हाई स्कूल था, जिसकी इमारत पुरानी थी और कुछ कमरे, कमरों के साथ बरामदा नया-नया बना था- ऐन सड़क पर खड़ा था। दिल्ली-रोहतक रोड पर फर्रटि से गुजरती रोडवेज की बसें और अशोका लेलैंड के ट्रक शोर-सा छोड़ जाते। थोड़ा-सा शोर स्कूल के भीतर भी प्रविष्ट हो जाता। उस शोर का, रामलाल चतुर्वेदी कुछ न कर पाता। वो स्कूल के गेट के पास स्टूल बिछाकर बैठा रहता। वहीं, हेडमास्टर साहब का दफ्तर था। वहीं, पीतल का घंटा था। हर चालीस मिनट के बाद रामलाल चपरासी घंटा बजाता। टन्न की आवाज दूर गूंजती चली जाती। वक्त के साथ-साथ टन की आवाज बढ़ती चली जाती। आठवें पीरियड के बाद छुट्टी की घंटी बजती। बच्चे अपना बस्ता उठाकर ऐसे भागते जैसे चूहेदान खुलने पर चूहा भागता है।

स्कूल का बहुत बड़ा प्लेग्राउंड था- एक तरफ फुटबाल ग्राउंड तो दूसरी तरफ बास्केटबॉल, वालीबाल, बेडमिन्टन वगैरा। हाकी, फुटबाल ग्राउंड में ही खेला जाता। स्कूल की चारदीवार कहीं ऊंची तो कहीं बहुत छोटी थी- करीब तीन फुट। जब मन करता हम चारदीवारी फांदकर परली तरफ चले जाते। यूं ही, बेवजह, मटरगश्ती, गप्पबाजी। स्कूल की चारदीवारी फांदते ही आजादी का अहसास होता।

करीब एक मील दूर नहर पड़ती थी। हम दौड़ लगाकर नहर पर पहुंचते। कमीज निककर उतारते। नहाते। छपाक-छपाक पानी। शैतानियां। खेल। भीगे हुए कच्छों पर निककर डालकर, कमीज से बदन को पोंछकर और उसी कमीज को पहनकर वापिस स्कूल, क्लास में जा बैठते। इस बीच सिर के बाल तो सूख जाते लेकिन भीगा हुआ कच्छा तंग करता रहता। कभी-कभी हम इस खुराफात को छुपा नहीं पाते थे। पकड़े जाते और मास्टरजी हमारी खूब ठुकाई करते।

सर्दियों में सर्द हवाएं चलतीं। स्कूल के भीतर नीम और शीशम के दरख्त झूमते, लेकिन बच्चे कांप रहे होते। हम स्कूल ग्राउंड में फैली धूप में खुद को स्थापित करते लेकिन शीत लहर हमें विस्थापित करती रहती। स्कूल के चारों तरफ, नहीं तीन तरफ, खुला मैदान था- दूर तक बयाबां। आधा मील दूर भट्टे थे। भट्टे की ईंटें पक रही होतीं। ईंधन, धीरे-धीरे ईंटें पका रहा होता। हम बच्चे पक रही ईंटों पर जा खड़े होते। मंद-मंद आंच सकून देती। चारों तरफ चलती सर्द हवाओं के बीच, भट्टे किसी, ऐसे टापू की तरफ थे, जहां हम खड़े होकर शीत लहर से लड़ सकते थे लेकिन यह सकून थोड़ी देर का होता। स्कूल की घंटी बजती। आवाज भट्टों तक सुनाई देती। हम भागते-दौड़ते

स्कूल पहुंचते। प्रार्थना के लिए जहां कतार में बच्चे खड़े होते, हम भी उनमें शामिल हो जाते। कुछ बच्चे हाथ जोड़कर, आंखें मूंदकर खड़े होते तो कुछ, अपनी दोनों बाहें, छाती से चिपकाए, दोनों हाथ बगल में दबाए, खुली आंखों के साथ प्रार्थना करते। ऊंचे स्वर में सब, सस्वर गा रहे होते- तू दानी है, दयालू है, तेरा दरबार आली है/तेरे दर पर जो आता है/वो झोली भरके जाता है।... दया कर दान भक्ति का हमें परमात्मा देना/दया करना हमारी आत्मा को शुद्धता देना।

हमारा दिल करता कक्षा में न जाना पड़े और सारा दिन खड़े हुए हम प्रार्थनाएं गाते रहें। क्या पता, इतनी सारी प्रार्थनाएं सुनकर, ईश्वर हमारे पास चला आए और पूछे- क्या कष्ट है बच्चों? हम बताएं कि फलां-फलां मास्साब हमें बहुत मारते हैं, जरा इनकी अक्ल ठिकाने लगा दो लेकिन हमारी चाहतें कभी पूरी नहीं हुई थीं। न सारा दिन प्रार्थना हुई न ईश्वर अपने सारे जरूरी काम छोड़कर जमीन पर उतरा न मास्टर साहेबान को सद्बुद्धि हासिल हुई।

सर्दियों की सुबह हम भट्टों की पकती ईंटों पर कल्पना करते कि मास्टरजी यहां आकर 'कक्षा' लगाएं तो कितना अच्छा हो लेकिन हमारी तमाम कल्पनाएं जख्मी परिंदों की तरह फड़फड़ाकर नीचे आ गिरतीं।

चारदीवारी की दूसरी तरफ कच्चा रास्ता था। रास्ता बराही गांव को जाता था। रास्ता इतना कच्चा था कि चलते वक्त बालू में पांव धंस जाते। जूते जब उठते तो रेत की छोटी-सी दुनिया हलचल पैदा करती। फिर रेत अपनी जगह बैठ जाती लेकिन बैठते-बैठते वो पांव का निशान बना देती। सड़कों के पास पैरों के निशान नहीं थे। लेकिन कच्चे रास्ते इस मामले में समृद्ध थे। हजारों-हजार पांव के निशान रेत पर तहरीर हो जाते। पैरों के निशान मिट जाते फिर बन जाते। ऐसा लगता, ये तमाम निशान, रास्तों की अकथ कहानियां हैं।

कच्चे रास्ते का एक फायदा यह भी था कि बच्चे कमीज-पजामा उतारते। रास्ते के बीच एक लकीर खींचते और कबड्डी-कबड्डी खेलने लगते। क्लास रूम में मास्टर साहब पढ़ा रहे होते, बच्चे, कबड्डी खेल रहे होते। हैडमास्टर साहब तक शिकायत पहुंचती। वो अपने काले 'रूल' से सब लड़कों की पिटाई करते। फिर गमजदा होकर अपने आफिस में बैठ जाते-चुपचाप। हैडमास्टर साहब की अजीब फितरत थी, कभी बेहद खुश, कभी बेहद उदास।

पांडेय सर संस्कृत पढ़ाते। उनका पढ़ाना अच्छा नहीं था। सब बच्चे बोर हो जाते लेकिन उनका वेद ऋचाओं और श्लोकों को 'गाकर' सुनाना अद्भुत था। वो सोम के सोम, हवन के बाद, श्लोक सुनाते। सबके सब अभिभूत। सन्नाटा और एक आवाज पांडेय सर की। गूंजती हुई। दूर तक...। पेड़, पौधे, पक्षी सबके सब ध्यान मग्न।

पांडेय सर जितने अच्छे श्लोक सुनाते, उतना खराब उनका पढ़ाने का अंदाज। तब वो बेहद रूखे, गुस्सैल और उबाऊ किस्म के मास्टरजी हो जाते।

पांडेय सर के विपरीत एक अन्य मास्टरजी थे- पकी उम्र के, लंबे, ऊंचे, बूढ़े लेकिन विश्वनीय व्यक्तित्व। चिंतक जैसे सोचते हुए-से। बच्चों से स्नेह रखनेवाले। डंडे को कभी हाथ नहीं लगाते थे। पढ़ाते तो लगता कोई ऋषि ध्यान यात्रा से गुजर रहा है।

वो खाकी पतलून और सफेद कमीज पहनते। कमीजें कभी-कभी नीली या मटमैली भी हो जातीं। लेकिन पतलूने हमेशा खाकी। एक दिन उन्होंने इसका मतलब अपने दूसरे मास्साब को बताया कि

खाकी का मतलब नश्वर!

मास्टर साहब से कोई दूसरा, कम उम्र का, माडर्न किस्म का शिक्षक मजाकिया लहजे में पूछता, 'जनाब, आपके कपड़े इतने ढीले ढाले और वो भी बिना प्रेस किए।' तो मास्टर साहब न बुरा मानते न तैश में आते। बड़ी संजीदगी से जवाब देते, 'हुजूर, कपड़ों का सिर्फ एक मकसद है और वो है जिस्म की उरियानी (नग्नता) को ढकना।'।

मास्टर साहब का इतना संक्षिप्त-सा उत्तर भी किसी आख्यान जैसा प्रतीत होता। सवाल करनेवाला अवाक-सा खड़ा रह जाता। मास्टर साहब आगे निकल जाते। अपने क्लासरूम की तरफ। एक मिनट तक खड़े रहते। कई बार दो या तीन मिनट भी खड़े हुए गुजार देते। क्लास का मुआयना करते रहते। एक-एक स्टूडेंट के चेहरे पर नजर डालते। सारे स्टूडेंट खड़े होते। कुछ देर बाद मास्टर साहब बड़ी शाइस्तगी से कहते, 'तशरीफ रखिए।' बाकी अध्यापक 'सिट डाउन' कहते लेकिन मास्टर साहब तशरीफ रखिए। हम सब बच्चे इसी 'तशरीफ रखिए' को सुनने के लिए ललायित रहते।

मास्टर साहब अंग्रेजी पढ़ाते थे लेकिन सिर्फ अंग्रेजी नहीं। अंग्रेजी पढ़ाते-पढ़ाते तवारीख पढ़ाने लगते। हमें तब पता चला कि इतिहास को उर्दू में 'तवारीख' कहते हैं। मजे की बात यह कि वो तवारीख पढ़ाते-पढ़ाते उर्दू जबान पढ़ाने लगते। लफजों का तलपफुज (उच्चारण) रवानी और मुहावरे को समझाने लगते। और एक वो वक्त आता जब मास्टर साहब किस्सागोई पर उतर आते। पूरी क्लास में 'पिन ड्रॉप साइलेंस' होता और मास्टर साहब, तवारीख को किस्सों की शकल में बयान करते रहते।

मास्टर साहब बोलते रहते और हम बेवकूफों की तरह उनका चेहरा ताकते रहते। कुछ बूढ़े भी खूबसूरत नजर आते हैं- मास्टर साहब का चेहरा देखकर, तब हमें ऐसा ही गुमान हुआ था।

एक दिन हम कई सारे बच्चे- छठी सातवीं आठवीं कक्षा के बच्चे- उनके घर चले गए। वो खुद फर्श पर बैठे और हमें भी अपने सामने बिठाया। दो छोटे-से कमरे थे। एक में ट्रंक किताबें, चारपाई तो दूसरे में जहां हम सब बैठे थे 'बैठक' थी। बैठक में कलमदान, पीतल का टेबल लैंप, आबनूस की कुर्सी (शेल्फ) शेल्फ पर तस्वीरें।

हम सब बच्चे-ओमी, वेदू, देवा, किशन, जग्गी, रामसिंह, तेजा और नंदी चुपचाप बैठे रहे। मास्टर साहब हमें चुप देखकर बोले, 'घबराओ मत! तुम सब बच्चे अपने एक बूढ़े दोस्त के घर आए हो, टीचर के घर नहीं। खूब बोलो। हँसो। पढ़ाई-लिखाई की बात बिलकुल भी नहीं होगी। कुछ खाएंगे। कुछ गाएंगे।

मास्टर साहब ने चने दिए। चावल और मूंगफली की पट्टी दी। हम सब टूट पड़े खाने पर।

अचानक किशन ने पूछा, 'मास्साब, ये तस्वीर किसकी है?'

'मेरे बेटे अरुण की।' रुककर फिर कहा, 'बड़ा बांका सजीला है अरुण। बाहर रहता है।' गहरी सांस ली। कहा, 'बाहर सेटल हो गया है। कई सालों से भारत में नहीं आया।'।

हम सबने मूंगफलियों को खाना बंद कर दिया ताकि आवाज से व्यवधान न पड़े। चने भी हमारे हाथों में रहे।

मास्टर साहब ने थोड़ी मायूसी से कहा, 'मेरा ध्यान रखता है। डॉलर भेजता है। कपड़े भेजता है। देखो, मेरे जन्मदिन पर कितना सुंदर कार्ड भेजा है।' वो कार्ड दिखाने के लिए दूसरे कमरे में

गए। हम बच्चों को बुलाया। कार्ड दिखाया। फिर ट्रंक खोला। कपड़े दिखाए- पैंट, कमीजें, सूट का कपड़ा, टाइयां, कीमती पेन, परफ्यूम की खूबसूरत शीशियां, कलात्मक मूठ वाली छड़ी, कफ लिंक्स।

फिर उन्होंने ट्रंक बंद किया। हम बच्चे फिर से अपनी-अपनी जगह पर आ बैठे। हम सब लड़कों के मन में मास्टर साहब के प्रति आदर पहले से ज्यादा हो गया। मामूली और फक्कड़ नजर आनेवाले मास्टर साहब के पास कितना ज्यादा इम्पोर्टेंट सामान था। मंहगे परफ्यूम और शानदार टाइयां।

अचानक मास्टर साहब को कुछ ध्यान आया। वो उठे और खूटी पर टंगी खाकी पैंट उतार लाए। फिर सुई धागा ढूंढा और घुटनों से नीचे फट गई पैंट की तुरपाई करने लगे।

नंदी ने बड़ी मासूमियत से कहा, 'मास्साब, आपके पास इतनी नई पैंटें हैं... वो भी सबकी सब इम्पोर्टेंट, फिर आप उनको छोड़कर इस पुरानी पैंट को सी रहे हो?'

हम सब लड़कों ने नंदी को खा जानेवाली नजरों से देखा।

मास्टर साहब ने बड़ी सादगी से जवाब दिया, 'मैं अपने बेटे से रूठा हुआ हूं। जब से विदेश गया है, एक बार भी नहीं आया। मैंने भी जिद ठान रखी है। भेजता रहे कपड़े। नहीं पहनूंगा एक भी कपड़ा। पड़ा रहे सारा सामान ट्रंक में।'

हम सब लड़के मास्टर साहब को हमदर्द और उदास नजरों से देखने लगे।

उन्हें कुछ अहसास हुआ। उन्होंने कहा, 'मेरा एक बेटा विदेश में है तो क्या हुआ। इतने सारे बच्चे तुम यहां बैठे हो, तुम सब बच्चे मेरे अपने ही तो हो।' उन्होंने मुस्कराने की कोशिश की। उनकी नम आंखें भी मुस्कराती हुई महसूस हो रही थीं।

मास्टर साहब की एक खूबी यह भी थी कि वो बड़े मनोयोग से पढ़ाते थे पढ़ाते क्या थे, गाते थे। ऐसा लगता वो पढ़ाते हुए गा रहे हैं। फिर लगता, नहीं, वो गाते हुए पढ़ा रहे हैं। जिस लय में पढ़ाते। उसी लय में शब्दों का उच्चारण और शब्दों में लय-सी पैदा करते हुए, उनके हाथ, उंगलियां, आंखों की पुतलियां यहां तक कि पूरी देह झूमती हुई-सी। कभी वो थोड़ा आगे की ओर झुकते, कभी आसमान की जानिब, जैसे सितारों की खोज में निकल पड़े हों। उनकी लंबी, बूढ़ी उंगलियां मुद्राएं बदलती रहतीं। उनका पूरा शरीर तिलिस्म बुनता नजर आता। कीट्स की कविता- 'ला बेला डैम सैंस मर्सी' पढ़ाते-पढ़ाते, गालिब का शेर सुना गए- कैदो-हयातो-वंदे-गम अस्ल में दोनों एक हैं/मौत से पहले आदमी गम से निजात पाए क्यों?

हम सब लड़के उनके सामने बच्चे ही तो थे। भौंचक-से देखते रहे सब बच्चे। कहां कीट्स कहां गालिब! ये मास्टर साहब ही थे जो कहते थे- 'वेदना तमाम कवियों शायरों, अदीबों की मुश्तरका होती है।'

एक दिन उन्होंने दि ब्रुक (झरना) कविता पढ़ाई-फार मेन में कम एण्ड मेन मे गो, बट आई गो ऑन फार ऐवर। कविता में झरना खुद अपनी 'रामकथा' सुनाता है। इधर, मास्टर साहब थे किसी झरने जैसे। वो खुद 'ब्रुक' बन गए थे। छोटा-सा झरना। हमारे सामने। बहता। मचलता। आवाजें पैदा करता। बच्चों जैसा खेलता। किलकता। शैतान, वाचाल। पहाड़ों से गिरता। खेतों से निकलता। आकाश को देखता धूप को अपने साथ ले चलता। पत्थरों को चूमता। पानी की बूँदें उछालता। झरना। और मास्टर साहब हू-ब-हू झरने जैसे। ब्रुक कविता को खास अंदाज में पढ़ाते हुए। कविता के अर्थ

समझाते हुए। एक-एक कपलेट को बार-बार, 'रिदमैट्रिक' रूप में पढ़ते हुए या गाते हुए... खुद झरना होते हुए...।

हम बेशक छोटे थे। नासमझ भी। लेकिन कुछ-कुछ अनुभूति तो हमें भी हुई थी कि हर बड़े इनसान के अंदर एक अदद झरना होता है और होती हैं जिंदगी की हजारों कविताएं भी।

फिर एक दिन मास्टर साहब ने 'अशोका दि ग्रेट' पढ़ाते हुए वो समां बांधा कि उनके पीरियड के बाद, 'मैथेमेटिक्स' का पीरियड था, वो भी 'किंग अशोका' को समर्पित हो गया। मैथ सर आए मास्टर साहब को देखा, मुस्कराए, चले गए।

मास्टर साहब जो पढ़ाते उसी किरदार में खुद को ढाल लेते। आज वो किंग अशोका हो गए थे। कभी किताब उठाकर पढ़ाते। कभी किताब रखते। दोनों हाथ फैलाकर, जैसे कालिंग विजय के बावजूद, पश्चाताप की मुद्रा में हो। पता नहीं वो पढ़ा रहे थे या फिर 'अशोक दि ग्रेट' का नाटक अभिनीत कर रहे थे- एकल!..! अशोक! मैं अशोक महान! मेरी महानता के पार्श्व में हत्याएं। युद्ध नरसंहार!... मैं अशोक महान! महानता शब्द! कितने प्रपंच रचता है ये शब्द। केवल प्रपंच।'

हम सब हैरान। हैरान और विस्मित!

इधर मास्टर साहब! अपनी रौ में बोलते हुए- 'मैं बन गया भिक्षु! त्याग दिया मैंने सिंहासन! अधिकार। सत्ता सुख प्रलोभन। लेकिन तथागत उत्तर दो मुझे। व्याकुल क्यों हूं मैं? क्यों नहीं पीछा छोड़ता मेरा, रक्त रंजित इतिहास? क्यों चिढ़ाता है मुझे कालिंगा। कालिंग जो मेरे भीतर है किसी अश्वत्थामा जैसा घायल और मर्माहत।'

मास्टर साहब मंच पर अभिनय कर रहे हों जैसे। कितनी जीवंत बेचैनी थी जो उनके चेहरे पर थी। वो 'प्रोज' को लय में पढ़ा रहे थे। पूरी क्लास ध्यानमग्न थी।

लेकिन तभी एक घटना घट गई। स्कूल इंस्पेक्टर, स्कूल का मुआयना करते-करते, मास्टर साहब की कक्षा के बाहर रूके। कुछ अजीब तरह का पाठ, लय और पढ़ाने वाले की मुद्राएं। स्कूल इंस्पेक्टर दीवार की ओट में खड़े रहे। हेडमास्टर साहब ने कुछ पल बाद चलने के लिए कहा लेकिन इंस्पेक्टर महोदय चलने के बजाय, मास्टर साहब की कक्षा में आ गए। उनके साथ हेडमास्टर साहब भी थे। पूरी क्लास उनके सम्मान में खड़ी हुई। बैठी। अशोका दि ग्रेट स्थगित हो गया।

इंस्पेक्टर महोदय ने मास्टर साहब को तीखी नजरों से देखते हुए सवाल किया, 'आर यू सिंगिंग आर डांसिंग आर टीचिंग?'

मास्टर साहब को इस तरह के सवाल की जरा भी उम्मीद नहीं थी। इस सवाल को सुनते ही उनके हाथ से किताब छूटकर गिरी नीचे। फर्श पर। सिर्फ किताब ही नहीं, गिरा कुछ और भी। शायद उत्साह। या उम्मीद या लय या कोई घाव जो अभी-अभी पैदा हुआ था।

कुछ पल खामोश रहे मास्टर साहब। फिर बोले, 'जनाबेआली, आपके सवाल का जवाब आफिस में आकर देता हूं।'

इंस्पेक्टर महोदय मास्टर साहब को देखते रहे फिर हेडमास्टर साहब के साथ चले गए।

मास्टर साहब ने फर्श पर गिरी किताब को उठाया। माथे से छुआ। फिर बाकी का पाठ पढ़ाने लगे लेकिन पहले जैसा न विश्वास न लय न लोच न मुद्राएं। निस्तेज शब्द और आवाज में बेचैनी।

पीरियड खत्म हुआ। उन्होंने एक बार भरपूर नजरों से हम सब बच्चों को देखा। इस तरह देखने

का अर्थ हम बाद में समझे ।

मास्टर साहब, हेडमास्टर साहब के आफिस में गए । वहीं बैठकर त्यागपत्र लिखा । हेडमास्टर साहब के सामने रख दिया । हेडमास्टर साहब व्याकुल तो हैरान स्कूल इंस्पेक्टर ।

मास्टर साहब उठे । आफिस से बाहर चले गए ।

आफिस से बाहर आकर उन्होंने एक बार नजरें घुमाईं । जी भरकर स्कूल को देखा । पीपल का पेड़, क्यारियां, कमरे, घास का मैदान, कुआँ, हैंडपंप । वो अपने आप में लौट आए । उन्होंने हमें देखा । मुस्कराने की कोशिश की । असफल रहे । हमारे सर पर हाथ रखते हुए बोले, 'मैं पुराने जमाने का मास्टर था । मुझे पढ़ाना नहीं आता था ।'

'नई मास्साब ! आप तो हमें बहुत अच्छा पढ़ाते थे ।

मास्साब हँसे । चुपचाप चल पड़े ।

हम देखते रहे- अपनी राह के मास्साब, अपनी तरह का रास्ता तलाश करके जा रहे थे ।

घर जाकर शायद वो अपनी किसी खाकी पतलून की तुरपाई करें या फिर उस शिगाफ की तुरपाई जो अभी-अभी दिल में बन चुका था ।



खूब मीठा खूब खारा, 'बीकानेर हमारा'

उमा

एक बार एक लेखक ने मुझसे कहा था कि जिनके गांव नहीं होते, उनके पास कोई किस्से भी नहीं होते। मैं गम खा रही थी कि सच ही तो है, मेरे पास भी तो कहां कोई ऐसा किस्सा है, जिसमें लहराती फसल नजर आए या मैं कुएं से पानी भर रही हूं और कोई पेड़ के पीछे से टाप रहा हो या यूं कि कभी बाप-भाई के लिए रोटी बांध खेत चली जाऊं और इसी बहाने नजरें चार कर लूं, कभी नदी पार कर लूं और पानी में आग लगा दी ऐसा ही कुछ सुन लूं। सच में कोई ऐसे किस्से नहीं हैं मेरे पास। मैं बेमौसम की बारिश में पकौड़ों का लुत्फ उठाने वाली शहरी, बहुत बाद में समझी कि ये बारिश गांव पर कहर की तरह बरसती है, मैं गांव में सूखे से दरकती जमीन के दर्द से भी अंजान हूं, तो क्या सच में मेरे पास कुछ भी नहीं है सुनाने को...?

पर सच तो यह है कि जिनके पास कुछ नहीं होता, उनके पास बहुत कुछ होता है, जिनके पास गांव नहीं होता, उनके पास कोई न कोई बड़ा गांव जरूर होता है, नहीं होता, तो बना ही दिया जाता है। मेरे पास भी है एक बड़ा गांव, बीकानेर। इस शहर को जानने वाले इसे एशिया का सबसे बड़ा गांव कहते हैं। इस बड़े गांव के रसगुल्ले देशभर में मशहूर हैं, जितना गाढ़ा और मीठा रस इन रसगुल्लों में है, उतना ही रस यहां के किस्सों में भी है। ये और बात है कि ज्यादा मीठा सेहत के लिए अच्छा नहीं होता और ये भी कि मैं जयपुर की रहने वाली स्पंजी और कम मीठे रसगुल्लों की शौकीन हूं।

बीकानेर से मेरा नाता यूं है कि मेरे मां-बाऊजी का जन्म इसी शहर में हुआ था। वो तब भी शहर ही था, जब उनका जन्म हुआ था और वो आज भी गांव ही बना हुआ है, जबकि मेरा बेटा भी किशोरवय का हो चुका है।

देश का हर गांव अपने आप में निराला होता है, बीकानेर तो बहुत ही निराला है, जैसा कि अभी मैंने आपको बताया कि वो सिर्फ गांव नहीं है, बड़ा गांव है। मां-बाऊजी काम धंधे की कमी के चलते जयपुर आ गए थे, मेरे दोनों चाचाजी भी साथ आ गए थे, लेकिन गांव के लोग तो दूर-तलक की रिश्तेदारी निभाने में माहिर होते थे। रिश्तेदारी यूं भी बहुत दूर की कहां थी, दरअसल ये बड़ा गांव देश की आबादी बढ़ाने में भी अहम योगदान देता रहा है, तो ऐसे में करीबी लोगों का कुनबा भी यहां बहुत बड़ा होता है, हमारा कुनबा भी बड़ा था। ऐसे में मां-बाऊजी के तो खूब चक्कर लगा करते थे, कभी-कभार हम बच्चे भी इस बड़े गांव के दर्शन करने आ जाते थे।

इस बड़े गांव की एक खूबी यह भी लगी कि मैंने यहां जाति और धर्म के नाम पर लोगों को भिड़ते नहीं देखा, हालांकि लोग यहां जातियों के हिसाब से बसे हुए हैं। हमारी जड़ें सुनारों की गवाड़ में थीं। पूरे मोहल्ले में सुनार ही सुनार यानी हमारे रिश्तेदार ही रिश्तेदार। तो यह तो पता ही था कि जब जाएंगे, तो कहीं घूमना नहीं है, बस रिश्तेदारों से मिलने में ही दिन निकल जाने हैं, पर इससे तब हमें कुछ खास फर्क भी नहीं पड़ता था। दूरदर्शन देखकर बड़े हो रहे हम बच्चे कहां जानते थे कि पहाड़ और समंदर भी है इस धरती पर, जिन्हें करीब से देखा जा सकता है। उन दिनों छुट्टियों का मतलब रिश्तेदारों का घर और रिश्तेदारों के यहां शादी का मतलब स्कूल की छुट्टियां हुआ करता था। दोनों ही सूरतों में हम खुश हो जाते। बच्चों के लिए इतना ही काफी होता था कि छुट्टियों में छुक-छुक के मजे ले लिए जाएं।

बच्ची हूं, ट्रेन में बैठी हूं और छुक-छुक के मजे ले रही हूं। आगे आप देखिए कि ये यादों की ट्रेन कहां-कहां से होकर गुजरती है।

कोई तीस साल पुरानी बात है। मैं परिवार के साथ ट्रेन में सवार हूं। खिड़की के पास बैठी हूं और पेड़ों को भागते देख रही हूं, बहन कोहनी मार रही है- 'कित्ती देर सू बैठी है तू, अब मैं बैठसूं।'।

हमारा लड़ाई झगड़ा उन दिनों फुसफुस करके ही हुआ करता था। मम्मी से डरते थे हम, यही वजह है कि अपने सलटारे खुद ही कर लेते थे। यूं हम दोनों में बहुत प्रेम था और यूं मेरी बहन का नाम भी प्रेम ही है, तो प्रेम से प्रेम करते और लड़ते झगड़ते रास्ता कट ही जाता और जो न कटे तो गाने तो हैं ही। हम दोनों अंताक्षरी खेलने लग जाते, जैसे सिर्फ हम दोनों ही कहां होते थे, सारे रिश्तेदार जयपुर से साथ ही रवाना होते थे, जितने ज्यादा लोग होते थे, उतना ही मजा बढ़ जाता। गानों में हम माहिर थे, फिल्मों के जबरदस्त शौकीन जो थे। ये शौक विरासत में मिला हम सबको। मां आज भी अकसर ये किस्सा सुनाती है कि जब बाऊजी उन्हें बीकानेर से जयपुर लेकर आए तो उन्हें सबसे पहले सिनेमा दिखाने के लिए लेकर गए थे। मां ने तब पहली बार सिनेमा देखा था, हैरान मां ने बाऊजी से पूछा- 'ऐ लोहे रा आदमी है कई?'

बाऊजी ने सिर पकड़ लिया होगा तब शायद, पर उन्होंने तय कर लिया था कि अपना यह शौक मां को जरूर देकर रहेंगे, उन दिनों यानी आज से कोई पचपन बरस पहले बड़े गांव वाली सास कैसे अपनी बहू को सिनेमा देखने भेजती! समस्या गंभीर थी, पर बाऊजी ने एक तरकीब ढूंढ निकाली थी। वो मां को एक ही फिल्म दो बार दिखाते, एक बार इंटरवेल से पहले की और दूसरी बार इंटरवेल के बाद की, ताकि मासा (दादी) को भनक भी न लगे। वो यही कहकर निकलते होंगे मासा को कि मंदिर जा रहे हैं। यूं बाऊजी बहुत भोले थे, सच में मां से ज्यादा भोले लगते थे वो हमें, इसलिए ही शायद कायनात ने उनका झूठ आने वाले समय में सच में तब्दील कर दिया और आने वाले दिनों में जयपुर में टॉकीज के नाम कुछ यूं होने लगे, राजमंदिर, लक्ष्मीमंदिर....। इन दोनों सिनेमा हॉल में उन्होंने हमें भी खूब फिल्में दिखाई थीं।

खैर, किस्सा कुल मिलाकर यह है कि जैसे अब मैं बेटे के पीछे पड़ी रहती हूं कि टीवी बाद में देखना पहले पढ़ाई कर लें, मेरी मां यूं कहती थीं, 'छोरी बोट चोखी फिल्म आवण वाली है। पढ़ाई पाछे कर लिए।'।

बच्चों को और क्या चाहिए, तो बस जितनी भी फिल्में और गाने टीवी में आते, हम सब चेप

जाते। इसके साथ ही सप्ताह में एक बार मंदिर जाते...अब कौन से मंदिर वो तो आप समझ ही गए। मंदिर जाएंगे, तो भजन तो याद होने ही हैं। इतने भजन याद हो गए कि हम किसी भी मौके पर उसके अनुरूप गीत ढूंढ ही लेते थे। ये किस्सा फिर कभी सुनाऊंगी कि कैसे थीम पर आधारित गाने सुनाकर हम तीनों भाई-बहनों ने मिलकर भाभी को पटाया था। बुरे दिनों में इस ज्ञान की वजह से हमें रोटी का जुगाड़ करने में भी मदद भी मिली थी।

जब फ्लैशबैक में चलते हैं, तो भटकाव बहुत आते हैं, ट्रेक बदल जाया करता है, फिर से उसी ट्रेक पर लौट आए, जयपुर से बीकानेर के ट्रेक पर, तो इस ट्रेक पर चलते-चलते अपने फिल्मी ज्ञान की वजह से हम ओ पी नैयर के गीत ज्यादा गाते।

सुनिए... हम गा रहे हैं- मांग के साथ तुम्हारा मैंने मांग लिया संसार....। आप भी गुनगुनाइए ताकि आप जान सकें कि ऐसा क्यों है!

जंक्शन पर उतरते ही नजरें जहां भी दौड़ाओ, तांगे ही तांगे दिखते थे। ट्रेन के बाद तांगा हमारे लिए दूसरा बड़ा आकर्षण था बड़े गांव जाने के लिए। हम तांगे पर सवार होते तो लगता कि सड़कों में ओ पी नैयर की आत्मा घुस गई है या शायद ओ पी नैयर यहां की रूह को छूकर गुजरे हों। घोड़ों की टापों का मधुर संगीत हम बच्चों को और भी मधुर लगता। संगीत के रस में डूबा रसभरा बीकानेर, पर आपको बता दूं कि बीकानेर के सिर्फ रसगुल्ले ही मशहूर नहीं है, यहां की भुजिया भी बहुत मशहूर है। कहते हैं कि यहां की भुजिया इतनी कुरकुरी इसलिए होती है क्योंकि इसमें मुल्लानी मिट्टी मिली जाती है। हालांकि मोठ की दाल से बनती है वहां के भुजिया और पापड़, इसलिए स्वाद अलग होता है, लेकिन यह भी कहा जाता है कि जरा-सा मुल्लानी मिट्टी का भी असर है। मिट्टी की अपनी ही तासीर होती है। बीकानेर की मिट्टी की तासीर भी कुछ ऐसी ही है कि यहां के लोग आपके बारे में वो भी जान जाते हैं, जो आपको खुद नहीं पता होता। और तो और वो ये सब कुछ तांगे पर आपका सामान उतरने से पहले ही जान जाते थे। तांगा गवाड़ की तरफ आया नहीं कि सारे लोग काम-धाम छोड़कर घूमने लग जाते और छानबीन अभियान में जुट जाते थे। हम भी जब तक तांगे से उतरे, तब तक हमारा पेपरलेस बायोडेटा बंट चुका था। लोगों की खास दिलचस्पी कुंवारे छोरे-छोरियों में ज्यादा होती थी। तो हम कुंवारे थे, लिहाजा वैजयंती माला से कुछ कम कहां समझे थे खुद को तांगे से उतरते हुए। हमें पता था कि लोग हमारे हिस्से का दिलीप कुमार ढूंढने में जुट चुके थे। बचपन में ब्याह की बातें सुनने में बड़ा मजा आता है। हमें भी आता ही था, हम कौन से विलायत के खेत की मूली थे। हम बहुत खुश-खुश इतराते घूमते थे। जवान छोरियां जिस तरह अपने सजने-संवरने के शौक पूरा करती थीं, वैसा शौक हम बचपन में ही पूरे कर रहे थे। काजल, टिक्की, कानों की लंबी बालियां, लाख के पेंडल और न जाने क्या-क्या। बेटियां किसी से कम नहीं दिखनी चाहिए मां की यही कोशिश होती और हम तो ठहरीं आज्ञाकारी औलादें।

मुझे जरा खास हिदायत मिला करती थी, क्योंकि मेरा रंग जरा सांवला था। कहावत है कि सुनारण नहाती भी है, तो उसका मैल भी सफेद ही निकलता है, पर मुझे पर यह कहावत दूर-दूर तक फिट नहीं बैठती थी। बहन और मेरे रंग में इतना अंतर था कि सब मुझे उसकी कार्बन कॉपी कहते थे। मेरा भाई मुझे कालू या कागला बुलाता, पर लाड भी बहुत करता था, ऐसे में इन चीजों को लेकर मैं दुःखी तो जरा भी नहीं थी या शायद पैदाइशी टीठ हूं। मैं अपने आप में ही ज्यादा रहती

थी। कम ही बोलती थी। घुलती भी कम ही थी, मैं नमक की डली नहीं थी और रिश्तेदारों का कुनबा मेरे लिए पानी की तरह नहीं बना। वरना खारे पानी की तासीर ही ऐसी होती कि सब कुछ पच जाता है। कितना भी खा लो। बीकानेर में जीमकर आएंगे कभी, तो जान ही जाएंगे।

हम लोग तब शादी के घर में मेहमान थे। शादी के घरों में खाने का अलग ही आनंद होता था। कुछ इस तरह का आनंद कि अभी आपको जानने में तो मजा आएगा, मुझे बताने में भी आएगा, पर जब भोगा था, तो बस पूछो ही मत क्या हाल हो जाता था।

दरअसल जब जीमण की बारी आती, तो हमारे करीब के, दूर के सभी चाचाजी और हम सारे बच्चे एक ही साथ जीमणे बैठते यानी कम से कम 10-12 लोग और एक थाल। थाल इतना बड़ा होता था कि हम सभी उसके घेरे में आड़े-तिरछे होकर बैठ ही जाते थे। फिर शुरू होता जीमण का दौर। बीकानेर है तो जीमण में भुजिया और मीठा तो होता ही था, पर ये कोई खासियत नहीं थी इस जीमण की। इसकी सबसे बड़ी खासियत यह थी कि जब सब जीम लेते थे, तब हमारे एक दूर के चाचाजी एक-एक बच्चे से पूछते, 'भरग्यो पेट?'

'भरग्यो' हम बच्चे कहते।

जब सब के पेट भर जाते थे, तो उस थाल में, जो आकार में कोई छोटी-मोटी राउंड सेंट्रल टेबल जितनी हुआ करती थी, खूब सारी पूड़ियां और सब्जी फिर प्रकट हो जाती थीं। होता यूं कि सबका पेट भरने के बाद चाचाजी फिर खाना परोसने वाले को इशारा करते और तीस-चालीस पूड़ियां थाल में रख दी जाती थी, साथ ही थोड़ी रसेदार सब्जी। अब इसे चूरा जाता और चाचाजी सबकी ओर देखते। हम बच्चों के दोनों हाथ पेट पर होते और हम यही कहते- 'पेट भरग्यो मारो तो चाचाजी।'

'अरे पेट भरण रे बाद ही तो खावे इने।'

पालथी मारकर बैठे हुए ही चाचाजी थोड़ा हिलते-डुलते और एक तरफ से थोड़ा ऊपर होकर जो करते, वो विद्या माता की कसम बहुत खराब लगता था।

पो... की धमाकेदार आवाज आती। हम सुट्ट हो जाते और वो मुस्कराते हुए कहते- 'जगह बण पो अब तो। अब तो चल जासी आठ-दस पूड़ी तो।'

चाचाजी की हरकत पर गुस्सा भी आता और हँसी भी, लेकिन यह भी सच है कि वो तीस-चालीस पूड़ियां कैसे खत्म होती, पता ही नहीं चलता था। खारे पानी की तासीर का कमाल था शायद कि जो कुछ भी पेट में जाता वो पच जरूर जाता, पर कितनाजो आया है उसे तो आखिर एक रोज जाना ही होता है और जो पेट में होता है उसे भी तो निकलना ही होता है। आखिर हवाएं निकाल-निकालकर कोई कब तक जगह बना सकता है। अब कुछ ठोस बात भी तो होनी ही चाहिए।

खुसफुस-खुसफुस, नंबर दो लगने पर बच्चे अकसर मां के कान में ही फुसफुसाते हैं, जमाना बदल गया हो, लेकिन यह परंपरा अभी भी नहीं बदली। तो तब मैं भी फुसफुसाई, मां ने मेरी रिश्ते की एक बहन को यह जिम्मा सौंप दिया, 'जा, इने ले जा...।'

जहां ठहरे थे, उस घर में नहीं, दूसरे घर में ले जाया गया, दरअसल इस घर में जितनी बार भी नंबर एक लगी, एक नाली की ओर इशारा कर दिया गया और जैसे जैसे मैंने खुद को हल्का किया था, पर अब नंबर दो का क्या होगा, यही तनाव मुझे खाने से भी रोक रहा था।

चलो तो यहां इस घर में है नंबर दो का इंतजाम, यही सोचते हुए बड़ी तसल्ली के साथ हमने

उस मकान में एंट्री ली। एक कमरा आया, हम उसे पार करते हुए आगे बढ़े, हम ऐसे ही आगे चलते जा रहे थे, अँधेरा लगने लगा था, तसल्ली भी कि चलो यहां तो टॉयलेट वैसा ही होगा जैसा जयपुर वाले घर में है। अँधेरे की तसल्ली पर पड़ी उजाले की मार। घर का पिछवाड़ा ऐसा था कि पिछवाड़े का सारा चौन ही छीन गया यानी कि मामला पूरा ऊपर खिसक गया, जब जीजी ने उस आधे बने टॉयलेट की ओर इशारा किया, साढ़े तीन दीवारें, न कोई छत, न दरवाजा, न परदा। उसके बाद जब उस हवादार टॉयलेट में कदम रखा तो और भी हैरान रह गई। कुछ ईट इधर, कुछ उधर और उसके बीच कोई खड्डा नहीं, बस जो निकलेगा, वहीं धरा रहेगा। जी घबराने लगा जयपुर शहर की इस छोरी का। अब कोई जंगल होता या खेत होता, तो खुले में चले भी जाते, लेकिन यहां तो सब यहीं का यहीं है। घर के पीछे का ये हिस्सा एकदम खुला था, गली की तरह, पर यहां कोई पेड़ भी नहीं था कि जरा-सी आड़ ही महसूस की जा सके। कोई पास वाले मकान की छत पर हो तो!

मरते क्या न करते, जो गया है भीतर, वो तो निकलना ही है, पर जो एक बार मामला ऊपर खिसक जाए, तो उसे नीचे आने में भी टाइम लगता है। जीजी पानी की बोटल रखकर चल दी थी। मैं कोशिशों में जुट गई थी। इसी कोशिशों में इस मौके के हिसाब के दो-चार गाने मन में गुनगुनाने के बाद, जो यूं तो इस मौके के थे नहीं थे, पर मैंने जबरन फिट कर दिए थे, मैं सोचने लगी थी कि जब हम सबसे ज्यादा हगते वक्त ही सोचते हैं, तो फिर इस पर कोई गाना क्यों नहीं लिखते। मैं अब भी इस बारे में ही सोचती हूँ और अभी-अभी यह सोचा भी है कि मैं इस पर कोई गाना जरूर लिखूंगी।

खैर, चलो वापस वही चलें, अब थोड़ी-थोड़ी बात बन रही थी। इधर थोड़ी-थोड़ी निकल रही थी, उधर सूअर भीतर चला आया। उसे बड़ी दिलचस्पी मालूम पड़ रही थी यह जानने में कि जयपुर वाले पेट में क्या भरकर लाए हैं, आखिर था तो बीकानेर का ही सूअर, जिसका जन्मसिद्ध अधिकार है सब कुछ जान लेने का। वो अपने अधिकारों की रक्षा में लगा था और इधर मेरी जान जा रही थी। जैसे-तैसे मामला रफा-दफा किया और मुंह लटकाते हुए मां के पास गई और बोली, 'मैं कोनी ठहरूँ अठे, मने जयपुर जाणो है। 'मांएं कहां रिश्तेदारों के बीच अपने बच्चों की सुनती हैं। डपटकर चुप करा देती हैं या बहला-फुसला देती हैं। वैसे हमारी मां हमें दूसरों के सामने कभी नहीं डांटती थीं, वो बहला देतीं और हमारे पास बहल जाने के अलावा कोई चारा नहीं होता था। हम दोनों बहनों का मुंह लटका रहता था इस मुश्किल हालातों में और हमारा भाई अजय और भी कुचरकानी करता, क्यों कैसी निकली...वो नंबर दो की ऐसी व्याख्या करता कि बस पूछो मत, जूझ वो भी रहा था इस समस्या से, पर वो बड़ा भी था और लड़का भी ऐसे में उसका दायरा भी जल्दी बड़ा हो गया, पर हम चौकसियों की बेटियां कहां हार मानने वाली हैं। चौकसी सुनारों की एक गोत्र है, कहते हैं कि चौकसियों की छोरियां किसी से कम नहीं होती तो हम भी कहां कम थे। कहते हैं आवश्यकता आविष्कार की जननी है। अब मैं जयपुर जैसा टॉयलेट तो बना नहीं सकती थी, लेकिन मैं दूढ़ तो सकती थी और इसके लिए जरूरी यह भी था कि जरा मेल-जोल बढ़ाया जाए। मैंने और मेरी बहन ने मेल-जोल बढ़ाना शुरू किया। गवाड़ में तो सब रिश्तेदार ही रहते थे और सुरक्षा के लिहाज से वो सुरक्षित इलाका था। हम छोरियां भी वहां रात के 12 बजे आराम से निकल सकती थीं। दरअसल शादियों के सीजन में जो लोग शहर छोड़कर गए थे, वो भी लौट आते थे। पूरी गवाड़ में रौनक रहती

थी। बड़े-बूढ़े भी टहलते रहते और पाटे पर तो फौज की फौज विराजमान रहती थी।

दरअसल वहां पाटा संस्कृति का चलन था। तखत को ही वहां पाटा कहा जाता था। चौक में रखे इन पाटों पर महफिल जमा करती। आदमी लोग अपने ताशपत्ती, पान और सबसे बढ़कर गप्पे मारने का शौक पूरा करते। और उस मंडली में कोई न कोई चाचा, मामा या फिर कोई दूर का रिश्तेदार तो होता ही था, ऐसे में छोरियों की रखवाली भी अपने आप हो जाती थी। हम करीब और दूर की बहनें घूमती रहतीं कि कहीं कोई ऐसा घर मिल जाए, जहां अपना जुगाड़ बैठ जाए। इस फेर में हम बहनों ने बहुत सारी भायलियां भी बना डाली थीं। सब छोरियां वहां फालतू ही मिल जाती थीं। यूं तो वहां हर कोई फुरसती ही था, पर हमें तो हमउम्र भायलियां चाहिए थीं और उन्हें हम। बीकानेर की छोरियों के जीवन में पढ़ाई लिखाई का कोई टंटा नहीं था, सब जानती थीं कि फेल होंगे, तभी ब्याव जल्दी होगा, नहीं तो दसवीं तक खींचनी पड़ेगी पढ़ाई, उसके बाद तो घरवाले भी नहीं चाहते थे कि पढ़ा जाए। तो ऐसे में वहां जाते ही भायलियां बन जाती थीं। कम बोलो तब भी घंटे भर में कोई न कोई तो भायली बन ही जाती। गर कहीं में छोरा होती, तो चार घंटे में तो भायली भागने के लिए भी तैयार हो जाती। वहां के भायले-भायलियों को भागने का बड़ा शौक था, पर वहां कोई खांप पंचायत नहीं रही कभी। छोरे-छोरी भागते, फिर वापस आ जाते, घरवालों को समझाने की जरूरत ही नहीं पड़ती थी, छोरे-छोरी खुद ही अपना ब्याव दूसरी जगह करने के लिए तैयार हो जाते। सपना बस एक बार भागने का रहता।

इसकी एक बड़ी वजह यह भी है कि वहां शादी के बाद भी वो जिंदगी मयस्सर नहीं होती थी, जो फिल्मों में दिखती थी। ऐसा लगता कि बीकानेर वाले सिर्फ बच्चों की फौज खड़ी करने के लिए शादी करते थे। वहां पति-पत्नी घर से एक-साथ नहीं निकल सकते थे, वो परंपरा आज भी कायम है, क्योंकि आज भी वो बड़ा गांव ही है। जब कहीं दोनों को जाना होता था, तो एक इस गली, तो दूसरा दूसरी गली से निकलता, फिर कहीं आगे जाकर मिलते। बाइक पर पीछे चिपककर बैठना तो आज भी कम से कम से सुनारों की गवाड़ में तो नहीं चल सकता। यही एक वजह थी कि मैंने तो तभी तय कर लिया था कि यहां तो घोड़े पर चढ़कर नहीं आऊंगी। ब्याह की एक खास परंपरा है यह, जिसमें लड़की भी एक बार ससुराल घोड़े पर जाती है। अब जब बाइक पर पति से चिपककर बैठ ही नहीं सकती थी, तो वहां ब्याह क्यों करूं? मेरे भोले मन में ब्याह की सारी ख्वाहिशों पर जैसे खारा पानी फिर गया। खैर बच्चे कितनी देर तक दुःखी रह सकते हैं, उतनी ही देर तक जितनी देर में एक रोटी खाई जा सकती है। रोटी वहां तीन-चार बार तो खाई ही जाती थी, जब अकेले खाने बैठते तो थाली में नहीं पाटे पर मिलती। ये चौक वाला पाटा नहीं, आम पाटा, जो रसोई में वहां रखे ही रहते थे। जब तीन-चार बजे भूख लगती, तो अपनी दूर की नानी के घर हम जाते थे, वहां सूखी रोटी एक छाजले में लटकी रहती थी, पतली-पतली रोटियों को वहां सुखाया जाता था, फिर उसे बीकानेरी भुजिया के साथ खाते, जिसके घर में सूखी रोटी भी न मिले, वो समझो महाकजूस। नानी हमें रोज मक्खन भी खिलाती थीं। हम खाने लगे थे खूब क्योंकि इसी बीच एक दूर की मौसी के घर जाना हुआ और वहां वो मिला जिसने जैसे दुनिया जहान की खुशियां दे दी हो, ये खुशियां भी अजीब ही थी, जिनके द्वार एक पक्के बाड़े में खुले थे। गटर को वहां बाड़ा ही कहा जाता था। आज भी हम बहनों को वो दूर की मौसी याद है, वो तब से अब तक हमें हमेशा प्यारी ही लगीं। मालूम

नहीं कि वो अब हैं भी या नहीं, पर इसके बाद जब भी बीकानेर जाते, निकालने के लिए तो वहीं जाते। छोटी-छोटी पतली गलियों से गुजरते हुए आता था उनका घर। कई गलियां वहां इतनी पतली थी कि सांड भी सामने से आ जाए और हम दिलेर भी हों, तो वहां से निकल नहीं सकते थे। ऐसे में किसी के घर में ही घुसना होता था।

सुनारों की कुछ गोत्र में एक खास परंपरा होती है, शादी से एक दिन पहले बन्ना कहता है कि उसे शादी नहीं करनी, संन्यास लेना है और वो कमंडल लेकर भागता है। बीकानेर के मशहूर कोट गेट तक दौड़ लगाता है। कहते हैं कि उस गेट को पार कर जाए, तो फिर उसकी शादी होती ही नहीं है। बन्ने के मन में चाहे कितने ही शादी के लड्डू फूटें, उसे भागना ही होता है। बन्ने के दोस्त उसे थोड़ी दूर भागने पर पकड़कर ले आते थे। गर न पकड़े तो गए! तो हुआ यूं कि भाई का दोस्त भी भाग रहा था और भाई को बड़ा मजा आ रहा था- भागण दो, रोक्यो मत इण्णै।

कमंडल हाथ में लिए बेचारे ने प्रार्थना करी कि अरे कोई तो रोको, मगर दोस्त दोस्त न रहा। बेचारे के पसीने छूट गए, पर दोस्तों का दिल आखिर तब पसीजा, जब वो ठीक कोट गेट पहुंच गया था। फुरसती लोगों के पास ऐसी कई परंपराएं हैं, चांदी का हाथ लिए बन्ने-बन्नी हमेशा अपने पास टॉफियां लेकर घूमते और सबमें बांटते। ऊंगली में चांदी का छल्ला और माथे का तिलक नाक से शुरू होता हुआ, ये निशानी दोनों को भीड़ में अलग बना देती थी।

बीकानेर में ऐसा बहुत कुछ था, जो इसे अलग बना देता था, खारे पानी वाला, मीठा पसंद करने वाला यह शहर, आज भी ठहरा हुआ है और ठहरी हुई चीजें सड़ने लगती हैं।

जब बच्चे तब ये एहसास नहीं हुआ। आखिरी बार जब बीकानेर गई तब 17 की थी।

फुरसती लोगों को पढ़ाई में वक्त बर्बाद करना कतई पसंद नहीं था। पढ़ने वाले लोग बिगड़ल कहलाते। मैं भी बिगड़ल बन गई उन लोगों की नजरों में। भायलियों की सलाह के बाद भी मैं पास होती गई, उन्होंने कहा था कि चलाकर फेल हो जाना, पर मैं हुई नहीं। मां को मैंने वक्त के साथ बहुत बदलते देखा। बीकानेर के नाम से आज भी उनके चेहरे पर रौनक आ जाती है, लेकिन वो इतना जानती हैं कि पढ़ना जरूरी है। उन्होंने तब ही तय कर लिया था कि चौकसियों की छोरियां तो पढ़ेंगी ही, हमारी वजह से उनका बड़ा गांव उनसे छूट गया, क्योंकि पढ़ने वालों के लिए वहां कोई जगह नहीं थी, अब भी कम ही है। मां की ख्वाहिश बदल चुकी थी। छोरियां सुंदर दिखे न दिखे, पढ़नी जरूर चाहिए। मैं थोड़ा पढ़ ली और पत्रकार बन गई, मैंने एक स्टोरी की तब भी कि जब 2016 में विजवाड़ा विल्सन को रेमन मैग्सेसे पुरस्कार मिला था। वो हाथ से मैला उठाने वालों के हक की लड़ाई लड़ रहे हैं, मेरे सामने बीकानेर घूम गया। स्वच्छ भारत अभियान चलाया जा रहा है, लेकिन कोई विल्सन जैसे लोगों को उनसे जोड़ने की कोशिश नहीं कर रहा, जो कह रहे हैं कि पक्के टॉयलेट तो बन जाएंगे, लेकिन उन्हें साफ कौन करेगा? कौन उतरेगा जहरीली गैस से भरे टैंक में? हर शख्स के अपने दर्द होते हैं, अपने किस्से होते हैं। जहां ज्यादा मीठा होता है, खारा भी वहीं सबसे ज्यादा होता है। एक बंगाली दोस्त कहते हैं, मीठा बनाते वक्त बहुत हल्का-सा नमक मिला दें और नमकीन बनाते वक्त जरा-सा मीठा, तो स्वाद बढ़ जाता है। पर मीठे में नमक और नमक में मीठा मिलाएगा कौन!



लेखकों की जिंदगी से रू-ब-रू

सूरज प्रकाश

किसी भी लेखक की अपनी खुद की दुनिया बहुत पेचीदगी भरी होती है और कई बार उसे उसके लिखे हुए के जरिये नहीं पहचाना जा सकता। लेखक के भीतरी और बाहरी संघर्ष, उसकी कुछ खास आदतें, लिखने के लिए खुद को तैयार करने के कुछ नायाब तरीके, उसकी तकलीफें और कई बार उसकी जीवन शैली के हैरान कर देने वाले पक्ष हमें लेखक के नजदीक ले जाते हैं और हमें यकीन होने लगता है कि लेखन करना अय्याशी करने जैसा तो नहीं ही होता। लेखन एक ऐसी साधना है जिसकी अभिव्यक्ति के किसी अन्य माध्यम से तुलना नहीं की जा सकती।

दुनिया भर के लेखकों के बारे में पढ़ने पर पता चलता है कि शायद ही कोई ऐसा लेखक हो जिसे तरह तरह की तकलीफों से न गुजरना पड़ा हो। किसी लेखक का बचपन ही बचपनविहीन रहा तो किसी लेखक को भयंकर आर्थिक और दूसरी तरह की तकलीफों से दो चार होना पड़ा। कई ऐसे भी लेखक रहे जो जीवन के आए दिन के संघर्षों का डटकर मुकाबला नहीं कर पाए और शराब की शरण में चले गए। कुछ लेखक बेहतरीन रचकर खुदकुशी कर बैठे। कई लेखक ऐसे भी रहे जिन्होंने अद्भुत रचा लेकिन उन्हें उनके काम की तुलना में मान्यता या तो मिली ही नहीं या कम मिली या देर से मिली या मिली तो मरने के बाद मिली। चाहे कुछ भी रहा हो, हर लेखक ने अपना बेहतरीन लेखन आने वाली पीढ़ियों को दिया।

यहां कुछ ऐसे ही विरले लेखकों की जिंदगी में झांकने की कोशिश की है :

अन्ना भाऊ साठे- फकीरी से फकीरा तक का सफर

एक रोचक किस्सा है। जब नेहरूजी रूस गए तो उनसे पूछा गया कि आपके यहां गरीबों और वंचितों की कहानी कहने वाला कथाकार, कलाकार, गायक, वादक और समाज सुधारक अन्ना भाऊ साठे हैं, कैसा है वह। नेहरूजी परेशान। कौन है अन्ना भाऊ साठे जिसे मैं नहीं जानता और रूस वाले पूछ रहे हैं।

नेहरूजी ने वापस आकर पता कराया। उच्च जाति के साठे लोग आम तौर पर पुणे के पास रहते हैं। सब जगह खोजा, नहीं मिले। तब कहीं जाकर पता चला कि लोक कलाकार, तमाशा के उस्ताद, कथाकार, उपन्यासकार अन्ना भाऊ साठे बंबई में एक चाल में रहते हैं।

अन्ना भाऊ साठे (1 अगस्त 1920-18 जुलाई 1969) प्रतिबद्ध समाज सुधारक और लेखक थे। मूल नाम तुकाराम, मंग जाति के दलित थे। कोई औपचारिक शिक्षा नहीं पाई थी। दूसरी कक्षा

तक मुश्किल से पढ़े। वे सांगली जिले के वाटेगांव में पैदा हुए थे। ब्रिटिश सरकार उनकी जनजाति को जन्मजात अपराधी के रूप में मानती थी। गरीबी और जहालत और घुमक्कड़ी में बचपन बीता। पिता माली थे और पढ़े-लिखे लोगों के जीवन की देखा-देखी बच्चे को पढ़ाना चाहते थे। अन्ना ने चौदह बरस की उम्र में स्कूल में पांव रखा लेकिन क्रूर मास्टरजी की मार ने कुछ ही दिन में बाहर का रास्ता दिखा दिया। बाकी पढ़ाई जीवन के स्कूल में, आवारागर्दी में, यायावरी में पूरी हुई।

लोक गीतों की तरफ रुझान हुआ। गजब की याददाश्त पाई थी। किस्से कहानियां सुनने सुनाने लगे। सुनने के लिए आसपास लोग जुड़ने लगे। एक बार एक मेले में क्रांतिकारी नेता नाना पाटिल को सुना तो आजादी की लड़ाई से नाता जोड़ लिया तभी पिता ने बंबई आने की ठानी तो पूरा परिवार सांगली से पैदल चलकर बंबई आया। भायखला में चाल में रहे। अन्ना ने कुली का काम किया, वेटर बने, मजदूरी की, कुत्तों की देखभाल की नौकरी की, घरेलू नौकर रहे, बूट पालिश की। फिल्मों देखने का चस्का लगा।

दुकानों के बोर्ड और इधर-उधर फिल्मों के पोस्टर पढ़कर अक्षर ज्ञान करके पढ़ने और लिखने में महारत हासिल की। तभी अन्ना की विचारधारा को दिशा मिली। जीवन को निकट से देखा। समाज सुधार और जाति उत्थान के लिए अपनी आवाज जन-जन तक पहुंचाने के लिए उन्होंने लोक शैली पोवाड़ा और लावणी का सहारा लिया। तमाशा टोली में शामिल हुए। कोई भी भूमिका कर लेते। संवाद लिखते। हर तरह के वाद्य यंत्र बजाने में माहिर थे। वे तमाशा जगत के हीरो बन गए। जीवन की कड़वी सच्चाइयों पर नाटक लिखे। गांव की लड़की से शादी की, उससे एक बेटा भी हुआ लेकिन शादी निभ नहीं पाई। सातारा जिले में चले 'जाव आंदोलन' से जुड़े तो गिरफ्तारी का वारंट निकला। वापस बंबई आ गए।

पहले कम्युनिस्ट विचारधारा से जुड़े, पार्टी के लिए दरियां बिछाने से लेकर सारे काम किए लेकिन बाद में दलित उत्थान के काम में खुद को समर्पित कर दिया। 1944 के आसपास लिखना शुरू किया, तभी एक विवाहित परित्यक्त महिला से विवाह किया। उसके संग साथ से लेखन को गति मिली। 14 लोक नाटक लिखे। कुल मिलाकर 35 उपन्यास लिखे। 'फकीरा' उपन्यास के बीसियों संस्करण निकले। उस पर फिल्म बनी। सरकार से सम्मान मिला। 15 कहानी संग्रह हैं उनके। रचनाओं के रूसी, फ्रेंच और चेक सहित 27 देशी विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुए। तीसरी कोशिश और सबकी मदद से ही वे रूस जा पाए थे। लौटकर रूस की यात्रा का संस्मरण लिखा। उनकी रचनाएं दलित आत्म सम्मान और प्रतिरोध की गाथा कहती हैं। वे सामाजिक लेखक माने जाते थे। उनकी रचनाओं पर 12 सफल फिल्में बनीं।

आजादी की लड़ाई में, संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन में और गोवा मुक्ति संग्राम में अन्ना का योगदान बहुत बड़ा है। वे लोक युद्ध साप्ताहिक के रिपोर्टर भी रहे। अन्ना ने तमाशा को बहुत लोकप्रिय बनाया और तमाशा ने अन्ना को। जब सरकार ने तमाशा पर बैन लगा दिया और सारे कलाकार सड़क पर आ गए तो अन्ना ने बड़ी सफाई से तमाशा को लोकनाट्य का रूप देकर बहुत बड़ा काम किया। अन्ना ने 250 लावणी गीत भी लिखे।

अन्ना बेहद लोकप्रिय थे। हिंदी फिल्म जगत के कई बड़े कलाकार उनकी निकटता चाहते थे लेकिन वे इतने सरल थे कि अकसर लोग उन्हें चूना लगा जाते। वे गरीब ही रहे। 22 बरस घाटकोपर

की चाल में रहे। पारिवारिक समस्याएं सिर उठाती रहीं। उधर दूसरा विवाह भी नहीं फला और अन्ना को तोड़ गया। शराब की लत लगा गया। मानसिक रोग लग गए। कई बार सड़क पर गिरे पड़े मिलते। अंततः 1969 में यह महान कलाकार 49 बरस की उम्र में मृत्यु से हार गया।

अमृता प्रीतम - बस्स, इत्ती सी कहानी है

6 बरस की उम्र में सगाई, 11 बरस में मां का निधन, 16 बरस की उम्र में पहली किताब और सोलह बरस की उम्र में ही प्रीतम सिंह से विवाह। आजीवन साहिर से उत्कट प्रेम और जीवन के अंतिम पलों तक लगभग 50 बरस तक इमरोज का संग साथ। ये है अमृता (कौर) प्रीतम (1919-2005) की जीवनी जिसे बकौल खुशवंत सिंह डाक टिकट के पीछे लिखा जा सकता था। उनकी आत्मकथा का नाम भी इसी वजह से खुशवंत सिंह ने 'रसीदी टिकट' सुझाया था।

अमृता प्रीतम 20वीं सदी की पंजाबी भाषा की बेहतरीन उपन्यासकार और निबंधकार थीं। उन्हें पंजाबी की पहली और सर्वश्रेष्ठ कवयित्री माना जाता है। इनकी लोकप्रियता सीमा पार पाकिस्तान में भी उतनी ही है। पंजाबी के साथ साथ हिंदी में भी लेखन। उन्होंने कुल मिलाकर लगभग 100 पुस्तकें लिखीं। उन्हें पद्म विभूषण, साहित्य अकादेमी पुरस्कार और ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। वे साहित्य अकादेमी पुरस्कार पाने वाली पहली महिला थीं।

अमृता को साहिर लुधियानवी से बेपनाह मोहब्बत थी। साहिर लाहौर में उनके घर आया करते थे और एक के बाद एक सिगरेट पिया करते थे। साहिर के जाने के बाद वो उनकी सिगरेट के टोटों को साहिर के होंठों के निशान के हिसाब से दोबारा पिया करती थीं। इस तरह उन्हें सिगरेट पीने की लत लगी। अमृता साहिर को ताउम्र नहीं भुला पाई। साहिर उनके लिए मेरे शायर, मेरा महबूब, मेरा खुदा और मेरे देवता थे। दोनों एक दूसरे को प्यार भरे खत लिखते थे।

साहिर के लाहौर से बंबई चले आने और अमृता के दिल्ली आ बसने के कारण दोनों में भौगोलिक दूरी आ गई थी। गायिका सुधा मल्होत्रा की तरफ साहिर के झुकाव ने भी इस दूरी को और बढ़ाया।

बावजूद इसके साहिर भी कभी अमृता को दिल से दूर नहीं कर पाए। अगर अमृता के पास साहिर की पी हुई सिगरेटों के टोटे थे तो साहिर के पास भी चाय का एक प्याला था जिसमें कभी अमृता ने चाय पी थी। साहिर ने बरसों तक उस प्याले को धोया तक नहीं।

इमरोज अमृता के जीवन में 1958 में आए। दोनों इस मामले में अनूठे थे कि उन्होंने कभी भी एक दूसरे से नहीं कहा कि वो एक-दूसरे से प्यार करते हैं। दोनों पहले दिन से ही एक ही छत के नीचे अलग-अलग कमरों में रहते रहे।

अमृता रात के समय लिखती थीं। जब न कोई आवाज होती हो, न टेलीफोन की घंटी बजती हो और न कोई आता-जाता हो। इमरोज लगातार चालीस-पचास बरस तक रात के एक बजे उठ कर उनके लिए चाय बनाकर चुपचाप उनके आगे रखते रहे।

इमरोज के पास जब कार नहीं थी वो अकसर उन्हें स्कूटर पर ले जाते थे और अमृता की उंगलियां हमेशा उनकी पीठ पर कुछ न कुछ लिखती रहती थीं... अकसर लिखा जाने वाला शब्द साहिर ही होता था।

जब उन्हें राज्यसभा के लिए मनोनीत किया गया तो इमरोज हर दिन उनके साथ संसद भवन

जाते थे और बाहर बैठकर उनका इंतजार किया करते थे। जब वे संसद भवन से बाहर निकलती थीं तो उद्घोषक को कहती थीं कि इमरोज को बुला दो। अनाउंसर समझता था कि इमरोज उनका ड्राइवर है। वह चिल्लाकर कहता था - इमरोज ड्राइवर गाड़ी लेकर आओ।

ओ हेनरी : जेल में छद्म नाम से लिखते थे कहानियां

ओ हेनरी (1862-1910) का मूल नाम विलियम सिडनी पोर्टर था। जब तीन बरस के थे तो उनकी मां का देहांत हो गया था और उन्हें पिता के साथ नाना के घर रहना पड़ा था। बचपन से ही ओ हेनरी को पढ़ने का चस्का लग गया। साथ ही पेट पालने के लिए कम उम्र में ही बहुत सारे काम करने पड़े। वे बचपन से ही गाने बजाने में माहिर थे।

वे पत्रकार बने, बैंक में क्लर्क की। एक रिश्तेदार के यहां फार्मसी में काम किया। साथ साथ लिखते भी रहे। पहली पत्नी से भागकर शादी की थी और दूसरी पत्नी उन्हें छोड़कर भाग गई थी।

जब एक बैंक में काम मिला तो वहां कुछ हेराफेरी हुई और वे निकाल दिए गए। बाद में पता चला कि हेराफेरी में उनका भी हाथ था तो केस चला। वे मुकदमे की सुनवाई के लिए अपने ससुर के साथ अदालत आ रहे थे कि बीच में ही गायब होकर दूसरे देश हॉंडरस चले गए। कई बरस वहीं रहे। वहां एक खतरनाक ट्रेन लूटेरे के संपर्क में आए।

वहां पर पता चला कि पीछे पत्नी की हालत खराब है तो हारकर वापस आए। गिरफ्तार कर लिए गए और पांच बरस की सजा हुई। अच्छे व्यवहार के कारण वे तीन बरस में रिहा कर दिए गए थे। फार्मसी के अपने अनुभव के आधार पर जेल की अस्पताल में काम करने लगे। इस बात के सुबूत कम हैं कि वे जेल में ज्यादा रहे या अस्पताल में।

बेटी को पालने के मकसद से वे जेल में कहानियां लिखने लगे और बाहर एक दोस्त के पास छपवाने के लिए भेजते रहे। उसने ये कहानियां 14 अलग अलग नामों से छपवाईं। बाद में ओ हेनरी नाम प्रसिद्ध हो जाने के बाद यही नाम चल पड़ा। उनकी बेटी को कभी नहीं बताया गया कि वे जेल में हैं। ओ हेनरी अपने पात्र रचने के लिए होटल की लॉबियों में और इधर-उधर भटकते रहते थे और लोगों की बातें सुनते रहते थे। वे जीवन भर अपने पात्र इसी तरह तलाशते रहे। ट्विस्ट इन द टेल का कमाल दिखाने में माहिर ओ हेनरी कहते थे कि जो अच्छा लगता है, वही लिखें। लिखने के बारे में और कोई नियम नहीं है। ओ हेनरी ने आम तौर पर छोटी कहानियां लिखी हैं। कुल मिलाकर 381 कहानियां लिखीं। बाद में वे बहुत पीने लगे थे जिससे उनके नियमित लेखन पर असर पड़ा।

जिस कमरे में ओ हेनरी पर मुकदमा चला था, बाद में प्रसिद्ध हो जाने पर उसी कमरे को ओ हेनरी कक्ष का नाम दिया गया।

ओ हेनरी जब मरने वाले थे तो उन्होंने कहा था- कमरे की में बत्तियां जला दो। मैं अँधेरे में घर नहीं जाना चाहता। जब वे मरे तो सिकंदर की तरह खाली हाथ थे। उनकी अंतिम यात्रा का समय गलती से उनके विवाह के आयोजन के रूप में तय कर लिया गया था।

गुरदयाल सिंह : बड़ईगिरी से ज्ञानपीठ पुरस्कार तक

गुरदयाल सिंह (10 जनवरी, 1933-16 अगस्त, 2016) आम आदमी की बात कहने वाले पंजाबी भाषा के विख्यात कथाकार थे। वे परिवार के पहले लड़के थे जो स्कूल जाने लगे थे। वे लिखते

हैं कि स्कूल मेरे लिए ऐसा जेलखाना था जिसके बारे में यही सोचता कि यहां से कभी रिहाई मिल जाएगी। बचपन से ही पारिवारिक बड़ईगिरी के धंधे में लग जाना पड़ा। अभी वे 12-13 बरस के ही थे और कुछ सोचने-समझने लायक हो रहे थे, घरेलू हालात के चलते उन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा, ताकि बड़ई के धंधे में वह अपने पिता की मदद कर सकें। मेहनत मजदूरी ने इतना वक्त ही न दिया कि बचपन को बचपन की तरह जी पाते।

बचपन में बारह बारह घंटे बड़ई का काम किया। मजदूरी की। घर वालों से पढ़ाई के सवाल को लेकर अनबन हुई तो एक ही छत के नीचे पिता और ताऊ से अलग रहकर काम किया, दिन रात लग कर ठेके पर पानी की टंकियां बनायीं, कई बार बेरोजगार रहे। गलियों में आवाजें देकर अपना बनाया सामान बेचा।

टीबी के मरीज हुए तो कसौली गए। बाद में वहां भी दो-ढाई रुपये की दिहाड़ी मजदूरी करते रहे। सोलह सत्रह बरस की उम्र में एक बच्ची के पिता बन गए थे, तब भी कम पढ़े-लिखे बेरोजगार थे।

इसी धंधे के चलते स्कूल छोड़ देने के बाद भी उन्होंने अपने स्कूल के प्रधानाध्यापक से संपर्क बनाए रखा, जिन्होंने गुरुदयाल की प्रतिभा को पहचाना और अपना अध्ययन निजी तौर पर जारी रखने के लिए प्रोत्साहित किया। गुरुदयाल ने स्कूल छोड़ने के लगभग 10 वर्ष बाद स्वतंत्र छात्र के रूप में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। पढ़ने के लिए जान लगा दी। उनके हितैषी प्रधानाध्यापक ने एक सरकारी प्राइमरी स्कूल में अध्यापक की नौकरी दिलाने में भी उनकी मदद की। पढ़ाई आगे बढ़ी और करिअर बनाया।

गुरुदयाल सिंह के शुरुआती जीवन को देखें तो वे तब केवल शारीरिक मेहनत मजदूरी करने वाले कारीगर ही बनकर रह गए थे। इसमें सोचने समझने लायक कोई बौद्धिक या आध्यात्मिक तत्त्व नहीं था लेकिन उनका जीवन लगातार संघर्ष, धीरज, कठोर मेहनत और जीवन के प्रति आस्था का रहा है। वे कई बार टूटे, भूखे सोये, एक ही छत के नीचे रहते हुए मां बाप से बरसों अबोला रहा, लेकिन डिगे नहीं। उनके जीवन की गाथा किसी उपन्यास से कम रोमांचकारी नहीं है।

उनका लेखकीय जीवन 1957 में छपी एक कहानी 'भागांवाले' से शुरू हुआ। 1966 में उनका पहला उपन्यास 'मढ़ी दा दीवा' प्रकाशित हुआ, जिसमें एक दलित और एक विवाहित जाट महिला के मौन प्रेम की नाटकीय प्रस्तुति थी। अपने लेखन के कारण पूरे लेखकीय जीवन में उन्हें मित्रहीन के मित्र की तरह जाना जाता रहा है। कथाकार के रूप में उनका शिल्प इतना समर्थ है कि अपनी महत्वपूर्ण कृति 'परसा' में उन्होंने अपने नायक के जीवन के अप्रत्याशित उतार-चढ़ावों का विस्तृत और सफलतापूर्वक निरूपण किया है।

अपने आसपास के यथार्थ को प्रामाणिकता और विलक्षण कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करना गुरुदयाल सिंह की विशिष्टता है और यहीं उनके सभी उपन्यासों को अद्भुत रूप से पठनीय बनाती है। बेशक वे पंजाबी उपन्यास के बेताज बादशाह हैं, कहानी से भी उनका नजदीकी नाता रहा। मालवा की मिट्टी की सोंधी महक उनकी रचनाओं में अपनी पूरी महक के साथ मौजूद है।

सिंह को साहित्य अकादेमी पुरस्कार, पंजाब साहित्य अकादेमी पुरस्कार, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, शिरोमणि साहित्यकार पुरस्कार, पद्मश्री और ज्ञानपीठ पुरस्कार मिले। अमृता प्रीतम के बाद

गुरदयाल सिंह दूसरे पंजाबी साहित्यकार हैं जिन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार दिया गया।

उनके दो उपन्यासों 'मढ़ी दा दीवा' और 'अन्ने घोड़े दा दान' पर फिल्में बन चुकी हैं। वे प्रोफेसर के पद से रिटायर हुए। संयोग से वे एक ही दिन के लिए प्रोफेसर बने थे। उनकी कृतियों के अंग्रेजी सहित कई भाषाओं में अनुवाद हुए हैं।

गोर्की : अच्छा होना ही इस देश में अपराध है

अलिकसेय पेश्कोव (1868 -1936) का बचपन इतना तकलीफ भरा रहा कि उन्होंने अपना नाम ही कड़वाहट (मैक्सिम गोर्की) रख लिया। 11 बरस की उम्र में यतीम हुए, 12 बरस की उम्र में घर से भागे और 5 बरस तक पैदल चलते हुए रूस की सड़कें नापते रहे। सोलह वर्ष की आयु में कजान आए।

यहां कई तरह के धंधे किए, बेकरी मजदूर का काम किया, होटलों में प्लेटें धोयीं, और बेहद कठोर जीवन जीया। वे झुग्गी-झोंपड़ी में, कंगालों और अनाथों के बीच रहे। गरीबी के कारण एक बार आत्महत्या करने की भी कोशिश की। गोर्की की सारी उम्र कष्टों में कटी।

मूलतः वे एक मोची के बेटे थे। बचपन में पिता को काम करते देखते तो सीखने की कोशिश करते। वहीं बैठकर अक्षर ज्ञान करते। उनकी कृतियां बचपन की इन्हीं क्रूर स्थितियों का कच्चा-चिड़्डा है। गोर्की ने छद्म नाम से पत्रकारिता भी की। वैसे गोर्की सिपाही बनना चाहते थे।

जहाज के एक बावर्ची स्मुरी ने गोर्की को पढ़ने का चस्का लगाया था तब पुस्तकें पढ़ना अच्छी बात नहीं मानी जाती थी। गोर्की ये देखकर दुःखी होते थे कि लोग जेलखाने और पागलखाने खोलने के लिए पैसे देते हैं लेकिन बच्चों को पढ़ने के लिए नहीं।

1892 में एक अखबार में उनकी पहली कहानी छपी। तीन आत्मकथात्मक उपन्यासों में गोर्की का स्वयं का व्यक्तित्व, तत्कालीन परिस्थितियां, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि को जानने में मदद मिलती है। जब गोर्की लिख रहे थे तो निरंकुश जार का शासन था। गोर्की की रचनाओं ने एक नई साहित्यिक धारा का सूत्रपात किया जो क्रांतिकारी रोमांसवाद कहलाई।

लेनिन को गोर्की का उपन्यास 'मां' इतना पसंद था कि उन्होंने गोर्की से कहा था कि 'मां' जैसी कोई चीज लिखो और बाद के ये तीनों आत्मकथात्मक उपन्यास जैसे लेनिन की इच्छापूर्ति ही थे। 1906 में वे टीबी हो जाने के कारण इटली के काप्री द्वीप पर रहने लगे और वहां इटली के सामान्य जन की कहानियां लिखीं। गोर्की लेखन के अलावा सचमुच के क्रांतिकारी बने। जेल गए। गोर्की की अप्रतिम रचना 'मां' 1918 में प्रकाशित हुई थी और तुरंत ही सोवियत सत्ता ने उस पर प्रतिबंध लगा दिया था। 'मां' आज भी संसार में सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली पुस्तकों में से एक है। प्रतिकूल राजनैतिक हालात और बिगड़ते स्वास्थ्य के चलते वे 1924 में वह इटली में जा बसे।

इटली में अपने दूसरे प्रवास के दिनों में ही गोर्की ने अपनी आत्मकथात्मक त्रयी 'बचपन' 'जीवन की राहों पर' और 'मेरे विश्वविद्यालय' पूरी की। अपनी सचिव मौरा बुडबर्ग से ब्याह रचाया।

1928 में मैक्सिम गोर्की स्वदेश लौट आए। अब स्थितियां बदल चुकी थीं। वे अब सरकारी मेहमान थे। उन्हें दी गई सुविधाओं में उनके लिए ट्रेन की विशेष बोगी भी थी। रूस भर में जैसे उनका नाम दीवारों पर पोत दिया गया था।

कहा जाता है कि गोर्की का निधन 1936 को फेफड़ों की बीमारी से हुआ, लेकिन यह भी सुनने

में आता रहा कि वे राजनीतिक षड्यंत्र का शिकार हुए थे।

स्तालिन ने गोर्की की शव यात्रा में कंधा दिया था।

जैक लंडन : कहां-कहां से गुजर गया

जितनी रोमांचक और दिल पर सीधे असर करने वाली जैक लंडन की कहानियां होती हैं, उससे कहीं ज्यादा रोमांचक और दिल दहला देने वाली जैक लंडन (12 जनवरी 1876-22 नवंबर 1916) की खुद की कहानी है। सैन फ्रांसिस्को में वे एक अनब्याही मां की कोख से जन्मे थे। बड़े होने के बाद एक बार जब उन्हें मां के कागजों से उसकी आत्महत्या की कोशिश और अपने संभावित पिता के बारे में कुछ जानकारी मिली तो जैक ने विलियम चौने नाम के एक वकील को कन्फर्म करने के लिए खत लिखा। चौने ने बड़े भोलेपन से जवाब दिया था- बेटे, मैं तो नामर्द हूं। तुम्हारा पिता कैसे हो सकता हूं। हां, फलां आदमी तुम्हारी मां के यहां खूब आया करते थे, वे ही शायद तुम्हारे पिता हों। बाद में जैक की मां ने जॉन लंडन से शादी की थी।

जैक का बचपन मेहनत मजदूरी में बीता। हर तरह के धंधे किए। लंबी लंबी समुद्री यात्राएं कीं। वापिस आकर मां को ये रोमांचक कहानियां नमक मिर्च लगाकर सुनाते। खाली वक्त में लाइब्रेरी में बैठकर उपन्यास और यात्रा संस्मरण खंगालते। मां के कहने पर एक प्रतियोगिता में कहानी भेजी और सबको मात देते हुए पहला पुरस्कार पाया। तय किया कि लेखक ही बनेंगे लेकिन प्रकाशक मिलना आसान नहीं था। इस बीच यात्राएं जारी रखीं। 22 बरस की उम्र तक लगभग बेरोजगार ही थे लेकिन लेखक बनने का इरादा छोड़ा नहीं। काम मिलने पर 18 घंटे भी काम किया।

जैक बेहद खूबसूरत, रंगीन मिजाज, विवादों से घिरे रहने वाले, हँसोड़, बेचैन, बहादुर और रोमांच के लिए हमेशा तैयार रहने वाले शख्स थे। वे अपने समय के बेहद रोमांटिक व्यक्ति थे। वे शौकिया बॉक्सर और बॉक्सिंग के शौकीन थे। उनकी कई कहानियां बॉक्सिंग पर हैं।

1900 में बैस मैडेन से विवाह किया। विवाह के दिन ही जैक की किताब द सन ऑफ द वुल्फ छपकर आई थी। ये विवाह प्रेम के चक्कर में नहीं, बल्कि ये सोच के किया गया था कि उनके हट्टे-कट्टे बच्चे होंगे। जैक खुद तगड़े शख्स थे। दो बच्चे हुए भी लेकिन ये विवाह 5 बरस चला। दूसरा विवाह चारमिन किटरेज से किया।

लंडन 1904 में रूसी जापानी युद्ध संवाददाता रहे। वे चार महीने में तीन बार तीन जगह और तीन अलग-अलग कारणों से गिरफ्तार भी किए गए थे और एक बार तो अमेरिकी राष्ट्रपति के दखल देने ही पर बाहर आ सके। वे मैक्सिको में भी 1914 में युद्ध संवाददाता रहे।

वे 1899 में ओवरलैंड मंथली में छपना शुरू हुए। लिखने में अनुशासन आया और फिर पीछे मुड़ कर नहीं देखा तब से सेहत, काम या जगह की परवाह किए बिना 1000 शब्द रोज लिखने का नियम बना लिया। 27 बरस की उम्र में द कॉल ऑफ द डे से वे रातों-रात बड़े लेखक हो गए। बेशक इससे उनकी गरीबी जस की तस बनी रही। वे बहुत अधिक लिखने वाले लेखक माने जाते हैं। कुल चालीस बरस की उम्र पाई और अपने जीवन के अंतिम 16 बरसों में 50 किताबें दीं। उनकी किताबों के दुनिया भर की भाषाओं में अनुवाद मिलते हैं। उन्होंने अपनी शराबखोरी की आदत पर भी लिखा। उन्हें प्रशंसकों के औसतन 10000 खत हर वर्ष आते थे। उनके 19 कहानी संग्रह हैं।

जैक लंडन एक असहज उपन्यासकार माने जाते हैं। बेशक उनका दिमाग बहुत तेज चलता

था लेकिन वे प्राकृतिक रूप से बेचैन ही रहे शायद बहुत सारी बीमारियों का असर रहा हो।

लंडन ने अपने लिए 1000 एकड़ का रैंच खरीदा था। बाद का लेखन जैक इस हिसाब से कर रहे थे कि रैंच में और जमीन जोड़ते चल सकें। वे उस पर 15000 वर्ग फुट की पत्थर की अपने समय की बेहतरीन हवेली बुल्फ हाउस बनवा रहे थे। तैयार होने से दो हफ्ते पहले वह घर आग में जलकर भस्म हो गया था। जैक अपने सामने अपने सपनों का घर जलता देख रहे थे और कुछ भी नहीं कर पाये थे। पत्थरों का वह अधूरा महल आज भी राष्ट्रीय ऐतिहासिक स्मारक के रूप में खड़ा है।

अपने जीवन के अंतिम दशक में जैक तरह तरह की बीमारियों से जूझते रहे। डॉक्टर उन्हें अपने काम की आदतें, लतें और शराबखोरी छोड़ने और थोड़ी हवाखोरी करने के लिए कहते कहते हार गए लेकिन जैक ठहरे जिद्दी। जान दे दी पर आदतें नहीं छोड़ी। मरने के बाद उनकी अंतर्दियों में जहर पाया गया था।

उनकी मौत मारफीन की अधिक मात्रा लेने के कारण हुई। उनकी मृत्यु को आत्महत्या भी बताया जाता है। उनकी कई रचनाओं में आत्महत्या के प्रसंग आते हैं।

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ : अपन तो भई ऐसे हैं

नोबल पुरस्कार प्राप्त 58 नाटक रचने वाले जॉर्ज बर्नार्ड शॉ (1856-1950) का बचपन बहुत गरीबी में बीता था। उन्हें जब खर्च के लिए 6 पेंस मिलते थे जिनसे बड़ी मुश्किल से दिन निकाल पाते। एक दिन फुटपाथ पर एक किताब देखी-6 पेंस में कैसे दिन गुजारें। बड़ी मुश्किल से कई दिन तक एक एक धेला बचाते हुए वह किताब खरीदी। किताब पढ़ते ही पटक दी- साला यही तो मैं रोज करता हूं। मेरे ही अनुभवों पर किताब लिखी और मुझे ही...।

एक संपादक ने उनसे अपने दस समकालीन रचनाकारों के नाम बताने के लिए कहा तो उन्होंने अपना ही नाम दस तरीके से लिखकर दे दिया- जेबीएस, जॉर्ज बी एस, जॉर्ज बर्नार्ड एस, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, जे बर्नार्ड शॉ, जे बी शॉ, जॉर्ज बी शॉ, जॉर्ज बर्नार्ड एस, जॉर्ज बी एस और सर जॉर्ज बर्नार्ड शॉ। किसी को उन्होंने 10 पाउंड देने थे। बर्नार्ड ने एक एक पाउंड के दस चेक काटकर दे दिए। भले मानस ने पूछा कि आप एक चेक देकर भी काम चला सकते थे। जवाब मिला- ये दस चेक कैश कराओगे तो दस ही पाउंड मिलेंगे और नहीं कराओगे तो बाद में मेरे ऑटोग्राफ बेचकर सैकड़ों पाउंड कमा सकते हो। प्रसिद्ध हो जाने के बाद वे साक्षात्कार देने के लिए पैसे लेते थे।

‘सेंट जॉस’ नाटक साढ़े तीन घंटे का था जिसके चक्कर में या तो नाटक छूटता था या आखिरी ट्रेन। जब उनसे कहा गया कि वे नाटक कुछ छोटा कर दें तो उन्होंने तुनककर कहा था- ‘आखिरी ट्रेन देर से चलवाने के बारे में सोचो।’

नोबेल पुरस्कार देरी से मिलने पर जनाब बड़बड़ाए थे- ‘जब तैराक किनारे पर पहुंच गया है तो उसे सेफ्टी बेल्ट दी जा रही है।’

उनका कहना था कि पुरुषों को जितनी देर से हो सके और महिलाओं को जितनी जल्दी हो सके, शादी करनी चाहिए।

तंगी के दिनों में जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने घोस्ट राइटिंग भी की थी।

उनका पांच पेज रोज लिखने का नियम था। न कम न ज्यादा।

गांधीजी की हत्या की खबर सुनकर वे बोले थे- 'इट इज टू बैड टू बी टू गुड' यानी बहुत अच्छा होना भी हमेशा अच्छा नहीं होता।

एक बार एक अति सुंदर महिला ने उनसे कहा- हम शादी कर लेते हैं। हमारे बच्चे को आपका बेहतरीन दिमाग और मेरा अतुलनीय सौंदर्य मिलेगा तब भोले भंडारी बर्नार्ड ने पूछा- अगर इसका उलटा हो गया तो?

बर्नार्ड ने दरअसल दाढ़ी अपने चेहरे के चेचक के दाग छुपाने के लिए रखी थी। वही उनकी पहचान बन गई। वे लंदन स्कूल ऑफ इकनामिक्स के संस्थापकों में से एक थे।

नेहरूजी ने उनके लिए बेहतरीन आम भिजवाये थे और एहतियात के रूप में उनकी सेविका को आम काटने और खाने का तरीका समझा दिया था। जब शॉ को सारी बात पता चली तो सारे आम कचरे में फिंकवा दिए थे कि शॉ को आम खाने का तरीका किसी से सीखने की जरूरत नहीं।

किसी के भी प्रति वे न तो अपनी खुशी छुपा पाते थे और न ही नाराजगी।

एक बार चार्ली चौप्लिन उनके घर के सामने से गुजर रहे थे, सोचा सलाम करता चलूं। दरवाजे तक पहुंचे, घंटी पर हाथ रखने ही वाले थे कि याद आया, शॉ बिना अपाइंटमेंट के मिलना पसंद नहीं करते। लौट गए। उनकी औपचारिक मुलाकात कई बरसों के बाद हो पाई थी।

वे आत्म प्रचार में किसी पर निर्भर नहीं रहते थे। घर से निकलते ही प्रेस को फोन कर देते- 'फलां जगह जा रहा हूं। फोटोग्राफर को भेज दो।'

बर्नार्ड शॉ के जितने किस्से सुनाए जाते हैं, उनमें से ज्यादातर उनके खुद के ही फैलाए हुए हैं।



‘देवानाम्प्रिय = मूर्ख’ के समीकरण पर सोचते हुए

वागीश शुक्ल

हँसी को अपनी सुन के एक बार मैं भी चौंक उठी
यह मुझमें दुःख छिपाने का कमाल कैसे आ गया॥

3 अक्टूबर 2017

- परवीन शाकिर

1. ‘देवानाम्प्रिय = मूर्ख’ का तिल और उसका ताड़

पाणिनि का सूत्र है : षष्ठ्या आक्रोशे (6-3-21) जिसका तात्पर्य है : ‘यदि भर्त्सना का भाव हो तो षष्ठी तत्पुरुष समास करने में विभक्ति का लोप नहीं होता (और इस प्रकार अलुक्-समास होता है)। प्रचलित उदाहरण है ‘चौराणाम् कुलम् (= चोरों का खानदान)। यहां अपमान अभीष्ट है इसलिए ‘चौरकुलम्’ नहीं कहा गया और ‘चौराणाम् (= चोरों का)’ की षष्ठी विभक्ति (जिसे हिंदी में ‘का’ से बताया गया है) सुरक्षित रही जबकि ‘ब्राह्मणकुलम्’ (- ब्राह्मणों का खानदान) में अपमान अभीष्ट नहीं है इसलिए ‘ब्राह्मणानम् (= ब्राह्मणों का)’ की षष्ठी विभक्ति का लोप हो गया (और अलुक् समास न होकर सामान्य तत्पुरुष समास ही रहा)।

इस सूत्र का वार्तिककार कात्यायन के पांच वार्तिक हैं जिनमें से एक है : ‘देवानाम्प्रिय इत्यत्र च (षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः) (= ‘देवानाम्प्रिय’ में भी षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता अतः यहां भी अलुक् समास नहीं कहना चाहिए)। इसे भट्टोजि दीक्षित ने अपनी सिद्धांतकौमुदी में यों स्पष्ट किया है : ‘देवानाम्प्रिय’ कहा जाता है और इस प्रकार ‘देव’ शब्द की षष्ठी विभक्ति का लोप न होने के नाते अलुक् समास होता है जबकि अन्यत्र, जब दूसरा अर्थ अभीष्ट हो तब षष्ठी विभक्ति का लोप होता है, ‘देवप्रिय’ कहा जाता है और इस प्रकार अलुक्-समास न होकर सामान्य तत्पुरुष समास ही होता है।’

जो ‘देवों का प्रिय’ है, वह ‘मूर्ख’ कैसे हो सकता है?

इस समय विद्वानों में प्रचलित और विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाने वाला उत्तर यह है :

The genitive offer is not elided in the canonical देवानाम्प्रियः॥ the author of SIDDHANTA-KAUMUDI say 'when the sense is that of a fool, the affix is not elided in devanam-priya'. There is no authority for this, either in the MAHABHASYA or the KASIKA. This was the title of the famous Buddhist monarch Asoka who would not have adopted it had it meant 'a fool'. The

phrase इति च मूर्खे has been added by Bhattoji Dikshit through Brahminical spite.

- पाणिनीय अष्टाध्यायी के श्रीश चन्द्र बसु कृत अंग्रेजी

अनुवाद (प्रथम प्रकाशन 1891-93, 1990 में Low Price Publications द्वारा पुनर्मुद्रित)
में सूत्र 6-3-21 पर टिप्पणी, पृ.-12115।

(‘देवानाम्प्रिय’ में षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं होता। सिद्धांतकौमुदी-कार ने कहा है कि जब ‘मूर्ख’ कहना होता है तब ‘देवानाम्प्रिय’ में विभक्ति का लोप नहीं करते। इसका कोई प्रमाण नहीं है, न महाभाष्य में न काशिका में। यह प्रख्यात बौद्ध सम्राट अशोक का विरुद था जिन्होंने इसे कभी न अपनाया होता यदि इसका अर्थ ‘मूर्ख’ होता। ‘मूर्ख’ अर्थ बताने के लिए भट्टोजि दीक्षित द्वारा बाद में ब्राह्मणन्दप्रसृत द्वेष के कारण जोड़ा गया है।)

‘ब्राह्मणत्वप्रसृत द्वेष’ इस देश में बहुत सी चीजों के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है, मुझे उस पर यहां नहीं कुछ कहना है। किंतु यह जानना चाहिए कि शाहजहां-कालीन भट्टोजि दीक्षित के पास यह जानने का कोई तरीका नहीं था कि अशोक का विरुद ‘देवानाम्प्रिय प्रियदर्शी’ था, वे शायद ही अशोक के बौद्धत्व, बल्कि उसके नाम से भी परिचित हों। अशोक के शिलालेख ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में हैं जिनका पढ़नेवाला यहां कोई न था न ही जनमानस में उसकी कोई स्मृति बची थी। इन शिलालेखों को पढ़ने का श्रेय अंग्रेज विद्वानों में परिश्रम को है। ये संस्कृत में नहीं थे और जगह-जगह से टूटे हुए अक्षरों को अटकल से पूरा करने के बाद जो मिला है उसका आनुमानिक संस्कृत रूपांतरण ही हमें बताता है कि ‘देवानाम्प्रिय प्रियदर्शी’ सम्राट अशोक की उपाधि थी। उसके बौद्ध होने की भी जानकारी (मुख्यतः श्रीलंका के) उपलब्ध बौद्ध साहित्य से मिलती है। भट्टोजि दीक्षित मौर्यवंश समेत किसी वंश के इतिहास की कोई जानकारी नहीं रखते थे- ‘भारतीय इतिहास’ पूर्णतया पश्चिमी विद्वत्ता की निर्मिति है। (भविष्यपुराण को छोड़कर जिसमें अशोक और अकबर दोनों मौजूद हैं) पुराणों में जो उपलब्ध है और जो यहां भट्टोजि दीक्षित जैसे तमाम विद्वानों के अध्ययन की वस्तु थी, उसमें न अशोक के बारे में कुछ है न इस ‘देवानाम्प्रिय प्रियदर्शी’ के बारे में। किंतु इस विरुद का बौद्धों में महत्व अवश्य था क्योंकि अशोक ने यही विरुद श्रीलंका के एक राजा को भी दिया था जिसे ‘देवानाम्प्रिय तिष्य’ के नाम से जाना जाता है।

अस्तु, भट्टोजि दीक्षित के कहने के पीछे सम्राट अशोक को लताड़ने का उत्साह नहीं, कुछ और ही है। उसको पहचानने के लिए मैं विद्वानों के समक्ष कुछ सूचनाएं रखता हूं।

2. ‘देवानं पिय’ से ‘देवानाम्प्रिय’ तक : ‘बात बदल-बदल गई’

जैसा मैंने ऊपर लिखा है, अशोक के शिलालेख संस्कृत में नहीं हैं, तत्कालीन प्राकृत में हैं और सब जोड़घटाव के बाद भी उसका विरुद ‘देवानं पिय’ (या ‘देवानां पिय’?) था जिसकी संस्कृत छाया ‘देवानाम्प्रिय’ की गई है। जो भी विवाद है इस संस्कृत शब्द ‘देवानाम्प्रिय’ को अशोक का विरुद मानकर है। यह ऐसा ही है जैसे हम पहले हिंदी में किसी को ‘देवों का प्रिय’ कहें, फिर इसका अनुवाद संस्कृत में ‘देवानाम्प्रिय’ करें, और तब झगड़ा शुरू करें कि उसे ‘देवानाम्प्रिय’ क्यों कहा? थोड़ा और स्पष्ट करें : अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक जेम्स ज्वायस रात को बहुत देर तक जागते रहते थे अतः उन्हें अंग्रेजी में night owl कह सकते हैं किंतु क्या हिंदी में इसका अनुवाद ‘रात का उल्लू’ करके हम

यह मान लेंगे कि उन्हें अंग्रेजी में night owl कहने का उद्देश्य उनका अपमान करना था? यह समझना जरूरी है कि सम्राट अशोक ने अपना विरुद्ध 'देवानाम्प्रिय' नहीं रखा था, जैसे यह हिंदी का शब्द नहीं है वैसे ही यह तत्कालीन प्राकृत का भी नहीं था और जैसे आज 'देवों का प्रिय' हिंदी में कहना संभव है वैसे ही तत्कालीन प्राकृत में 'देवानं पिय' कहना संभव था।

हिंदी के 'देवों का प्रिय' या प्राकृत के 'देवानं पिय' को संस्कृत में 'देवानाम्प्रिय' लिखते ही बात बदल जाने का खतरा क्यों है इसको ठीक से समझने के लिए हमें संस्कृत व्याकरण की ओर मुड़ना पड़ेगा। संस्कृत में 'देवानाम्प्रिय = मूर्ख' अर्थ है किंतु तभी जब 'देवानाम्प्रिय' में (अलुक्) समास हो।

संस्कृत में जो समास होता है, वह प्राकृत में या हिंदी में या अन्य भारतीय भाषाओं में होने वाले समास से भिन्न है। ऐसा क्यों है यह जानने के लिए हमें 'समास' का मतलब समझना होगा। यहां से शुरू कर सकते हैं कि दो शब्दों के मिलने से जब एक शब्द बनता है तब हम कहते हैं कि 'समास' हो गया। इतनी बात अंग्रेजी के compound शब्द में भी आ जाती है और साधारणतया यही बताया जाता है कि समास ऐसे बनता है जैसे अंग्रेजी में life और time जोड़कर lifetime बन जाता है। किंतु संस्कृत में बात इतनी ही नहीं है। संस्कृत शब्दों के उच्चारण पहले स्वरयुक्त (= accented) थे- अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, इन तीन के यथास्थान स्वरांकन द्वारा ही संस्कृत शब्दों का सही उच्चारण समझा जा सकता है। इस स्वरांकन का अर्थ की दृष्टि से भी महत्व है। यह स्वरांकन वैदिक साहित्य के एक बड़े भाग में सुरक्षित है जिसके सहारे वैदिक पाठ-परिपाटी बची हुई है किंतु सामान्य संस्कृत में स्वरों का यह विवेक समाप्त हो चुका है। फिर भी, पाणिनीय व्याकरण की अध्ययन-परंपरा में उसके आभासी अवशेष बचे हुए हैं।

यह जानना जरूरी है कि पाणिनी का व्याकरण जिस संस्कृत के लिए है वह स्वरविवेक से युक्त थी और कातंत्र व्याकरण आदि 'जल्दी से संस्कृत सिखा देने वाली' व्याकरण-पद्धतियां जिस संस्कृत के लिए हैं उसमें स्वरविवेक नहीं है। अस्तु, पाणिनीय व्याकरण के अनुसार समास होने पर उसमें शामिल सभी पदों (= शब्दों) का मिलकर 'एकपद्य' (= एक ही शब्द हो जाना) तो होना ही चाहिए, 'एकस्वयं' भी होना चाहिए, अर्थात् पूरे शब्द का स्वर-निर्धारण नए सिरे से एक ही शब्द मानकर होना चाहिए। समास में अंतिम स्वर सदैव उदात्त होता है।

इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण पर ध्यान दे सकते हैं। 'सरोज' और 'सरसिज' में क्या अंतर है? दोनों का अर्थ है 'तालाब में पैदा होने वाला' (और यह 'कमल' के अर्थ में रूढ़ है) किंतु 'सरसिज' में 'सरस (= तालाब)' शब्द की सप्तमी विभक्ति (जिसे हिंदी में 'में' से बताया गया है) का लोप नहीं हुआ है अतः यहां 'अ-लक् (- लोपरहित) सप्तमी-तत्पुरुष समास' है जबकि 'सरोज' में इस विभक्ति का लोप हो गया है और यहां सिर्फ 'सप्तमी-तत्पुरुष समास' का होना कहा जाएगा। कह सकते हैं कि इस समास में 'लुक् (-लोप)' की 'विभाषा (- विकल्प)' है, चाहे 'सरसिज' कहिए, चाहे 'सरोज', आप की इच्छा।

'देवानाम्प्रिय' और 'देवप्रिय' में क्या अंतर है? यहां भी 'लुक्' की विभाषा है किंतु एक शर्त के साथ : जब 'मूर्ख' कहना हो तब विभक्ति का लोप नहीं होता और 'देवानाम्प्रिय' कहा जाता है, अन्यथा कोई अन्य अर्थ जब अभीष्ट होता है तब विभक्ति का लोप होता है और 'देवप्रिय' कहा जाता

है। अतः यहां पर यह विभाषा 'व्यवस्थित' है, एक व्यवस्था के अधीन है। वाच्यार्थ एक ही है : 'देवों का प्रिय'।

अब मान लीजिए संस्कृत में किसी के लिए 'देवानाम्प्रियः' कहते हैं। इस कहने में 'ऐकपद्य' है कि नहीं। 'देवानाम्' और 'प्रिय', ये दोनों ही पद जिस रूप में अलग-अलग थे उन्हीं रूपों में समास के बाद भी बने रहेंगे और समास न होने की स्थिति में भी वैसे ही रहेंगे। फिर कब मानें कि 'ऐकपद्य' हो गया, ये दोनों मिलकर एक ही शब्द बन गए और अलुक्-समास है? इसकी पहचान यही जांच कर हो सकती है कि यहां 'ऐकस्वर्य' है कि नहीं- यदि ऐकपद्य होगा तो ऐकस्वर्य भी होगा उसका स्वर-निर्धारण करेंगे। (अतः अंत में उदात्त स्वर रखेंगे)।

फिर दुहरा लिया जाए कि 'देवानाम्प्रिय = मूर्ख' तभी है जब वह संस्कृत का शब्द है और उसमें अलुक् समास का होना स्वीकार किया गया है।

3. 'देवानाम्प्रिय' का अलुक्-समास

'देवानाम्प्रिय' के अर्थ को समझने के लिए सबसे पहले तो ध्यान इस पर जाना चाहिए कि भगवान कात्यायन के इस वार्तिक को भगवान पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'उपसंख्यान' वार्तिक कहा है, अर्थात् यह वार्तिक एक और उदाहरण जोड़ता है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि वार्तिककार के पहले 'देवानाम्प्रिय' शब्द पर पाणिनीय व्याकरण की अध्ययन-परंपरा में ध्यान नहीं दिया गया था और यह शब्द 'नया' था जिसकी तरफ वार्तिककार ने ध्यान दिलाया। यह बिलकुल संभव है कि वार्तिककार अशोक के समय के आसपास ही हुए हों और उनका ध्यान इस 'नए' शब्द की ओर गया हो। इतना मान लेने से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि इस शब्द के प्रयोग में कुत्सा का भाव निहित है या नहीं।

इसे समझने के लिए हमें वार्तिककार द्वारा दिए गए अन्य उदाहरणों पर गौर करना पड़ेगा। 'शुनःशेष (= कुत्ते का लिंग)', 'शुनःपुच्छ (= कुत्ते की पूंछ)', 'शुनोलागल (= कुत्ते की दुम)' ये तीन उदाहरण हैं जिन पर भाष्यकार ने कहा है कि ये विशिष्ट ऋषियों के नाम हैं और इसलिए इन उदाहरणों का उपसंख्यान (=गिनना) संज्ञा में होगा अर्थात् ये नाम हैं, ऐसा कहने से इन नामों वाले तीन ऋषियों को बोध होता है और जहां जो षष्ठी का लोप नहीं हुआ वह अलुक् समास तो बताता है किंतु यह लोप कुत्सा जताने के लिए नहीं किया गया, नाम ही यही है इसलिए ऐसा ही कहा जाता है। यहां सत्र तक सीमित रह जाने से लगेगा कि कुत्सा अभीष्ट है इसलिए इसका निषेध करने के लिए वार्तिककार द्वारा अलग से गिनाना सार्थक है।

इस तर्क से स्पष्ट है कि अगर हम मान भी लें कि कभी संस्कृत में 'देवानाम्प्रिय' कहने से सम्राट अशोक का बोध होता था तो भी, जिस हद तक 'देवानाम्प्रिय' सम्राट अशोक को सूचित करता है उस हद तक इस शब्द का प्रयोग कुत्सा जताने के लिए नहीं है, केवल व्यक्तिविशेष को बताने के लिए है। यदि 'शुनःशेष' आदि वैदिक ऋषियों की संज्ञाएं हैं और कुत्सा नहीं जताते तो 'देवानाम्प्रिय' की संज्ञा भी अशोक को बताएगी, और इस प्रयोग में कुत्सा नहीं होगी। एक वैदिक राजा 'दिवोदास (= स्वर्ग का गुलाम) भी एक उदाहरण है। इसका अर्थ 'देवानाम्प्रिय' से मिलता-जुलता है और 'प्रिय' की अपेक्षा 'दास' कहना कुछ अवमानना ही जताता है। यदि संज्ञा होने के नाते एक राजा का 'दिवोदास' नाम उसके प्रति कुत्सा नहीं जताता तो सम्राट अशोक की 'देवानाम्प्रिय' संज्ञा

कैसे उसके प्रति कुत्सा जतायेगी? आखिर क्या 'वेचनराम', 'भिखारीदास', 'मंगतराम', 'घसीटामल', 'तिनकौड़ी', 'घिराऊ', 'घिसियावन', 'फेंकन' जैसे नाम हमारे बीच नहीं होते और क्या ये कुत्सा जताने के लिए रखे जाते हैं?

किंतु मैं दुहराना चाहता हूँ कि मेरा अपना मानना यही है कि 'देवानाम्प्रियः' कभी भी सम्राट अशोक की संज्ञा थी ही नहीं, यह सारा प्रपंच आधुनिक विद्वत्ता का रचा हुआ है जिसने उसके प्राकृत विरुद्ध 'देवानं पिय' की संस्कृत छाया कर के हंगामा शुरू किया। मैं फिर वार्तिककार के दिए उदाहरणों पर आता हूँ। इनमें से एक है : 'वायोयुक्तिः (= शब्द का प्रयोग)। इसमें 'वाक्' की षष्ठी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है, अलुक्-समास है, फिर भी कोई आक्रोश नहीं है, केवल वस्तु-कथन है, सीधे-सीधे जो बात कहनी है कह दी गई है।

हमें यह मानना होगा कि वार्तिककार के दिए गए उदाहरणों का औचित्य तभी है जब उनके प्रयोग में आक्रोश न हो, यदि आक्रोश उपस्थित ही हो तो इतनी बात सूत्रकार ने ही कह दी है फिर अलग से वार्तिककार को उदाहरण जोड़ने की क्या जरूरत है?

'आक्रोश' का क्या मतलब है? क्रोध में आकर अपमान करना, जो खानदान चोरों का नहीं है उसे 'चोरों का खानदान' कहना। यदि कोई खानदान वस्तुतः चोरों का ही है तो उसमें बिना अलुक्-समास किए 'चौराणाम् कुलम्' भी कह सकते हैं, 'चौरकुलम्' भी कह सकते हैं। इसी प्रकार 'शुनःपुच्छ (= कुत्ते की पूंछ)' कहने में तीन संभावनाएं हैं : पहली अलुक्-समास है और ऋषि का नाम बताना है, दूसरी, अलुक्-समास नहीं है और केवल कुत्ते के शरीर के एक अंग का विवरण दिया जा रहा है, तीसरी, अलुक्-समास है और किसी का अपमान करने के लिए उसे 'कुत्ते की पूंछ' कह रहे हैं जो कि वह वाच्यार्थ के अनुसार नहीं है। इनमें से तीसरी संभावना विचाराधीन सूत्र से ही प्राप्त है, दूसरी स्वतःप्राप्त है और उसके लिए अलग से कोई विधान करना ही नहीं है, और पहली के लिए वार्तिक की आवश्यकता होगी।

कुल मिलाकर मैं यह कह रहा हूँ कि वार्तिककार द्वारा 'देवानाम्प्रिय' के उदाहरण का उपसंख्यान ही यह बताता है कि इसका प्रयोग आक्रोश जताने के लिए नहीं होता, अर्थात् इस शब्द में अलुक्-समास करते हुए भी, उस समय किसी को 'देवानाम्प्रिय= मूर्ख' नहीं कहेंगे जब केवल उसका अपमान करने की इच्छा हो, किंतु उस समय कहेंगे जब वस्तुतः उसे मूर्ख समझेंगे। यदि उसे मूर्ख नहीं समझेंगे, वस्तु-वर्णन नहीं होगा, केवल अपमान करना अभीष्ट होगा, तब या तो इस शब्द का प्रयोग ही नहीं होगा या फिर उसके अलुक्-समास में इस आक्रोश-जन्य आर्थ की आमद सूत्र के भरोसे होगी, वार्तिक के भरोसे नहीं।

किंतु 'देवानाम्प्रिय= मूर्ख' का समीकरण चाहे आक्रोश-वश हो चाहे वस्तु-वर्णन हेतु, उसका प्रमाण ढूंढने के लिए हमें भट्टोजि दीक्षित तक आने की जरूरत नहीं, स्वयं पतंजलि ने ही महाभाष्य में पाणिनी के सूत्र अनेव्यंघजपोः (2-4-56) पर चर्चा के दौरान इसका प्रयोग किया है। इस प्रसिद्ध 'वैयाकरण-सूत-संवाद' को मैं नीचे उद्धृत करता हूँ :

- | | |
|-------------------|---|
| कश्चिद्वैयाकरण आह | - 'कोऽस्य रथस्य प्रवेता' इति। |
| सूत आह | - 'अहमायुष्मत्रस्य रथस्य प्राजिता' इति। |
| वैयाकरण आह | - 'अपशब्द' इति। |

- सूत आह - 'प्रामिज्ञो देवानाम्प्रियः नत्विष्टिज्ञः, इष्यत एतद्रूपम्' इति ।
 वैयाकरण आह - 'अहो नु खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामह' इति ।
 सूत आह - 'न खलु वेजः सूतः सुवतेरेव सूतः । यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या,
 'दुःसूतेन' इति वक्तव्यम्' ।

(चर्चाधीन सूत्र अजेव्यंघञपोः का तात्पर्य है कि 'अज्' धातु का कुछ विशिष्ट स्थितियों में 'वी' आदेश हो जाता है। इसी का सहारा लेकर) वैयाकरण पूछता है, 'इस रथ का प्रवेता (= हांकने वाला) कौन है?'

(रथ का सारथि) सूत उत्तर में कहता है, 'आयुष्मन् इस रथ का प्राजिता मैं हूँ।'

(सूत ने वैयाकरण को 'आयुष्मन्' कहकर बुलाया है क्योंकि प्राचीन भारतीय शिष्टाचार का नियम यही था कि रथ में सवार होने वाले को रथ का सारथि 'आयुष्मन् दीर्घायु' कहकर बुलाए। सूत ने यहां 'अज्' धातु का 'वी' आदेश नहीं स्वीकार किया और उसका मूल रूप 'अज्' ही रहने दिया है : इसी आधार पर उसने 'प्राजिता' शब्द का व्यवहार किया है, 'प्रवेता' का नहीं)

वैयाकरण कहता है, 'यह 'प्राजिता' शब्द तो शुद्ध नहीं है।'

सूत कहता है, 'आप देवानाम्प्रिय केवल वही जानते हैं जो सूत्र के सीधे-सीधे मिल जाता है, अतः 'अज्' की जगह 'वी' पढ़ लेते हैं, और 'प्राजिता' को अशुद्ध मानकर 'प्रवेता' ही शुद्ध मानते हैं। सूत्रकार (पाणिनी) की चाहत क्या है, यह नहीं आप जानते। सूत्रकार की चाहत इस 'प्राजिता' रूप की (भी) है।'

(यहां सूत ने वैयाकरण को देवानाम्प्रिय = मूर्ख' इसलिए कहा है कि उसने यह तो सूत्र रट कर समझ लिया कि 'अज्' का 'वी' हो जाएगा और 'प्रवेता' रूप बना लिया किंतु वह यह भूल गया कि सूत्रकार को 'प्राजिता' रूप भी इष्ट है। 'प्राजिता' रूप क्यों इष्ट है? व्याकरण के आकार ग्रंथ काशिका पर न्यास टीका लिखने वाले जिनेन्द्रबुद्धि ने इसे समझाते हुए कहा है कि सूत्रकार ने 'अज्' धातु को उदात्त स्वर में पढ़ा है और 'वी' को अनुदात्त स्वर में। 'अज्' को उदात्त स्वर में पढ़ने का आशय यह है कि सूत्रकार चाहते हैं कि 'इट्' का आगमन हो और 'प्राजिता' बने अन्यथा यदि सब जगह 'वी' ही होगा तो 'अज्' का उदात्त स्वर में पढ़ा जाना निष्प्रयोजन होगा। अतः 'प्राजिता' रूप भी इष्ट है भले ही इसकी स्पष्ट घोषणा नहीं है।)

वैयाकरण ने कहा, 'अरे, इस दुरुत की ढिठाई देखो कि मेरा विरोध करता है।'

सूत ने कहा, 'सूत' की व्युत्पत्ति 'वैज्' धातु से नहीं है, 'घ' धातु से है। यदि आप मेरा अपमान ही करना चाहते हैं तो मुझे 'दुःसूत' कहिए'।

(यहां हुआ है कि वैयाकरण ने 'सूत' को 'वेज (= बुनना) में निष्पन्न मानकर 'सूत = सु+उत (= अच्छी तरह बुना हुआ)' अर्थ निकालकर उसका अपमान करने के लिए 'सु' की जगह 'दुः' का प्रयोग किया और इस प्रकार उसे 'दुरुत = दुः+उत (= बुरी तरह बुना हुआ)' कहा। सूत ने यह धांधली पकड़ ली और 'सू' की वास्तविक निष्पत्ति बताकर वैयाकरण को निरुत्तर कर दिया।)

(इस अनुवाद में मैंने बहुत सी तकनीकी बातें छोड़ दी हैं और बहुत सी को बिना स्पष्ट किए इस्तेमाल किया है। किंतु आशा है कि मौटे तौर पर आशय समझ में आ गया होगा।)

यहां यह स्पष्ट नहीं होता कि सूत के वैयाकरण को 'देवानाम्प्रिय = मूर्ख' सूत्र के अनुसार

आक्रोश में कहा है या वह वस्तुतः वैयाकरण को मूर्ख ही समझ रहा है और वार्तिक के अनुसार वस्तु-वर्णन हेतु ही ऐसा कर रहा है। मुझे लगता है कि महाभाष्य पर अपनी टीका लिखते हुए कैयट ने ये दोनों संभावनाएं स्वीकार की हैं।

कैयट ने इस स्थल पर टीका लिखते हुए कहा है :

‘देव’ शब्दो ‘मूर्ख’ वाची। मूर्खाणाच्च प्रिया मूर्खा एव भवन्ति। अथ वा सुखासक्ततया शास्त्रेऽनभियोगोऽनेन प्रतिपाद्यते।

(‘देवानाम्प्रिय = मूर्ख’ अर्थ इसलिए है कि) ‘देव’ शब्द का अर्थ है ‘मूर्ख’ और मूर्ख का प्रिय मूर्ख ही होता है। या फिर इस शब्द का प्रयोग करके यहां यह बताना अभीष्ट था कि वैयाकरण ने आरामतलबी के चलते शास्त्र में यथेष्ट परिश्रम द्वारा योग्यता अर्जित नहीं की।

मेरी समझ में पहली संभावना सूत्र के अनुसार आक्रोश को जताती है और दूसरी वार्तिक के अनुसार वस्तु-वर्णन को। इस प्रकार दसवीं सदी के कैयट ने पतंजलि के ‘देवानाम्प्रिय = मूर्ख’ समीकरण को खोलकर रख दिया है। अतः श्री श्रीश चन्द्र वसु का यह कहना सही नहीं कि इस ‘देवानाम्प्रिय- मूर्ख’ अर्थ का महाभाष्य आदि में कोई प्रमाण नहीं है।

फिर भी, कैयट का यह कहना कुछ चौंकाता है। स्पष्टतः ‘देवानाम्प्रिय = मूर्ख’ कहने के पीछे कुछ ऐसा है जिसमें देवों की ‘मूर्खता’ की भी भूमिका है। पूर्वोल्लिखित सूत्र षष्ठ्या आक्रोशे (6-3-21) पर बात करते हुए सिद्धांतकौमुदी पर बालमनोरमा टीका लिखने वाले श्री वासुदेव दीक्षित ने कैयट के इस कथन को समझाते हुए लिखा है : ‘देवा : क्रीडासक्ताः मूर्खाः (= खेल में लगे रहने के नाते देव मूर्ख कहे जाते हैं)’।

इसी आलसीपने के नाते, शास्त्र को ऊपर-ऊपर से देखने के नाते, वचनों के तात्पर्य की तह तक पहुंचने से वंचित पल्लवग्राही ज्ञानलनवदुर्विदग्ध को ‘देवानाम्प्रिय = मूर्ख’ कहते हैं।

फिर भी सवाल बचता है : आखिर क्यों?

3.1 देवानाम्प्रिय = ब्रह्मात्मैक्य- ज्ञान से रहित सांसारिक मनुष्य

अठारहवीं शताब्दी के नागोजि भट्ट का बृहच्छब्देन्दुशेखर संस्कृत व्याकरण के मूर्धाभिषिक्त ग्रंथों में से है। उसमें षष्ठ्या आक्रोशे (6-3-21) पर बात करते हुए इस ‘देवानाम्प्रिय = मूर्ख’ के समीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है :

मूर्खत्वम् ब्रह्मज्ञानरहितत्वम्। तद्रहिता हि यज्ञाद्यनुष्ठानैर्देवानाम् प्रीतिम् जनयन्ति, यतस्ते देवपशवः पशुवद्देवनियम्या इत्याहुः। ‘देव’ शब्दो मूर्खवाची। मूर्खश्च मूर्खप्रिय एवेति ‘अजेर्वी’ति सूत्रे कैयटः।

(‘मूर्ख-त्व’ का अर्थ है ‘ब्रह्मज्ञानरहित-त्व’। ब्रह्मज्ञान में रहित लोग यज्ञ आदि कर के देवताओं की प्रसन्नता अर्जित करते हैं। इस कारण से वे देवपशु कहे जाते हैं, अर्थात् पशु की तरह देवों के पालतू होते हैं (और फलतः ‘मूर्ख’ कहे जाते हैं)। ‘अजेर्व्यंपजपोः’ सूत्र पर लिखते हुए कैयट ने बताया है कि ‘देव’ का अर्थ ‘मूर्ख’ होता है और जो लोग मूर्खों के प्रिय होते हैं वे भी मूर्ख ही होते हैं।)

यहां नागोजि भट्ट ने कैयट का जो वाक्य उद्धृत किया है उस पर ऊपर चर्चा आ चुकी है। इसके अतिरिक्त नागोजि भट्ट की व्याख्या में एक और बात है : वे कहते हैं कि यहां भट्टोजि दीक्षित (बल्कि कहिए पतंजलि) का ‘मूर्ख’ से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो ब्रह्मज्ञान से रहित है, अर्थात्

‘अहम्ब्रह्मास्मि (= मैं ही ब्रह्म हूँ)’ का अनुभव नहीं कर सका है। ऐसा व्यक्ति अपने से देवताओं को भिन्न मानता है और उनके प्रति यज्ञ आदि करके उन्हें प्रसन्न करता है। यज्ञ से ही देवताओं को भोजन मिलता है अतः देवताओं की ऐसे व्यक्ति के ऊपर वैसी ही प्रीति हो जाती है जैसी कि मनुष्यों की अपने पालतू पशुओं पर। जिस प्रकार मनुष्य अपने पालतू पशुओं को दूध के बदले चारा खिलाता रहता है उसी प्रकार देवता भी यज्ञ का फल स्वर्ग आदि देकर मनुष्य को पुण्यकर्म, फिर उसका फल सुखभोग, फिर पुनर्जन्म, के चक्र में फंसाकर मोक्ष की तरफ से उसका ध्यान बंटाने रहते हैं। इस प्रकार जैसे मनुष्य के अधीन उसके पालतू पशु होते हैं, वैसे ही ऐसा व्यक्ति देवों के अधीन होता है।

इन सारी बातों का कोई संबंध अशोक से या बौद्ध धर्म से नहीं है। यह सीधे-सीधे उपनिषत्काल से चला आ रहा है :

तदिदमप्येतर्हि य एवम् वेदाहम् ब्रह्मास्मीति स इदम् सर्वम् भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाम् स भवति। अथ योऽन्याम् देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवम् स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यम् भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्चेकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियम् भवति किमु बहुषु तस्मादेषाम् तत्र प्रियम् यदेतन्मनुष्या विद्युः॥

- बृहदारण्यकोपनिषद् 1-4-10

इस ब्रह्म को जो इस समय भी इस प्रकार जानता है कि ‘मैं ब्रह्म हूँ’, वह यह सच हो जाता है। उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। और जो अन्य देवता की ‘यह अन्य है और मैं अन्य हूँ’, इस प्रकार से उपासना करता है, वह नहीं जानता। जैसे पशु होता है वैसे ही वह देवताओं का पशु है। जैसे लोक में बहुत-से पशु मनुष्य का पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओं का पालन करता है। एक पशु का भी हरण किए जाने पर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतों का हरण होने पर तो कहना ही क्या है? इसलिए देवताओं का यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य इस (ब्रह्मात्मतत्त्व) को जाने।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह ‘देवानाम्प्रिय = मूर्ख’ का समीकरण उनके द्वारा प्रचलित किया गया है जो कर्म को संसार का मूल मानते हैं और उसके ऊपर ज्ञान को वरीयता देते हैं ताकि संसारचक्र से मुक्ति मिले। ये लोग स्वर्ग और नरक को समान रूप से बंधनकारी मानते हैं। मोटे तौर पर यह वही सिद्धांत है जिसका प्रतिपादन भगवत्पाद ने किया है और जिसे हम ‘अद्वैत वेदांत’ के नाम से जानते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इस सिद्धांत के अनुयायी व्यावहारिक जगत में कर्मकांड का तिरस्कार करते थे। उदाहरण के लिए नागोजि भट्ट स्वयं ही अपने समय के सर्वोच्च कर्मकांडियों में गिने जाते थे और जब जयपुर के महाराज जयसिंह ने ‘अश्वमेघ यज्ञ’ किया तो मुख्य पुरोहित के रूप में उनका पहला चुनाव नागोजि भट्ट का ही था (यद्यपि नागोजि ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया)। कुछ लोगों को व्यवहारतः कर्मकांड की करनी और सिद्धांततः वेदांत की कथनी का एक साथ निबाहना पाखंड लग सकता है किंतु मैं इस विषय पर यहां कुछ न कहूंगा।

3.2 आया नहीं यह लफ्ज तो हिंदी जबां के बीच?

इन सबके आधार पर मेरा मानना है कि संस्कृत में ‘देवानाम्प्रिय- मूर्ख’ का समीकरण अशोक

से बहुत पहले का है। तब यह एक सवाल मन में बचा रह जाता है कि आखिर अशोक ने यह विरुद चुना ही क्यों? इस विषय में पहले तो मैं यही दुहरा हूँ कि अशोक ने शिलालेख संस्कृत में नहीं खुदवाए, तत्कालीन प्राकृत और यूनानी में खुदवाए हैं। लेकिन मेरा खयाल है कि बुनियादी सवाल यह पूछना चाहिए कि अशोक ने शिलालेख खुदवाए ही क्यों? उसके पहले भी भारत में प्रतापी राजा हुए हैं, किसी और ने क्यों नहीं खुदवाए?

कुछ पहले तक हमें यही पढ़ाया जाता था कि अशोक के शिलालेखों के पहले भारतीयों को लिखना ही नहीं आता था। इस दावे में तो खैर अब उतनी गर्मजोशी नहीं रह गई किंतु इतना तो अभी तक सच है ही कि शिलालेख खुदवाना अशोक ने ही शुरू करवाया और संस्कृत में नहीं करवाया-संस्कृत में बहुत बाद में शिलालेख खुदवाना शुरू हुआ। मेरा प्रस्ताव है कि हम यह मान लें कि भारतीय राजाओं के मन में पत्थर में नाम खुदवाकर अमर हो जाने का लालच विदेशी राजाओं की देखा-देखी जगा- प्रायः उसी समय के आसपास जिस समय बुढ़ापे में बेटे को राज्य सौंपकर वानप्रस्थ ग्रहण करने की वैदिक परंपरा से भी दूरी बनने लगी। अशोक के कुछ पहले से ही विदेशी राज्यों से निकट संपर्क स्थापित हो रहे थे और अशोक के शिलालेख भारत के बाहर भी मिलते ही हैं। यह मालूम है कि 'देवों का प्रिय' बहुत से विदेशी राजाओं का विरुद था। उदाहरण के लिए सुमेरिया के राजा शू-इतिशू (ईसापूर्व 1920-1911) के शिलालेखों में उसे 'देवों का प्रिय' कहा गया है। प्राचीन यहूदी राजाओं में सोलोमन (ईसापूर्व 970-931) का भी एक नाम 'जेदीदिया (= Jedidiah = देव का प्रिय)' था, ऐसा ही विरुद उनके एक प्राचीनतर पूर्वज वेन्जामिन का भी बताया जाता है। कुषाण सम्राटों की उपाधि 'देवपुत्र' भी सिकन्दर से लेकर चंगेज खान तक अनेक विदेशी राजाओं का विरुद रही है।

मुझे यह विश्वसनीय नहीं लगता कि किसी भारतीय पंडित ने अशोक को शिलालेख लिखवाने की सलाह दी होगी और यह तो अकल्पनीय ही है कि किसी भारतीय विद्वान ने सम्राट को 'देवानाम्प्रिय' की अर्थच्छटा वाला विरुद धारण करने की सलाह दी हो। मुझे लगता है कि यह 'देवानंपिय' का विरुद भी देखादेखी ही आया - शिलालेख खुदवाने के विचार के साथ-साथ। इस विरुद की ध्वनि हमारे शब्दभंडार के लिए अजनबी सी जान पड़ती है।

पाय-कोबां कोई जिंदा में नया है मजनूं

आती आवाज + ए + सलामिल कभी ऐसी तो न थी॥

-बहादुर शाह 'जफर'

(पाय = कोबां = पैर पटकता हुआ, जिन्दां = कैदखाना : मजनूं = विक्षिप्त (प्रेमी), आवाज + ए + सलामिल = बेड़ियों की आवाज।)



अंक के रचनाकार

- विश्वनाथ त्रिपाठी- बी-5, एफ-2, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095, ☎9871479790
- रमेशचंद्र शाह- एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003 (म.प्र.), ☎9424440574
- कृष्ण बिहारी मिश्र- 7 बी, हरिमोहन राय लेन, बेलिया घट्टा, कोलकाता-700015, ☎33-22510182
- गिरीश्वर मिश्र- कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महा.)
- कांति कुमार जैन- विद्यापुरम, मकरोनिया कैंप, सागर-470004 (म.प्र.), ☎9098571616
- अमृतलाल वेगड़- 1836, राइट टाउन, जबलपुर- 482002 (म.प्र.)
- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी- संपादक, दस्तावेज, बेतियाहाता, गोरखपुर, (उ.प्र.) ☎9415691378
- विष्णु नागर- ए-34, नवभारत टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091, ☎9810892198
- वाचस्पति- एन-1/66 के 6 ए, महेश नगर, पश्चिमी बाई गली, सामने घाट पो.आ., बी.एच.यू., वाराणसी-221005 (उ.प्र.), ☎9452765248
- ओम भारती- 221/9 बी, साकेत नगर, भोपाल-462024 (म.प्र.), ☎9425253623
- नंद किशोर आचार्य- सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर-334005 (राज.), ☎9413381045
- राजेंद्र राव- 374 ए-2, तिवारीपुर, जे.के. रेयन गेट के सामने जाजमऊ, कानपुर-208010 (उ.प्र.) ☎9935266693
- ममता कालिया- बी-3ए/303 सुशांत एक्वापोलिस अंसल एपीआई (क्रासिंग रिपब्लिक के सामने) गाजियाबाद-201016 (उ.प्र.), ☎9212741322
- महेश कटारे- निराला नगर, सिंहपुर रोड मुरार, ग्वालियर-474006 (म.प्र.), ☎9425364213
- गोपेश्वर सिंह- 38/4 छात्र मार्ग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007, ☎8826723389
- रूप सिंह चंदेल- फ्लैट सं. 765, टावर 8, विपुल गार्डन्स, धारूहेड़ा-123106 (हरि.), ☎8059948233
- प्रकाश मनु- 545, सेक्टर-29, फरीदाबाद-121008 (हरि.), ☎9810602327
- प्रेम जनमेजय- संपादक, व्यंग्य यात्रा, 73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063, ☎9811154440
- अरुणेश नीरन- देवरिया खास, देवरिया-274001 (उ.प्र.) ☎9451460030
- कृपाशंकर चौबे- प्रोफेसर व प्रभारी, म.गां.अं.हि.वि., क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, ई.जेड.सीसी, आईए-290 सेक्टर-3, साल्ट लेक, कोलकाता-700097, (प.बं.) ☎9836219078
- आरसु- साकेत स्पिनिंग मिल के पास, पो.-चेलेंबरा, जिला-मलप्पुरम-673634 (केरल), ☎9847762021
- महेश दर्पण- सी-3/51, सादतपुर, दिल्ली-110090, ☎9013266057
- रघुवंश मणि- 365 इस्माइलगंज, अमानीगंज, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.), ☎9452850745
- रेवती रमण- अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार), ☎9606885907
- बलराम- सी-69 उपकार अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेस-1, दिल्ली-110091, ☎9810333933
- कल्लोल चक्रवर्ती- एसोसिएट एडिटर, अमर उजाला, जी-1, 1/22, राजेंद्र नगर, सेक्टर-5, साहिबाबाद, गाजियाबाद-201005, (उ.प्र.) ☎9873498474
- दिनकर कुमार- ग्लोरी अपार्टमेंट, तरुण नगर, मेन रोड, गुवाहाटी-781005 (असम), ☎9435103755

- **नीरजा पाण्डेय-** 14 अलकापुरी, कुर्सी रोड, संजीवनी अस्पताल के पास, लखनऊ-226022 (उ.प्र.)
☎ 9453101567
- **दयानंद पांडेय-** 5/7 डालीबाग, आफीसर्स कालोनी, लखनऊ-226001 (उ.प्र.), ☎ 9335233424
- **सत्यकाम-** एच-2, जमुना, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068, ☎ 9868262626
- **कमल किशोर गोयनका-** ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052, ☎ 09811052469
- **रवींद्र त्रिपाठी-** ई-102, जनसत्ता अपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.)
☎ 9873196343
- **ज्योतिष जोशी-** डी-4/37, सेक्टर-15, रोहिणी, दिल्ली-110089, ☎ 9818603319
- **प्रयाग शुक्ल-** एच-416, पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सेक्टर-93 ए, नोएडा-201304 (उ.प्र.), ☎ 9810973590
- **हरिपाल त्यागी-** एफ-29/6, सादतपुर, दिल्ली-110090 (दिल्ली), ☎ 8860078079
- **वाजदा खान-** बी-87, प्रथम तल, सेक्टर-23, नोएडा, (गौतमबुद्ध नगर) 201301, (उ.प्र.) ☎ 9868744499
- **अरविंद कुमार-** सी-18, चंद्र नगर, गाजियाबाद-201011 (उ.प्र.), ☎ 9811127360
- **असीमा भट्ट-** द्वारा- श्रीमती सरस्वती भट्ट, विजय सिनेमा, स्टेशन रोड, नवादा (बिहार), ☎ 9967883856
- **शेष नारायण सिंह-** 205, संवाद अपार्टमेंट्स, सेक्टर- अल्फा-1, ग्रेटर नोएडा-201310 (उ.प्र.)
☎ 9873875927
- **अरुण कुमार त्रिपाठी-** डी-104, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.)
☎ 9818801766
- **अरविंद कुमार सिंह-** प्रमुख संसदीय कार्यक्रम विभाग, पार्लियामेंट ऑफ इंडिया, तृतीय तल, तालकटोरा स्टेडियम, एनेक्सी बिल्डिंग, नई दिल्ली-110001, ☎ 9810082873
- **प्रमोद कुमार दुबे-** भाषा शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, श्री अरविंदो मार्ग, नई दिल्ली-110016, ☎ 9810780771
- **उमेश चतुर्वेदी-** द्वारा श्री जयप्रकाश, दूसरा तल, निकट शिवमंदिर, एफ-23 ए, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-110016, ☎ 9599661151
- **राम बहादुर राय-** सेक्टर-5, म.नं.-118, गुलमोहर लेन, वैशाली, गाजियाबाद-201010 (उ.प्र.) ☎ 9350972403
- **प्रकाश दुबे-** प्रधान संपादक, दैनिक भास्कर, ग्रेट नाग रोड, नागपुर-440009 ☎ 9764440022
- **राजेश बादल-** कार्यकारी निदेशक, राज्यसभा टीवी, पार्लियामेंट ऑफ इंडिया, तृतीय तल, तालकटोरा स्टेडियम, एनेक्सी बिल्डिंग, नई दिल्ली-110001 ☎ 9910068399
- **प्रियदर्शन-** ई-4, जनसत्ता अपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.), ☎ 9811901398
- **असगर वजाहत-** 79 कला विहार, मयूर विहार फेज-एक, दिल्ली-110091 ☎ 9818149015
- **वागीश शुक्ल-** स्वास्तिक, दक्षिण दरवाजा, पुरानी बस्ती, बस्ती-272001 (उ.प्र.), ☎ 8765934624
- **लीलाधर मंडलोई-** संपादक, नया ज्ञानोदय, 3 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
☎ 9818291188
- **प्रहलाद रामशरण-** 30 स्वामी दयानंद स्ट्रीट बो बासें, मॉरिशस गणराज्य
- **सुधीर सक्सेना-** 43 ए, अंसल प्रधान एंक्लेव, ई-8, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016(म.प्र.), ☎ 9425022404
- **ज्ञान प्रकाश विवेक-** 1875, सेक्टर-6, बहादुरगढ़-124507 (हरि.), ☎ 9813491654
- **उमा-** 3 विष्णु विहार, अर्जुन नगर के पास, दुर्गापुरा, जयपुर-302018 (राज.), ☎ 9529841215
- **सूरज प्रकाश-** एच-1/101, रिद्धि गार्डन, फिल्मसिटी रोड, मालाड, पूर्व मुंबई-400097 (महाराष्ट्र),
☎ 9930991424
- **देवप्रकाश चौधरी-** एस-एफ, प्लाट सं.-3 सेक्टर-1, वैशाली, गाजियाबाद-201010 (उ.प्र.), ☎ 9910267170

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
सदस्यता आवेदन-पत्र

बिक्री एवं प्रसार कार्यालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

'बहुवचन' वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 300/- व्यक्तिगत
	रु. 400/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
'बहुवचन' द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 600/- व्यक्तिगत
	रु. 800/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
'पुस्तक-वार्ता' वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 120/- व्यक्तिगत
	रु. 180/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
'पुस्तक-वार्ता' द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से रु. 240/- व्यक्तिगत
	रु. 360/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए
बहुवचन/पुस्तक वार्ता का संयुक्त एक वर्षीय शुल्क	रु. 420/- व्यक्तिगत
	रु. 580/- संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए

(कृपया मनीऑर्डर एवं चेक नहीं भेजें।)

ड्राफ्ट 'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा' के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स

वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

फोन नं. : 07152-232943

'बहुवचन/पुस्तक-वार्ता' पत्रिका के एक वर्षीय/द्विवर्षीय/संयुक्त सदस्यता के लिए रुपये

का बैंक ड्राफ्ट संख्या दिनांक संलग्न

कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएं :

नाम :

पता :

पिन कोड :

दूरभाष : ई-मेल :

दिनांक :

(सदस्य के हस्ताक्षर)